सम्मेलन पत्रिका

श्रद्धाँजलि विशेषाँक



हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग



सम्मेलन-पत्रिका

[त्रैमासिक]

श्रद्धाँजलि विशेषाँक

सम्पादक

ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

[चैत्र - मार्गशीर्ष : शक १८८४
भाग--४८, संख्या--२-३-४]

इस अंक का मूल्य : आठ रुपये

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

वार्षिक : आठ रुपये • एक प्रति : दो रुपये

मुद्रक तथा प्रकाशक
रामप्रताप त्रिपाठी : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

विषय-सूची

प्रथम खंड

महामना मालवीय जी

द्वितीय खंड

आचार्य पं० रामनरेश त्रिपाठी

तृतीय खंड

महाकवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सम्पादकीय

'सम्मेलन-पत्रिका' का 'श्रद्धांजलि अंक' विशेषांक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। इस विशेषांक में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के प्रेरणा-स्रोत तथा राष्ट्रभाषा के उन्नायक महामना मालवीय जी, हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार और कवि पंडित रामनरेश त्रिपाठी और नई पीढ़ी के विद्रोही महाकवि पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के व्यक्तित्व, साहित्यिक कृतित्व पर उच्चकोटि के विवेचनात्मक लेखों तथा संस्मरणों द्वारा अधिकारी विद्वानों और रचनाकारों ने व्यापक और आकर्षक प्रकाश डाला है। हम 'श्रद्धांजलि अंक' के प्रकाशन की तैयारी कर ही रहे थे कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्राणदाता श्रद्धेय राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन का असह्य वियोग हमें सहन करना पड़ा। राजर्षि जी कई वर्षों से रोगाक्रांत होकर शैया पर पड़े रहे। इसलिये 'श्रद्धांजलि अंक' विशेषांक की घोषणा के साथ ही हमने राजर्षि टंडन जी की स्मृति में 'सम्मेलन-पत्रिका' के दूसरे विशेषांक 'राजर्षि स्मृति-अंक' के प्रकाशन की भी सूचना दे दी। आशा है कि हम यथाशीघ्र 'राजर्षि स्मृति-अंक' विशेषांक भी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने में समर्थ होंगे।

तदनन्तर हिन्दी-जगत् पर विपत्ति पर विपत्ति आनी प्रारम्भ हो गई। देखते देखते पुरानी तथा नई पीढ़ी के कई प्रतिष्ठित साहित्यकार, लेखक और कवि एक-एक कर समय-असमय में हमारे बीच से उठते गये। इस दृष्टि से पिछला वर्ष हिन्दी के लिए अत्यन्त कष्टप्रद तथा दुःख-जनक रहा। सबसे बड़ा अनभ्र वज्रपात तो उस दिन हुआ जिस दिन स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति, भारत-रत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी अपनी इहलीला समाप्त कर स्वर्गवासी हुए। श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू भारतीय राष्ट्र की अन्यतम विभूति और उसके एक सुदृढ़ स्तंभ थे। स्वतंत्रता के आंदोलन में उनके अभूतपूर्व त्याग और बलिदान का योगदान इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णांकित है। वह

सामग्री प्रस्तुत करना है। आज हम हिन्दी के उन महान् निर्माताओं तथा साधकों के जीवन तथा साहित्यिक उपलब्धियों के संरक्षण के प्रति उतने जागरूक नहीं हैं जितना हमारे लिए श्रेयस्कर है। इस दिशा में यदि इस 'श्रद्धांजलि-अंक' विशेषांक की थोड़ी-बहुत भी उपयोगिता सिद्ध होगी तो हमें प्रसन्नता होगी।

एक बात और। 'सम्मेलन-पत्रिका' का प्रकाशन कई मास पिछड़ा हुआ है। इस विशेषांक में वर्ष ४८ की संख्या २, ३, ४ अर्थात् चैत्र से मार्गशीर्ष तक शक संवत् १८८४ के तीन अंक सम्मिलित हैं। वर्ष ४९ के प्रथम और द्वितीय अंक शीघ्र ही पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत होंगे। तदनन्तर इसका प्रकाशन उचित समय पर होता रहेगा। हम अपने उन कृपालु लेखकों तथा विद्वानों के भी हृदय से आभारी हैं जिनकी सुन्दर कृतियों से यह विशेषांक अलंकृत हुआ है। इस सहायता के लिए हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

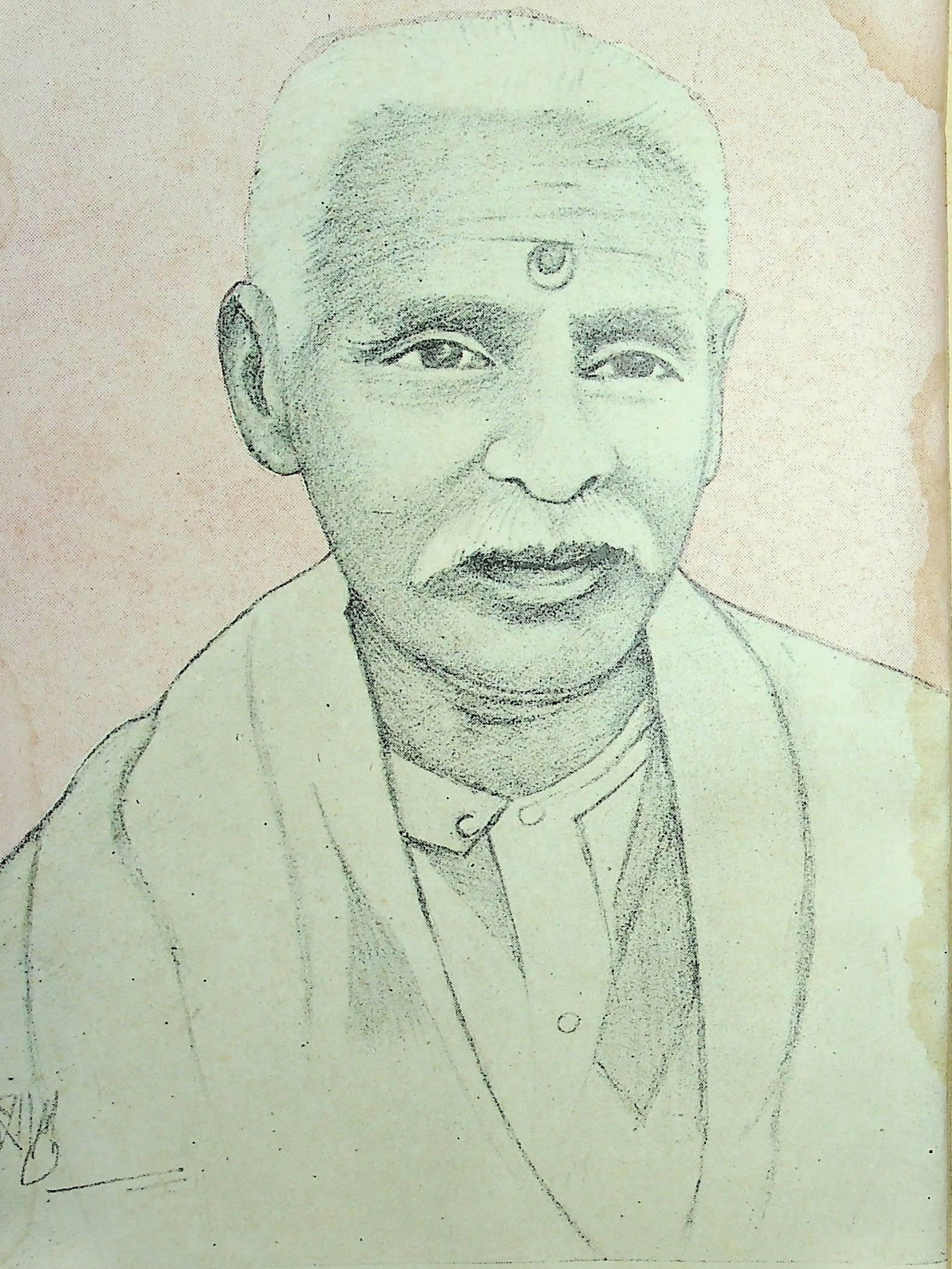
प्रथम खंड

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय

(व्यक्तित्व और संस्मरण)

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन संमानार्हः सदा भव॥

मदन मोहन मालवीय



महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय

जन्म : पौष कृष्ण ८, संवत् १९१८ वि० निधन : कार्तिक कृष्ण २, संवत् २००३ वि०

पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

महामना मालवीय जी की धर्म-भक्ति

मैंने स्वयं तो वह समय नहीं देखा, किन्तु अपने से प्राचीन उपदेशकों से यह सुना था कि श्रीमान् मालवीय जी राजनीति में प्रवेश करने के पूर्व सनातनधर्म के मञ्च पर ही पहले जनता के समक्ष आये थे। मैंने यह तो स्वयं भी देखा है कि उनका हृदय सनातनधर्म के दृढ़ आदर से ओत-प्रोत था। चाहे कितने ही कार्यव्यस्त हों, एक अध्याय श्रीमद्भागवत और एक अध्याय महाभारत का पाठ वे अपने नित्य नियम के समय अवश्य करते थे। इसी का यह फल था कि उक्त दोनों ग्रन्थों के शतशः चुने हुए श्लोक उनकी जिह्वा पर सदा रहते थे। प्रयाग के कुम्भपर्व पर उन्होंने कई धर्मोत्सव जीवन-पर्यन्त अवश्य किये थे। ऐसे कई उत्सवों में उपस्थित रहने और यथाशक्ति सेवा करने का अवसर मुझे भी मिला था। जिस समय ब्रिटिश सरकार ने गंगा की नहर हरिद्वार ब्रह्मकुण्ड के कुछ ऊपर से निकालने का आयोजन किया था, और ऐसा प्रतीत होता था कि यह आयोजन यदि पूर्ण हो गया तो हरिद्वार में गंगा की अविच्छिन्न धारा नहीं प्रवाहित होगी, उस अवसर पर भारत के अनेक राजा-महाराजा वहाँ एकत्र हुए थे, और उस कार्य में भी मालवीय जी ही प्रमुख भाग ले रहे थे। अन्ततः हरिद्वार में अविच्छिन्न रूप से गंगा की धारा का प्रवाहित होते रहना उस समय की सरकार को भी मानना ही पड़ा था।

जिस समय हमारे देश के अन्य नेता केवल वाचिक रूप से अछूतोद्धार और ग्राम-सुधार का आन्दोलन कर रहे थे, उस समय भी मालवीय जी अछूतों के वास्तविक ठोस सुधार में लगे हुए थे। उन्होंने उनके ही समझने की भाषा में एक गीत बनाया था, और इसका अछूतों में प्रचार करने की उनकी एक बड़ी योजना भी थी। वह गीत इस प्रकार है—

घट घट व्यापक राम जप रे।
मत कर बैर, झूठ मत भाखै,
मत परधन हर, मत मद चाखै,
जीव मत मार, जुवा मत खेलै,
मत पर तिय लख, यही तेरो तप रे।
घट घट व्यापक राम जप रे।।

किस प्रकार साधारण धर्मों का निवेश उन्होंने इस छोटे से गीत में कर दिया है, इसे देख कर गागर में सागर भर देने की कहावत सामने आ जाती है। इसी प्रकार ग्राम-सुधार की योजना

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल

मालवीय जी का सनातनधर्म

"पृथ्वी मण्डल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है, वह धर्म है और वह धर्म सनातनधर्म है"—श्री मालवीय जी।

महामना पं० मदनमोहन जी मालवीय सनातनधर्म के मूर्तरूप थे। वेदों से, धर्म-शास्त्रों से और परम्परा-प्राप्त शिष्टाचार से अनुमोदित जो धर्म है, उसे ही सनातनधर्म कहते हैं। सनातन-धर्म के दो अंग हैं—एक दर्शन या अध्यात्मविचार और दूसरा सदाचार या लोकाचार। संसार के धर्मों में सनातनधर्म एक विलक्षण प्रयोग और उपलब्धि है। संसार का जो उच्चतम तत्त्वज्ञान है और जो महती अध्यात्म-विद्या है और मनुष्य के मन की ध्यान-शक्ति से ब्रह्मतत्व और सृष्टि के विषय में जो तत्त्व परिज्ञात हुए उनकी समष्टि सनातनधर्म है। किन्तु मानवीय बुद्धि का प्रकर्ष सनातनधर्म का केवल एक अंग है। उसका दूसरा अंग वह आचार है जो श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम, संहिता, तंत्र आदि संस्कृत ग्रन्थों में तथा उन पर आश्रित देशभाषा के अनेक ग्रन्थों में कहा गया है, अथवा इन ग्रन्थों में अनुक्त होते हुए भी जो सज्जनों से सेवित जाति-धर्म और कुल-धर्मों के रूप में लोकाचार की तरह परम्परा से चला आता है, वह भी सनातनधर्म को मान्य है। इस प्रकार श्रुतियों में प्रदर्शित और युग-युग के सदाचार से सम्मत जो महान् धर्म है, उसे ही सनातनधर्म कहते हैं। सनातनधर्म ऐसा शरीर है जिसके आभ्यन्तर में एक चेतना या प्राण की सत्ता विद्यमान है। उसमें जहां एक ओर बाह्य शरीर का सत्कार पाया जाता है, वहां दूसरी ओर धर्म की आन्तरिक भावना उससे भी अधिक मूल्यवान है। सनातनधर्म की यथार्थ परिभाषा और लक्षण बताने में कठिनाई का अनुभव होता है। सनातनधर्म एक प्रकार की मान्यता या आचार तक सीमित नहीं, यह तो अनेक वर्ण, अवान्तर वर्ण, जाति और अन्तर्जातियों में स्वेच्छा से परिपालित आचार और विचार की समष्टि है। यह धर्म सबको स्वीकार करते हुए चलता है। सबके साथ सम्प्रीति और समन्वय सनातनधर्म की विशेषता है। यहां जैसे किसी मत या आचार का निराकरण है ही नहीं। वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा, नदी-पूजा, भूमि-पूजा आदि मौलिक मान्यताओं से लेकर वेदान्त प्रतिपादित औपनिषद् पुरुष या श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मत्व तक विचारों और आचारों के अनेक स्तर सनातनधर्म के अंग हैं। इस प्रकार कोट्यनुकोटि मानवों का जो एक शक्तिशाली राष्ट्र है, उसका धर्म—सनातनधर्म है। महामना मालवीय जी भी सनातनधर्म के इसी विराट् समूह का अभिन्न अंग अपने को मानते थे।

यह स्मरणीय है कि लोक में सहस्रों वर्षों से मान्य जीवनक्रम के अनुसार सच्चा सनातन-

धर्मी वही हो पाता है जो भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि स्वीकार करता है एवं जीवन और मरण के लिए जो इसी देश के भवचक्र को स्वीकार करता है। यह बात चाहे बड़े अक्षरों में कहीं लिखी न मिले तो भी इसके पीछे जो मौन समर्थन है, वह सर्वमान्य है। किसी भी धार्मिक कर्म के समय जो संकल्प पढ़ा जाता है, उसमें इस तथ्य का संकेत मिलता है। वैसे तो जब कभी राष्ट्र या भूमि के सम्बन्ध में कुछ कहने का अवसर आया तो सनातनधर्म के आचार्यों ने उभरे हुए शब्दों में कहा भी है—"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः" (अथर्ववेद, पृथिवी-सूक्त)।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।—रामायण
न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः।—पुराण

इस प्रकार की भावना में एक ऐसा सूक्ष्म रस है जो ऊपर से न दिखाई पड़ने पर भी सनातन-धर्म की समस्त ज्ञान और कर्ममयी पद्धति को सींचता रहता है। जीवन के लिए वह अमृत-भूमि है। हम नाम तो धर्म का लेते हैं, पर श्रद्धा का पूरा सम्पुट देश की संस्कृति के लिए अर्पित करते हैं। फलतः सनातनधर्म में धर्म, संस्कृति और मातृभूमि के प्रति श्रद्धा—ये तीनों तत्त्व परस्पर ओतप्रोत हो गये हैं।

महामना मालवीय जी के विचार और कर्मों पर हम ध्यान दें तो उनके पूरे स्वरूप की कुञ्जी ऊपर के सूत्र में मिल जाती है। जो इस देश का विराट् चिंतन है, जो यहां का शिष्टाचार प्रधान महान् कर्म है, जो इस देश की उत्कृष्ट संस्कृति है और नाना भाषाओं, धर्मों और जनों से भरी हुई जनपद और काननों वाली भूमि है, उन सबका प्रतीक, एकान्त निष्ठा, भक्ति और सेवा का मूर्त रूप ही मालवीय जी का व्यक्तित्व था। सनातनधर्म की परिभाषा के अनुसार जड़-चेतन, गुण-दोष इन दोनों के मिलने से विश्व की रचना हुई है। सनातनधर्म, जिसके प्रतिनिधि व्याख्याता मालवीय जी थे, जहां एक ओर गुणों का स्वागत करता है, वहीं दूसरी ओर जहां जीवन में त्रुटियां हैं, वहां उनके लिए भी अपने को ही उत्तरदायी मानता है। ज्योति और तम जैसे विश्व में हैं, वैसे ही मानव और समाज में भी हैं। 'अंधकार को हटाकर प्रकाश की स्थापना' यही सनातनधर्म का संघर्ष पक्ष है। इसी सूत्र में उसके विकास की कथा है।

सनातनधर्म में पूर्व या पुरातन के साथ प्रीति का भाव है, पर वह नूतन या अर्वाचीन युग का निराकरण नहीं करता। सनातनधर्म के इतिहास की यह अमिट विशेषता है कि उसने अपने उदय के उषःकाल से आजतक चारों ओर विकास किया है। धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला, साहित्य प्रत्येक की कहानी कालचक्र के परिवर्तन को प्रकट करती है। सनातनधर्म की स्थिति उस हंस के समान है जो सरोवर के मध्य में दूसरा पैर उठाने के लिये पहले पैर को स्थिर रखता है। महामना मालवीय जी के जीवन में यह सत्य अत्यन्त भास्वर रूप में दिखाई पड़ता है। यदि "अन्त्यजोद्धार विधिः" सम्बन्धी उनके बड़े लेख को हम देखें तो मालवीय जी के हृदय की अपार करुणा और उदा-रता प्राचीन उद्धरणों के रूप में गूंजती हुई सुनाई पड़ती है।

मालवीय जी युगपुरुष थे। ज्ञात होता है कि सहस्रों वर्षों के अनन्तर इस प्रकार का प्रज्ञाशील

नेता सनातनधर्म के क्षेत्र में उत्पन्न हुआ है। मालवीय जी के रूप में जैसे स्वयं सनातनधर्म ने ही जन्म लिया हो। उनके नेत्रों में एक ओर वेद के ज्ञान की रश्मियां थीं दूसरी ओर रामायण, महाभारत और पुराणों के आचारप्रधान और समन्वयप्रधान आदर्शों का उमंगता हुआ प्रवाह था और इसके साथ सार्वभौम न्याय एवं हितबुद्धि का भी आलोक था—ऐसे थे मालवीय जी—भीतर और बाहर एक समान शुद्ध-मानव मात्र की सेवा में अहर्निश तन, मन, धन से अपने आपको लीन कर देने वाले महामानव !

मालवीय जी के जो लेख या भाषण प्राप्त हैं, वे तो मालवीय जी रूपी समुद्र की केवल एक बूंद के समान हैं। मालवीय जी ने कितना सोचा, कितना कहा और कितना किया—इसका लेखा-जोखा असम्भव सा है। उन्हीं की प्रेरणा से प्रकाशित 'सनातनधर्म' नामक साप्ताहिक के लिए उन्हें यदा-कदा जो लिखना पड़ा, वे लेख मालवीय जी की साहित्य-रचना का स्वल्पांश ही हैं। वे जो कुछ कहते, वह साहित्य ही होता था। प्राचीन ऋषियों के समान अर्थ उनकी वाणी का अनुगामी था। अपने युग के वे अद्वितीय वक्ता थे। यदि आज अध्यात्म और धर्म सम्बन्धी अधिक लेख उपलब्ध नहीं हैं तो भी विषाद की बात नहीं, क्योंकि उनके परिमित लेखों को भी पढ़ने से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह है प्राचीन साहित्य और धर्म में मालवीय जी की अनुपम आस्था। जितनी भागवत है वह पूरी मानो मालवीय जी के ही विचारों को प्रकट करती है। मालवीय जी भागवत-मय हो गये थे। भागवत और महाभारत इन दो ग्रन्थों का जन्म भर वे पारायण करते रहे। इनमें सनातनधर्म के जो सशक्त परमाणु हैं उनके स्फुलिंगीय तत्त्वों से मालवीय जी के हृदय का निर्माण हुआ था। गीता, उपनिषद् और वेद इनमें से क्या मालवीय जी को प्रिय नहीं था ? वे यह मानते थे कि सनातनधर्म की महती परम्परा में एक ही अध्यात्मतत्त्व की अनेक प्रकार से व्याख्या हुई है और काल के सन्ततवाही प्रवाह में ये विभिन्न ग्रन्थ उन्हीं व्याख्याओं को लिए हुए हैं। गोस्वामी जी का रामचरितमानस उसी की एक कड़ी है। भारतीय धर्म और दर्शन का प्राचीन प्रवाह बहता हुआ मानों गोसाईं जी की कृपा से हिन्दी रामायण रूपी मानसरोवर में सबके लिए सुलभ हो गया है। "सबहि सुलभ सब दिन सब देसा" यह पंक्ति जैसे उनके व्यक्तित्व पर ही घटित हो रही है।

मालवीय जी के जो कुछ भाषण या लेख उपलब्ध हो सके हैं, वे उनके भीतर तपते हुए सूर्य की कुछ ज्योति प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त हैं। उनके दीर्घप्रज्ञ व्यक्तित्व की भणिति ही यह श्लोक है जो उन्हें अतिप्रिय था और जिसे कहते हुए वे नहीं अघाते थे—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

"मुझे पृथ्वी का समृद्ध राज्य नहीं चाहिए और मुझे मोक्ष भी नहीं चाहिए। मेरी तो यही उत्कट कामना है कि दुखों से तपाये हुए प्राणियों का कष्ट दूर करूं।" अपनी महायात्रा से लगभग एक सप्ताह पूर्व ही उन्होंने अपने अन्तरंग साथियों से कहा था, "मुझे मृत्यु के समय काशी में मत ले

जाना, मैं अभी मुक्ति नहीं चाहता। मेरी इच्छा है कि एक और जन्म में मानवों की सेवा अभी करूँ।" कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी की सबसे बड़ी कृति है। किन्तु स्वयं मालवीय जी ऐसा नहीं मानते थे। उन्हें भारतीय संस्कृति और भारतीय महाप्रजा सबसे अधिक प्रिय थीं जिनके लिये वे सौ हिन्दू विश्वविद्यालयों को भी त्याग सकते थे। ऐसा उन्होंने एक बार स्पष्ट कहा भी था। हिन्दू विश्वविद्यालय मालवीय जी की उत्कृष्ट रचना है। मालवीय जी के महान् संकल्पों का मूर्त रूप है, किन्तु इसकी स्थापना इसलिए हुई कि यह देश, संस्कृति और प्रजाओं की सेवा का एक साधन बने। कोई भी व्यक्ति जो इस विश्वविद्यालय से सम्बन्धित है, वह उस आदर्श पर चल कर ही मालवीय जी के ब्राह्म मन के समीप पहुँच सकता है, अन्यथा ज्ञान का व्यापार करने वाले तो बहुत हैं।

मालवीय जी ने जिन उच्च श्लोकों की रचना की थी या संकलन किया था, वे "धर्मसंस्थापना" शीर्षक के अन्तर्गत एकत्र किए गए थे। उनमें उनकी उदार दृष्टि प्रकट है। "यह भारतवर्ष जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है। धन, धर्म और ज्ञान का देने वाला यह देश सब देशों से उत्तम है। देश की उन्नति के कामों में जो पारसी, मुसलमान, यहूदी देशभक्त हों उनके साथ मिलकर काम करना चाहिए।" मालवीय जी ऐसे काल में हुए (१८६१-१९४६) जब देश, जाति और धर्म पर बहुत बड़ा संकट था। उन्होंने उसके निवारण के लिए अपने कर्म की पूरी शक्ति लगा दी। इसके लिए उन्होंने प्राचीन ऋषियों का तपोमय जीवन और व्रत ग्रहण किया। उन्होंने ब्राह्मणों के उच्च विचारों के साथ-साथ अपने लिए आकिंचन्य का व्रत भी स्वीकार कर लिया था। उनका व्यक्तिगत जीवन सब तरह से बारहवानी कंचन बन गया। जिन्हें उन्हें देखने का सौभाग्य मिला हो, वे उनकी अपूर्व कान्ति और शान्ति का स्मरण करेंगे। उनमें सेवा की अटट इच्छा थी और अपने पूरे समय और शक्ति को उन्होंने सेवाकार्य में अर्पित कर रक्खा था। सनातनधर्म की जो लोक-प्रसिद्ध परिभाषा है, उसके अनुसार हिन्दू वह है जो गंगा, गऊ, गायत्री का भक्त हो। मालवीय जी ने इन तीनों की सेवा का व्रत निभाया। निगमागम-सम्मत धर्म का प्रतीक गायत्री है। गंगा कोट्यनुकोटि लोगों की धर्मनिष्ठा का मूर्तरूप है, मानों सनातनधर्म की धारा ही गंगा के रूप में भूतल पर बह रही है। गावों में और नगरों में रहने वाली जो साधारण जनता है, उसके लिए गंगा ही धर्म है। इस सूत्र का तीसरा अंग गऊ की भक्ति है। तर्क से सोचा जाय तो कह सकते हैं कि गऊ की रक्षा का प्रश्न आर्थिक है, उसका धर्म से क्या सम्बन्ध? पर हिन्दूधर्म में गऊ का जो स्थान है, उसे समझने के लिए हिन्दू-धर्म की ही आंख से देखना होगा। जैसे गांधी जी कहा करते थे, "गाय को देखना चाहते हो तो मेरी आंख से देखो।" यही मालवीय जी की स्थिति थी और यही प्रत्येक हिन्दू की स्थिति है। यहां गाय केवल पशु नहीं, वह तो माता है। उसके शरीर में सब देवों का बास है। उसके दूध में अमृत है। वह घास खाकर दूध जैसा रसायन देती है। उसके बछड़े हलधर किसानों के साथी हैं जो भूमि को अन्न के मोतियों से भर देते हैं। ऐसी जिसकी महिमा हो उस गऊ के लिये जो कुछ किया जाय कम है और उसकी प्रशंसा में जितना कहा जाय अपर्याप्त है। हिन्दू-धर्म की दृष्टि से देश का हित, जनता का हित—इन दोनों का पर्याय गऊ है।

गऊ और उसका दूध साक्षात् ईश्वर है। वेदों के अनुसार हर एक वस्तु के उपकार की मात्रा है पर गऊ से जितना हित होता है उसकी माप नहीं है---

गोस्तु मात्रा न विद्यते--(यजुर्वेद)

मालवीय जी के गोरक्षा संबंधी विचार इसी मान्यता से उत्पन्न हुए थे। उनकी निजी दृष्टि में और उनके सब कार्यों में उनके गो-रक्षा संबंधी प्रयत्न उनके हृदय के निकटतम थे। जब विश्वविद्यालय अपने पैरों पर खड़ा होकर चलने लगा था तब भी गऊ की चिन्ता उनके मन में बनी थी। यदि भारतभूमि पर गऊ का वंश न बढ़ा तो महाशोक होगा। गऊ के बिना भारतीय प्रजाओं के वंश की क्या गति होगी, कोई नहीं कह सकता। प्राचीन निष्ठा को लेकर अर्वाचीन विज्ञान की पूरी सहायता से गोवंश और दुग्ध के उत्पादन की उन्नति, यह मालवीय जी के हाथ की लिखी हुई हुण्डी है जिसे हम सबको सकारना है।

संस्कृत भाषा का "धर्म" शब्द अत्यन्त उदात्त अर्थ रखता है। संस्कृत भाषा में अर्थ-ग्रथित शब्द बनाने की अद्भुत क्षमता रही है; किन्तु उसका भी जैसा उत्कृष्ट उदाहरण "धर्म" शब्द में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भारतवर्ष में जो कुछ सशक्त निर्माण-कार्य युग-युग के भीतर उत्पन्न हुआ है, उस सबका मथा हुआ नवनीत "धर्म" इस एक शब्द में समा गया है। हिन्दू मात्र के हृदय में यह शब्द अंकित है। आज जिसे हम संस्कृति कहते हैं, वही तो धर्म है। अपने "सनातन-धर्म" शीर्षक लेख में मालवीय जी ने पहले ही श्लोक में "धर्म" शब्द की वह व्यापक परिभाषा दी है जो इस देश में सदा से मान्य रही है। इस परिभाषा के दो सूत्र हैं---एक यह कि धर्म पूरे जगत् की टेक है (धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा) और दूसरी यह कि धर्म ही प्रजाओं के जीवन में सर्वोपरि तत्त्व है (तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति)। उसे ही दूसरे प्रकार से यों भी कहा है कि जो तत्त्व मनुष्य के, समाज के, राष्ट्र के और विश्व के जीवन को धारण करता है, वही धर्म है (धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः)। धारणात्मक नियमों का समादर ही धर्म है। व्यास की यही परिभाषा मालवीय जी को मान्य थी और वस्तुतः "सनातनधर्म" इस नाम के पीछे भी यही अर्थ अभिप्रेत है। हिन्दू-धर्म के अनुसार पन्थ, मत या सम्प्रदाय पृथक् हैं। क्योंकि धर्म शब्द का वह भी एक सीमित अर्थ है, इसलिए तत्त्वज्ञान की आधार-भित्ति और संस्कृति-परक जो धर्म का स्वरूप है, उसके प्रति मन में उद्वेग लाना उचित नहीं। भागवत में जो तीस लक्षणों वाला धर्म बताया गया है और मनु ने जिसे दस लक्षणों वाला धर्म कहा है, वही तो मनुष्यमात्र के लिए सर्वसामान्य सनातनधर्म है।

सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्।

मालवीय जी जिस धर्म के माननेवाले थे, उसका मूल ईश्वर है। हिन्दूधर्म के सब शास्त्र इसी मूल भित्ति पर खड़े हैं। ईश्वर आनन्दमय है। उसका दर्शन विलक्षण रसानुभूति है। ईश्वर की सिद्धि के लिये तर्क का आश्रय वृथा प्रयास है।

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंदरासी।।

इस प्रकार की जो सत्ता है, वह स्वयं सिद्ध है; उसके लिए तर्क आवश्यक नहीं। सनातन-धर्म की दृष्टि से ईश्वर के लिये श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण और आप्तों के वाक्य ही पर्याप्त हैं। तरंगित मन से श्रद्धापूर्वक ईश्वर के गुणों का वर्णन ही किया जा सकता है। यही शैली मालवीय जी के "ईश्वर" लेख में पायी जाती है। जैसे उपनिषत् प्रमाण में उन्होंने लिखा है—"ईश्वर को कोई आंखों से नहीं देख सकता, किन्तु तप से व्यापक मन को पवित्र कर विमल बुद्धि से ईश्वर को देख सकता है।" इस विश्व में और मनुष्य के जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं जो ईश्वर की सत्ता, ईश्वर की विभूति और उसके आनन्द से व्याप्त न हो। ईश्वर की अद्वितीय सत्ता को, जिसे ब्रह्म भी कहा गया है, स्वीकार करते हुए सनातनधर्म की दूसरी विशेषता त्रिदेवों की कल्पना है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों सृष्टि, पालन और संहार की शक्तियां हैं, जो एक ही मूलशक्ति के त्रेधा विभाग हैं। परमात्मा में जो एक अद्वैत तत्त्व है, वही विश्वगत व्यवहार के लिये तीन रूपों में प्रकट हो रहा है। इनके एकत्व की आस्था परमार्थ है, भेद की कल्पना व्यवहार है। इन तीनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जिन्हें पुराणों में उपासना के लिये तीन देव कहते हैं, वे ही दर्शन की परिभाषा में विश्व के तारतम्य की व्याख्या करने के लिये सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण कहलाते हैं। वेदों में उन्हें ही अव्यक्त, अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। इस प्रकार त्रिकवाद सनातनधर्म और भारतीय तत्त्वज्ञान की दृढ़ नींव है। इसी मान्यता से सब देवों और देवियों का विकास हुआ है। यदि एक बार त्रिक के इस मूलरूप का अर्थ जान लिया जाय तो सनातनधर्म को समझने में कठिनाई नहीं होगी। मालवीय जी ने अपने "ईश्वर" शीर्षक लेख में अनेक प्रमाणों से एकब्रह्म और उसके तीन रूपों का बहुत ही रसपूर्ण विवेचन किया है।

उनकी दृष्टि में ईश्वर-दर्शन के दो रूप हैं। एक अपने अंतःकरण में जिसे गीता में "हृद्देश" कहा है। यह "हृद्देश" प्रत्येक मनुष्य के निजी व्यक्तित्व का मूलभूत केन्द्र है जो किसी स्थान विशेष या अवयव विशेष में नहीं है; किन्तु जो अव्यक्त होते हुए भी हमारे भीतर ही है। यही समस्त प्रेरणाओं का स्रोत है। ईश्वर का दूसरा रूप बाह्य विश्व में और मनुष्यों में व्याप्त है। यह अपने-अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। कोई उसे भीतर ढूंढ़ते हैं, कोई बाहर। किन्तु सनातनधर्म की दृष्टि से सत्य यह है कि वही एक ज्योतिर्मय तत्त्व भीतर भी है और बाहर भी। जब इस प्रकार की प्रतीति जीवन का अंग बन जाती है, तब मनुष्य आत्मसेवा और परसेवा में भेद नहीं देखता और करुणात्मक कर्म की भावना से सबके सुख और सबके कल्याण की कामना करने लगता है। यही तो मालवीय जी के जीवन में धर्म और ईश्वर की प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभूति थी।

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्", "भगवान् कृष्ण की महिमा", "कृष्णः शरणदः सताम्" तथा "भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ उपदेश"—इन लेखों में मालवीय जी ने कृष्ण के सम्बन्ध में अपनी भक्ति को उंड़ेल दिया है। सनातनधर्म की दृष्टि से भगवान्, परमात्मा, अव्यय, अद्वैत-तत्त्व और कृष्ण—ये पर्यायवाची शब्द हैं। शब्दों में भेद हैं, अर्थों में गूढ़ एकता है और इतने ही नाम क्यों, यह सूची सहस्रों अन्य नामों तक पहुंचती है। और एक ही भाषा क्यों, जितनी भाषायें हैं उनमें जितने ईश्वर के नाम हैं, सनातनधर्म सबको स्वीकार करता है। यही इस धर्म की महती

विजय है और इससे मतभेद सम्भव नहीं। राम और कृष्ण एक ओर परब्रह्म के वाचक हैं और दूसरी ओर नर रूप में नारायण के अवतार हैं जो अपने चरित्रों से मानव के लिए आदर्श स्थापित करते हैं। कृष्ण के विषय में तो भागवतों का दृष्टिकोण और भी विलक्षण है। विश्व में जो सनातन बालभाव है, उसके प्रतीक कृष्ण हैं। वस्तुतः सृष्टि-रचना की दृष्टि से इस प्रकार के बालभाव की लीलाओं की उपासना मानव के लिए आवश्यक है। वेद की दृष्टि से यह विश्व अग्नि-सोमात्मक है। अग्नि और सोम—ये ही प्रत्येक रचना के दो मूल तत्त्व हैं। इन्हीं दोनों की संयक्त संज्ञा अर्धनारीश्वर शिव है।

यही कारण है कि भागवत का सबसे रसमय अंश कृष्ण की बाललीला का गान है और उसके प्रवक्ता भी बालभाव से युक्त महाभागवत शुकदेव हैं। कृष्ण की बाललीलाओं में भी, जिनका गान करते हुए मालवीय जी कभी नहीं अघाते थे, लीलातत्त्व का ही दर्शन करना चाहिये। लीला और मानवीय इतिहास की घटना में अन्तर है। घटना देशकाल से विजड़ित होती है, लीला नित्य है। घटना मर्त्य और लीला अमृत है। इस प्रकार कई युगों में भागवत आन्दोलन ने भगवान् कृष्ण के बालभाव की जिन लीलाओं का प्रतिपादन किया है, उस लीलातत्त्व को मालवीय जी के समान समस्त हिन्दू नर-नारी हृदय से मानते हैं। पूतना-वध, यमलाजुन, तृणावर्त, धेनुकासुर, केशी, कालियमर्दन, दावानल-आचमन, गोवर्धन-धारण आदि लीलाओं में इतिहास की घटनाओं का अन्वेषण बालिश बुद्धि ही कर सकती है। भागवतीय दृष्टि से इनमें सृष्टि के तत्त्वों की ही व्याख्या है। उनके प्रतीकों को ठीक-ठीक समझ लेना, यही सनातनधर्म का ऊंचा धरातल है। और न केवल कृष्ण-चरित्र बल्कि समस्त पुराण-साहित्य और वैदिक साहित्य इसी प्रकार के गूढ़ साँचे में ढाला गया है। वहां शब्दों की वाह्यराशि के पीछे अर्थों की जो छिपी हुई सरस्वती है, वही धर्मतत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। देव और असुरों का संघर्ष—यही सृष्टि का मूल तारतम्य है। राम और कृष्ण देवतत्त्व के प्रतीक हैं। असुर का पराभव उनका शाश्वत ईश्वरतत्त्व है। मालवीय जी के लिये राम-कृष्ण दोनों एक ही ईश्वर के दो रूप थे। यह संयोग ही है कि राम के सम्बन्ध में उनका कोई अलग लेख उपलब्ध नहीं है किन्तु वे जिस सनातनधर्म के भक्त थे, उसमें जो कृष्ण हैं, वही राम हैं।

जिस अद्वैत सनातन तत्त्व को राम और कृष्ण कहते हैं, वही महादेव हैं। भगवान् शिव के विषय में सनातनधर्म की जो आस्था और दृष्टिकोण है, वह "महादेव माहात्म्य" लेख में प्रकट है। भागवतधर्म की समन्वयात्मक दृष्टि में शिव और विष्णु एक ही देवतत्त्व की दो संज्ञायें हैं। उस युग में माहेश्वर और पंचरात्र वैष्णव—दो सम्प्रदाय मुख्य थे। माहेश्वर या पाशुपत शिव के उपासक और पंचरात्र वैष्णव के उपासक थे; किन्तु दोनों नीर-क्षीर की भांति एक दूसरे से मिले हुए थे। इस समन्वय और सम्प्रीति का सबसे सुन्दर उदाहरण विक्रम की पहली सहस्राब्दी में कालिदास और दूसरी सहस्राब्दी में तुलसीदास हैं। समन्वय की भागवतीय दृष्टि ही हमारी सम्पूर्ण राष्ट्र की दृष्टि बन गई है। न केवल धर्म के क्षेत्र में बल्कि राष्ट्रों के विरोधी विचारों के बीच में भी भारतवर्ष के लिए समन्वय का दृष्टिकोण अपनाना सरल है; क्योंकि समवाय, समन्वय और सम्प्रीति—यही भारत के सांस्कृतिक मंथन की सबसे ऊंची उपलब्धि है। मालवीय जी ने

इस लेख की सामग्री महाभारत के अनुशासनपर्व से ली है। लेख की भूमिका विचित्र है। उसमें कहा गया है कि भगवान् कृष्ण ने एक सहस्रवर्ष तक हिमालय में तप किया और उससे चराचर के देव शिव को प्रसन्न किया तथा भगवान् शिव के भक्त उपमन्यु से शिव की महिमा का श्रवण किया। इसी प्रकरण का एक अंश वह है जिसमें तण्डी मुनि द्वारा शिव के सहस्रनामों का परिगणन है। यहां सनातनधर्म की दृष्टि से दो तत्त्व ध्यान देने योग्य हैं—एक महादेव के रुद्रतत्त्व की व्याख्या और दूसरा सहस्रनामों की साहित्यिक शैली की कल्पना। महाकवि कालिदास ने लिखा है—"न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः"—अर्थात् भगवान् शंकर के रूप की यथार्थ व्याख्या दुष्कर है एवं "न विश्वमूर्तेरवधार्यतेवपुः", अर्थात् विश्व ही जिनका रूप है, ऐसे भगवान् महादेव के विषय में इदमित्थं कहना अशक्य है। वेद बार-बार उपदेश देते हैं कि जो सृष्टि का मूल कारण अग्नि है, वही रुद्र या शिव है। जो देवादिदेव इन्द्र है, वही महान् देव शिव है। "अग्निर्वैरुद्रः" इस प्रकार की घोषणा ब्राह्मण ग्रन्थों में बार-बार पाई जाती है।

यह जो आकाश में नित्य उदित होने वाला भास्वर सूर्य है, वही अग्नि, इन्द्र और महान् देव रुद्र है। उसीकी किरणें भगवान् शंकर की जटायें हैं जिनके कारण सूर्य केशी और शिव कपर्दी कहे जाते हैं। शिव के मस्तक पर जो चन्द्रमा है, वह सोमात्मक मन है, जो अमृत का रूप है। मन की ज्योतिष्मती समाधि ही अमृत की प्राप्ति है। योग द्वारा शिव का मन समाधिवश्य हो गया है। उन्होंने इन्द्रियों के नव द्वारों की विषय वृत्तियों को जीत लिया है। यही उनका विषपान कर लेने पर अमृत स्वरूप है। मृत्यु की विजय—यह शिव का सबसे महान् पराक्रम है। भूत, तम, असुर, मृत्यु, विष, सर्प—ये पर्यायवाची हैं। भगवान् शिव ने इन सबको अपने वश में किया है। प्राण-तत्त्व की संज्ञा अमृत और भूत की संज्ञा मृत्यु है। शिव भूतों के अधिपति हैं। जितने प्रमथ या विकार हैं, वे उनके वश में हैं। प्रमथ या गण चंचल होते हैं, किन्तु उनके अधिष्ठाता शिव स्थाणु या स्थिर हैं। उपनिषदों में प्राण को रुद्र या शिव ही कहा है। एकादश प्राण ही एकादश रुद्र हैं। रुद्र के शरीर पर जो विभूति है वह यही पंचतत्त्वात्मक देह है। यह पंचभूतों से बनी है। प्राण के विना यह चिताभस्म है किन्तु शिव के सान्निध्य से यह भस्म अत्यन्त पावन समझी जाती है। शिव के मस्तक पर उनकी जटाओं में जो गंगा की धारा है, वही तो विश्वात्मक प्राण की महती धारा है जो स्वर्ग से पृथ्वी पर आ रही है। इसके जल का प्रोक्षण पाकर मानव-शरीर की मुट्ठी भर भस्म पुनः स्वर्गीय बन जाती है। जिसमें गम-गम्-गम् या गति है, वही प्राण है, वही अमृत है। वही अमृत शिव के पास है अथवा अमृत ही शिव है। शिव महाकाल हैं।

प्राचीन वैदिक दर्शन में कालतत्त्व को सृष्टि का मूल माना गया है। काल के दो रूप हैं—एक निरपेक्ष और दूसरा सापेक्ष। निरपेक्ष काल को महाकाल कहते हैं और सापेक्ष काल को कुटिल काल कहते हैं। महाकाल अमृत और सापेक्ष काल मृत्यु है। अमृत-मृत, सत्-असत्—दोनों शिव के स्वरूप में एक साथ विद्यमान हैं। आग्नेय शिव या रुद्र के पुत्र स्कन्द हैं और उनके सोमात्मक वपु के प्रतिनिधि गणपति हैं। भागवत धर्म में अग्निरूपी सूर्य के प्रतिनिधि राम हैं और सोम के कृष्ण। वेदों में सृष्टि के मूल कारण सोम के समुद्र को गो स्थान या गोष्ठ भी कहा है। जो गोष्ठ

है, वही व्रज है। सब प्रकार की गतियां वहीं से जन्म लेती हैं और गति की संज्ञा ही गऊ है। अतएव सोम के प्रतिनिधि कृष्ण का जीवन गऊ और गोपमय है। समस्त गौवों के गोप स्वयं कृष्ण हैं। वैदिक मान्यता के आधार पर अग्नि पिता और सोम माता हैं। इसी कारण सोमात्मा कृष्ण के जीवन के साथ गोपियों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है। इन तथ्यों को लेकर भागवतों ने सोम प्रधान धर्म के प्रतीक रूप में गऊ, गोपी और गोपाल इनकी लीलाओं का रसमय वर्णन किया है। यहां लीला तत्त्व पर भी विचार करना आवश्यक है।

ईश्वर या किसी आद्यशक्ति के मन में सृष्टि की प्रेरणा क्यों हुई? यह प्रश्न धर्म और विज्ञान दोनों में उत्पन्न होता है। इसके अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। किन्तु इसका जो सबसे सहज उत्तर है, वह यही कि विश्व भगवान् की वैसी ही लीला है जैसी बालक की क्रीड़ा होती है। क्रीड़ा के लिये दो तत्त्व आवश्यक हैं—एक हार्दिकता दूसरा निःसंगता या वैराग्य। एक ही साथ इन दोनों की विद्यमानता आवश्यक है। जो व्यक्ति क्रीड़ा करता है वह अपने हृदय की पूरी शक्ति लगाता है और साथ ही उसमें लिप्त नहीं होता, नहीं तो वह प्रवृत्ति क्रीड़ा नहीं रहेगी। क्रीड़ा का ही दूसरा नाम लीला है। हार्दिकता और वैराग्य या निःसंग भाव—इन दोनों की सत्ता यदि कहीं सम्भव है तो ईश्वर में या ईश्वर के प्रतिरूप बालक में—शुकदेव सदृश उन वीतराग पुरुषों में जो वयस्क होने पर भी बालभाव से ओतप्रोत रहते हैं।

शिव के मस्तक में चन्द्रमा और कण्ठ में विष है। "चन्द्रमा मनसो जातः", इस सूत्र के अनुसार चन्द्रमा मन, चैतन्य या अमृत का प्रतीक है और कण्ठ आकाशादि पंचभूतों का। पंचभूतों में विष और मनस्तत्त्व में अमृत का निवास माना जाता है। प्राण इन दोनों के बीच में हैं। जब वह मन के साथ जुड़ता है तो अमृतात्मा बन जाता है और जब भूतों के साथ मिलता है तब मृत्यु का अनुगामी बन जाता है। भगवान् शिव नटराज कहे गये हैं। वैदिक मान्यता के अनुसार यह सारा विश्व ही देवों के नर्तन से उत्पन्न होता है और स्थिति एवं संहार को प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा है कि विश्व की शक्तियों के अभिमानी देव पहले समुद्र में छिपे हुए थे। वहां उनमें हलचल हुई और उन्होंने नृत्य किया। उस नृत्य से जो तीव्र धूलि उठ खड़ी हुई, वही तो यह पार्थिव विश्व है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्ररेणुरजायत।।

—ऋग्वेद, १०।७२।६

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में इन्द्र को "नृतु" अर्थात् नटराज कहा गया है—नह्यंग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे, अर्थात् हे इन्द्र! हे नटेश्वर! तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को मैं कल्याणकारी नहीं देखता। वस्तुतः जो नृत्य है, वही विश्व के विकास का छन्द है। वही स्पन्दन, जागरण या क्षोभण है। उसे ही विश्वकर्मा का संधमन कहते हैं। वही प्राणन और अपानन है। उसी से समंचन और प्रसारण, संकोच और विकास की क्रियायें होती हैं। इस समस्त विश्व के

प्रत्येक परमाणु में और दूसरे नक्षत्रों में प्रजापति ने इसी विराट् स्पन्दन या नृत्य के द्वारा सृष्टि की है। यही भगवान् शंकर का ताण्डव है। ताण्डव विद्या के रहस्य को जानने वाले तण्डी मुनि ने शिव के सहस्रनामों का उपदेश किया था।

सहस्रनामों की साहित्यिक शैली संस्कृत की अपनी विशेषता है। यहां कोई प्रमुख देव ऐसा नहीं जिसके लिए सहस्रनामों की कल्पना न की गई हो। वस्तुतः वैदिक परिभाषा के अनुसार देव के अपरिमित भाव को सहस्र और मनुष्य के परिमित भाव को शत कहते हैं। मनुष्य शतायु और देव सहस्रायु होते हैं। प्रजापति स्वयं सहस्रायु थे और उनका यह विश्वयज्ञ सहस्र संवत्सरात्मक है। इसी आधार पर देवों के लिए सहस्रनामों की कल्पना हुई। दिव्यभाव को ही सहस्रभाव कहते हैं। बुद्ध ने कश्यप के आश्रम में जो सहस्ररूप धारण किये उसका भी यही संकेत है। इसका एक दूसरा दृष्टिकोण यह भी है--जो वस्तु भौतिक है उसके वर्णन की इयत्ता या मर्यादा है किन्तु जो अभौतिक या दिव्य है उसके लिए वाणी की सीमा नहीं। वह शब्द के अतीत है। अतएव सहस्रनामों द्वारा ही उसकी प्रतीति कराई जा सकती है। इसीलिये दैवी वाक् को सहस्र वाक् कहते हैं जब कि मानुषी वाक् का छन्द अष्टाक्षर, नवाक्षर या दशाक्षर होता है। सहस्रनामों की सूची को देखा जाय तो इसमें अनेक नाम समान मिलते हैं। इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि देवतत्त्व एक है और उसी को ज्ञानी अनेक नामों से कहते हैं। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" १।१६४।४६) यही ऋग्वेद का सिद्धान्त है और यही विश्वकर्मा प्रजापति के लिए सत्य है। वही सब देवों में व्याप्त है और जितने नाम हैं सब उसमें घटित होते हैं--

यो देवानां नामधा एक एव,
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्या ॥--ऋग्वेद, १०।८२।३।

भारतीय दर्शन, तत्त्वचिंतन, धर्म, नीति और आचार की जितनी उत्तम-उत्तम उपलब्धियां हैं, उनके संकेत इन नामों में हैं। वस्तुतः इन सहस्रनामों को हम संस्कृत वाङ्मय की विषय-सूची के रूप में देख सकते हैं। भगवान् शंकर का यह सहस्रनाम रूपी स्तवराज वेद और वेदांगों में कहे हुए नामों की एक विलक्षण माला है जिसमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मा और ऋषियों ने जिन शब्दात्मक प्रतीकों का निर्माण किया था, उन्हें हम बारम्बार पाते हैं। यदि एक सहस्रनाम की भी पूरी व्याख्या की जाय तो मानों हम अपने पूरे धर्म और दर्शन की व्याख्या ही करने लगेंगे।

शिव के ज्योतिर्लिंग का क्या तत्त्व है? उनका नन्दी वृष कौन है? उन्हें त्र्यम्बक क्यों कहा गया है? स्वामी कार्तिकेय या स्कन्द का स्वरूप क्या है? तारकासुर कौन है? शिव की त्रिपुरारि संज्ञा का क्या अर्थ है? उनके ऊपर जल की बूंदों के अभिषेक का क्या अर्थ है? पंचमुख क्या है? उन्हें अष्टमूर्ति क्यों कहा जाता है? सनातनधर्म अपनी महती परम्परा में वेदों और पुराणों के द्वारा इन प्रश्नों का उचित समाधान करता है। यह जो आकाश में महान् भास्वरज्योति सूर्य हम देखते हैं यही तो भगवान् का ज्योतिर्लिंग रूप है। यह एक सूर्य क्या है? कोटि सूर्यों की परम्परा में पड़ी एक कड़ी है। इनके आदि और अन्त की शृंखला का कोई परिचय न दर्शन को प्राप्त

हुआ न विज्ञान को। एक ब्रह्मा की युक्ति है, दूसरी विष्णु की। वैज्ञानिक ब्रह्मा की तरह अपने दूरवीक्षण यन्त्रों से ज्योति के इस महान् स्तम्भ का आरम्भ जानना चाहते हैं। पर उसका ज्ञान अशक्य है। अतएव असत्य का आश्रय लेकर कुछ ऐसा ब्योंत रचना पड़ता है, मानों हमने प्रकाश वर्षों की बड़ी-बड़ी संख्याओं का आश्रय लेकर ज्योतिस्तम्भ का स्वरूप या इयता जान ली हो। दूसरी ओर विष्णु का मार्ग है। उसमें यह पूर्व से ही विदित है कि इस ब्रह्मा रूपी महाज्योति का कोई अन्त नहीं है। अनन्त को ही पूर्ण कहते हैं। जो पूर्ण है उसमें एक-दो-तीन संख्या वाले गणित की दाल नहीं गलती। प्राचीन ऋषियों ने इस एक सूर्य को देखकर सहस्र सूर्य और कोटि सूर्यों की और अनन्त के एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की कल्पना की, और प्रश्न किया कि यह सूर्य किसकी ज्योति है (किं स्वित् सूर्य समं ज्योतिः) ? इसके उत्तर में यही कहा—"ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः"। यह जो महान् देव के अव्यक्त स्वरूप का एक ज्योतिर्बिन्दु है, यह ब्रह्म ही तो है। पर इसे कौन जानता है? और कौन कह पाया है?

जिसे हम नन्दी वृष कहते हैं, वही तो आनन्द का प्रतीक है। नन्दी और आनन्द पर्याय हैं। आनंद ब्रह्म का ही रूप है। उसी से सब प्राणी जीवित रहते हैं और उसी की अभिलाषा करते हैं। आनन्द का ही एक प्रभावशाली रूप काम है। काम की संज्ञा वृष है। रेत वर्षण द्वारा प्रजा का उत्पादन और आनन्द की अनुभूति होती है। उसी वृष-धर्म से सृष्टि की सत्ता है। वेदों में सूर्य को ही वृष कहा गया है क्योंकि वह द्युलोक से अपनी रश्मियों का विकिरण करके प्रतिक्षण पृथ्वी को गर्भित करता रहता है। भगवान् शिव त्र्यम्बक भी कहे गये हैं। ऋग्वेद में ही यह संज्ञा आती है। तीन जिसकी मातायें हैं, या तीन जिसके उद्बोधन के लिये नेत्र हैं, वह त्र्यम्बक है। सूर्य चन्द्र और अग्नि इन्हें तीन नेत्र कहा गया है। पृथ्वी-अंतरिक्ष-द्यौः, मनः-प्राण-वाक्, यही तो तीन मातायें हैं, जिनसे प्राणरूपी अग्नि का जन्म होता है। यह जो द्यावापृथ्वी रूप विश्व है, इसमें द्युलोक पिता और पृथ्वी माता है। इसे ही रोदसी ब्रह्माण्ड कहते हैं। यह रोदसी बाहर भी है और प्रत्येक प्राण केन्द्र में भी है। यही रुद्र की सृष्टि है। इसकी दो विशेषतायें हैं—एक तो इसके अन्तराल में जितने प्राणियों का जन्म होता है वे सब माता-पिता रूप द्वन्द्व से ही उत्पन्न होते हैं। पशु-पक्षी-वृक्ष-वनस्पति मनुष्य सब में इसी नियम का राज्य है। शिव स्वयं अर्द्धनारीश्वर हैं, अतएव अग्नि-सोमात्मक मैथुनी सृष्टि ही उनकी रोदसी लोक की विशेषता है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र का दूसरा अर्थ "यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः", बालक बनकर जो रोया वही रुद्र कहा गया। रुदन का तात्पर्य बुभुक्षा से ही है, उसे वैदिक भाषा में अशनाया कहते हैं। जब भूख लगती है तब अन्न के लिये बालक रोता है। वस्तुतः बालक के भीतर जो वैश्वानर अग्नि रुद्र का रूप है, वह अन्न या सोम के लिये व्याकुल हो जाती है, यही रुद्र का रुदन है। प्रत्येक व्यक्ति इस दृष्टि से बालक का ही प्रतिरूप है। उसके भीतर रहने वाला प्राण ही बालक या कुमार है। जब उस रुद्र को सोम या अन्न नहीं मिलता तो वह घोर हो जाता है। और धू-धू करके इस शरीर को ही जलाने लगता है। वह रुद्र या भैरव रूप है। भैरव के हाथ में भिक्षाकपाल रहता है, वह अन्न चाहता है। रुद्र की भिक्षाटन मूर्ति भैरव है किन्तु जब हम उस बुभुक्षित अग्नि को अन्न या

सोम देते हैं तो वह तृप्त हो जाता है, उसके उस शान्त रूप को शिव कहते हैं। यह जो प्रत्येक के भीतर रुद्र या अग्नि का बाल-भाव है यही तो स्कन्द या कुमार है। षट्चक्रों में प्राणाग्नि का तेज सम्भृत होने से कुमार का जन्म होता है। इसीलिए इसे छः माताओं का पुत्र कहते हैं। जो तारकासुर है, वह मन है। तारक तारा या चन्द्रमा है; जैसा ऋग्वेद में कहा है "चन्द्रमा मनसो जातः" अर्थात् प्रजापति के मन से ही चन्द्रमा का जन्म हुआ है। यही तारक जब शरीर की शक्ति से विद्रोह करता है तब यह असुर है। इसे वश में करना प्रत्येक कुमार के लिए आवश्यक है। स्कन्द को अग्नि का पुत्र कहा गया है। रुद्र रूप अग्नि और अग्नि का पुत्र, प्रतीक भाषा के अर्थ में, इन दोनों के मूल में एक ही भाव है। तारक की भांति त्रिपुर भी एक असुर है। पुराणों के अनुसार सत्-रज-तम—यही तीन पुर है। सत् को सुवर्ण, रज को चांदी और तम को लोहा कहा जाता है। इन तीनों धातुओं से तीन पुर प्रत्येक प्राणी के भीतर बने हुए हैं। इन्हीं को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति कहा गया है। इन तीन अवस्थाओं के द्वारा ही चेतना अभिव्यक्त होती है। कथा के अनुसार शिव ने अपने एक बाण से इन तीन पुरों को वेध दिया तभी त्रिपुरासुर वश में आया।

इसी प्रकार मानवीय चेतना तभी संयत होती है जब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—शान्ति और शक्ति के लिये आपस में विद्रोह न करके परस्पर अनुस्यूत हो जाते हैं। शिव के मस्तक पर जो घटाभिषेक किया जाता है, वह अग्नि द्वारा सोमपान का ही रूपक है। प्रत्येक शरीर के भीतर प्रकृति की ओर से यह घटाभिषेक हो रहा है। हमारे भीतर प्राणाग्नि है और वही शुक्र रूपी सोम या मधु है। सोम को अग्नि प्रतिक्षण खा रही है। जब तक अग्नि को सोम मिलता है, अग्नि शिव या सकुशल रहता है। वही अग्नि का अघोर रूप है। जब अग्नि घोर हो जाता है तब उसे ही यम कहते हैं। तभी अमृत रूप शिव मृत्यु रूप यम हो जाते हैं।

इस प्रकार जिस सनातनधर्म को मालवीय जी मानते थे और एकाधिक स्तोत्र या वर्णनों के द्वारा उन्होंने जिसका स्वरूप अपने लेखों में सामने रक्खा है, वह सृष्टिविद्या की ही परिभाषाओं पर आश्रित है। उसे पहचानने के लिये प्रज्ञा का नेत्र चाहिए। जिसके पास वह आंख है वह उसे देखता है, दूसरा नहीं (पश्यद् अक्षण्वान् नो विचेतदन्धः—ऋग्वेद, १।१६४।१६)। एक-एक देवता का स्वरूप सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का पूरा ग्रन्थ ही है। इन्हीं महाग्रन्थों की समष्टि सनातनधर्म है। यहां तो अव्यक्त या परोक्षभाव का ही महत्त्व है। प्रत्येक स्थूल भूत के पीछे जो उसका प्राणतत्त्व है, वही देवता है। ऋषि लोग स्थूल भूत में प्राण का दर्शन करते थे और उसी को देव की महिमा जानकर प्रणाम करते थे। अग्नि, इन्द्र, रुद्र, शिव, मित्र, वरुण, अदिति, अश्विनी, विष्णु, गणपति—इन अनेक देवों के रूप में सतानतनधर्म की बारहखड़ी कही गई है। देवतत्त्व एक है पर वह अनेक रूपों में कहा, सुना और देखा जाता है। देवों का न कभी अन्त हुआ, न हो सकता है। उनके रूपों का उद्भव, विकास और परिवर्तन इतिहास के अधीन होता रहता है पर जो "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः," "एक एक अग्निर्बहुधा समृद्धिः", "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "यो देवानां नामधा एक एव" इत्यादि वचनों के अनुसार मूलभूत एक देव है, वही सत् तत्त्व है। वही नारायण है, वही विष्णु है। हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी, महादेव, ब्रह्म उसी की संज्ञायें हैं। सनातन-

धर्म का यह गूढ़ रहस्य है, उसके समस्त इतिहास और विस्तार में यह तथ्य ओत-प्रोत है। प्रत्येक सनातनधर्मी के हृदय पर इसकी छाप लगी हुई है। मालवीय जी जिस उदात्त सनातनधर्म के व्याख्याता और अनुयायी थे, वह ऋषियों की प्रज्ञा का फल है। मालवीय जी प्राचीन ऋषियों के सच्चे प्रतिनिधि थे। डा० कुमारस्वामी कहा करते थे कि यह जो सनातनधर्म है, यह विश्व का नित्य तत्त्वज्ञान है ((Philosophia Perennis)) यह शब्द यथार्थ है। यहां तो धर्म, दर्शन और आचार—इन सबका विचित्र संगम है। ब्रह्म विचार, आचारात्मक कर्म और ईश्वर में भक्तिमयी आस्था—इन तीनों की समष्टि ही सनातनधर्म रूपी तीर्थराज है।

"अन्त्यजोद्धार विधिः" लेख भी मालवीय जी के विशेष दृष्टिकोण का परिचायक है। उन्हें कुछ लोग प्राचीनतावादी समझते थे और वस्तुतः वे थे भी। किन्तु धर्म की जो प्राचीन पद्धति है उसकी रक्षा करते हुए वे नूतन युग की आवश्यकताओं से परांगमुख नहीं थे। इसके अतिरिक्त मानवमात्र के प्रति जो करुणा और न्याय की भावना उनके हृदय सागर की लहरों की भांति तरंगित थी उस करुणा को उन्होंने अपने इस लेख में उंडेल दिया है।

सामाजिक वर्णधर्म और आश्रमधर्म के समुदाचारों का प्रतिपालन करते हुए भी वे समाज को ब्रह्मा के अंग की भांति अविभाज्य मानते थे। "पूरे शरीर का स्वास्थ्य तभी सम्भव है जब प्रत्येक अंग स्वस्थ हो"—यह मालवीय जी के विचार और प्रचार का ध्रुव दृष्टिकोण था। जब वे स्वयं गंगा के तट पर चतुर्थवर्ण को दीक्षा देने लगे तो लोगों ने समझा कि मालवीय जी क्रान्ति कर रहे हैं। किन्तु स्वयं मालवीय जी ने यही माना कि वे नया कुछ भी नहीं कर रहे थे। वे तो श्रुति, स्मृति, महाभारत और मनु एवं राम और कृष्ण ने जो कुछ कहा और किया है, उसी का पालन कर रहे थे। यदि सनातनधर्म का यह दृष्टिकोण न होता तो अनेक सन्त-महात्माओं के द्वारा इसे जो तेज प्रदान किया गया था, वह नहीं टिक सकता था। मालवीय जी का व्यक्तित्व जिन परमाणुओं से बना था, उनके अनुसार वे ऐसे नेता थे जो जन समुदाय को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ते थे। जनता को पीछे छोड़ कर स्वयं अग्रगामी बन जाना उन्हें इष्ट न था। वे तो उस धरातल पर कार्य करते थे जहां शास्त्र का भी पालन हो और आचार की भी रक्षा हो, आत्महित और परहित दोनों का समन्वय हो। सनातनधर्म या हिन्दू जाति एक बड़े भवन के समान है, उसके कुछ कोठों में प्रकाश है, कुछ में अन्धकार है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करता है। देखना होगा कि गोस्वामी तुलसीदास की भांति मालवीय जी भी कितने नये कोठों को प्रकाश से भर गये। ऐसा करने में राम की भक्ति, कृष्ण की भक्ति, भगवान् शिव की भक्ति ही उनका एकमात्र सम्बल थी।

आचार्य रामगोविन्द त्रिवेदी

पुण्यश्लोक महामना मालवीय जी

कहते हैं—"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्" अर्थात् इस विश्व में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं देखी गयी, जो न तो निर्दोष हो, न निर्गुण हो। सबमें कुछ दोष भी रहता है और कुछ गुण भी। इस परिभाषा के एकमात्र अपवाद भगवान् कहे गये हैं। यह कवि-कल्पना नहीं है, प्रत्यक्ष सत्य है। संसार के महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ दोष दिखायी देता है।

टालस्टाय की झक थी कि 'मैं पक्षियों की तरह आकाश में उड़ सकता हूँ।' उसने उड़ने का प्रयत्न भी किया और छत से जा गिरा। गोर्की ने किशोरावस्था में तीन बार आत्महत्या की चेष्टा की। वाल्टेयर मरा तो ८४ वर्ष की अवस्था में; परन्तु मृत्यु के भय से जीवन भर काँपता रहा! न्यूटन दूकान पर सौदा खरीदता और दूकानदार यदि उसे पैसा लौटाता तो उसे वह बार-बार गिनता और बार-बार भूलता! गेटे को सदा अपनी तसवीर देखने की धुन सवार रहती थी! शोपेनहार उस्तरे से इतना डरता था कि बाल नहीं बनाता था! वैज्ञानिक मैस्केल कुत्ते का चाटना देखा करता था! अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं; मुख्य बात यह है कि देश और विदेश के बड़े लोगों में प्रायः कोई न कोई तरंग, धुन, मौज या सनक सवार रहती है। यह सब दोष तो है ही।

मालवीय जी महाराज में ऐसा कुछ दोष नहीं था। वे स्फटिक मणि की तरह निर्मल थे, वे बाह्याभ्यन्तर शुचि थे, उनकी मनोभूमि प्रांजल और पावन थी। उनका हृदय सात्विक था, उनका पार्थिव शरीर भव्य था, उनकी वाणी दिव्य थी। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि "यह सब तो ठीक है; किन्तु मालवीय जी बहुत लोगों के पत्रों और तारों का भी उत्तर नहीं देते थे; भुलक्कड़ थे!" क्या इसमें सत्यांश है?

एक बार मैं भी मालवीय जी के भुलक्कड़पन के हेत्वाभास में फँस गया था। बात सन् १९१७ की है। मैं मथुरा गया था और विश्रामघाट के प्रसिद्ध रईस और विद्वान् जोशी जी के यहाँ ठहरा था। मुझे एक सभा में व्याख्यान देना था। एक दिन जोशी जी ने बड़े विनम्र स्वर में कहा—"काशी लौटने पर मेरा एक आवश्यक कार्य करने का कष्ट कीजियेगा। मैंने बीस-पचीस वर्षों के अनवरत परिश्रम से 'बीजगणित' पर एक ग्रन्थ लिखा है। इसमें संस्कृत के बीजगणित सम्बन्धी सभी ग्रन्थों का सार समाविष्ट है। कुछ और भी शोध और अनुसन्धान हैं। मथुरा आने पर मालवीय जी मेरे ही यहाँ ठहरने की दया दिखाते हैं। उन्होंने यह पाण्डुलिपि देखी, इसे पसन्द किया और छपाने के लिये ले गये। मालवीय जी अपनी रुचि की किसी भी वस्तु को

हिन्दू विश्वविद्यालय से ही सम्पादित और सम्पन्न करना-कराना चाहते हैं। बहुत दिन हो गये; न तो मेरी पाण्डुलिपि प्रकाशित हुई और न मुझे वापस ही मिली। चिट्ठी देता हूँ, तार देता हूँ, तो भी इस सम्बन्ध में उत्तर तक नहीं आता! कृपया पूज्य मालवीय जी से मिलकर मेरी पाण्डुलिपि वापस कराइये। मेरा २०-२५ वर्षों का श्रम व्यर्थ हुआ चाहता है।"

मैं काशी आया और दूसरे ही दिन मालवीय जी महाराज की सेवा में पहुँचा। उन दिनों आप विख्यात राष्ट्रभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त की नगवा कोठी पर ठहरा करते थे। वहाँ जाने पर देखता हूँ कि मालवीय जी एक चारपाई पर पड़े हुए हैं और गुप्त जी उनके पैरों में तेल की मालिश कर रहे हैं। तो भी मुझे वहीं बैठाया गया और आप बड़े स्नेह से कुशल-समाचार पूछने लगे। अन्त में मैंने जोशी जी का निवेदन कह सुनाया। सुनकर कुछ सोचने लगे। अन्ततोगत्वा बोले—"पाण्डुलिपि के लिये जोशी जी का चिन्तित होना उचित है। तुम तीन बजे कल तैलंग लाइब्रेरी (हिन्दू कालेज) में आ जाना। मैं स्वयं ढूँढूँगा।"

दूसरे दिन मैं निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित हुआ। देखता हूँ, महाराज एक अंग्रेज़ से बातें कर रहे हैं। उसके जाते ही मुझे बुलाया गया। कई लोगों को पाण्डुलिपि खोजने का आदेश दिया और थोड़ी देर बाद स्वयं भी ढूँढ़ने लगे। प्रायः डेढ़ घण्टे तक खोज-ढूँढ़ हुई; किन्तु पाण्डुलिपि नहीं मिली! महाराज चिन्ता-निमग्न हो गये! अब क्या होना था? मैंने जोशी जी को सारा किस्सा लिख भेजा। उत्तर में उन्होंने बड़ी निराशा और आत्मग्लानि प्रकट की।

तो, क्या इसे भुलक्कड़पन कहा जायगा? मेरे विचार से पत्र या तार का उत्तर न देना या किसी वस्तु को इतस्ततः रख देना मालवीय जी का दोष नहीं था। इसका कारण कार्याधिक्य था। हिन्दू विश्वविद्यालय, काँग्रेस, सनातनधर्म महासभा, हिन्दू महासभा और अनेक संस्थाओं का महान् भार उन्हें ढोना पड़ता था। अनेक विराट् संस्थाओं के गुरुतम कार्यों में उन्हें इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि किसी के साथ चिट्ठी-पत्री करना उनके लिये अशक्य था। दर्जनों काम करनेवाले महापुरुष के लिये भी किसी काम को भूल जाना स्वाभाविक है, दोष नहीं। क्या भारतवर्ष में या किसी भी देश में ऐसा कोई नेता हुआ है, जिसने धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक तथा शिक्षा और भाषा के क्षेत्रों में एक साथ कार्य करके सभी क्षेत्रों में उच्चतम स्थान प्राप्त किया हो? मालवीय जी के अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं हुआ। इसलिये मालवीय जी के समान केवल मालवीय जी ही हुए हैं—"सागरः सागरोपमः।" भूल से तो केवल भगवान् ही बचे हैं।

सन् १९२८ और १९२९ में मैंने विदेश-यात्रा की थी। यात्रा में बर्मा, लंका, मारिशस, री-यूनियन, मेडागास्कर, दक्षिण अफ्रीका, पोर्चुगीज, पूर्वी अफ्रीका (बेरा, मोजम्बीक) और ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका (केनिया, जंजीबार, टंगानिका) आदि गया था। यों तो सभी जगह मैंने व्याख्यान दिये और संस्थाएँ स्थापित कीं; परन्तु मारिशस में एक वर्ष रहकर अड़तीस "गीता प्रचारक मण्डल" स्थापित किये। मारिशस में "समरेल" नाम की एक जगह है, जहाँ तीन बीघों में प्रायः पचीस प्रकार की मिट्टी पायी जाती है। जमीन तीन तरफ ढालू है। वहाँ पर्यटक जाते रहते हैं। जो जाता है, वह कुछ न कुछ मिट्टी उठाकर अपने देश में ले जाता है। कुछ लोगों के साथ उस पहाड़ी

पर मैं भी गया था और प्रकृति की विलक्षण लीला देखकर आनन्द-नदी में बहने लगा था। समरेल की बाँकी झाँकी ने मनः-प्राणों को सुधारस से आप्लुत कर दिया। पास के झरने पर खिचड़ी बनायी। झरने के जल का जो स्नान और पान किया, वह भी अनुपम था। वैसा पुष्टिकर और स्वादतम जल आज तक नहीं देखा। शरीर में स्फूर्त्ति और तारुण्य आ गया।

हाँ, तो मेरे साथी भी एक बाल्टी मिट्टी उठा लाये। लोग कहते थे, "सैकड़ों वर्षों से यहाँ से मनों और टनों मिट्टी ढोयी जा रही है; परन्तु मिट्टी ज्यों की त्यों है। कभी कम नहीं हुई।" मिट्टी ऊबड़-खाबड़ पड़ी है। सुना है, "कोई मिट्टी को समतल कर दे, तो भी रात भर में मिट्टी ज्यों की त्यों ऊबड़-खाबड़ हो जाती है।" इसमें तीसरी विचित्रता यह है कि "सारी बहुरंगी मिट्टी को पीसकर एक में मिला दीजिये और शीशे में भरकर रात को रख दीजिये। प्रातःकाल एक-एक रंग की मिट्टी अलग अलग हो जायेगी।"

मैंने भी एक हाथ लम्बे शीशे के पतले चोंगे में मिट्टी भर ली और स्वदेश ले आया। समुद्री जहाजों में नाना देशों के चित्र-विचित्र व्यक्ति मिलते हैं। उनसे और बन्दरगाहों के अनेक व्यक्तियों से मैंने विविध देशों के कई धातुओं के तरह-तरह के अनोखे सिक्के लिये। स्वदेश आने के कुछ दिनों बाद मालवीय जी महाराज के दर्शनार्थ बनारस गया। मिट्टी वाला शीशा और सिक्के भी लेता गया। आपने 'समरेल' का वर्णन सुना और बहुरंगी मिट्टी को शीशे में ध्यान से देखा तो आह्लाद और उल्लास से गद्गद हो गये। सिक्कों को देखकर भी बड़े प्रसन्न हुए। बोले, "इन दोनों चीज़ों को तैलंग लाइब्रेरी में रख दो।" मुझे भी ये दोनों चीज़ें प्रिय थीं; परन्तु महाराज की आज्ञा कैसे टालता? दोनों वस्तुओं को लाइब्रेरी के संग्रहालय में आदर्श शिक्षक पं० रामनारायण मिश्र के साथ जाकर रख आया। इससे स्पष्ट है कि मालवीय जी को अपनी संस्था कितनी प्राण-प्रिय थी। वह अपनी संस्था में सभी सर्वोत्तम वस्तुओं को रखना चाहते थे। ऐसी ही अटूट लगन और अपूर्व तत्परता के कारण उन्होंने विश्वविख्यात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को प्रतिष्ठापित किया और उसमें ख्यातनामा अध्यापकों को नियुक्त किया। आपकी चरम लालसा थी कि विश्वविद्यालय चौसठों कलाओं के शिक्षण का केन्द्र बन जाय।

सन् १९३४ में बिहार में जो प्रलयंकर भूकम्प आया था, उससे बिहार की भीषण क्षति हुई थी। इसे मैंने अपनी आँखों देखा था। इसकी स्मृति आज भी हृदय को दहला देती है। सहायता के लिये पटना में "बिहार सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी" स्थापित की गयी थी। इसके सर्वस्व थे प्रथम भारतीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद। धन-संग्रह के लिये देश भर से अपील की गयी थी। मैं विदेश से कुछ वर्ष पहले वापस आया था; इसलिये प्रवासी भारतवासियों की मनोवृत्ति से पूर्णतः परिचित था। मारिशस में लोगों की जो श्रद्धा जैसी मालवीय जी पर देखी, वैसी अन्य किसी भारतीय पर नहीं। मालवीय जी के बाद देशरत्न राजेन्द्र बाबू पर श्रद्धा देखी गयी। राजेन्द्र बाबू को तो लोग, प्रेमातिशयता के कारण, केवल "बाबूजी" कहकर ही स्मरण करते थे। परन्तु मालवीय जी का स्मरण करते ही लोग, भक्ति की अधिकता के कारण, हाथ जोड़ कर सिर नवा देते थे। मारिशस के धन-कुबेर स्व० बाबू तिलकसिंह मालवीय जी के अत्यन्त भक्त थे।

वे भारतवर्ष आकर मालवीय जी के दर्शन कर चुके थे और उनकी वाग्मिता पर मुग्ध हो चुके थे। मारिशस जाकर तिलकसिंह ने हिन्दू महासभा की स्थापना की और उसके लिये राजधानी पोर्ट लुइस में एक भव्य भवन भी खरीद लिया था।

राजेन्द्र बाबू से अपना पूर्व परिचय था। सन् १९२१ में "तिलक स्वराज्य फण्ड" के सिलसिले में राजेन्द्र बाबू और राजा जी कलकत्ते गये थे और माधव-भवन के एक छोटे से कमरे में ठहरे थे। उन दिनों मैं अपने "भारती प्रेस" से सन् १८५७ के बिहारी वीर बाबू कुँवरसिंह का हिन्दी में प्रथम विस्तृत और प्रामाणिक जीवन-चरित प्रकाशित कर रहा था। राजेन्द्र बाबू से मिलकर मैंने जीवन-चरित की भूमिका लिखने की प्रार्थना की। आपने सहर्ष स्वीकृति दे दी। पुनः पटना जाकर मिला। आपने मार्मिक भूमिका लिख दी। उन दिनों आप "आल इण्डिया काँग्रेस कमिटी" के जनरल सेक्रेटरी थे। इसी पूर्व परिचय के कारण मैंने राजेन्द्र बाबू से निवेदन किया कि "प्रवासी भारतीयों से भी अपील की जाय तो रिलीफ कमिटी को यथेष्ट साहाय्य प्राप्त हो सकती है। महात्मा गांधी से सभी जगह अपील करायी जा सकती है; परन्तु मारिशस के भारतीय प्रवासियों के लिये मालवीय जी महाराज से अपील करायी जाये।" इसके उत्तर में राजेन्द्र बाबू ने १९ फरवरी १९३४ को मुझे लिखा—

"आपका पत्र समय पर मिल गया था। आपकी राय के अनुसार मैंने मारिशस आदि बाहर के स्थानों में प्रवासी भाइयों से अपील करायी थी। पूज्य मालवीय जी की तो नहीं; परन्तु महात्मा जी की अपील तमाम केबुल कर दी गयी। देखिये क्या होता है। यहाँ कार्य तो बहुत भारी है। कुछ अन्दाज़ नहीं मालूम होता है कि कैसे क्या किया जाय। सबकी सहायता आवश्यक है। शेष कुशल है। आपका—राजेन्द्रप्रसाद।"

महात्माजी की ओर से देश-विदेश में जो अपील की गयी उससे यथेष्ट धन इकट्ठा हो गया; इसलिये राजेन्द्र बाबू ने मालवीय जी से पुनः अपील नहीं करायी। यदि मालवीय जी ने अपील की होती तो कई लाख रुपये और भी आ जाते। इस पवित्र कार्य में मालवीय जी की पूर्ण सहानभूति जानकर भी बहुत लोगों ने काफ़ी पैसे भेजे। विदेशों में अनेक वैभवशाली पुरुषों के पास मालवीय जी की हार्दिक सहानभूति दिखाते हुए मैंने भी बहुत पत्र लिखे थे।

बाबू काशीप्रसाद जायसवाल थे तो मीरजापुर के; परन्तु पटना में बैरिस्टरी करते थे। वह भारतीय इतिहास के प्रकाण्ड पण्डित थे। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के समान प्रख्यात भाषा-विदों ने भी उनसे बहुत कुछ पाया था। जायसवाल जी भारतवर्ष का एक सर्वांगपूर्ण इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते थे। ग्रन्थ का बहुत अंश लिख भी चुके थे। प्रकाशक भी मिल गये थे। विशेष विशेष काल के विशेषज्ञों से वे कुछ अध्याय लिखवाना चाहते थे। पुरस्कार देने तथा कुछ अन्य आवश्यक कार्यों के लिये उन्हे बीस हज़ार रुपयों की आवश्यकता थी। इसके लिये उन्हें चिन्ता थी। इसी बीच मालवीय जी पटना पधारे। आप प्रसिद्ध वैद्य पं० व्रजबिहारी चौबे के यहाँ पटना में ठहरा करते थे। जायसवाल जी को ठहरने का पता लगा तो बड़े प्रसन्न हुए। जायसवाल जी के पिता बाबू महादेवप्रसाद का और मालवीय जी का जन्म एक ही समय हुआ

था; इसलिये जायसवाल जी उन्हें बड़ी श्रद्धा से "बाबूजी" कहा करते थे। सो, जायसवाल जी चौबे जी के यहाँ पहुँचे और बाबूजी से अपने इतिहास के लेखन और प्रकाशन की सारी कथा गा गये। बीस हज़ार की आवश्यकता के लिये भी मालवीय से उन्होंने निवेदन किया। मालवीय जी ने कुछ सोच-विचार कर कहा—"इतिहास के लिये एक व्यक्ति का २० हज़ार तो देना कठिन है। बीस व्यक्तियों से एक-एक हज़ार संग्रह किया जाय तो बीस हज़ार एकत्र हो सकते हैं। तुम किसी एक बुद्धिमान् व्यक्ति को मेरे पास भेज देना। मैं बीस दाताओं को पत्र दे दूँगा। रुपये मिल जायेंगे।" पता नहीं क्यों जायसवाल जी ने मेरा नाम ले लिया। मालवीय जी ने कहा, "ठीक है, उनको भेज देना। परन्तु उनको लिख देना कि मुझसे पहले समय निश्चित कर लेंगे, तब मिलेंगे।"

जायसवाल जी से मेरा पूर्व परिचय था ही। पटना पहुँचने पर उन्हीं के यहाँ ठहरता था। एक ज़रूरी काम से उस समय तो जायसवाल जी इंगलैण्ड चले गये; परन्तु वहाँ से लौटते ही उन्होंने ६-८-३१ को मुझे पत्र लिखा—"मैं इंगलैण्ड से वापस आ गया। आपसे मिलना आवश्यक है।" उन दिनों मैं बनैली राज्य के स्वामी और विख्यात साहित्य-प्रेमी कुमार कृष्णानन्द सिंह तथा उनके विद्वान् वैयक्तिक सचिव पं० गौरीनाथ झा के संचालकत्व में संचरण करनेवाली "गंगा" मासिक पत्रिका के सम्पादन और ऋग्वेद के हिन्दी अनुवाद के कार्य में अत्यन्त व्यस्त था। यों जायसवाल जी के यहाँ गया तो ज़रूर; परन्तु समयाभाव बताकर असमर्थता प्रकट की। परन्तु इस सम्बन्ध में कभी-कभी पत्र-व्यवहार होता रहा। वर्षों तक कोई कार्य नहीं हो सका। १९३३ में मैंने जायसवाल जी को लिखा—"मारीशस से बाबू तिलकसिंह (सन् १९३४ के शुरू में) आने वाले हैं। आ गये तो आपके इतिहास के लिये सहायता दे सकेंगे।"

जायसवाल जी अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री चेतसिंह एम० ए० (आक्सन), बार-एट-ला को भी बैरिस्टरी करने के लिए मारिशस भेजना चाहते थे। इस सम्बन्ध में भी चिट्ठी-पत्री चल रही थी। अन्त में जायसवाल जी ने स्वयं इतिहास के प्रकाशन का निश्चय कर लिया। उन्होंने १-२-३४ को मुझे पत्र लिखा—"मारिशस वाले आये या नहीं? मेरे इतिहास के प्रकाशन में कुल पचास हज़ार रुपये लगेंगे। काम जारी है। क्या आप लिख कर वहाँ से रुपये मंगवा दे सकते हैं? कम से कम एक परिचय-पत्र मुझे भेज दीजिये और नाम तथा पता लिख दीजिये तो मैं मारिशस वालों को लिखूँ। यदि आप मेरे पुत्र चि० चेतसिंह के साथ वहाँ जा सकें तो बहुत अच्छा हो। कितना खर्च पड़ेगा? आप इधर आइयेगा? अब देर इस काम में अर्थात् प्रथमतः चेतसिंह को वहाँ भेजने में और दूसरे ग्रन्थ—भारतीय इतिहास—के लिये माँगने में देर नहीं होना चाहिए।"

मैंने उत्तर में लिखा कि "आपका लिखना उचित है। मैं यथाशक्य शीघ्र दोनों कार्यों को करने की चेष्टा करूँगा।" जायसवाल जी ने तुरंत पुनः लिखा—"प्रिय त्रिवेदी जी, आपके पत्र से जान आ गयी। मुझे रुपया जुटा दीजिये, जिससे हिस्ट्री लिख जाय। काम हो जायगा, जो हमारे आपके बाद १०० वर्ष न हो सकेगा। फिर उसे साथ ही साथ हिन्दी में करते जायेंगे। आपकी बाट जोहता रहूँगा। चि० चेतसिंह को बिठला आइये। मैंने जन्म और शिक्षण दिया। आप उन्हें पोषण दे आइये। ऐसा बटबारा होना चाहिये। आपका—का० प्र० जायसवाल। पटना, ५-२-३४।"

समयाभाव के कारण मैं चेतसिंह को मारिशस नहीं ले जा सका। वे पेनांग जाकर बैरिस्टरी करने लगे। परन्तु पुनः जायसवाल जी की राय से मालवीय जी का समय निश्चित करने के लिए उनके वैयक्तिक सचिव श्री त्रिलोचन पंत से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ किया। पत्र आते थे कि कभी दिल्ली गये, कभी कन्वोकेशन में फँसे हैं, कभी कम्यूनल अवार्ड के कार्य में अत्यन्त व्यस्त हैं, कभी अस्वस्थ हैं तो कभी पहाड़ पर जा रहे हैं। कभी पत्र आता था कि "दो दिनों के भीतर आ जाइये।" परन्तु मैं व्यस्तता के कारण नहीं जा पाता था। इस तरह कई महीने बीत गये। २३-५-३५ को श्री त्रिलोचन जी ने लिखा कि "मैं स्वयं भी इतिहास के कार्य को शीघ्र से शीघ्र आरम्भ होते देखना चाहता हूँ। जायसवाल जी के इन्दौर के व्याख्यान ने मेरी इच्छा को और भी प्रबल कर दिया है।"

ता० १२-८-३५ को जायसवाल जी का ज़रूरी तार पाकर मैं कृष्णगढ़, सुलतानगंज, भागलपुर से पटना गया। जायसवाल जी ने कहा, "बाबूजी के मिलने का समय निश्चित हो गया। बाबूजी के नाम मैं पत्र दे रहा हूँ। इसे लेकर जाइये। १७ से १९ अगस्त तक आपसे साक्षात्कार हो सकता है।" मैं पत्र लेकर अपने घर (कूसी, जि० गाजीपुर) आया और १६ ता० को बनारस पहुँचा। १७ ता० को तीन बजे दिन में मालवीयजी की सेवा में उपस्थित हो गया। देखा, पंजाब की सुप्रसिद्ध कार्यकर्त्री श्रीमती शन्नोदेवी एक सप्ताह से काशी में आकर पड़ी हुई हैं; किन्तु मालवीयजी को अवकाश कहाँ कि बातचीत हो। मुझ पर कृपा हुई; मैं चार बजे मिला। जायसवाल जी का पत्र देकर अपना अभिप्राय कह सुनाया। आपने आज्ञा दी—"कल इसी समय मुझसे मिलो। कुछ ऐसे लोगों के नाम लिख लाना, जो सहस्र मुद्रा इतिहास के लिये दे सकें। मैं उनमें से २० नाम चुनकर पत्र दे दूँगा। परन्तु तुम मेरे अतिथि होकर यहाँ आये और ठहर कहाँ गये? काशीप्रसाद इतिहास के बड़े विद्वान् तो हैं; परन्तु वर्ण-धर्म नहीं मानते। अपने इतिहास में वर्ण-धर्म के विपरीत वे लिखेंगे भी। अस्तु, कल आना तो विशेष बातें होंगी। तुमसे कुछ और बातें भी करनी हैं।" मैं प्रणाम कर डेरे पर लौट आया।

मैं ४२ नाम लिखकर दूसरे दिन यथासमय सेवा में उपस्थित हुआ। सारे नामों को ध्यान से देखकर बीस नामों पर चिन्ह लगाते हुए मालवीयजी ने अपने कनिष्ठ पुत्र गोविन्दजी से कहा—"ध्रुव जी महाराज को बुलाओ। उनसे परामर्श करके इनको कुछ पत्र देने हैं।" परन्तु ध्रुव जी (विश्वविद्यालय के उपकुलपति) नगर में किसी के यहाँ गये थे। नहीं आ सके। कुछ विचार कर आप बोले—"अच्छा, तुम अपना समाचार सुनाओ। क्या कर रहे हो?" मैं पहले दिन तो अपना झोला डेरे पर भूल आया था; आज झोले में "गंगा" के "गंगांक", "वेदांक", "पुरातत्त्वांक" और "विज्ञानांक" तथा ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद साथ ले गया था। सेवा में सब ग्रन्थ देकर अपना हाल सुना गया। इन ग्रन्थों को देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे, "बनैली के अधिपति बड़े धार्मिक हैं। वे ऐसे ही उत्तम कार्य करते हैं। विश्वविद्यालय के लिये उन्होंने लाख रुपयों का दान दिया था। वेदों का प्रकाशन तो मैं यहाँ से भी कराना चाहता हूँ। तो तुम क्यों न यहीं रहकर वेदों का अनुवाद करो? "सनातनधर्म" (साप्ताहिक) का सम्पादन भी करना।

प्रेस मँगवा रहा हूँ। इसके लिये नयी इमारत बन चली है। तो तुम कल इसी समय आओ। ध्रुव जी भी रहेंगे। इतिहास-सम्बन्धी बातें भी होंगी और तुम्हें प्रेस वाला मकान भी दिखलाऊँगा।" मैं कुछ निश्चित उत्तर न देकर अपने स्थान पर वापस आया।

तीसरे दिन दो शास्त्रियों के साथ यथापूर्व समय पर महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। आपने टहलने के लिये कार मँगायी और गोविन्द जी से कहा कि "ये अपने अतिथि हैं। इनके जलपान का प्रबन्ध करो।" कार पर केवल मुझे बैठाकर टहलने के लिये चल पड़े। थोड़ी दूर जाकर कार से उतर पड़े और बोले—"चलो, तुम्हें वह भवन दिखाऊँ, जहाँ प्रेस रहेगा और जहाँ तुम्हारा कार्यालय रहेगा।" वर्षा होकर बन्द हो चुकी थी, परन्तु रास्ते में जहाँ तहाँ पानी लगा था। मैंने अनेक बार कहा कि "आप क्यों कष्ट कर रहे हैं। मुझे कोई और दिखा देगा।" परन्तु महान पुरुष अपने कष्ट को कभी नहीं देखते। दूसरे के लिये ही भयंकर कष्ट झेलते रहते हैं। संयोग कुछ विचित्र था। आप फिसल पड़े। यदि एक बाँह मैं और एक बाँह सिख ड्राइवर न पकड़ लेता तो आप गिरकर कर्दम-लिप्त तो होते ही, सख्त चोट भी खा जाते। तो भी कहने लगे—"छोड़ो, छोड़ो, तुम क्यों कष्ट कर रहे हो ? तुम तो मेरे अतिथि हो !" महान् की महत्ता कुछ विलक्षण होती ही है।

हाँ, तो वह उस अभिनव विनिर्मित भव्य भवन में ले गये और बताने लगे, "यहाँ प्रेस रहेगा। यहाँ तुम बैठोगे। यहाँ मैनेजर रहेगा।" सूर्यास्त हो रहा था। अरुणाभ प्रभाकर की अभिरामता देखते ही आपने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया। देखादेखी मैंने भी सूर्य को प्रणाम कर डाला। बोले—"देखो, साक्षात् जगन्नियन्ता का दर्शन हो रहा है। ब्रह्माण्ड में मार्तण्ड भगवान् ही कर्मशील और श्रेष्ठतम विभूति हैं।" मैं जी हाँ, जी हाँ, कर ही रहा था कि कार मालवीय-सदन के पास आ पहुँची। गोविन्द जी ने हाथ उठाकर कार को रोकते हुए कहा—"इन्दौर के दीवान साहब प्रतीक्षा कर रहे हैं।" मालवीय जी ने अपने कमरे में जाकर महाराज इन्दौर के नाम एक पत्र लिखाया और हस्ताक्षर कर दीवान साहब को सौंप दिया। वे जल्दी में थे; चले गये।

मुझसे पुनः बातचीत प्रारम्भ हुई। बोले—"गंगा और वेद किस प्रेस में छपते हैं ?" "गंगा का अपना एक बड़ा सा "मिथिला प्रेस" नाम का प्रेस भागलपुर में है। वहीं से दोनों प्रकाशित होते हैं—" मैंने निवेदन किया। उन्होंने पूछा—"प्रेस, गंगा और वेद का स्टाक—सब मिलाकर कितने की सम्पदा होगी ?" इसके उत्तर में मैं बोला—"सब जोड़जाड़ कर प्रायः एक लाख की।" "तो ये सारी वस्तुएँ ले आकर यहीं रहो और गंगा-स्नान तथा विश्वनाथ का दर्शन किया करो। क्या कुमार साहब ये सब विश्वविद्यालय को दान कर सकेंगे ?" मैंने कहा—"एक बार किसी प्रसंग में कुमार साहब ने कहा था कि मालवीय जी अथवा राजेन्द्र बाबू चाहें तो ये सब चीजें उन्हें सौंप सकता हूँ।" महाराज नेवार की पलंग पर सफेद कम्बल डालकर बैठे थे और मैं कुर्सी पर। मेरी बात सुनते ही बोले—"कुर्सी पास ले आओ।" पास बैठ जाने पर बोले—"बनैली राज्य (पुर्निया, बिहार) के स्वामी धर्म, साहित्य, संगीत और कला के बड़े अनुरागी होते आये हैं। प्रसिद्ध दाता

तो रहे ही हैं। इन दिनों राज्य का क्या समाचार है?" मैंने उत्तर दिया—"और समाचार तो ठीक ही है, परन्तु इन दिनों मुकदमेबाज़ी खूब जोरों पर है। राज्य का अंग्रेज़ मैनेजर प्रभावशाली है। बिहार के सभी बड़े अंग्रेज़ अधिकारियों से उसका परिचय है। गवर्नर की चाय पर भी वह जाता रहता है। उसने ऐसी तिकड़मबाजी की है कि बनैली के सभी मालिक वर्षों से मुकदमे में बेतरह उलझ गये हैं। कई लाख रुपयों का संहार हो चुका है। पता नहीं, आगे क्या होगा?" यह सुनते ही महाराज को धक्का सा लगा। बोले—"यह सुनकर मुझे दुःख हो रहा है। इस तरह तो यह प्रख्यात मैथिल ब्राह्मण-राज्य बिलकुल बर्बाद हो जायगा। तुम जाकर भागलपुर में बनैली के सभी मालिकों को एकत्र करो। जिस दिन एकत्र हों, उसके दो दिन पहले मुझे तार दे देना। मैं आ जाऊँगा और प्रयत्न करके मालिकों में समझौता करा दूँगा। यों तो मुझसे बिहार का गवर्नर भी कुछ चिढ़ा सा रहता है; परन्तु मुझे चिन्ता नहीं, मैं अवश्य आऊँगा।" मैंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"यह तो मेरे लिये और विशेषतः बनैली के मालिकों के लिये सौभाग्य की बात है कि आप भागलपुर पधारें और समझौता करा दें। मैं पूर्ण चेष्टा करूँगा कि सभी मालिक शीघ्र भागलपुर में एकत्र हो जायें।"

इसी बीच ध्रुव जी भी आ गये। मालवीय जी ने उनसे इतिहास सम्बन्धी समस्त विवरण बताकर उनकी राय पूछी। कुछ सोच कर ध्रुव जी ने कहा—"महाराज, इन्हें (मुझे) बीस दाताओं के यहाँ दौड़ाना उपयुक्त नहीं है। जायसवाल जी के भारतीय इतिहास के विषय में मेरी महाराज मैसोर से वातचीत हो चुकी है। आश्विन के शुक्ल पक्ष में वहाँ महोत्सव होता है। उसी समय इनको बुलाइये और इनके हाथ महाराज के नाम पत्र देकर इन्हें मैसोर भेज दीजिये। महाराज बीस हजार रुपये दे देंगे।" मालवीय जी को यह वात जँच गयी और मेरा भी मारे-मारे फिरने से गला छूट गया। ये सब बातें हो ही रही थीं कि अपने नित्य नियम के अनुसार काशी विद्यापीठ, ज्ञानमण्डल, "आज" और "भारत माता मन्दिर" के संस्थापक बाबू शिवप्रसाद गुप्त आ पहुँचे। आते ही उनसे मालवीय जी ने कहना प्रारम्भ किया—"शिवप्रसाद जी, बनैली राज्य के कुमार कृष्णानन्द सिंह एक प्रेस स्थापित कर 'गंगा' नाम की सुन्दर पत्रिका निकाल रहे हैं और सम्पूर्ण ऋग्वेद की हिन्दी टीका भी प्रकाशित करा रहे हैं। प्रेस के साथ ही सब प्रकाशन विश्वविद्यालय को दे सकते हैं। बनैली के मालिकों में मुकदमेबाज़ी भी चल रही है। कई लाख रुपये खर्च हो गये। राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा है। यह धार्मिक ब्राह्मण-राज्य है। विश्वविद्यालय को इससे एक लाख दान मिल चुका है। मुकदमेबाज़ी से मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मैं शीघ्र ही मालिकों में समझौता कराने भागलपुर जाऊँगा।" शिवप्रसाद जी ने कहा—"महाराज, आपका विचार तो ठीक है; परन्तु अभी आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। दूर जाना है। मोगलसराय और क्यूल में गाड़ी बदलनी पड़ेगी। भागलपुर में आपको देखने के लिये भारी भीड़-भड़क्का होगा। आपका स्वास्थ्य और गिर जायगा। अभी आप पहाड़ पर जाकर स्वस्थ होने का प्रयास कीजिये।" आपने कहा—"नहीं, शिवप्रसाद जी, आप नहीं समझते। जाने से एक तो विश्वविद्यालय को लाभ हो जायगा, दूसरे बनैली विनष्ट होने से बच जायगा। मैं सिर पर पगड़ी और गले में दुपट्टा नहीं

रखूँगा। लोग पहचानेगे ही नहीं। तब भीड़-भड़क्का कैसे होगी? स्वास्थ्य तो ठीक होता ही रहता है। मैं अवश्य जाऊँगा।"

गोविन्द मालवीय ने भी शिवप्रसाद जी का समर्थन किया। तर्क-वितर्क चलने लगे। अन्त में निश्चय हुआ कि पहले गोविन्द जी जायँगे, पीछे मालवीय जी महाराज पधारेंगे। मुझे महाराज की आज्ञा हुई, "तुम पहुँच कर शीघ्र सूचना देना। गोविन्द को अवश्य भेजूँगा। वहाँ का कार्य हो जाने पर तुम आकर विश्वनाथपुरी में निवास करो। 'मौर्य मुद्राओं' के सम्बन्ध में यहाँ व्याख्यान देने के लिये काशीप्रसाद आने वाले हैं। उस समय इतिहास के सम्बन्ध में उनसे भी बातें हो जायँगी। काशीप्रसाद को एक पत्र दे रहा हूँ।" यह कहकर आपने जायसवाल जी को निम्न-लिखित पत्र १९-८-३५ को दिया—"प्रिय काशीप्रसाद, आशीष। आपका पत्र लेकर पण्डित रामगोविन्द जी त्रिवेदी आये। उनसे मिलकर मुझको प्रसन्नता हुई। भारतीय इतिहास के विषय का आपका संकल्प परमात्मा की कृपा से अवश्य सफल होगा। ध्रुव जी महाराज से मालूम हुआ कि आप 'मौर्य मुद्राओं' के विषय में यहाँ व्याख्यान देने आओगे। यदि आप ३१ या १ को आओ तो मुझको भी आपका व्याख्यान सुनने का सुख प्राप्त होगा और इतिहास के विषय में भी तब तक मैं बातचीत करके सब आवश्यक बातों का निर्णय कर सकूँगा—आपका—बाबूजी।"

प्रणाम करके मैं बाहर आया तो दोनों साथी शास्त्रियों को हँसते हुए देखा। मैंने पूछा कि "क्या बात है कि आप लोग कमल की तरह खिले हुए हैं?" उत्तर में मिठाई की खाली हँड़िया मेरे सामने डाल कर कहा गया—"आप मालवीय जी का उपदेशामृत पान कर रहे थे तो हम लोग क्या 'रामभण्डार' की मिठाई खाने से भी गये?" मैंने भी इस उत्तर पर टीका की—"भले आदमी, मेरे लिये मालवीय जी का प्रसाद एकाध मिठाई भी तो रख छोड़ते?" ये लोग ठहाका लगाते और मेरे भाग्य की खिल्ली उड़ाते अपने डेरे पर गये और मैं पटना गया। जायसवाल जी से समूची कहानी कह गया। वे प्रसन्न होते हुए बोले—"बाबूजी से मैं शीघ्र ही बातें कर लूँगा। कदाचित् आपको आश्विन के पहले ही मैसोर जाना पड़े। इतिहास में 'सुनीति चा' (डा० सुनीतिकुमार चटर्जी या चाटुर्ज्या) से भी एक अध्याय लिखाना पड़ेगा। आप मुझसे पुनः शीघ्र भेंट कीजियेगा।" वहाँ से मैं कृष्णगढ़, सुलतानगंज पहुँचा और कुमार साहब तथा पण्डित गौरीनाथ झा से मालवीय जी से हुई पूरी बातचीत, अथ से इति तक, कह सुनायी। पहले तो दोनों सज्जनों ने परम प्रसन्नता प्रकट की, पीछे चिन्तित हो गये—"इतने महान् पुरुष को कहाँ ठहराया जायगा। कैसे सत्कार किया जायगा! सत्कार में कोई त्रुटि हुई तो? तब तो बड़ा बुरा होगा।" बहुत कुछ 'मीन-मेष' करने के अनन्तर निश्चय हुआ कि १५ दिनों बाद, कुमार साहब के जगन्नाथपुरी से लौटने पर, मालवीय जी को बुलाया जाये। मैंने महाराज को इसी आशय का पत्र भी लिख दिया। परन्तु १५ दिन बीतते न बीतते ८-९-३५ का लिखा त्रिलोचन जी का पत्र आ पहुँचा—"पूज्य बाबूजी का विचार है कि गोविन्द जी को कुमार साहब से मिलने के लिये सोमवार को भेज दें। कुमार साहब को तार भी दे दिया गया है। गोविन्द जी रविवार की रात को १० बजे के लगभग यहाँ से चल कर ७-३८ पर प्रातः सुलतानगंज पहुँचेंगे। यह पत्र आपको रविवार को मिल जायगा। आप

कृपाकर उसी दिन यहाँ एक तार अवश्य भेज दीजिये कि आप गोविन्द जी से कहाँ मिलेंगे।" परन्तु कुमार साहब तो अभी पुरी से नहीं लौटे थे। इस संवाद को मैंने तार से बनारस भेज दिया। इसके अनन्तर ११-९-३५ को मालवीय जी का तार मिला—"तुमसे मिलना आवश्यक है। एक दिन के लिये आ जाओ।" एक मुकदमें में गवाही देने मैं मुंगेर गया हुआ था। रात को ९ बजे मुझे वहीं तार मिला। पहला गवाह मैं ही था। गवाही देना अत्यावश्यक था। अब क्या करूँ? फलतः मैंने वहीं से आपको उसी समय टेलीफोन किया। आप फोन पर आते ही बोले—"जो टेलीफोन पर है, उसकी जय हो, जय हो। कुमार साहब अपना प्रेस आदि दें या न दें। कोई बात नहीं। मैं "तारा प्रिंटिंग प्रेस" खरीद रहा हूँ। तुम आ जाओ। आकर यहीं रहो।" मैंने प्रणाम करके कहा—"आपकी आज्ञा शिरसाधार्य है। परन्तु यहाँ एक मुकदमे में मैं ही पहला साक्षी हूँ। दो दिन साक्ष्य देना अत्यावश्यक है। इसके बाद आपके दर्शनार्थ आऊँगा। अभी विनम्र क्षमा-याचना कर रहा हूँ।" उत्तर मिला—"तो मैं परसों ही मसूरी चला जाऊँगा। आने पर मिलना।"

मालवीय जी मसूरी ज्यादा दिन रह गये। वहाँ से दिल्ली जाकर अनेक कामों में फँस गये। कुमार साहब भी पुरी से आकर अस्वस्थ हो गये। बात जहाँ की तहाँ रह गयी।

इस वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि मालवीय जी इतिहास-वेत्ताओं के भी उन्नायक थे, बड़े-बड़े विद्वानों के भी आश्रय-स्थल थे, अवलंब थे, संबल थे। वे किसी को भी निराश नहीं करते थे। वे परदुःखकातर थे। वे विश्वविद्यालय की समृद्धि और सम्पन्नता के लिये अहोरात्र सचेष्ट रहते थे। उदात्त कार्य के सामने अपने स्वास्थ्य की भी उपेक्षा करते थे। वे वेदों का प्रकाशन और प्रसारण भी विश्वविद्यालय से करना चाहते थे। वे भारतीय संस्कृति के उद्‌बोधक थे। अन्य उच्च कोटि के राजनीतिक नेता भी भारतीय संस्कृति के समर्थक और प्रचारक हो चुके हैं परन्तु वे असीम सुधारवादी थे। मालवीय जी महाराज को वेद-शास्त्र-पुराणोक्त संस्कृति ही अभीष्ट थी। आप भी पुराणादि में सुधार चाहते थे; परन्तु ससीम। आप दूसरों के समान वर्णधर्म के द्रोही नहीं थे। वे इसमें समयानुसार सुधार चाहते थे। अनिर्वचनीय सत्ता, अप्रमेय ब्रह्म, निराकार पराशक्ति और जगन्नायक ईश्वर, मानव कल्याण, सदाचार आदि आदि तो सभी धर्म मानते हैं। तब क्या सभी धर्म एक हैं? किन्तु ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुहम्मदी आदि धर्म माननेवाले तो ऐसा नहीं मानते, नहीं मान सकते। इन सबका एक व्यावर्तक या भेदक तत्त्व है। यह है सबकी अलग अलग संस्कृति, चाल-चलन, रीति-नीति और कर्मकाण्ड। सबके पृथक् कर्मकाण्ड हैं। सबकी जीवन प्रणाली, विचार-सरणि, भोजन-वसन, कला-कलाप असम्बद्ध हैं। अन्य राजनेता सभी धर्मों और संस्कृतियों की खिचड़ी पका गये हैं; परन्तु मालवीय जी विशुद्ध भारतीय संस्कृति मानते थे—चाहे आप इसे हिन्दू संस्कृति कह लीजिये। परन्तु भारत की मूल संस्कृति तो हिन्दू संस्कृति ही है, जिसका आधार वेद है। मालवीय जी वैदिक कर्मकाण्ड और कल्पसूत्रों के समग्र कर्मकाण्ड तथा संस्कार मानते थे और उसके अनुसार आचरण भी करते थे। वे गोभक्त थे। विश्वविद्यालय के अपने निवास-स्थान पर वे ऐसे स्थान पर गाय बँधवाते थे, जिसकी वायु उनके शरीर का स्पर्श करती रहे। अन्य राजनेताओं में इन बातों का सर्वथा अभाव था। यह बात

प्रसिद्ध ही है कि गोरखपुर जाते समय उनकी कार से दब कर एक गिलहरी मर गयी थी, जिसका उन्होंने प्रायश्चित्त किया था। वस्तुतः मालवीय जी करुणानिधान और धर्मप्राण थे।

मालवीय जी वक्तृत्व-कला के तो पारगामी आचार्य थे ही। यह मत उनका है, जो प्रथितयशा वाग्मी माने गये हैं। ऐसे ही वाग्मी थे भागलपुर के बाबू दीपनारायण सिंह। दीप बाबू धनी-मानी पुरुष थे। वे जमींदार भी थे। कुमार कृष्णानन्द सिंह ने उनकी जमींदारी, कई वर्षों के लिये पट्टे पर ले रखी थी। दीप बाबू देशभक्त थे। स्वराज्य आन्दोलन में कई बार जेल गये थे। वे विख्यात विश्वपर्यटक थे। अपनी बंगाली पत्नी लीलादेवी के साथ कई बार पृथ्वी-परिक्रमा कर आये थे। वे नारवे के उस उत्तरी हिस्से में भी रह आये थे, जहाँ लगातार तीन महीनों का दिन होता है। वे उच्च कोटि के भाषण-विधाता थे।

देशबन्धु चित्तरंजन दास की अध्यक्षता में सन् १९२१में गया में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। सर्वान्त में अध्यक्ष को धन्यवाद देने का काम दीप बाबू को सौंपा गया था। जब आप दास महोदय की प्रशस्ति करते हुए धन्यवाद देने लगे तो आनन्द की निर्झरिणी प्रवाहित होने लगी। उनके प्रत्येक वाक्य पर अट्टहास के साथ हज़ारों तालियों की घनघोर गर्जना से पंडाल प्रकम्पित हो उठता था। हँसते-हँसते बहुतों के पेट में बल पड़ गया। देशबन्धु दास भी ठहाका लगाते हुए हाथ जोड़ कर दीप बाबू को बैठने को बार बार कहने लगे। अन्त में देशबन्धु ने खड़े होकर और दीप बाबू का हाथ पकड़ कर उन्हें बैठाया। बड़े-बड़े नेता और वक्ता कहने लगे—"ऐसे प्रतापशाली व्याख्याता संसार में गिने-गिनाये हैं।" मैं भी वहाँ उपस्थित था।

ये ही दीप बाबू एक बार राजा साहब, सूर्यपुरा (शाहाबाद) और कुमार गंगानन्द सिंह, श्रीनगर (पुर्निया) के साथ कुमार कृष्णानन्द सिंह से मिलने कृष्णगढ़ आये। गपशप चलने लगी। इसी बीच दीप बाबू से मैं पूछ बैठा—"आपके विचार में देश में सबसे बड़े व्याख्यानदाता कौन हैं?" उन्होंने कहा—"देश में सर्वोच्च प्रतिभाशाली वक्ता दो हैं। मालवीय जी और मौलाना महम्मद अली। परन्तु मौलाना स्थूलकाय हैं; इसलिये कुछ ही देर में परिक्लान्त हो जाते हैं। मालवीय जी चार-चार घण्टे तक अजस्र वाग्धारा बहाते रहते हैं। न तो उन्हें कुछ सोचना पड़ता है, न रुकना पड़ता है। उनके अधर-प्रान्त से लगातार मोतियों की वर्षा होती रहती है। मालवीय जी का भाषण सुनकर मैं तो सुध-बुध भूल जाता ँ। इतने बड़े उदात्त वाग्मी विश्व में बहुत कम हैं।"

एक नहीं अनेक भाषाओं में उनका वक्तृत्व-चमत्कार देखा जाता था। वक्तृत्व-कला पर उन्हें वशवर्तिता प्राप्त थी। उनकी विशुद्ध वाणी विमल हृदय से निकलती थी; इसलिये श्रोताओं के हृदय-मस्तिष्क को मन्त्र-मुग्ध कर देती थी। उनके सिर पर वाग्देवी का वरद हस्त था। जिस समय बायें हाथ से गले का दुपट्टा पकड़कर और झूम-झूम कर मालवीय जी भाषण करने लगते थे, उस समय समाँ बँध जाता था, श्रोता स्तब्ध हो जाते थे, श्रोतृ-मण्डली तसबीर बन जाती थी। इसी अद्भुत वाक्-पाटव के बल पर मालवीय जी ने विश्वविख्यात हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित कर डाला। सेण्ट्रल एसेम्बली में जिस समय आप भाषण देने लगते थे अथवा प्रश्नों की झड़ी लगाने लगते थे, उस समय अंग्रेज़ी शासकों में खलबली मच जाती थी।

मालवीय जी में अनेक विशेषताएँ थीं। आज तक कांग्रेस के जितने सभापति हुए हैं, सभी महीनों पहले 'नोट' तैयार करते, पीछे व्याख्यान लिखते, उसे छपाते और मंच पर खड़े होकर उसे पढ़ देते हैं। मालवीय जी ऐसे बखेड़े में नहीं पड़ते थे। वे एक नहीं, अनेक बार कांग्रेस के सभापति हुए; किन्तु सदा मौखिक भाषण ही करते थे। भले ही पीछे उनका भाषण छपा दिया जाता था। उन्हें कुछ ऐसी ही वाक्-सिद्धि प्राप्त थी। उन्होंने "हिन्दू महासभा" स्थापित कर हिन्दुओं में नयी जान फूंक दी। "सनातन धर्म महासभा" प्रतिष्ठित करके सनातन धर्मावलम्बियों को जगा दिया। हिन्दी का भी यथेष्ट उन्नयन किया। अदालतों में देवनागरी लिपि और हिन्दी का प्रवेश उन्होंने ही कराया था। क्या देश में ऐसा एक भी नेता हुआ, जिसने इतनी व्यापक दिशाओं में इतने विराट् कार्य किये हों? मालवीय जी के समान ऐसा भी कोई नेता नहीं हुआ, जिसे अंग्रेज़ सरकार, शासक, राजा, महाराजा, जमीन्दार आदि पूंजीपतियों और जनता का एक साथ विश्वास, प्रेम अथवा श्रद्धा प्राप्त हो।

मालवीय जी १८८० में ही अर्द्ध राजनीतिक और अर्द्ध सामाजिक (हिन्दू समाज)--की स्थापना की थी। तब से लेकर जीवनान्त तक आस्तिक-नास्तिक और छूत-अछूत—सभी हिन्दुओं के उत्थान, अभ्युदय और श्रेयस् के पावन कार्यों में संलग्न थे। इसी प्रकार कांग्रेस के द्वारा उन्होंने सभी भारतीयों में उन्नयन, प्रगति और जागरण का मन्त्र फूंका। वे सारी वसुधा के निवासियों को अपना कुटुम्ब मानते थे। वे आदर्श हिन्दू और आदर्श मानव थे, मानवेन्द्र थे। उनकी मधुर वाणी, सात्विक और रमणीय परिधान और उनका अभिराम और विशिष्ट व्यवहार तथा उनका प्रशस्त आचरण—सभी अनुपम थे, अनूठे थे, अद्वितीय थे। वे परोपकार व्रतनिरत थे, वर्चस्वी थे, ब्राह्मण्य गर्वधारी थे, ब्रह्मर्षि थे। बौद्धों का सिद्धान्त है—"बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय।" परन्तु मालवीय जी का सिद्धान्त था—"सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय।" वे अपने भाषणों में कहा करते थे—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।"

अर्थात्, सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सभी कल्याण प्राप्त करें, कोई दुःखी न हो।

वस्तुतः महामना और महाकर्मा पण्डित मदनमोहन मालवीय जी प्रातःस्मरणीय थे, पुण्यश्लोक थे।

पंडित मौलिचन्द्र शर्मा

मैं धन्य होकर लौटा : एक संस्मरण

पूज्य मालवीय जी और पूज्य पिता जी का आपसी सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था। दोनों एक दूसरे को भाई कहा करते थे। मालवीय जी कुछ मास बड़े थे, अतः पिता जी उन्हे ज्येष्ठ भ्राता करके ही मानते रहे। इस घनिष्ठता का मुझे बड़ा लाभ मिला। मालवीय जी के बहुत निकट रहते और उनके जीवन तथा प्रवचनों और दैनिक वार्तालापों को देखने सुनने और उनसे सीखने के अनगिनत अवसर मिले। अब सोचता हूं तो अनुभव होता है कि उन सम्पर्कों से जो कुछ पाया है, वह अमूल्य है और उस देन के लिये आज मेरा मस्तक उस पुण्यश्लोक महात्मा के प्रति एक पितृत्व के नाते ही नहीं, एक गुरु के नाते भी आभार से झुक जाता है। वे अवसर धन्य थे। अनेक सुभाषित श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों के उनके मुंह से समय समय पर निःसृत होते रहते थे। उनका संग्रह यदि किया गया होता तो वह आज एक राष्ट्रीय निधि होती, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

उनके सम्बन्ध की अनेकों स्मृतियाँ स्मृति-पटल पर अंकित हैं, उनमें से एक यहां देता हूं—

मैं अठारहवें वर्ष में था। पिता जी द्वारा स्थापित दिल्ली के हिन्दू कालेज में पढ़ता था; वहीं बोर्डिंग में रहता था। उन दिनों कालेज कश्मीरी द्वार के भीतर उस विशाल भवन में था जो ग़दर से पहले सरधना वाले नवाब का महल था। उसी के साथ लगी हुई रायबहादुर सुल्तान सिंह की कोठी थी। प्रायः वहीं महामना मालवीय जी आकर ठहरा करते थे। जाड़ों के दिन थे, बाबू (हम उन्हे इसी अभिधा से पुकारते थे) वहां आए हुए थे। प्रातः आठ बजे के लगभग जल्दी समझ कर मैं उनके पास गया। बाहर के कमरे में 'लीडर' के सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि बैठे हुए मिलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक दो और भी थे जिन्हे मैं पहचानता नहीं था।

इतने में मालवीय जी का निजी सेवक बाहर आया। उससे पता चला कि वे पूजा में हैं। मुझे वह जानता ही था। मैंने कहा और उसने मालवीय जी को अन्दर जाकर समाचार दिया तो उन्होंने मुझे बुला लिया। मुझे बड़ा आनन्द हुआ कि इतने बड़े बड़े आदमियों को बिठाये रख कर उन्होंने मुझे भीतर बुला लिया।

अन्दर गया तो देखा कि वे आसन पर जमे श्वेत लोई ओढ़े पूजा कर रहे हैं। सामने चौकी पर श्रीमद्भागवत खुली हुई थी, पाठ चल रहा था। यह उनका नित्य नियम था। मैंने

उनके चरण छूए विना ही दूर से झुक कर प्रणाम किया, इसलिए कि मैं विना स्नान किये गया था। पूजा में बैठे हुए उनका स्पर्श कैसे कर सकता था? अस्तु, मैं बैठ गया।

एक क्षण बाद उन्होंने पुस्तक से आंखें उठाकर चश्मा चढ़ाए हुए मेरी ओर देखा। एक क्षण देखते रहे और कुछ खिन्न से होकर पूछा, "शून्य मस्तक क्यों हो?" मैं कुछ घबरा गया परन्तु अपने बचाव के लिये कहा कि "अभी स्नान संध्या जो नहीं किया है।" वे अधिक खिन्न होकर परन्तु बड़े स्नेह से बोले, "अच्छा तो अभी तक स्नान संध्या भी नहीं किया है! और तुम ब्राह्मण के बालक हो और ब्राह्मण भी श्रोत्रिय वंशावतंस व्याख्यानवाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा के पुत्र।" जैसे घड़ों पानी पड़ गया, मुझे कहीं छिपने को जगह होती तो छिप जाता। जी चाहता था कि मुंह तो छिपा ही लूं, पर क्या करता? मुंह से कुछ भी कहना सम्भव न हुआ। नीचे मुंह किये, दुबका सा बैठा रहा। कुछ क्षण मेरी इस आत्मग्लानि वे देखते रहे। मेरे लिये वे क्षण युग के समान बीते होंगे। फिर अकस्मात् बड़े कोमल और मृदुभाव से वे बोले, "बेटा, देखता हूं तुम्हे अपनी भूल का अनुभव और उस पर मन में पश्चात्ताप हो रहा है। पश्चात्ताप ही प्रायश्चित है, यदि उसके साथ फिर वैसी भूल न करने का संकल्प भी हो। इससे मन पवित्र हो जाता है।" मुझे सहारा मिला। बोला, "मैं भी यही सोच रहा हूं।"

वे फिर बोले, "तुम्हें लाज आ रही है, मैं प्रसन्न हूँ। अब ऊपर देखो।" मैंने वैसा ही किया। उन्होंने पूछा कि मेरे पास वाल्मीकि रामायण है कि नहीं? मेरे पास नहीं थी। तब उन्होंने नौकर को बुला कर मुझे एक पुस्तक मंगा कर दी, जिसका नाम था "सनातनधर्म-संग्रह।" इसमें वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत तथा स्मृतियों आदि से अनेक सुन्दर उद्धरण संगृहीत थे। उनमें एक सन्दर्भ वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का था। उसमें वर्णन था कि श्रीराम जब ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए गए तो वहां उनकी दिनचर्या क्या थी। उन्होंने वह स्थल निकाल कर खुली पोथी मुझे दी और कहा, इसे पढ़ो। मैंने उसका पाठ उन्हें सुना कर किया। दिन रात के चौबीसों घण्टों की चर्या उसमें विस्तार से दी थी। मालवीय जी ने पूछा, "इतना संस्कृत तो तुम समझते होगे।" मैंने 'हां' कहा तो वे प्रसन्न हुए और बोले, "वचन दो कि एक मास तक नित्य प्रातः इसका पाठ संध्या के साथ किया करोगे।" मैंने सम्मति प्रकट की तो बोले, "ऐसे नहीं, आओ मेरे चरण-स्पर्श कर के कहो।" मैं गद्गद हो गया। उन्होंने सिर पर हाथ धर कर आशीर्वाद दिया तो ऐसा लगा मानों अपना ब्राह्मणत्व उन्होंने मुझे वरदान में दिया हो। मैं धन्य होकर लौटा।

उस दिन से एक मास नहीं, प्रायः छः मास तक वह पाठ नित्य होता रहा—ब्राह्म मुहूर्त संध्या के बाद। पौष माघ में भी तारों की छांव में मैं खुले में स्नान कर संध्या के लिये बैठ जाता। नित्य अपने जीवन को उसमें वर्णित चर्या से मिलाता। नित्य अपनी कमियाँ सामने आतीं, ग्लानि होती, उन्हें त्याग पूरी ब्रह्मचर्य की चर्या निर्वाह करने को प्रेरणा होती।

धीरे धीरे बढ़िया नए बने कोट-पतलून, टाई-कालर उतर गए। खादी की धोती और कुर्ते ने उनका स्थान ले लिया। फिर प्रायः एक वर्ष मैं ब्रह्मचारी के समान नंगे पांव, नंगे सिर,

बिना जूती के और बिना छतरी लिये केवल धोती कुर्ते में ही कालेज में तथा घर-बाजार में जाता रहा। कुछ दिन साथी और प्रोफेसर सभी हँसे, परन्तु पीछे सभी आदर करने लगे।

आज याद करता हूं तो लगता है कि उस दिन यदि मालवीय जी का वह उपदेश और आशीष न मिला होता तो जीवन को शायद वह दिशा, संयम की वह दीक्षा और अपनी परम्पराओं में वह निष्ठा न मिलती जो इस जीवन की सबसे बड़ी कमाई है।

* * *

न्यायालयों की भाषा

जिस देश की जो भाषा है उसी भाषा में वास्तव में उस देश के न्याय, कानून, राज-काज, कौंसिल इत्यादि का कार्य होना चाहिए। हमारे यहाँ की परिस्थिति बिल्कुल इससे विपरीत है। जिस भाषा का हमारे भाइयों को कुछ भी परिचय नहीं है, उस भाषा में हमारे यहाँ के सब काम-काज होते हैं। हमारे देश के भाइयों के मरने-जीने का न्याय हो, पर हो वह दूसरी भाषा में, यह कैसे आश्चर्य की बात है? वास्तव में न्याय उस भाषा में होना चाहिए जिसका एक एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है। कानून और न्याय के नियम सब देश-भाषा में ही बनने चाहिए। अभी जिस भाषा में इसकी सृष्टि होती है उसे बहुत ही थोड़े लोग समझते हैं। यह अप्राकृतिक है। इंगलैण्ड में पार्लमिंट का सब काम उसी भाषा में होता है जिसे गाड़ीवान और भंगी तक सब समझ सकते हैं। हमारे यहाँ उसे मुट्ठी भर लोग समझते हैं। सम्पादक और विद्वान् लोग विदेशी भाषा में बने हुए उन नियमों को, जो वह भाषा बिल्कुल नहीं जानते, उन्हें कहाँ तक समझावें?

——महामना मालवीय

(सन् १९१९ में नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष-पद के भाषण से)

डॉक्टर बलदेव उपाध्याय

महामना मालवीय का जीवन-दर्शन

मालवीय जी महाराज के जीवन-दर्शन की रूपरेखा इतनी समुज्ज्वल तथा अभिव्यक्त है कि उसके समझने के लिए विशेष आयास करने की आवश्यकता नहीं। उनके समीप में आनेवाले व्यक्तियों के लिए उसका विश्लेषण करना विशेष प्रयाससाध्य नहीं है।

हम यहाँ महामना के 'जीवन-दर्शन' की चतुःसूत्री संक्षेप में उपस्थित कर रहे हैं। इस चतुःसूत्री का प्रथम सूत्र है—**आस्तिक्य**—शास्त्र तथा तत्प्रतिपाद्य ईश्वर में अभ्रान्त श्रद्धा। मालवीय जी को ईश्वर की सत्ता तथा क्रियाशीलता में अटूट विश्वास था और यह विश्वास ही उनके सात्विक जीवन के महतीय कार्यों की सिद्धि का मूलमन्त्र था। विश्वविद्यालय के ऊपर आर्थिक संकटों का व्यूह खड़ा हो जाता था, परन्तु क्या मजाल कि महामना को इनकी रंचक भी चिन्ता हो। वे विचारतः तथा कार्यतः दोनों दृष्टियों से आस्तिक थे। वे हमेशा कहा करते थे कि विश्वविद्यालय की स्थापना काशी में बाबा विश्वनाथ जी की अनुकम्पा से ही की गई है, सहायता के समग्र स्रोत भले सूख जायँ, परन्तु भगवान् विश्वनाथ के अनुग्रह का स्रोत तो कभी सूख ही नहीं सकता। वह तो अजस्र प्रवाहित होता रहेगा। उसी के बल पर तो उनकी नगरी काशी में ही इस शिक्षा-संस्थान की स्थापना की गई है। अनेक बार भारत के गण्यमान्य दार्शनिकों को मालवीय जी ने अपनी दार्शनिक युक्ति तथा तर्क-प्रणाली से चमत्कृत कर दिया था। दर्शन उनका विषय नहीं था, परन्तु उन्होंने विश्वविद्यालय में समाहूत 'आल इन्डिया फिलासोफिकल कांग्रेस' (द्वितीय अधिवेशन) के विशिष्ट दार्शनिकों को 'ईश्वरसिद्धि' पर अपने दार्शनिक भाषण से इतना प्रभावित किया कि जीवन भर दर्शन का अध्ययन-अध्यापन करनेवाले ये तत्त्ववेत्ता विद्वान् हतप्रभ से हो गये और महामना की अद्‌भुत दार्शनिक युक्तियों को सुनकर वे चमत्कृत हो उठे। मालवीय जी की दार्शनिक विचारधारा का आक्रान्त स्रोत श्रीमद्‌भागवत था। वे भागवत के मर्मज्ञ विद्वान् तथा सरस व्याख्याता थे। इस पुराण की कमनीय स्तुतियाँ उनकी जिह्वा पर नाचती थीं। दर्शन के अध्यापकगण तो ईश्वर के अस्ति-नास्ति के विषय में अनेक तर्क उपस्थित करने में लगे थे, परन्तु मालवीय जी ने भागवत के आधार पर ईश्वर की सिद्धि के विषय में इतना अकाट्य प्रमाण, प्रबल युक्ति, बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया कि श्रोतागण अवाक् रह गये। मालवीय जी अपने जीवन के व्यवहारों में भी पूर्ण आस्तिक थे। ईश्वर पर असीम श्रद्धा रखते थे। एक वास्तविक घटना का निर्देश यहाँ असामयिक न होगा।

विश्वविद्यालय के आरम्भिक जीवन में उसके ऊपर १६ लाख रुपयों का सरकारी कर्जा लद गया था जिसका सालाना सूद ही इस शिशु-संस्था की रीढ़ तोड़ने के लिए पर्याप्त था। मालवीय जी इस आर्थिक संकट से नितान्त व्यग्र थे। कई बार अंग्रेजी सरकार से सहायता की अपील की गई, परन्तु सब व्यर्थ। एक दिन दोपहर से पहिले मालवीय जी पण्डित रामव्यास जी पाण्डेय के साथ विश्वनाथजी के मन्दिर में दर्शन के निमित्त गये। एक कोने में खड़े होकर वे भगवान् की स्तुति करने लगे। मुख से निकल रहा था विमल श्लोकों का प्रवाह और उधर नेत्र से निकल रही थी आँसुओं की धार। दोनों रुकते ही नहीं थे। उधर विश्वनाथ जी के मध्याह्न भोजन की वेला उपस्थित हो गई। पण्डे लोग स्वभावतः व्यग्र हो उठे। संकेत दिलाने पर मालवीय जी अपने भक्ति-प्रवाह के थाह में आये। मन्दिर से छूटते ही उन्होंने कहा कि कर्जा चुकता हो गया। विश्वनाथ जी ने रुपैया दिलवा दिया है। घर लौटने पर आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब तत्कालीन शिक्षा-सचिव सर गिरिजाशंकर वाजपेयी का टेलीफोन इसी विषय में आया कि सरकार ने तीन वर्षों में कर्जा चुकता कर देने के लिये स्वीकार कर लिया है। ऐसा था अभ्रान्त विश्वास महामना का दैवी अनुग्रह के ऊपर!

कर्तव्यनिष्ठा—उनके जीवन-दर्शन का दूसरा सूत्र था। जिस कार्य का सम्पादन उनके लिए अनिवार्य था उसमें मालवीय जी इतनी लगन से लग जाते थे कि सफलता वेश्या की तरह उनके पीछे लोटती फिरती थी। इस विषय में वे भीष्मस्तवराज का यह प्रसिद्ध श्लोक अपना आदर्श-वाक्य (माँटो) मानते थे जिसमें ब्रह्म को कार्यरूप बतलाया गया है—

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकामार्थमुद्यतम् ।
वैकुंठस्य च यद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥

चाहे किसी धार्मिक कृत्य का सम्पादन हो और चाहे किसी राजनैतिक कार्य का, वे समान अश्रान्त निष्ठा से उन कार्यों का सम्पादन करते थे। विश्वविद्यालयकी स्थापना का एक बार जब उन्होंने त्रिवेणी के पावन तट पर संकल्प कर लिया, तब उनकी उपासना का, अनुष्ठान का बस वही एकमात्र विषय था। लोगों ने उनकी खिल्लियाँ उड़ाईं, नाना प्रकार से उनकी योजना को 'खयाली पुलाव' नाम देकर तिरस्कृत वस्तु की कोटि में परिगणित किया, परन्तु महामना के चित्त पर इन विरुद्ध आलोचनाओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने कार्य में अधिक निष्ठा से लग गये जिसका ज्वलन्त दृष्टान्त है यह विशाल हिन्दू विश्वविद्यालय। इस प्रसंग में एक रोचक बात लिखनी है। गर्मी के दिनों में मालवीय जी नैनीताल अक्सर जाया करते थे। उस साल प्रयाग के गण्यमान्य वकीलों की मण्डली के साथ वे नैनीताल पहुँचे जिसमें सर सुन्दरलाल, मुंशी ईश्वरशरण आदि प्रख्यात वकील सम्मिलित थे। विश्वविद्यालय की चर्चा उस समय ज़ोरों पर थी, परन्तु प्रायः लोग उसे कल्पना-जगत् की वस्तु से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। हँसी खेल में ही एक शाम को सर सुन्दरलाल पूछ बैठे—well, Malviyajee when is your toy university coming into being? अर्थात् आपका गुड़िया विश्वविद्यालय कब जनम ले रहा है। कर्तव्यनिष्ठ मालवीय जी ने

तुरन्त उत्तर दिया--my university is bound to come into being in no distant future and you, Sir Sunderlalje, will be its first Vice-chancellor, अर्थात्, मेरा विश्वविद्यालय नातिदूर भविष्य में उत्पन्न होगा और सुन्दरलाल जी, आप ही उसके प्रथम कुलपति होंगे। मालवीय जी के इस कर्तव्यनिष्ठा पर, इस सहज-सलोने उत्तर पर, वह विद्वन्मण्डली चमत्कृत हो उठी और सचमुच महामना के वाक्य शीघ्र ही चरितार्थ हुए। इस योजना के विदूषक सर सुन्दरलाल इसके सूत्रधार बने तथा इसके प्रथम कुलपति भी। मालवीय जी की वाणी अमोघ सिद्ध हुई।

उत्साह--उनके जीवन-दर्शन का तीसरा सूत्र था। वे अदम्य उत्साह के सन्तत प्रगतिशील उत्स थे। उनकी वाणी में, उनके कार्य में तथा उनके मन में--इन तीनों स्तरों पर उत्साह विलसित होता था। जान पड़ता था कि 'विषाद' शब्द उनके कोश में कहीं भी विद्यमान न था। वे कभी विषाद को जानते ही न थे। विषण्ण होना उनके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल था। मालवीय जी के वे दिव्यवचन आज भी हमारे कर्णकुहरों में गूंज रहे हैं जिन्हें दीर्घरोग से क्षीणकाय होने पर भी उन्होंने पण्डितों से कहा था—आज मेरा शरीर इस रोग के कारण अवश्य ही क्षीण और निर्बल हो गया है, परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो जाऊँगा। पतझड़ के दिनों में पीपल का पत्ता झड़ने लगता है। वह केवल एक निष्पत्र स्थाणु (ठूंठ) रह जाता है। परन्तु शीघ्र ही उसमें नई-नई कोमल पत्तियाँ निकल आती हैं। उसे देखकर मैं जीवन से कभी हताश नहीं होता। मेरी क्षीणकाया पुनः पूर्ववत् बल-सम्पन्न तथा पुष्ट हो जायगी। मुझे पूर्ण विश्वास है।

या महामना के उन वचनों को याद करें। वे कहा करते थे कि **जब तक असफलता मनुष्य की छाती पर बैठ कर उसका गला न घोंटे, जब तक आशा की एक फीकी किरण भी दूरस्थ क्षितिज पर दीख पड़े, तब तक मनुष्य को निराश न होना चाहिए,** प्रत्युत पूर्ण उत्साह के साथ काम में डट जाना चाहिए। विश्वास रखें वह काम सिद्ध होकर ही रहेगा। इस विषय में उनका प्रिय श्लोक था—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति कर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः।।

'काम होकर ही रहेगा'—यह मान करके सन्तत व्यथाहीन होकर मानवों को उठना चाहिए; जागना चाहिए तथा कल्याणप्रद कामों में निरन्तर लगना चाहिए।

महामना इस श्लोक के समुज्ज्वल उदाहरण थे। निराशा वे कभी जानते ही न थे। कार्य के सम्पादन में व्यथा उन्हें कभी पीड़ा नहीं पहुँचाती थी। वे सोच ही नहीं सकते थे कि यदि कार्य विधिवत् किया जाय, तो वह किस प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

आत्म विश्वास--उनके जीवन दर्शन का चतुर्थ सूत्र है। अपने ऊपर, अपनी शक्तियों के ऊपर अटूट विश्वास उनमें कूट कूट कर भरा था। इसका उपदेश वे सदा दिया करते थे—गीता प्रवचन के अवसर पर इस विषय में उनका प्रिय श्लोक था—

उद्धारेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

'आत्मावसाद' बड़ी ही बुरी वस्तु है और आत्मविश्वास बड़ा ही महनीय पदार्थ है। आत्मा अनन्त शक्तियों का निकेतन है। विश्व की समस्त शक्तियाँ आत्मा में अन्तर्हित रहती हैं। आवश्यकता है उनके उद्बोधन की, उन्हें जगाने की। महामना आत्मविश्वास की जाग्रत मूर्ति थे। विश्वविद्यालय की सिद्धि में इस मन्त्र ने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मालवीय जी को अपने उद्देश्य की पवित्रता में पूर्ण विश्वास था। इसी गुण के कारण उन्होंने अनेक विषम विपत्तियों को दूर भगाया तथा जीवन में अनेक विजय प्राप्त किये। विश्वविद्यालय की स्थापना के अवसर पर गान्धीजी को महामना ने इसी सद्गुण के कारण लोगों की दृष्टि में सम्मानित किया था। लेखक ने एक बार साहस बटोर कर उनके जीवन-दर्शन के विषय में यह पूछा था—महाराज, आपने स्वार्थ तथा परमार्थ का, सिद्धान्त तथा लोकव्यवहार का अपने जीवन में अद्भुत सामञ्जस्य उपस्थित किया है। हम लोग एक ओर झुकते हैं तो दूसरा दृष्टि से ओझल हो जाता है। इस विषय में आपका उपदेश क्या है? महामना ने छूटते ही गीता के सात्त्विककर्ता के विषय में कथित इस श्लोक को अपने जीवन का आदर्श बतलाया—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।
(गीता १८।२८)

इस श्लोक में सात्त्विककर्ता के चार लक्षण बतलाये गये हैं—वह आसक्ति से सदा रहित रहता है; अहंकार से सर्वथा शून्य होता है; धैर्य और उत्साह से समन्वित होता है तथा कार्य की सिद्धि और असिद्धि में किसी प्रकार की विकृति नहीं रखता। यदि कार्य सिद्ध हो जाय, तो कोई हर्ष नहीं, यदि असिद्ध हो जाय, तो कोई विषाद नहीं।

यह श्लोक मालवीय जी के जीवन-दर्शन का सार अंश प्रस्तुत करता है। वे यथार्थतः सात्त्विक-कर्त्ता थे। इतने बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन किया, परन्तु उन्हें इसका न हर्ष था और न गर्व। वे देश तथा राष्ट्र के मंगल के निमित्त इस कार्य में अटूट श्रद्धा से, अदम्य उत्साह से, कर्तव्य बुद्धि से लगे रहे और जो किया वह सचमुच विलक्षण था।

मालवीय जी सच्चे अर्थ में महात्मा थे। 'महात्मा' का लक्षण इस प्रसिद्ध श्लोक में वर्णित है—

विपदिधैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

महात्मा के जो छः लक्षण यहाँ बतलाये गये हैं वे महामना में पूर्ण वैभव के साथ प्रकट थे। विपत्तियों में धीरता, अभ्युदय में क्षमा, सभा में वाक्-चातुरी, युद्ध में विक्रम, यश में अभिरुचि तथा शास्त्र-श्रवण में अनुराग—ये छहों की सत्ता महामना में पूरे रूप में थी। 'महामना' यह उपाधि भी उनमें सर्वथा चरितार्थ होती थी। मालवीय जी में हृदय ही हृदय था। विपन्न के साथ पूरी सहानुभूति तथा अनुराग उनके जीवन में पग-पग पर दृष्टिगोचर होते हैं। ऊपर उनके बहुमुखी जीवन के विश्लेषण करने पर लेखक के हाथ जो चार सूत्र उपलब्ध हुए हैं वे इस अनुष्टुप में निबद्ध हैं—

आस्तिक्यं चात्मविश्वासः उत्साहः कार्यनिष्ठता।
चतुःसूत्री समाख्याता मालवीय महात्मनः॥

महामना की पवित्र स्मृति में उनकी महती कृपा से आनम्र लेखक की ये पंक्तियाँ श्रद्धांजलि के रूप में यहाँ उपन्यस्त हैं। इन महापुरुष का जीवन-दर्शन हमारे जीवन में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करे; भगवान् से यही प्रार्थना है।

* * *

देशी भाषा

साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा ही के द्वारा हो सकती है। हाँ, यह सच है कि अंग्रेजी का भाण्डार बहुत बड़ा है। उसमें राजनीतिक भाव बहुत अच्छे हैं। आधुनिक विज्ञान का परिचय भी हमको उसी भाषा के द्वारा हुआ है। अब यह लाभ देशव्यापी करना है। यह कार्य देशी भाषा के द्वारा हो सकता है। बिजली की रोशनी से रात्रि का अंधकार दूर हो सकता है किन्तु सूर्य का काम बिजली नहीं कर सकती है। इसी भांति विदेशी भाषा के द्वारा सूर्य का प्रकाश नहीं कर सकते। अंग्रेजी के द्वारा जो बात जानी गई है उसे अब देशी भाषा के द्वारा सारे देश में फैलाना चाहिए। सार्वजनिक रूप से यह कार्य हिन्दी ही के द्वारा हो सकता है। हम यह नहीं कहते कि देश भर में एक ही भाषा रहे, नहीं, सब प्रांतों में अपने अपने प्रांत की भाषा की उन्नति हो। इन सबके रहते हुए हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रयुक्त हो। अभी तक जो कार्य अंग्रेजी के द्वारा होता आया है वह अब हिन्दी के द्वारा होना चाहिए।

—महामना मालवीय

(सन् १९१९ ई० में नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण से)

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

भारतीय राष्ट्रीयता के जनक; मालवीय जी

पंडित मदनमोहन मालवीय, भारतीय राष्ट्रीयता के जनकों में एक थे। कांग्रेस के जन्म-काल के लगभग ही, वे इस संस्था के संपर्क में आये और अपनी मृत्युपर्यन्त वे इसमें सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। स्वतंत्रता की लड़ाई में उन्होंने संसदीय अस्त्रों का प्रयोग किया, उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व किया और अपने जीवनकाल में ही कांग्रेस को दिल्ली के शासन में प्रतिष्ठित होते देखा। उन्होंने तीन बार कांग्रेस का और तीन बार हिन्दू महासभा का सभापतित्व किया। शायद ही कोई महान राजनैतिक लक्ष्य रहा हो, जिसका समर्थन, उन्होंने उत्साह पूर्वक न किया हो।

सन् १९२० ई० में, जब कांग्रेस का निर्विरोध नेतृत्व गाँधी जी के हाथों में आया, तब भी, कुछ समस्याओं पर, अपने दृष्टिकोण की भिन्नता के बावजूद भी, मालवीय जी उनके साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलते रहे। कितने ही प्रश्नों पर, उनका, गाँधी जी से, मतभेद था किन्तु उन्होंने उनसे कभी भी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि देश का भविष्य गाँधी जी के हाथों में सुरक्षित है। गाँधी जी उन्हें बड़े भाई की तरह मानते थे।

तथापि मालवीय जी, केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे। वे भारत की राष्ट्रभाषा सम्बन्धी आन्दोलन के जनक भी थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा हिन्दी से सम्बद्ध व्यापक भाषा सम्बन्धी तथा साहित्यिक आन्दोलन को अस्तित्व प्रदान किया। अपने समय के भारत में, वे महान-तम् शिक्षाविद् थे। उन्होंने, बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की और उसे चलाया। वे एक मनीषी विद्वान थे और उन्होंने सांस्कृतिक पुनर्जागरण को शक्तिसम्पन्न बनाया, जिसके फलस्वरूप भारतीय भाषाओं में नवयुग का उदय हुआ। धार्मिक हिन्दू विचारों और कर्मों के सम्बन्ध में, वे श्रेष्ठतम प्राधिकारी माने जाते थे। सारतः, वे युग युगों की हिन्दू मान्यताओं के हृदय, काशी की आत्मा के, वे मूर्तिमन्त प्रतीक थे।

उनकी उपलब्धियाँ बहुसंख्यक तथा बहुरूप थीं। किन्तु वे स्वयं, अपनी महानतम उप-लब्धियों से भी महान् थे। वे निर्मल तथा निस्वार्थ चरित्र, विशाल हृदय, ऊँचे उद्देश्यों के प्रति सहानुभूतिशील तथा श्रद्धायुक्त रूप से धार्मिक थे। जीवन को उत्कृष्ट बनाने वाले आदर्शों को आत्मसात करने के निरन्तर प्रयास में, उनका जीवन व्यतीत हुआ और प्रत्येक कसौटी के आधार पर वे एक महर्षि थे। महात्मा गाँधी ने एक बार उन्हें प्रातःस्मरणीय—; ऐसा ऋषि, जिसके प्रातः नामस्मरण से, मनुष्य क्षुद्र स्वार्थों के दलदल से ऊपर उठ जाय—; कहा था।

वे दीर्घायु तथा कीर्तिमान होकर स्वर्गवासी हुये। यह कीर्ति उन्हें, भारत के प्रति उनके अगाध प्रेम के कारण प्राप्त हुई थी। वे देवताओं के प्रिय थे, क्योंकि उन्होंने अपनी आँखों से अपने स्वप्नों को साकार होते देखा।

[अंग्रेजी में प्राप्त लेख, अनुवादक—श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी]

* * *

देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा-प्रचार

हमें दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। एक तो हिन्दी भाषा की उन्नति की जाये दूसरे इसी भाषा के द्वारा उच्चशिक्षा का प्रचार किया जाय। सभी प्रांतीय भाषाओं की उन्नति हो रही है। सभी प्रांतों के निवासी अपनी अपनी भाषा में उच्च शिक्षा देने-दिलाने का प्रबन्ध कर रहे हैं। कुछ लोगों का विचार है कि देशी भाषा उच्चशिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं है। वे कहते हैं कि देशी भाषा घर, बाजार, पत्रव्यवहार और समाचार-पत्रों के लिये तो उपयुक्त है किंतु कालेजों के लिये अनुपयुक्त है। यह बात शोचनीय है। प्रत्येक देश में देशी भाषा द्वारा विद्या का प्रचार होता है। राजकाज, व्यापार इत्यादि सब उन्नति के कार्य देशी भाषा ही के द्वारा उत्तम रीति से हो सकते हैं। जब हम अपने देश के प्राचीन काल की ओर दृष्टि डालते हैं तब भी मालूम होता है कि उस समय भी यहाँ पर संस्कृत और प्राकृत भाषा में शिक्षा-प्रचार तथा देशोन्नति के सब काम होते थे। अनेक राज्यक्रांतियों के कारण शुद्ध संस्कृत वाणी घिसती तथा बदलती हुई पहले प्राकृत, फिर गाथा और फिर अपभ्रंश के रूप में बदलती गई। जिस काल में जो भाषा प्रचलित हुई उसी में सब कार्य होते रहे। बौद्धकाल में, अशोक के जमाने में, पाली भाषा के द्वारा सब काम सम्पन्न होते थे। मुसलमानों के जमाने में भी देशी भाषा के ही द्वारा सब कार्य होते थे। उसी समय के लगभग प्राकृत से रूपान्तर होकर हिन्दी बनी।

——महामना मालवीय

(सन् १९१९ ई० में नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गये भाषण से)

डॉक्टर राजबली पाण्डेय

कुलगुरु मालवीय जी : शैक्षणिक आदर्श

महामना मालवीय जी आधुनिक भारत के निर्माताओं में प्रमुख थे किन्तु उनकी राष्ट्रीयता राजनीति तक सीमित नहीं थी। वे राष्ट्र और राज्य को जीवन के उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति का माध्यम मानते थे और उनका यह भी विश्वास था कि उन मूल्यों की उपलब्धि के बिना राष्ट्र अथवा राज्य भी शीलवान् और स्थायी नहीं हो सकता। यह आस्था और विश्वास उनको भारतीय परम्परा से मिला था। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त के निम्नलिखित मंत्र से वे अनुप्राणित थे :

"सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।"

अर्थात, महान् सत्य, कठोर नैतिक आचरण, शुभ कार्य करने का दृढ़ संकल्प, तपस्या, वैदिक स्वाध्याय अथवा ब्रह्मज्ञान और सर्वलोकहित के लिये समर्पित जीवन पृथ्वी को धारण करते हैं।) इन वेदविहित चिरन्तन साधनों के द्वारा ही वे राष्ट्र का कार्य करना चाहते थे। राजनीतिक कार्य उनके लिये व्यवसाय नहीं था। किसी भी व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा पद, मान, प्रतिष्ठा आदि के लिये वे राजनीति का उपयोग नहीं करना चाहते थे। इसीलिये राजनीति उनके पूरे जीवन को आच्छादित नहीं कर सकती थी। राजनीति से अधिक महत्त्वपूर्ण और मौलिक जीवन के क्षेत्रों में वे अपने समय और शक्ति का उपयोग करते थे। ज्यों ही उन्हें अनुभव हुआ कि राजनीति व्यक्तिगत स्वार्थ और अहंकार का माध्यम बनने जा रही है त्योंही वे राजनीति से उदासीन और तटस्थ होते गये। उन्होंने अपने कार्य के मौलिक क्षेत्रों को पहले से सींचा था, जहाँ वे सुखपूर्वक अपने जीवन की साधना कर सकते थे। धर्म, समाज, संस्कृति और शिक्षा को वे जीवन का आधार मानते थे। वे समझते थे कि इनके उत्थान के बिना राष्ट्र का उत्थान असंभव और अर्थहीन है। इन क्षेत्रों में उनकी अमूल्य देनें हैं। किन्तु इन सभी में वे शिक्षा को अधिक मौलिक मानते थे। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी शिक्षासम्बन्धी भावनाओं और विचारों का ही संक्षिप्त दिग्दर्शन किया गया है।

आधुनिक भारत में शिक्षा का श्रीगणेश और प्रसार एक विशेष परिस्थिति में हुआ। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारत में ज्ञान, विद्या, कला, शिक्षा आदि का पर्याप्त विकास हुआ था। भारत का यह सांस्कृतिक ऋक्थ बहुमुखी और समृद्ध हैं। इसके साथ गर्वपूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में खड़ा हुआ जा सकता है। प्राचीन भारत में विद्या के माध्यम भी विशेष प्रकार के थे। गुरुकुल, आश्रम, बिहार, मठ, मंदिर और शालायें संस्थात्मक माध्यम थे। चरक, परिव्राजक,

व्यास, कथा-वाचक आदि जंगम माध्यम थे। भारत के ऊपर इस्लाम के आक्रमण के पूर्व तक ये माध्यम न्यूनाधिक मात्रा में अपने कार्य करते रहे। इस्लामी आक्रमण से भारतीय विद्या और कला को बड़ा आघात पहुंचा। उनका अपना विकास रुक गया। विध्वंस के बाद जितना उनका अंश बच रहा, केवल उसके संरक्षण का ही प्रयत्न होता रहा। मुगल साम्राज्य के ह्रासोन्मुख होने पर भारत के कुछ भागों में पुनरुत्थान की प्रवृत्तियां दिखायी पड़ीं। परन्तु इसके पहले कि भारतीय जीवन स्वतंत्र होता, भारत के ऊपर योरोपीय आक्रमण प्रारम्भ हो गये और उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी सत्ता स्थापित हो गयी।

अंग्रेज भारत के राजनीतिक विजय से ही संतुष्ट नहीं थे। व्यापार और आर्थिक लोभ तो उनको यहां खींच ही लाया था। उनके शस्त्र के साथ उनका शासन स्थापित हुआ। शासन के साथ उनकी भाषा, धर्म, संस्कृति, आचार-विचार, वेश-भूषा, खान-पान और सम्पूर्ण जीवन-पद्धति आयी। अंग्रेजों में राजनीतिक अभिमान के साथ उनमें सांस्कृतिक अभिमान भी था। भारत के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिये सांस्कृतिक विजय भी आवश्यक थी। किसी जाति अथवा राष्ट्र को पूर्णतः पराजित करने के लिये उसके व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य को नष्ट करना सबसे सफल माध्यम होता है। इतिहास में विजेता जातियों ने प्रायः इसी नीति का प्रयोग किया है। अंग्रेजों ने भी भारत में इसी नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस नीति के कार्यान्विय का सफल साधन शिक्षा थी।

भारत में शिक्षा के सम्बन्ध में अंग्रेजों की तात्कालिक और प्रथम आवश्यकता प्रशासकीय और दूसरी तथा स्थायी सांस्कृतिक थी। आधुनिक इतिहास में अंग्रेजी सत्ता का प्रसार एक चमत्कार है। इस चमत्कार की कला अंग्रेजों ने विकसित की थी। एक मुट्ठी भर अंग्रेज विशाल भारतीय साम्राज्य पर स्वतः शासन कर नहीं सकते थे। इस काम में उनको भारतीयों की सहायता की आवश्यकता थी। भारतीय विजय के समय उनको सेना का अनुभव था। उन्होंने भारतीय सिपाहियों के द्वारा भारत को विजय किया था। अब वे भारतीय कर्मचारियों के द्वारा भारत का शासन चलाना चाहते थे। उन्होंने देखा था कि विदेशी आक्रमणों से दमित होने के कारण जातीय स्वाभिमान और चेतना लुप्त होने से इस देश में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो अपनी जीविका और व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये अपने को बेचने के लिये तैयार रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का अंग्रेजी शासन के लिये वे उपयोग करना चाहते थे। ऐसे व्यक्ति तभी पूरे उपयोगी हो सकते थे जब वे अपनी जातीय परम्परा और संस्कृति से पूर्णतः विच्छिन्न और नयी शासन-व्यवस्था में निहित स्वार्थवाले हों। शिक्षा-क्रम और जीवन-पद्धति बदलने से ही ऐसा होना सम्भव था। लार्ड विलियम बेन्टिक के शासनकाल में भारत में शिक्षाप्रसार के सम्बन्ध में जो विचार हुए हैं उनमें कहा गया कि इस शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना था जो रूप-रंग में तो भारतीय हों, किन्तु आचार-विचार, वेश-भूषा, आस्था-विश्वास में अंग्रेज हों। इस शिक्षा की विशेषतायें थीं इसका माध्यम-भाषा और इसका पाठ्य-क्रम। इंग्लैंड के शिक्षा-शास्त्रियों में माध्यम को लेकर कुछ मतभेद था। परन्तु लार्ड मेकाले ने यह तर्क देकर सब को शान्त कर दिया––'अंग्रेजी माध्यम

वह शस्त्र है जो अंग्रेजों के राजनीतिक साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर भी भारत के ऊपर उनके बौद्धिक और सांस्कृतिक साम्राज्य की रक्षा करता रहेगा।' लार्ड मेकाले की यह भविष्यवाणी कितनी सत्य थी इसके लिये प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। रोमन साम्राज्य का उदाहरण अंग्रेजों के सामने था। रोमन साम्राज्य नष्ट होने पर भी रोमन लिपि, लातिनी और यूनानी से प्रभावित भाषा, ईसाई धर्म, रोमन चर्च, रोम-यूनान से प्रभावित संस्कृति का साम्राज्य आज भी बना हुआ है। जब रोमन लार्ड इंग्लैण्ड छोड़कर भाग रहे थे तो स्वयं इंग्लैण्ड-निवासियों ने उनसे प्रार्थना की थी कि वे उनको अनाथ छोड़कर वापस न जायें।

भारत की यह विशेषता रही है कि उसने कभी विदेशी आक्रमण और प्रभाव के सामने पूर्णतः आत्म-समर्पण नहीं किया। भारत में अंग्रेजी सत्ता के फैलने के साथ ही उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में जो सुधारवादी आन्दोलन चले उसमें राष्ट्रीय चेतना और पुनरुत्थान की भावना थी। १८५७ में तो सशस्त्र विद्रोह हुआ। विद्रोह-दमन के पश्चात् भी राष्ट्रवादी आन्दोलन जारी रहे। इन राष्ट्रवादी आन्दोलनों की एक विशेषता थी। ये भारत को केवल राजनीतिक दासता से ही मुक्त नहीं करना चाहते थे, वे भारत को बौद्धिक और सांस्कृतिक गुलामी से भी मुक्त देखना चाहते थे। राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) में भाग लेने वालों में ऐसे लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या थी। महामना मालवीय जी उनमें अग्रणी थे। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, देवसमाज, रामकृष्ण-विवेकानन्द मिशन सभी इसी दिशा में प्रयत्न कर रहे थे। कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ अन्य भी राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के अधिवेशन होते थे। राष्ट्रीय दृष्टि से जो जाग्रत थे वे अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा के कुप्रभाव को स्पष्ट देख रहे थे; जो उनसे अभिभूत थे उनका तो मार्ग ही भिन्न था। भारत की कई प्रबुद्ध आत्माओं ने भारतीय जीवन-दर्शन का प्रचार करना आरम्भ किया। विवेकानन्द, रवीन्द्र, अरविन्द, तिलक आदि ने भारतीय आत्मा के जागरण में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। तिलक ने तो लोक-संग्रह का जीवन दर्शन ही गीता-रहस्य के रूप में प्रस्तुत किया। थियॉसॉफी यद्यपि विश्व-कल्याण चेतना से प्रेरित थी, परन्तु भारत में राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय आत्म-सम्मान जाग्रत करने में इसका कम हाथ नहीं था। इसके द्वारा संचालित भारतीय ब्रह्मविद्या, तत्त्व-सभा, काशी में सेंट्रल हिन्दू कालेज आदि भारतीय राष्ट्रीयता के ही उन्नायक थे। गुरुकुल, ऋषिकुल, विद्यापीठ आदि इसी दिशा में प्रयोग और प्रयत्न थे।

अंग्रेजों ने यद्यपि प्रशासकीय आवश्यकता और साम्राज्यवादी विजयिनी प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भारत में शिक्षा का संगठन किया था, कुछ उच्च शक्तियां सारे मानव इतिहास को प्रभावित कर रही थीं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य, विचार-स्वातंत्र्य, मानववाद, उदारतावाद आदि के आंदोलन जातीय स्वार्थों और दुराग्रहों को शिथिल करने लग गये थे। विलियम बेंटिक के समय में तो छोटे २ स्कूलों और कालेजों की स्थापना हुई। १८५८ में ब्रिटिश साम्राज्य की उद्घोषणा के पश्चात् भारत में तीन प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालयों कलकत्ता, मद्रास और बम्बई की स्थापना हुई। इनके ऊपर इंग्लैण्ड के शिक्षासम्बन्धी आदर्शों का प्रभाव पड़ने लगा। परन्तु भारत में इंग्लैण्ड के

उदारतावादी शैक्षणिक आदर्शों और साम्राज्यवादी स्वार्थों में काफी संघर्ष चलता रहा। भारत में अंग्रेज शिक्षाशास्त्री और कर्मचारी बराबर इस बात का प्रयत्न करते रहे कि शिक्षा द्वारा यहां राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक पुनरुत्थान न हो। वे तो फ्रान्स की राजनीतिक क्रांति, लोकतांत्रिक सुधार और औद्योगिक क्रांति के प्रभाव को भी शिक्षा-नियंत्रण के माध्यम से रोकते रहे। जब कि संसार के अन्य देश इन प्रभावों को स्वतंत्र रूप से अपनी भाषा के माध्यम से ग्रहण कर रहे थे, भारत को नियंत्रण द्वारा इनसे वंचित रखा जा रहा था। १८६१ और १९०५ के बीच भारत में शिक्षा-सम्बन्धी कई अधिनियम बने, किन्तु इनका उद्देश्य शिक्षा और ज्ञान का प्रसार नहीं, किन्तु इनका स्वतंत्र प्रभावों के विरुद्ध, संकोचन और नियंत्रण था। लार्ड कर्जन के समय में जो "युनिवर्सिटीज एक्ट" बना उसके स्वरूप, उद्देश्य, और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया से सभी प्रबुद्ध लोग परिचित हैं।

अंग्रेजों द्वारा प्रचलित किन्तु नियंत्रित शिक्षण-पद्धति के उद्देश्यों और प्रभावों को देखते हुये जो लोग राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से जागरूक थे वे राजनीतिक दासता के साथ बौद्धिक और सांस्कृतिक दासता से भी देश को मुक्त करना चाहते थे। इसलिये अंग्रेजों के प्रशासकीय नियंत्रण से पृथक् और स्वतंत्र होकर शिक्षा के क्षेत्र में नये प्रयोग प्रारम्भ किये गये। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, गुरुकुल, ऋषिकुल, शान्ति-निकेतन आदि इसी दिशा में प्रयत्न थे। महामना मालवीय जी भी पाश्चात्य जीवन-पद्धति पर आधारित और सरकार द्वारा नियंत्रित शिक्षण-पद्धति के दोषों से पूर्णतः परिचित थे, उसके कुप्रभावों को तीव्रता से अनुभव करते थे। वे समझते थे कि भारतीय नवयुवकों को केवल जीविका के लोभ और राष्ट्रीय दृष्टि से नैतिक पतन से बचाने के लिये स्वतंत्र रूप से संचालित राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता है। वे गुरुकुलों, ऋषि-कुलों, शान्ति-निकेतन आदि का आदर करते थे। परन्तु वे यह भी समझते थे कि इनसे देश की वर्त-मान समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इतिहास-चक्र को उलटा नहीं घुमाया जा सकता। अतीत के जीवन्त-मूल्यों और जीवन-पद्धति के मौलिक सिद्धान्तों का वर्तमान में परिवहन और आत्मसात् होना संभव हो सकता है किन्तु वर्तमान को उसके ऐतिहासिक संदर्भ से हटा कर अतीत में स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता। जीवन्त अतीत और स्वस्थ वर्तमान, प्राच्य और पाश्चात्य और आध्यात्म तथा उसके अविरुद्ध भौतिक तत्वों का समन्वय संभव और वांच्छनीय है। इस प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के संदर्भ में महामना की कल्पना में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की उद्भावना हुई। यही राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (काशी विश्वविद्यालय) के रूप में स्थापित हुआ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना केवल एक नयी विद्या-संस्था की स्थापनामात्र नहीं थी। यह बौद्धिक और सांस्कृतिक मुक्ति का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन था। हिन्दू विश्वविद्यालय की भावना और योजना का प्रचार काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और सौराष्ट्र से लेकर आसाम तक हुआ। इसके द्वारा देश की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय भावना एक बार पुनः जाग्रत हो उठी। देश के सभी वर्गों—किसान, वणिक, सामान्य प्रजा, श्रीमन्त तथा राजा-महाराजा—ने उन्मुक्त कण्ठ और उन्मुक्त हस्त से इस योजना का स्वागत किया। यद्यपि भारत की नौकर-

शाही प्रारम्भ से ही इस योजना को शंका और द्वेष की दृष्टि से देखती रही, इंग्लैंड के उदारदल ने और उस समय के वाइसराय स्वयं लार्ड हार्डिज ने इसका स्वागत किया। जब १९१६ में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो इसका अखिल भारतीय और सर्वदलीय स्वरूप स्पष्ट दिखायी पड़ा। स्थापना-समारोह में देश के प्रसिद्ध नेता, शिक्षा-शास्त्री, राजा-महाराजा, श्रीमन्त और सभी वर्गों की अपार जनता उपस्थित थी। इसमें लार्ड हार्डिज और महात्मा गांधी (तब केवल श्री गांधी) दोनों वर्तमान थे। यह स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा का महान् पर्व था; ऐसा लगा कि एक बार पुनः काशी में देश की भारती जाग उठी।

महामना मालवीय जी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक कुलपति थे, यद्यपि वे प्रथम कुलपति नहीं थे। वे संविधान के अन्तर्गत स्वतः नियुक्त अथवा किसी सरकारी पदाधिकारी द्वारा मनोनीत नहीं थे। वे विश्वविद्यालय की भावना और योजना के प्रवर्तक थे। अतः सबके आदर और श्रद्धा से कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हुये। विश्वविद्यालय की उनकी एक कल्पना थी। उसको वे साकार देखना चाहते थे। विश्वविद्यालय के सभी अंगों के निर्माण और व्यवस्था में उनका एक आदर्श और उद्देश्य था।

मालवीय जी महामना होने के कारण छोटे पैमाने पर कोई चीज सोचते ही नहीं थे। विश्वविद्यालय की उनकी विराट कल्पना थी। वे चाहते थे कि विश्व में जितना भी ज्ञान संभव हो उसका अन्वेषण, सृजन, परिवर्धन और वितरण विश्वविद्यालय में हो और इस ज्ञान के द्वारा भारतीय चरित्र और बुद्धि का विकास हो। किन्तु सबसे पहले उनके सामने एक मौलिक प्रश्न था : विद्या अथवा शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ? यहां पर वे औपनिषदिक आदर्श से प्रेरित थे। उपनिषदों में विद्या का उद्देश्य स्पष्ट लिखा हुआ है—'सा विद्या या विमुक्तये' (विद्या वह है जो मुक्ति के लिये हो) और मुक्ति वह है जो मानव को सभी प्रकार के बंधनों—आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक से छुटकारा दिलावे। उनके विचार में विद्या मुक्ति अथवा स्वतंत्रता के लिये ही है। विद्या मुक्ति का माध्यम है। इस विद्या की पद्धति भी स्वतंत्र होनी चाहिये और उसका अनुसरण होना चाहिये स्वतंत्र अध्यापकों और छात्रों द्वारा। जो स्वतः स्वतंत्र नहीं है वह दूसरों को मुक्ति का मार्ग नहीं बतला सकता। मुक्ति ही दूसरों को मुक्त कर सकता है। (मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्)। इस आदर्श को ध्यान में रख कर महामना ने प्रारम्भ से ही मानव व्यक्तित्व और चरित्र के विकास के लिये स्वतंत्र वातावरण का निर्माण किया। विश्वविद्यालय के वातावरण में रहनेवालों के चेहरे पर उन्मुक्तता अंकित दिखायी पड़ती थी। जब जब देश की मुक्ति का आन्दोलन चला, विश्वविद्यालय के सभी द्वार उन्मुक्त हो जाते थे। विश्वविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में बराबर भाग लिया। इसके लिये वे कभी दण्डित अथवा निष्कासित नहीं हुये। महामना प्रायः ऐसे अवसरों पर कहा करते थे कि विश्वविद्यालय और राष्ट्र का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। देश और राष्ट्र की मुक्ति के लिये एक नहीं, अनेक विश्वविद्यालयों का बलिदान किया जा सकता है। अतः विश्वविद्यालय सर्वतोभावेन स्वतंत्रता के माध्यम से, स्वतंत्रता के लिये स्थापित था।

दूसरा मौलिक प्रश्न महामना के सामने था विद्या के स्वरूप और विषय का। आजकल विद्या सामान्य रूप से सभी प्रकार के ज्ञान के लिये प्रयुक्त होती है। परन्तु भारतीय परम्परा में ज्ञान के दो प्रकार थे—विद्या और अविद्या। विद्या आध्यात्मिक ज्ञान को कहते थे और अविद्या भौतिक अथवा पार्थिव ज्ञान को। दोनों ही प्रकार के ज्ञान मानव जीवन की पूर्णता और मुक्ति के लिये आवश्यक थे। उपनिषदों में कहा गया है--

विद्याञ्च अविद्याञ्च य वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

(जो विद्या और अविद्या को साथ साथ जानता है वह अविद्या (भौतिक ज्ञान) के द्वारा मृत्युलोक (संसार) को पार कर विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के द्वारा अमृत-तत्व को प्राप्त करता है।) यह भी कहा गया है कि जो केवल भौतिक ज्ञान का अर्जन और आध्यात्मिक ज्ञान की अवहेलना करता है वह अन्धकार में डूब जाता है, परन्तु जो केवल आध्यात्मिक ज्ञान का संचय करता है और भौतिक ज्ञान की उपेक्षा करता है, वह उससे भी गहरे अंधकार में विलीन हो जाता है। आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान का परस्पर विरोध संसार के लिये घातक है, इस बात को महामना भलीभांति अनुभव करते थे। मध्ययुगीन भारत स्वयं इसका उदाहरण था। झूठी आध्यात्मिकता और जीवन के पार्थिव पक्ष की उपेक्षा से दरिद्र भ्रष्टाचारी जीवन का ही निर्माण हो सकता है। महामना त्याग की मूर्ति थे परन्तु देश की दरिद्रता को अभिशाप समझते थे। वे आध्यात्मिक ज्ञान के साथ आधुनिक विज्ञान की सहायता से देश को समृद्ध बनाना चाहते थे। इसलिये विश्वविद्यालय में पाठ्य-विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि जहां एक ओर धर्म, दर्शन तथा सामाजिक शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन हो वहां दूसरी ओर वाणिज्य, शुद्ध विज्ञान, यंत्र-विज्ञान तथा औद्योगिक विज्ञान आदि पार्थिव और भौतिक शास्त्रों का भी उच्चतम ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञान के इन दोनों पक्षों के समन्वय तथा संवर्धन के वे बहुत बड़े समर्थक थे।

महामना के सामने तीसरा महत्वपूर्ण प्रश्न था विश्वविद्यालय के स्थान, स्वरूप और आवास का। विश्वविद्यालय का अखिल भारतीय होना उनके विचार में आवश्यक था। अंग्रेजी सरकार ने कोई अखिल भारतीय विश्वविद्यालय नहीं स्थापित किया था जो भारत का भावनात्मक ऐक्य स्थापित करता। अंग्रेजी साम्राज्य का ऐक्य सैन्यबल, दास्य और शासन यंत्र पर आधारित था। उसके सामने राष्ट्रीयता का कोई प्रश्न था भी नहीं। महामना राष्ट्रीय एकता के लिये एक सर्व-देशीय विश्वविद्यालय का महत्व समझते थे। अब प्रश्न यह था कि इस दृष्टि से भारत में कौन सा स्थान सर्वदेशीय होगा। इसका उत्तर था काशी, जो युग युग से भारतीय ज्ञान और संस्कृति का केन्द्र थी। काशी पृथ्वी पर 'प्रकाश' अथवा ज्ञान का प्रतीक, अविमुक्त क्षेत्र और आनन्द कानन मानी जाती थी। जिसके बारे में भारतीय सन्तों ने कहा था : 'जन्म मुक्ति महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर। जह बस शम्भु भवानि सो काशी सेइस कस न।' डा० ऐनी बिसेंट ने 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' के लिये वाराणसी को चुना था। महामना को स्थान चुनने

में कोई कठिनाई नहीं हुई। उनका जन्मस्थान तीर्थराज प्रयाग था, जिसका कि महत्व कोई कम नहीं था। परन्तु परम्परा से 'सर्व विद्या की राजधानी' काशी को उन्होंने विश्वविद्यालय के लिये चुना।

आज के युग में विश्वविद्यालय न तो पारिवारिक गुरुकुल का और न वन में स्थित आश्रम का रूप ग्रहण कर सकता है। उसका स्थान तो घर और वन के बीच कहीं भी हो सकता था। इसलिये महामना ने निश्चय किया कि काशी नगरी से अनतिदूर गंगा के किनारे, अर्द्ध एकांत किन्तु स्वच्छ वातावरण में विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय। सेंट्रल हिन्दू कालेज विश्व-विद्यालय को मिल चुका था, परन्तु वह नगर के कोलाहल में था। भगवान् विश्वनाथ की तरह काशीनरेश का वरद हस्त महामना को प्राप्त था। गंगा के किनारे काशी नरेश ने विश्वविद्यालय के लिये भूमि प्रदान की और १९१६ में विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ। उसी वर्ष भीषण बाढ़ आ जाने के कारण विश्वविद्यालय को गंगा के किनारे से थोड़ा हटना पड़ा परन्तु बहुत दूर नहीं।

विश्वविद्यालय के भवनों के निर्माण में भी महामना की भारतीय आत्मा और हृदय की विशालता का परिचय मिलता है। भारतीय कला के लिये उनके मन में प्रगाढ़ प्रेम था। भवन उनके लिये केवल लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई का नाम नहीं था। वह एक भावना, शिक्षा और सौंदर्य का प्रतीक था। इसलिये भवन-निर्माण में आधुनिक सामग्रियों और तकनीक का उपयोग करते हुये भी भारतीय स्थापत्य के सिद्धान्तों, अलंकरणों और प्रतीकों का प्रचुर उपयोग किया गया। महामना के समय में जितने महाविद्यालयों, छात्रावासों और अध्यापकों के आवास के लिये भवन बने उनमें भारतीय स्थापत्य के कला तथ. भावना-पक्ष का ध्यान रखा गया। यदि हिन्दू विश्वविद्या-लय के भावनात्मक ह्रास का मूर्त इतिहास कोई देखना चाहे तो वह महामना के परवर्ती भवनों में दिखायी पड़ेगा। भारतीय स्थापत्य कला के प्रेमी हैवेल के उपालम्भों से प्रभावित होकर अंग्रेज शासकों ने भी नई दिल्ली के निर्माण में भारतीय कला के प्रतीकों और अलंकरणों को अपनाया था। परन्तु आज का भारतीय बाहरी प्रभाव से अभिभूत है। जिस प्रकार अमरीकी भारत के भविष्य पर चढ़ता जा रहा है वैसे ही अमरीकी स्थापत्य भारतीय कला के ऊपर। भवन-निर्माण की दृष्टि से भी हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना विराट थी। हिन्दू विश्वविद्यालय तपोवन नहीं था अपितु विद्या का विशाल देवालय था। मालवीय जी की राष्ट्रीय भावना और उनका आत्म-सम्मान छप्पर और फूस से संतुष्ट होने वाला नहीं था। उनकी भावना और कल्पना समृद्ध कलात्मक थीं। इस दृष्टि से मालवीय जी सात्विक राग के सुन्दरतम उदाहरण थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय का संविधान और संघटन जो महामना ने अपनाया वह भी अपना वैशिष्ठ्य रखता था। वह अन्य विश्वविद्यालयों का अनुकरण नहीं था। उस समय अंग्रेजी साम्राज्य भारत में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। देश का राजनीतिक तथा शैक्षणिक जीवन पूर्णतः नियंत्रित था। परन्तु ऐसी विषम परिस्थिति में भी उस समय लोकतांत्रिक सिद्धान्तों

के आधार पर हिन्दू विश्वविद्यालय का संविधान पूर्ण लोकतांत्रिक था। इसमें शैक्षिणिक और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का पूर्ण ध्यान रखा गया था। अपनी आन्तरिक व्यवस्था में यह पूर्णतः स्वायत्त तथा सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त था। इसकी सर्वोच्च अधिकारणी संस्था कोर्ट थी। इसमें देश के सभी विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व था, सरकारी प्रतिनिधियों की संख्या नगण्य थी। कोर्ट ही विश्वविद्यालय के प्रमुख अधिकारियों तथा कार्यकारणी परिषद् का निर्वाचन करती थी। चांसलर, प्रो० चांसलर, वाइस-चांसलर, प्रो० वाइस-चांसलर, ट्रेजरर सभी कोर्ट द्वारा चुने जाते थे। विश्वविद्यालय की नीति और कार्य-क्रम भी कोर्ट द्वारा ही निर्धारित होते थे। संविधान की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें प्रशासकीय और शैक्षणिक अंग में पार्थक्य था। शैक्षणिक अंग पूर्णतः स्वायत्त था। सीनेट और सिंडिकेट शैक्षणिक कार्यों में स्वतंत्र थी, कार्य-कारिणी परिषद् की मुखापेक्षी नहीं। कार्यकारिणी का मुख्य काम था साधनों की व्यवस्था करना और कर्मचारियों की नियुक्ति। जिस प्रकार लोक-स्वातंत्र्य के लिये प्रशासन और न्याय का पार्थक्य आवश्यक माना जाता है वैसे विश्वविद्यालय में भी व्यवस्था और शिक्षण का पार्थक्य विचार और शास्त्र के विकास के लिए आवश्यक समझा गया था। इस प्रकार सत्ता और ज्ञान के पार्थक्य तथा अधिकार के विकेन्द्रीकरण द्वारा विश्वविद्यालय का कार्य मालवीय जी के समय में बिना अनावश्यक हस्तक्षेप और संघर्ष के चलता था।

ऐसे संविधान के अन्तर्गत महामना जी कुलपति चुने जाते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर कुलपति कहलाते थे, उपकुलपति नहीं। 'उपकुलपति' उपपति के समान लगता है जो विश्वविद्यालय के उच्चतम अधिकारी के अनुरूप नहीं था। उपकुलपति शब्द तभी से अधिक प्रचलित हुआ है जबसे राज्यपाल अथवा मुख्यमंत्री चांसलर होने लगे हैं। मालवीय जी निर्वाचित कुलपति होने में गर्व का अनुभव करते थे, प्रशासन से मनोनीत अथवा नियुक्त होना उनके स्वाभिमान और लोकतांत्रिक भावना के विरुद्ध था। कोर्ट का विश्वासपात्र और श्रद्धेय होने के लिए यह आवश्यक भी था। वास्तव में मालवीय जी केवल कुलपति ही नहीं कुलगुरु भी थे; केवल व्यवस्थापक नहीं उपदेष्टा भी थे। महामना की कुलपति अथवा कुलगुरु की एक अपनी कल्पना भी थी। उनके सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू विश्वविद्यालय का कुलपति भारतीय संस्कृति का मर्मज्ञ तथा आचार-विचार, वेशभूषा, खान-पान आदि में भारतीय होना चाहिये और जनता में उसे भारतीय दिखायी भी पड़ना चाहिये। साथ ही साथ उसे राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय तत्वों का उन्नायक होना चाहिये। उनका यह भी विचार था कि विश्वविद्यालय का कुलपति सम्मानित तथा अवैतनिक होना चाहिए। वे समझते थे कि वैतनिक अथवा किसी भी प्रकार के आर्थिक स्वार्थवाले व्यक्ति का वह प्रभाव अध्यापकों, छात्रों और जनता पर नहीं पड़ सकता जो एक शिक्षण संस्था के कुलगुरु की ओर से पड़ना चाहिये। भारतीय निष्ठा का यह एक मौलिक सिद्धान्त है जिसको मालवीय जी दृढ़ता से पकड़े हुए थे। वे जानते थे कि उच्चतम वेतन पानेवाला व्यक्ति आतंक तो थोड़े समय के लिये जमा सकता है, किन्तु स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति में और भी कई गुण होने चाहिये जो मालवीय जी में थे। उन गुणों का उल्लेख मालवीय जी स्वयं तो नहीं करते थे किन्तु दूसरों ने उनके सम्बन्ध में किया है। सन् १९३८ में मालवीय जी की इच्छा से कोर्ट के अधिवेशन में कुलपति पद के लिए डा० शांतिस्वरूप भटनागर ने सर राधाकृष्णन् के नाम का प्रस्ताव करते हुए कहा, "हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर में तीन गुण मुख्यतः आवश्यक हैं। प्रथमतः उसे हिन्दी का प्रौढ़ वक्ता होना चाहिए, क्योंकि आधुनिक युग में भारतीय हृदय तथा जन-साधारण को स्पर्श करने के लिए यह एकमात्र अखिल भारतीय माध्यम है। दूसरे उसे अंग्रेजी का भी सफल वक्ता होना चाहिये, क्योंकि आधुनिक ज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का यह मुख्य माध्यम है। तीसरे, उसे सफल भिक्षुक होना चाहिये जिससे वह भारतीय जनता से भीख मांग कर विश्वविद्यालय के लिये साधन एकत्र कर सके।" समय बदल चुका है किन्तु उपर्युक्त कथन का सत्य नहीं बदला है। वास्तव में हिन्दी एक प्रादेशिक अथवा भारत के बड़े भूभाग की भाषामात्र नहीं है। जो हिन्दी के बारे में इतना ही जानते हैं वे हिन्दी को नहीं जानते। वह भारतीय अभिव्यक्ति की बहुत बड़ी शक्ति है। इस रहस्य को इस युग में पूर्णतः दो ही व्यक्तियों ने जाना महामना मालवीय जी और महात्मा गांधी। अंग्रेजी अथवा अन्य किसी भी विदेशी माध्यम के द्वारा भारतीय हृदय पर भावात्मक अथवा नैतिक प्रभाव नहीं पड़ सकता। भारत के लिए अंग्रेजी वाहनमात्र है, जनता पर उसका भावात्मक प्रभाव कभी पड़ ही नहीं सकता। किसी अच्छी अंग्रेजी बोलनेवाले की कोई प्रशंसा कर सकता है किन्तु उसके प्रति श्रद्धा नहीं। भारतवर्ष में प्राचीन काल में शिक्षा और भिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध था। आचार्य और विद्यार्थी दोनों समाज से भिक्षार्जित साधन पर जीते थे, अतः उनकी सभी वृत्तियां समाजनिष्ठ और लोकप्रवण होती थीं। आज के युग में घर घर भिक्षा मांगना तो संभव नहीं, किन्तु समाज के सभी वर्गों से साधन एकत्र कर विश्वविद्यालय चलाना संभव है। महामना ने यही किया। राजा महाराजाओं से लेकर दरिद्र भिखारी तक से उन्होंने भिक्षा मांगी। वे जानते थे कि केवल सरकार अथवा दो चार श्रीमतों पर अवलम्बित होने से विश्वविद्यालय का व्यक्तित्व और शैक्षणिक स्वातंत्र्य नष्ट हो जायेगा। वे प्रशासन से पूर्ण सहायता लेने के पक्षपाती नहीं थे। उनकी यह आशंका सत्य निकली।

कुलगुरु मालवीय जी अध्यापकों और छात्रों के लिये क्या थे, इस बात को वे ही लोग जानते हैं जो उनके समय में विश्वविद्यालय में अध्यापक अथवा छात्र थे। वे विश्वविद्यालय के उच्चतम अधिकारीमात्र नहीं थे, उनके लिये विश्वविद्यालय अपना कुल अथवा परिवार था, जिसकी चिन्ता निरंतर उनके मानस में बनी रहती थी। वे कुल के पिता, आचार्य और गुरु थे। विश्वविद्यालय के प्रति उनमें सहज भावात्मक अनराग था। उनके विशाल हृदय में अध्यापकों के प्रति आदर का भाव था। उनको वे अधिक वेतन नहीं दे सकते थे, परन्तु उसके बदले में उन्होंने प्रचुर सम्मान दे रखा था। उनके समय में अध्यापकों के केवल दो ही वर्ग थे प्रोफेसर और सहायक प्रोफेसर। वास्तव में एक ही वर्ग प्रोफेसर, रीडर और लेक्चरर का पद वे अध्यापक के अनुरूप नहीं समझते थे। विश्वविद्यालय के सभी क्षेत्रों में उनको उचित स्थान और अधिकार मिला था।

मालवीय जी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि विश्वविद्यालय के आधार अध्यापक हैं, वाइस चांसलर अथवा रजिस्ट्रार का कार्यालय नहीं। इसलिए उनके समय में अध्यापक गरीबी से रह कर भी सम्मान और गर्व का अनुभव करते थे।

छात्रों के लिये मालवीय जी के हृदय में अपार करुणा और हित-कामना थी। विश्वविद्यालय का द्वार तो सभी वर्ग के छात्रों के लिये खुला हुआ था, परन्तु दीन विद्यार्थियों पर तो उनकी विशेष कृपा थी। वास्तव में मालवीय जी का हृदय माता का हृदय था। वे 'वन्दौं सीताराम पद जिन्हिं परम प्रिय खिन्न' के उपासक थे। उन दिनों सरकारी नौकरों के लड़के अथवा सम्पन्न वर्ग के महत्वाकांक्षी छात्र प्रायः उन विश्वविद्यालयों में जाते थे जहां की पढ़ाई से सरकारी नौकरी आसानी से मिल सकती थी। परन्तु सामान्य और गरीब घरों से अधिक विद्यार्थी हिन्दू विश्वविद्यालय में ही पहुंचते थे। गरीबी के कारण हिन्दू विश्वविद्यालय से कोई वापस नहीं जाता था। जुलाई के महीने में छात्र किसी भी छात्रावास में अपना सामान डाल देते थे, किसी प्रकार अपना नाम लिखा लेते थे। दो दो वर्ष तक भी फीस के बकाये में भी नाम नहीं कटता था। यदि परीक्षा के समय तक भी फीस न दे पाते तो वे अन्त में मालवीय जी तक पहुंचते थे। वस्तुतः गरीब छात्रों की पूरी अथवा आधी फीस को वे ऐसे अवसरों पर माफ ही कर देते थे। इसके अतिरिक्त मालवीय जी के पास कई सहायतार्थ कोष थे जिनसे छात्रों को पुस्तकों, भरण-पोषणादि के लिये भी धन मिलता रहता था। ऐसे कई छात्र जो कभी कठिन रोगों से आक्रान्त हो जाते थे उनकी चिकित्सा की विशेष व्यवस्था मालवीय जी करा देते थे। उन तक छात्रों का पहुंचना सुलभ था। इसलिये बहुत से छात्र उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आ जाते थे। कोई भी छात्र उनके निकट सम्पर्क में जाकर वात्सल्य का ही अनुभव करता था।

विश्वविद्यालय में मालवीय जी ने छात्रों के शिक्षण और ज्ञानवर्धन की व्यवस्था तो की ही थी, किन्तु उनका उद्देश्य केवल कार्यक्षम नागरिक अथवा सेवा आयोग के लिये उपयुक्त कर्मचारी उत्पन्न करना नहीं था। वे क्षमता और जानकारी से अधिक महत्व भावात्मक विकास और चरित्र-गठन को देते थे। इसलिये विश्वविद्यालय में ऐसे वातावरण का उन्होंने संयोजन किया था जहां से समुन्नत, स्वाभिमानी और लोकसेवी मनुष्य निकल सकें। छात्र संघ, पार्ल्यामेंट, साहित्यिक समितियां, व्याख्यान मालायें, कथा-वार्ता, पर्व-उत्सव आदि मनुष्य-निर्माण के माध्यम थे। इनमें मालवीय जी स्वतः रस और भाग लेते थे। विद्यार्थी इन आयोजनों में उनके दर्शन और भाषण के लिये लालायित रहा करते थे। सरकारी नौकरियों के लिये तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ना अयोग्यता माना जाता था। यहां के छात्र सरकार के लिये संदिग्ध और खतरनाक समझे जाते थे। परन्तु विश्वविद्यालय से निकले हुए छात्र, अध्यापक, साहित्यकार, वकील, इंजीनियर और समाज-सेवियों के रूप में देश में चारों ओर छा गये थे। मालवीय जी की प्रेरणा और प्रभाव उनके जीवन का बहुत बड़ा संबल और प्रेरणा का स्रोत था।

छात्रों में विनय और अनुशासन की मालवीय जी की एक विशिष्ट कल्पना थी। विद्यार्थियों में शिष्यत्व का भाव ही विनय अथवा अनुशासन का आधार है। यह अधिकारियों

और अध्यापकों की सहानुभूति, वात्सल्य और हितकामना से उत्पन्न होता है। विनय प्रभावात्मक और अर्न्तनिहित होता है। नियंत्रण, शक्ति और प्रहार से यह पैदा नहीं किया जा सकता। इसीलिये शैक्षणिक विधान और वातावरण सैनिक और प्रशासकीय वातावरण से भिन्न होता है। मालवीय जी का विश्वविद्यालय के प्रागंण में रहना ही छात्रों में विनय और अनुशासन के लिये पर्याप्त था। उनका स्नेह, वात्सल्य और सर्वभूत हित-कामना स्वतः लोगों पर प्रभाव डालती थी। उनके पास जाने मात्र से एक विशेष प्रकार का हृदय-परिवर्तन हो जाता था। सभा समितियों में उनके जानेमात्र से शांति और व्यवस्था उत्पन्न हो जाती थी। कोई भी अपराधी व्यक्ति उनके सम्मुख जाकर लज्जित और परिवर्तित हो जाता था। छात्रों के संघटनों को वे प्रोत्साहन देते थे। किसी नैतिक उद्देश्य के लिये उनके आन्दोलनों को वे वैध मानते थे। सार्व-जनिक अथवा राजनीतिक कार्य-क्रम तथा आन्दोलनों में भाग लेने के लिये कोई छात्र कभी दंडित नहीं हुआ। मालवीय जी के सामने विश्वविद्यालय, देश और लोक में कोई भेद नहीं था। इसलिये वे शैक्षणिक एकांगीणता में विश्वास नहीं करते थे। वे समग्र और संतुलित जीवन के निर्माता थे।

महामना मालवीय जी के कुलगुरु के अनेक और विविध पहलू हैं, जिन सब का एक छोटे से लेख में वर्णन नहीं हो सकता। उनका हृदय विश्व के समान विशाल और दृष्टि समष्टिगत थी। वे चाहते थे कि विश्वविद्यालय में शिक्षण और ज्ञानार्जन से बढ़कर मनुष्य में हृदय की विशालता और चरित्र का निर्माण हो। विश्वविद्यालय उनके लिये लोक-संवेदना और लोकहित का माध्यम था। वे विश्वविद्यालय को यांत्रिक संघटन, कारखाना या फौजी छावनी नहीं बनाना चाहते थे। उनका स्वप्न पृथ्वी पर उतरा किन्तु पूरा नहीं हुआ। जिस प्रकार महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन का देश में विघटन हुआ उसी प्रकार मालवीय जी के जीवनादर्शों का। संतोष इतना ही है कि उनके जीवन-काल में उनके आदर्शों का दुःखान्त अंत नहीं हुआ। वे अपने भाषणों में प्रायः कहते थे कि वे अविमुक्त धाम, मोक्षदायिनी काशी में रहकर भी मोक्ष नहीं चाहते थे; वे भारत और विश्वविद्यालय की सेवा करने के लिये पुनः जन्म लेना चाहते थे ––

> न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
> कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

इसीलिये पंचक्रोशी के भीतर न जाकर विश्वविद्यालय के अपने आवास में उन्होंने शरीर-त्याग किया। मेरा विश्वास है कि विश्वविद्यालय के ऊपर अब भी उनकी आत्मा का संचरण होता होगा। विद्या के भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा और राष्ट्र की वास्तविक और पूर्ण मुक्ति के लिये वे फिर जन्म लेंगे।

आचार्य सूर्यनारायण व्यास

महामना मालवीय का प्रथम-दर्शन !

महर्षि मालवीय जी महाराज के दर्शन का सौभाग्य मुझे उस समय प्राप्त हुआ, जब हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए वह देश के दौरे पर निकले थे, उस समय वे उज्जैन में भी आए थे। साथ में स्वर्गीय महाराजा दरभंगा भी थे। उज्जैन में उनका निवास दो रोज का था, और मेरे पड़ोस में शिप्रातटवर्ति वेंकटेश-धर्मशाला में वे ठहरे हुए थे। महाकालेश्वर जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है कि मेरे मकान के सामने से ही जाना होता है। मध्य में मेरा मंदिर (बड़े गणेश मंदिर) आता है। गणेश जी की प्रतिमा इतनी विशाल, भव्य और आकर्षक है कि कोई भी यात्री वहाँ पहुंचे बिना नहीं रह सकता, इसलिए नगर में आने वाले श्रेष्ठ पुरुषों का मिलन मुझे सरलता से प्राप्त हो जाता है। महामना शिप्रा-स्नान कर महाकालेश्वर-दर्शन के लिए जब आए तो बड़े गणेश जी में भी पहुंचे, और आते ही उन्होंने मेरे पिता जी के लिए पूछा कि वे कहाँ हैं? हम लोग चकित थे कि पिता जी कभी काशी नहीं गए, और महामना इसके पूर्व कभी उज्जैन नहीं आए, ऐसी हालत में पिता जी के लिए पूछना हमारे लिए विस्मय का विषय तो था ही। जब पिता जी महामना के समक्ष पहुंचे तो मालवीय जी ने बड़े ही सम्मानपूर्वक उन्हें प्रणाम किया और कहा कि उज्जैन आने के पूर्व काशी के विद्वज्जनों से आपका यश सुन कर दर्शन करना चाहता था। पिता जी के ऋषि-तुल्य व्यक्तित्व से मालवीय जी वहुत प्रभावित हुए, सारी स्थिति जान कर बोले—"आप तो स्वयं जीवित विश्वविद्यालय हैं। आप आशीर्वाद दीजिए कि हम लोग काशी में विश्वविद्यालय शीघ्र स्थापित कर सकें।"

स्व० पिताजी ज्योतिर्विज्ञान के तीनों अंगों के प्रकाण्ड पंडित थे और मध्यभारत एवं राजस्थान में उनके छात्रों की संख्या ६ हजार से ऊपर थी। लोकमान्य तिलक जैसे गणित और खगोल के मर्मज्ञ भी पिता जी को बहुत सम्मानित करते थे। जब मालवीय जी ने यह जाना कि पिता जी उस वंश से चले आ रहे हैं, जिनके (महर्षि सान्दीपनि के) पास अवंती में भगवान् श्रीकृष्ण ने आकर अध्ययन किया है, तब तो मालवीय जी अत्यन्त भाव-विभोर गद्गद हो गए, लगभग आधे घण्टे तक पिता जी के साथ मेरे मंदिर में रहे, और अनेक रस-प्रद चर्चाएँ होती रहीं। जहाँ तक मुझे स्मरण है स्व० पिता जी ने पूछा था कि आप तो मालव प्रदेश के ही हैं, इसलिए हम लोग तो आप को अपने ही परिवार का मानते हैं। इस पर महामना ने कहा था कि हम मालवे से ही वाहर गए हैं, मालवीय-परिवारों में यह भी परम्परा से मान्यता है कि सान्दीपनि मुनि के वंश से मालवीयों का सम्बन्ध रहा है। इस तरह की वार्ताओं के पश्चात्

पिता जी को अपने साथ में लेकर महामना भगवान् महाकालेश्वर के दर्शनों को गए। यह समय संभवतः प्रातः ८-९ का रहा होगा। ११ बजे के लगभग पुनः मालवीय जी महाराज महाराजा दरभंगा को साथ में लिए महाकालेश्वर आए और बड़े गणेश में दर्शन कर, महाराजा का पिता जी से परिचय करवाया। फिर वर्षों गुजर गए उन्हें, उज्जैन आने का अवसर नहीं मिला। उस समय मालवीय जी स्वस्थ, तेजोमय और सशक्त प्रतीत होते थे।

बहुत समय के पश्चात् पुनः वे इन्दौर पधारे थे, और सहसा इंदौर के जनसेवी श्री शिव सेवक जी तिवारी के साथ महाकालेश्वर के दर्शनार्थ आए थे, समय अपराह्न का था। वह महाकालेश्वर से होकर बड़े गणेश जी में आना नहीं भूले। मंदिर पर पहुच कर पुनः पिता जी के विषय में पूछा, तब मैंने निवेदन किया कि उस समय आपने सजग-पिता जी से भेंट की थी, अब तो उनकी यह मूर्ति यहाँ प्रतिष्ठित है। (बड़े गणेश जी के सामने ही पिता जी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है)। मालवीय जी ने प्रतिमा को देख कर कहा, यह भी उतनी ही सजीव प्रतीत होती है, और बड़ी भावना के साथ मूर्ति को प्रणाम किया। मेरा परिचय मिलने पर उनकी स्मृति जाग्रत हो गई, वह सहज ही बोल पड़े, 'अरे, आपको तो मैं जानता हूँ। आधुनिक-विक्रम-कालिदास के प्रतिष्ठापक हो, आपको कौन नहीं जानता ?'

बात यह थी कि विक्रम द्विसहस्राब्दी मनाने के सिलसिले में मैंने मालवीय जी महाराज से पर्याप्त पत्र-व्यवहार किया था, और कालिदास-स्मृति को लेकर भी प्रार्थना करने पहुँचा था। महामना ने आशीर्वाद ही नहीं दिया, वल्कि काशी में अपने नेतृत्व में विक्रम-परिषद् की स्थापना भी की थी, और उन्हीं की प्रेरणा से श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने कालिदास-ग्रंथावलि प्रकाशित करने का आयोजन किया था, किंतु प्रत्यक्ष रूप में मैं इस प्रकार अपने संकोची-स्वभाववश उपस्थित नहीं हुआ था। सहसा स्मरण आते ही महामना ने कहा कि यह सब इसीलिए आप कर सके हो कि आप उन ऋषि-तुल्य (पिता जी) के पुत्र हो। फिर आपके नाम में भी प्रकाश है। मैं विनयावनत हो कर खड़ा रहा। कुछ क्षणों बाद मालवीय जी महाराज उज्जैन से विदा हुए। यह मेरी उनकी अन्तिम भेंट थी। इस बार वह श्री तिवारी जी के सहारे से ही चल पाते थे। शरीर जीर्ण और शिथिल हो गया था, परंतु वाणी में वही वर्चस्व था। मुख मण्डल पर वही ओजोमयी-आभा विद्यमान थी। सौभाग्य है कि उन विभूति के चरण-स्पर्श का मुझे अपने घर पर ही सुअवसर उपलब्ध हुआ था।

डॉक्टर भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

पूज्य मालवीय जी महाराज के सान्निध्य में

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आने का एक मात्र और प्रबलतम आकर्षण था पूज्य मालवीय जी महाराज का सान्निध्य। पूज्य मालवीय जी जब काशी में होते एकादशी, पूर्णिमा, जन्माष्टमी, रामनवमी तथा अन्य ऐसे महत्वपूर्ण पर्वों पर विश्वविद्यालय के विशाल हाल में महाभारत या श्रीमद्‌भागवत की कथा बाँचते। कथा क्या बाँचते अपना हृदय उँड़ेलते। उस समय उनका वेश---रेशमी धोती, रेशमी चादर--बड़ा ही भव्य लगता। यों उनका रंग भी तपाये हुए सोने का सा था। उन्होंने शायद ही कभी रंगीन वस्त्र धारण किया हो। यहाँ तक कि उनके लिए कुलपति का 'गाउन' भी श्वेत रेशम का था जिस पर सुनहला बार्डर लगा था। मालवीय जी महाराज का जैसा दिव्य निर्मल चरित्र वैसा ही उनका श्वेत दिव्य पहनावा। सिर पर श्वेत पगड़ी, गले में तहाया हुआ श्वेत दुपट्टा जो दोनों ओर घुटनों को छूता, श्वेत अंगरखा, श्वेत धोती या चौड़ी मुहरी का पाजामा, पैरों में सफेद मोज़े और सफेद कैनवश के जूते, ललाट पर श्वेत मलयागिरि चन्दन और चेहरे पर दिव्य प्रसन्नता की ज्योति।

छात्र-जीवन में कई बार उनके चरण-प्रान्त में बैठ कर भागवत और महाभारत की कथाएँ सुनने का देव-दुर्लभ सौभाग्य मिला, सचमुच देव दुर्लभ सौभाग्य ! किसी विश्वविद्यालय का कुलपति अपने छात्रों और अध्यापकों को भागवत और महाभारत सुनाता हो यह प्राचीन काल में भले ही संभव हो परन्तु अब कहाँ मिलेगा ? इन कथाओं में भी द्रौपदी का प्रसंग, गजेन्द्र-मोक्ष का प्रसंग मालवीय जी को विशेष प्रिय थे। द्रौपदी की कथा सुनाते समय जब वे स्वयं अपने को द्रौपदी की परिस्थिति में अनुभव कर साश्रु श्लोक-पाठ करते तो हजारों हजार छात्रों, अध्यापकों की आंखों से आँसुओं की गंगा जमुना उमड़ आती--उनसे सुने हुए वे श्लोक आज भी प्राणों के निभृत में गूंज रहे हैं—

गोविन्द ! द्वारिकावासिन ! कृष्ण ! गोपीजन प्रिय !
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ ! हे रमानाथ ! व्रजनाथार्तिनाशन !
कौरवार्जवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन !
कृष्ण ! कृष्ण ! महायोगिन ! विश्वात्मन ! विश्वभावन्।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द ! कुरमध्येऽवसीदतीम्।

इन श्लोकों का जब महामना साश्रु पाठ करने लगते तो लगता कि स्वयं द्रौपदी ही असहायावस्था में भगवान् श्रीकृष्ण को पुकार रही है और भगवान् श्रीकृष्ण उसकी आर्त एवं आतुर पुकार पर प्रकट हो गये हैं! उस समय मालवीय जी के गालों पर आँसुओं की धारा का अजस्र प्रवाह देख कर श्रोताओं का हृदय भी उमड़ आता और एक ऐसा वातावरण बन जाता जिसमें सर्वत्र

> अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
> नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्।।
> आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
> नाराधि यदि हरिस्तपसा ततः किम्।।

मंगलमय दिव्य अनुभूति छा जाती। उन कथाओं का रस, उनकी ज्योति, उनकी छाप आज भी ज्यों की त्यों प्राणों के प्राण में बनी हुई है—वह अमर है, अमिट है क्योंकि शाश्वत है। मालवीय जी महाराज के सान्निध्य में बिताये हुए जीवन के पूरे बीस बाइस वर्ष कितने अनमोल थे!

मालवीय जी महाराज के यहाँ गरीब छात्रों की बराबर भीड़ लगी रहती थी। वे सच्चे अर्थ में 'कुलपति' थे—आज के से वेतनभोगी दण्डाधिकारी 'वाइस चैंसलर' नहीं। 'कुलपति' शब्द अपने इतिहास में मात्र मालवीय जी महाराज पर ही 'फिट' बैठा। अभावग्रस्त छात्रों को महामना नाना प्रकार से सहायता पहुंचाते—पैसे से, वस्त्रों से, पुस्तकों से, जाड़े में कम्बलों से और सबसे अधिक अपने प्यार भरे प्रोत्साहनों से। वे प्रायः कहते, तुम आर्य-संतान हो, आर्य की तरह चलो, आर्य की तरह रहो। 'आर्य' शब्द मालवीय जी को बड़ा ही प्रिय था। इस एक शब्द में उनके लिए भारतीय जीवन, भारतीय साधना, भारतीय संस्कृति का तेज जगमगा रहा है। मालवीय जी अपने बंगले के जिस कमरे में रहते थे उसमें एक पलंग, एक बहुत बड़ी चौड़ी चौकी जिस पर उनकी पुस्तकें रहतीं, कोने में पूजा का पंचपात्र, चंदनादि। कमरे में दो बड़े बड़े चित्र थे, एक उनके पूजनीय पिता जी श्री चतुर्वेदी ब्रजनाथ जी मालवीय का और दूसरा उनकी पूजनीया माता श्री मूनादेवी जी का। पिता जी श्री ब्रजनाथ जी मालवीय स्वयं भागवत के बहुत प्रसिद्ध कथावाचक थे, माता जी धर्मप्राणा थीं। इसका पुण्य प्रभाव पूज्य मालवीय जी महाराज के चरित्र पर पड़ना ही था और पड़ा भी अजस्र भाव से।

मालवीय जी के यहाँ आने वालों का प्रायः तांता लगा रहता। देश के बड़े से बड़े नेता के दर्शन पूज्य मालवीय जी के कारण हम लोगों को बैठे बिठाये विश्वविद्यालय में ही हो जाया करते। भाई परमानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, डा० मुंजे, सर सप्रू, सर चिन्तामणि, श्री केलकर, गोस्वामी गणेशदत्त, श्री अणे, लाला लाजपत राय मालवीय जी के अन्तरंग सखा एवं सुहृद् थे। डा० बेसेंट, डा० भगवानदास, सर जगदीशचन्द्र बोस, श्री सी० वेंकटरमण, श्री प्रफुल्लचन्द्र राय आदि उनके उपासकों में थे। पूज्य मालवीय जी की त्याग-भावना से प्रेरित हो कर ही देश के एक से एक चूड़ान्त विद्वान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नाममात्र का वेतन लेकर आ गये—प्रायः

प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष तो ऐसा महामनीषी मूर्धन्य विद्वान था ही जिसकी कीर्त्ति न केवल भारतवर्ष में अपितु समस्त शिक्षित जगत् में देदीप्यमान थी। उस समय के हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की सूची मात्र पढ़ने से अतीत का गौरव झलक उठता है। और सब के सिरमौर थे हमारे प्राचार्य आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव जो विद्या के समुद्र और ज्ञान के सूर्य ही थे, ऐसा प्रकाण्ड विद्वान अब कहाँ मिलेगा ?

एम० ए० के बाद सन् ३० की आँधी में मैं बह गया सूखे पते ही तरह। लगभग तीन वर्ष की आवारागर्दी के बाद सोचने की फुर्सत मिली कि अब किया क्या जाय कि पूज्य मालवीय जी महाराज का मेरे घर के पते पर तार मिला कि "शीघ्र मिलो"। हजारों हजार छात्रों के मध्य मुझे स्मरण किया गया इस भाग्य पर कौन नहीं इतरायेगा ? सुतरां मैं काशी, महाराज जी के चरण-प्रान्त में पहुँचा। पहुँचते ही आदेश हुआ कि "महाशिवरात्रि पर 'सनातनधर्म' निकाल देना है और तुम उसके सम्पादक हुए" मैं अवाक् था, किंकर्त्तव्य विमूढ़। उन्होंने कहा, "छपाई कागज आदि की व्यवस्था ज्ञानमण्डल में कर दी है, तुम निश्चित रूप से अभी से कार्य आरंभ कर दो, मैं मसूरी जा रहा हूँ और शायद तीन चार महीने बाद लौटूँ।" मैंने बड़ी नम्रता से निवेदन किया, "बाबू जी (इसी नाम से हम सभी छात्र और अध्यापक पूज्य मालवीय जी महाराज को संबोधित किया करते थे!) अधिक अच्छा होता सम्पादक के लिए आप या तो पं० लक्ष्मणनारायण जी गर्दे या पं० अम्बिकाप्रसाद जी बाजपेयी या पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी को आमंत्रित करते, नहीं तो पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत तो यहाँ हैं हीं। मैं एक सहायक सम्पादक अच्छा हो सकता हूँ, 'सनातनधर्म' का सम्पादक बनने की योग्यता, विद्वत्ता, शक्ति मुझमें नहीं है," परन्तु उन्होंने साफ 'ना' कह दिया और कह दिया कि "मैं कहता हूँ तुम कर सकते हो और बढ़िया कर सकते हो।"

माँ अन्नपूर्णा, बाबा विश्वनाथ तथा संकटमोचन में जाकर प्रार्थनापूर्वक मैंने 'सनातनधर्म' का सम्पादन-भार स्वीकार कर लिया और दो तीन महीनों के अंदर ही यह साप्ताहिक स्वालंबी ही नहीं 'कमाऊ' भी बन गया। पूज्य मालवीय जी महाराज के नाम के कारण बात की बात में सारे देश में इसके ग्राहक बने—धूम मच गई—पंजाब, सीमाप्रान्त, कोहाट, नौशेरा, मालाकन्द, ऐबटाबाद, रावलपिंडी में अधिक। यह सब पूज्य मालवीय जी महाराज के नाम का चमत्कार तो था ही साथ ही गोस्वामी गणेशदत्त जी ने पंजाब और सीमाप्रान्त में सनातनधर्म सभाओं का जाल सा बिछा दिया था। 'सनातनधर्म' उन सभी सभाओं में जाने लगा। 'सनातनधर्म' के लेखक भी सधे हुए, चुने हुए ही व्यक्ति थे—म० म० पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', लाला भगवानदीन, डा० भीखनलाल आत्रेय, डा० अचलबिहारी सेठ, डा० बड़थ्वाल, आदि आदि। सम्पादक मण्डल में मेरे अतिरिक्त डा० राजबली पाण्डेय, श्री सीताराम चतुर्वेदी श्री गयाप्रसाद जोशी, श्री हीरावल्लभ शास्त्री थे। व्यवस्थापक थे श्री गणेशदत्त आचार्य। पत्र खूब चला। स्वयं मालवीय जी महाराज उसमें सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत समय समय

पर लिखते। गोस्वामी गणेशदत्त जी उत्तर काशी से अपना प्रेरणा-पूर्ण उद्‌बोधन मंत्र भेजते रहते। प्रथम पृष्ठ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के लिए सुरक्षित था। वे प्रायः श्रीमद्‌भागवत का एक श्लोक लेकर उसकी भक्तिपूर्ण व्याख्या करते—बड़ी ही सुंदर और सरस शैली में। म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, म० म० पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, आचार्य ध्रुव, और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी भी लगभग प्रत्येक अंक में लिखते, केवल प्रथम कोटि के लेखकों के लिए ही 'सनातनधर्म' का मार्ग उन्मुक्त था। यों मालवीय जी चाहते थे कि भारतवर्ष में जितने ग्राम हैं कम से कम उतने अंक 'सनातनधर्म' के अवश्य छपें। मालवीय जी कोई छोटी बात सोच ही नहीं सकते थे। 'महामना' उन पर अक्षरशः घटता था।

मालवीय जी के जीवन में कभी किसी प्रकार की लघुता आई ही नहीं। हिन्दू जाति, हिन्दू राष्ट्र, हिन्दू धर्म के स्तंभ होते हुए भी वे कभी साम्प्रदायिक नहीं थे। कांग्रेस के वे प्रथम श्रेणी में प्रथम पंक्ति के उत्कृष्टतम नेता थे, और देश के लिए जेल की यातनाएँ सहीं, नाना प्रकार के कष्ट झेले, चार चार बार कांग्रेस के अध्यक्ष हुए, उसकी कार्यकारिणी में रहे और जब जब कांग्रेस संकटों में फँस गई मालवीय जी ने उसे उबारने का सफल प्रयत्न किया। राष्ट्र की आवश्यकता पर उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सहस्र छात्र-छात्राओं तथा अध्यापकों को देशसेवा के लिए स्वेच्छया और सहर्ष भेज दिया और विश्वविद्यालय में ताला लग गया।

विश्वविद्यालय के पुरातन छात्र मिलते तो वे उनसे तीन प्रश्न करते—(१) संध्या करते हो? (२) दूध कितना पीते हो? (३) कितनी संतान है? बात बात में तीन महावाक्य उनके मुख से निकला करते थे—

(१) निर्बल के बलराम।

(२) बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुध लेय।

(३) हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम नाम।

सोते जागते निरन्तर 'जनहित' ही उनका लक्ष्य रहा। सनातनधर्म की रक्षा, हिन्दी प्रेम, आदर्श शिक्षा प्रणाली, गोभक्ति, देश की मुक्ति और उन्नति यही उनके अन्तस्तल के परम प्रिय विषय थे।

मालवीय जी का मस्तिष्क राजनीतिज्ञ का था और इस विषय में उनके आदर्श थे श्रीकृष्ण—महाभारत के श्रीकृष्ण। परन्तु मालवीय जी का हृदय था एक रससिक्त कवि का, रस पिपासु भक्त का और कभी कभी सर्वथा एकान्त में स्वरचित कविताएँ सुनाते तो लगता रसखान और घनानन्द इनके सामने तुच्छ हैं। उनसे सुनी हुई एक 'सोहनी' अभी भी प्राणों में गूंज रही है—

नींद तोहे बेचोंगो, जो कोउ गाहक होय।
आयरे ललना फिरि गये अंगना, मैं पापिनि रही सोय।।
जो कोउ गाहक होय!

उस महान आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए, हम उनके चरणों में नतमस्तक हैं—

यस्य स्मरण मात्रेण जन्म संसार बंधनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै मालवीयै नमोनमः॥

* * *

देवनागरी

पूज्य मालवीय जी द्वारा प्रस्तुत 'अभ्यर्थना' लेख से निम्न अंश उद्धृत किया जाता है जिसे उन्होंने उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर को अदालतों में देवनागरी लिपि के प्रचलन के संबंध में सन् १८८९ ई० में लिखा था——

सर आइजक पिटमैन ने कहा है कि "संसार में यदि कोई सर्वाङ्गपूर्ण अक्षर है तो नागरी के हैं। बम्बई सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस सर अर्सकिन पेटी ने 'नोट्स टु ओरियंटल केसेज' की भूमिका में लिखा है कि एक लिखित लिपि की सर्वाङ्गपूर्णता इसी से जान पड़ती है कि प्रत्येक शब्द का उच्चारण उसके देखने से ही ज्ञात हो जाये और यह गुण भारतवर्ष के अन्य अक्षरों की अपेक्षा देवनागरी अक्षरों में अधिक पाया जाता है जिसमें संस्कृत लिखी जाती है। इस गुण से लाभ यह है कि बालकों ने जहां अक्षर पहचान लिये कि वे सुगमता से तथा बिना रुकावट के देवनागरी लिपि पढ़ने लग जाते हैं। यह भारतवर्ष में बहुधा तीन मास में ही आ जाते हैं। नागरी अक्षर मंदगति से लिखे जाते हैं किंतु जब वह एक बार लिख जाते हैं तो वह छपे हुए के समान हो जाते हैं यहां तक कि उसमें छपे हुए शब्द को उसका अर्थ न जानने वाला व्यक्ति भी शुद्धतापूर्वक पढ़ लेगा।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

महामना मालवीय मनुष्य नहीं, देवता थे

सन् १९२१ के हेमन्त की उस शीतमयी विप्लवमयी सन्ध्या को अपनी मधुर-स्मृति से अपहृत हो जाने देने की कादरता मैं कभी नहीं कर सकता जब मुजफ्फरनगर डी० ए० वी० हाई स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ते समय असहयोग आन्दोलन की व्यापक जन-जागृति का संदेश देने वाली जनपदीय राष्ट्रीय सभा में सर्वप्रथम मैंने महामना मालवीय जी के पुण्य दर्शन करके अपने नेत्र सफल किये, उनकी मधुर मंगलमयी अमृत-वाणी से अपने श्रवण तृप्त किये, और उनके लोक-मोहक व्यक्तित्व के प्रति अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा सर्मपित करके अपनी आत्मा पवित्र कर लिया। उस प्रथम दर्शन की वेला में ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो युग-युगान्तर से मैं उनका शिष्य, कृपापात्र, उपासक, भक्त और वात्सल्यभाजन रहा हूँ।

उस सभा में श्री सुन्दरलाल ने अपने अत्यन्त भावपूर्ण, तर्कपूर्ण, हृदयमंथक भाषण से सब श्रोताओं का चित्त विक्षुब्ध कर दिया था, श्रीमती सरोजिनी नायडू के ओजःपूर्ण, काव्यमय और सशक्त भाषण ने उपस्थित जनता का मानस विलोडित कर दिया था। पंडित गौरीशंकर मिश्र तथा श्री अर्जुनलाल सेठी आदि तत्कालीन जन-नेताओं के परम ओजस्वी भाषणों ने सुकुमार-हृदय बालकों और छात्रों को भी अंग्रेजी सरकार से लोहा लेने के लिए लौहपुरुष बनने की क्षमता उत्पन्न कर दी थी। किन्तु उस विक्षुब्ध वातावरण में राष्ट्र की समस्त विद्रोहमयी भावनाओं के विपरीत भाषण देने पर भी महामना मालवीय जी ही एकमात्र मुझे क्यों अच्छे लगे—अकेले वे ही क्यों प्रभावित कर पाये, इसका कारण सम्भवतः वही है जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने किया है—

भावस्थिराणि जननान्तरसोहृदानि।

महामना मालवीय जी का ब्रह्मवर्चस्वयुक्त, तेजोमय, चंदनचर्चित ललाट, गौर प्रदीप्त वर्ण, शुभ्र सुव्यवस्थित उष्णीय, गले में एक फेरा देकर लिपटा हुआ जानु तक दोनों ओर लटका हुआ उत्तरीय, श्वेत निर्मल अंगा, किसी भी व्यक्ति को सहसा प्रथम दर्शन में आकृष्ट करने के लिये पर्याप्त वैभव था किन्तु इन सब से अधिक आकर्षक थी उनकी दैवी वाणी जो सब को सहसा स्तब्ध और अभिभूत कर देने के लिये पर्याप्त थी। उनके इस गौरवमय दिव्य-रूप और उनकी मोहक, शुद्ध, पवित्र और प्रभावशील वाणी ने मुझे इतना प्रभावित किया कि हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकने पर जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए प्रविष्ट हुआ तो

मानो किसी पूर्व-संचित पुण्य के प्रताप से मैं उनके समीप, समीपतर और समीपतम पहुँचता चला गया।

वे साक्षात् करुणा-वरुणालय थे। छात्रों के प्रति, विशेषतः दीन छात्रों के प्रति उनकी अगाध करुणा इतनी उदार थी कि उसकी स्नेह-छाया में पल्लवित होकर और पोषण प्राप्त करके न जाने कितने अकिंचन विद्यार्थी उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके भारत में और भारत के बाहर अनेक गौरवमय, उन्नतिशील उत्तरदायित्व के पदों पर अत्यन्त निष्ठा के साथ कार्य करते हुए महामना मालवीय जी के प्रति मूक कृतज्ञता व्यक्त कर रहे हैं। उनका धैर्य पृथ्वी के समान अचल और अपरिमित था। यदि कोई अपनी करुण गाथा उनके आगे सुनाने लगता तो वे चुपचाप नेत्रों में जल भर कर उसकी विपद्‌गाथा सुनते रहते और कोमल शब्दों में उसे सान्त्वना देकर उसकी विपत्ति-हरण करने के लिये अपना उदार हाथ बढ़ा देते। उनका शील अद्वितीय था। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय उनके पास जाकर किसी भी कार्य के लिये उनसे सहायता की प्रार्थना कर सकता था और वे कभी न तो किसी को निराश करके लौटाते थे और न कभी किसी को उठ कर जाने के लिए कहते थे। उनके यहां यदि कोई भोजन के समय पहुँच भी जाता तो उसे भोजन कराये विना उनको शान्ति नहीं प्राप्त होती थी। वृद्धावस्था में भी वे स्वयं अपना कमरा झाड़ लेते थे किन्तु नौकरों को नींद से नहीं जगाते थे। कभी-कभी कुछ सज्जन उनसे तर्क या वाग्युद्ध करने के लिये भी लौट आते थे किन्तु मालवीय जी महाराज का प्रेम-व्यवहार और उनका शील इतना प्रभावशाली होता था कि वे स्वयं परास्त होकर लौट जाते थे। एक बार स्वामी लालनाथ जी बहुत लाल-पीले होकर उनके यहां शास्त्रार्थ करने पहुंचे किन्तु मालवीय जी महाराज ने ऐसे स्नेह और आदर के साथ उनसे व्यवहार किया कि उन्हें अपने व्यवहार पर स्वयं बड़ा खेद हुआ।

महामना मालवीय जी पूर्णतः धार्मिक थे। अपने आचार और विचार में शुद्ध, सात्विक सनातनधर्मी होने के नाते वे स्नान, सन्ध्या, पूजा-पाठ तथा नित्यकर्म में बड़े नियमित थे। प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन के पश्चात् वे भागवत और वाल्मीकीय रामायण का स्वाध्याय करते तथा मन वचन और कर्म से कभी किसी को हानि पहुंचाने की कल्पना भी नहीं करते थे, यहां तक कि उनकी मशहरी में घुसे हुए मच्छर भी निर्भयता पूर्वक विचरण करने के लिए स्वतन्त्र थे क्योंकि उनके शासन में वे भी अबध्य थे। धार्मिक ग्रन्थों और दार्शनिक सिद्धान्तों में उनकी निर्वाध गति थी। उनका अध्ययन इतना व्यापक था कि किसी भी विषय पर वे अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ व्यवस्था दे देते थे। सत्य के प्रति उनका आग्रह अक्षुण्ण था। सत्य की रक्षा के लिये उन्होंने न कभी संकोच किया और न भय। यद्यपि वे उदारदलीय माने जाते थे किन्तु तथ्य यह है कि देश के हित के लिये वे जो उचित समझते थे उसे कहने और करने में कभी पश्चात्पद नहीं होते थे और अपने मत का प्रतिपादन अत्यन्त निर्भीकता के साथ करते थे। सात्विक सनातनधर्मी होने के कारण वे कोई ऐसी बात मानने के लिये प्रस्तुत नहीं थे जो परम्परागत शास्त्रीय मर्यादा के प्रतिकूल हो।

वे अपने रहन-सहन में बड़े सादे थे, किन्तु साथ ही पूर्ण कलात्मक भी थे। अपने चन्दन के टीके को गोल करने और अपने उक्षणीय को तहा कर बाँधने में उन्हें चाहे जितना भी समय लगता वे चिन्ता न करते। उनकी गति, हँसी, बोल-चाल, भावभंगी सब में विचित्र प्रकार की शोभा, सुन्दरता और कलात्मकता रहती थी। हड़बड़ी का तो नाम नहीं था। गाड़ी भले ही छूट जाय किन्तु वे अपने वेष-परिधान और सामान्य कलात्मक गति में कोई अन्तर नहीं आने देते थे। वे सदा अपना पूरा परिधान धारण कर के ही अपने बाहरी प्रकोष्ठ में आ जाते थे। प्रातः-काल से लेकर रात्रि तक आने-जाने वालों का तांता लगा रहता था पर वे कभी थकते नहीं थे। उनके यहां गोपनीयता के लिये कोई स्थान नहीं था। उनके द्वार में सबकी पैठ थी। सब की बात वे समान रूप से सुनते थे, यहां तक कि अस्वस्थता की दशा में भी वे लोगों के आने जाने को रोकना उचित नहीं समझते थे। एक बार अस्वस्थता की दशा में डाक्टर ने उन्हें बहुत समझाया कि आप कृपया ऐसी व्यवस्था करें कि लोग आकर आपको कष्ट न दें। इस अस्वस्थता की दशा में लोगों से मिलना-जुलना आप बन्द कर दीजिये। इस पर उन्होंने हँस कर कहा—बस कह चुके न! देखो, एक उर्दू के कवि ने शेर कहा है—

नासेहा मतदे नसीहत जो मेरा घबराये है।
मैं उसे समझुँ हूँ दुश्मन जो मुझे समझाये है ।।

...इसी प्रकार एक बार जब उनके कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय गोविन्द मालवीय ने उनसे इसी प्रकार आग्रह किया तो उन्होने यही कहा कि 'मैं जनता का सेवक हूँ और जनता को यह अधिकार है कि वह अपने सेवक से जब चाहे सेवा ले।'

आचार में अत्यन्त सात्विक और रूढ़ होते हुए भी वे विचार में बड़े उदार थे इसीलिए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय विद्याओं के साथ सम्पूर्ण विदेशी विद्याओं के अध्ययन की भी योजना बनायी थी। उनका देश-प्रेम अखण्ड, आन्तरिक और रचनात्मक था, इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीयता की शिक्षा के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की और स्वदेशी के प्रचार के लिये प्रयाग में कुटीर-उद्योग की। वे आन्दोलन करने के बदले सक्रिय रचनात्मक योजना के अधिक पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने गांधी जी के हरिजन आन्दोलन के समय यही प्रस्ताव किया था कि हरिजनों के लिए मन्दिर बनवाये जायँ, कुयें बनवाये जायँ और शिक्षा की व्यवस्था हो। उन्होंने स्वयं हरिजनों के मन्त्र-दीक्षा देने की परिपाटी चला कर नवीन क्रान्ति की थी।

इस युग के प्रायः सभी महापुरुषों के साथ मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध रहा है और मैं निःसंकोच रूप से कह सकता हूं कि पिछली कई शताब्दियों में इतनी व्यापक लोकपरिधियों में कार्य करनेवाला, उज्ज्वल-चरित्र, मेधावी, प्रतिभाशाली और सर्वमान्य लोकनायक कोई दूसरा नहीं हुआ। यों प्रचार के बल पर चाहे जिसे महापुरुष मान लिया जाय किन्तु जिन अनेक दृष्टियों और लक्षणों से महापुरुषों का परीक्षण होता है उन सभी कसौटियों पर कसे जाने पर केवल एक महामना मालवीय जी ही ऐसे महापुरुष दिखाई पड़ते हैं जिन पर कोई उंगली नहीं

उठा सकता। यह कम खेद की बात नहीं है कि जिन मालवीय जी ने छात्रों का पुत्रवत् पालन किया, खोज खोज कर विद्वानों को लाकर उनका सम्मान किया उन्हीं का हिन्दू विश्वविद्यालय आज किस परिस्थिति में है। हमें विश्वास है कि मालवीय जी महाराज के द्वारा स्थापित किया हुआ हिन्दू विश्वविद्यालय का आदर्श पूर्ववत् बना रहेगा और भारत के नवयुवक, महामना मालवीय जी के उज्ज्वल चरित्र से शिक्षा लेकर देश और समाज के लिये वरदान सिद्ध हो सकेंगे।

देवनागरी लिपि

बंगाल के सुप्रसिद्ध डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने सन् १८६४ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में देवनागरी लिपि के संबंध में 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और उर्दू बोली से उसका संबंध' शीर्षक एक विद्वत्तापूर्ण लेख में लिखा था--

भारतवर्ष की देश भाषाओं में हिन्दी सब से प्रधान है। विहार से सुलेमान पहाड़ तक और विन्ध्याचल से हिमालय की तराई तक सभ्य हिन्दू जाति की यही मातृभाषा है। गोरखा जाति ने इसका कुमाऊँ और नैपाल में भी प्रचार किया है। यह भाषा पेशावर से आसाम तक और काश्मीर से कन्याकुमारी के सब स्थानों में भलीभांति समझी जा सकती है।

--(पूज्य मालवीय द्वारा प्रस्तुत 'अभ्यर्थना' लेख का एक अंश, जिसे उन्होंने अदालतों में देवनागरी लिपि के प्रयोग किये जाने के लिए सरकार को लिखा था।)

प्रोफेसर त्रिलोचन पंत

महामना मालवीय जी के कुछ संस्मरण

पूज्य मालवीय जी का दर्शन मैंने पहले पहल १९२३ में हाथरस में किया था। मैं वहाँ के बागला हाईस्कूल में नवीं कक्षा का छात्र था। मालवीय जी का स्कूल में भाषण हुआ था। ऊपर से नीचे तक उनके शुभ्र उज्जवल वेश को मैं देर तक देखता रहा। मृदु मुसकान-युक्त उनका कान्तिमान मुख आज भी मेरी आँखों के सामने है। वे लगभग आध घंटा बोले थे। भारत के गौरवमय अतीत और उसके कुछ महान और आदर्श व्यक्तियों की उन्होंने चर्चा की थी। छात्रों से कहा था कि वे देश के भावी कर्णधार हैं। उनकी कार्यक्षमता, निष्ठा, लगन और सेवा पर देश का निर्माण निर्भर है। पराधीनदेश के अभ्युदय में वे अनेक प्रकार से सहायक हो सकते हैं और अपने उज्जवल चरित्र से देश का मस्तक ऊँचा कर सकते हैं। बाधाओं, विपत्तियों, कठि-नाइयों और असफलताओं से उन्हें हतोत्साह नहीं होना चाहिये। प्रतिकूल परिस्थितियों से लोहा लेने में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। उन्होंने कहा कि हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना का आरम्भ में अनेक व्यक्तियों ने उपहास किया था। उनके मित्रों ने उसे, अव्यावहारिक बताया था और कहा कि एक करोड़ रुपया एकत्र होना असम्भव है पर वे अपने संकल्प को पूरा करने में लगे रहे। उन्हें सफलता मिली। उनकी कल्पना साकार हुई। काशी की इस शिक्षा-संस्था का द्वार सबके लिये मुक्त है। वहाँ जो भी आवे, निराश न होगा। मंत्रमुग्ध की भाँति सभी ने उनका भाषण सुना था। वह भाषण कई दिनों तक मुझे याद रहा था। परिस्थितियों से हार न मानने की उनकी बात ने मुझे निश्चित रूप से प्रभावित किया। मेरे माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी। किसी अन्य संबंधी का सहारा नहीं था। आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी। आगे अध्ययन करने की कोई संभावना नहीं थी पर उस दिन के मालवीय जी के भाषण ने मेरे मन में यह भावना अवश्य उत्पन्न कर दी कि मुझे आगे भी अध्ययन करना है और मेरी यह भावना उत्तरोत्तर बलवती होती गई।

जुलाई १९२६ में मैं हिन्दू विश्वविद्यालय में ही पहुँच गया और बी० ए० की कक्षा में प्रविष्ट हुआ। सन् १९३० में इतिहास में एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। इन चार वर्षों में अनेक बार मालवीय जी के दर्शन किये; धर्म, समाज, शिक्षा राजनीति आदि अनेक विषयों पर उनके भाषण सुने पर इस अवधि में केवल एक बार उनके निकट संपर्क में आया और उस क्षणिक संपर्क को जीवन रहते मैं कभी भूल नहीं सकता। सन् १९२९ की घटना है। बिरला छात्रावास के 'अ' कक्ष के एक कमरे में रहता था। संध्या का समय था। मालवीय जी घूमते हुए उधर आ

निकले। मैं कमरे के बाहर ही खड़ा था। उन्होंने मुझसे कहा कि दुर्बल क्यों दीखते हो? क्या भोजन की ठीक व्यवस्था नहीं है या तुमको कोई और चिन्ता रहती है? संक्षेप में मैंने अपनी बात कही पर उस थोड़ी सी बात से ही वे सब कुछ समझ गये और मुझसे कहा कि चिन्ता से तो कुछ हाथ आयेगा नहीं। मन और शरीर को कष्ट होगा। चिन्ता को दूर भगा दो। अपने शरीर और अध्ययन का ध्यान रक्खो। इतना कहकर वे आगे बढ़ गये। दूसरे दिन गणित के प्राध्यापक और 'ब' कक्ष के संरक्षक श्री शुकदेव पांडे जी ने मुझे बुलाया और कहा कि कल रात मालवीय जी ने तुम्हारे बारे में मुझसे कहा था। मैं कलैक्शन कमिटी का कुछ काम तुम्हें दे रहा हूँ। आज ही से आरम्भ कर दो। इससे तुम्हारी आर्थिक कठिनाई दूर होगी। विश्वविद्यालय में मेरे सामने कई बार कठिन परिस्थितियाँ आईं थीं। पहले वर्ष में तो मैंने एक बार पढ़ाई छोड़कर चले जाने का भी विचार किया था पर मैं कभी भी अपनी क्षुद्र समस्या को लेकर मालवीय जी के पास नहीं गया था। मैं जानता था कि अनेक विद्यार्थी अपनी कठिनाइयाँ उनको बताते हैं और वे उनकी सहायता करते हैं। पर उस दिन मैंने प्रत्यक्ष ही जाना कि वे कितने सहृदय हैं। मैंने उस दिन भी उनसे कोई याचना नहीं की थी पर उन्होंने मेरे अभाव को समझा और उसके निवारण में सहायक हुए। पाँडे जी ने मेरी और भी सहायता की पर यदि मालवीय जी ने उनसे न कहा होता तो वे मेरी स्थिति न जान पाते। विश्वविद्यालय के कितने ही विद्यार्थी, जिन्होंने भिन्न भिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं, और अब भी कर रहे हैं, मालवीय जी के ऋणी हैं। पैसों से, पुस्तकों से, स्नेहपूर्ण शब्दों से उन्होंने अनेक विद्यार्थियों को उपकृत किया। निर्धनता के कारण कोई भी ऊँची शिक्षा से वंचित रहे, यह बात उनको अखरती थी। वे कहा करते थे कि इनमें न जाने कितने भावी साहित्यिक, कलाकार और वैज्ञानिक हैं। इनकी प्रतिभा को प्रकाश में आने का अवसर मिलना ही चाहिये।

केवल विद्यार्थियों की ही नहीं, वे सभी की सहायता करते थे। सेवा और सहायता के उद्देश्य से उन्होंने सन् १९१४ में प्रयाग में जिस सेवा-समिति की स्थापना की थी उसका आदर्श ही उनके जीवन का आदर्श था। राजा शिवि के, जिन्होंने अपना माँस देकर शरण में आये हुए कबूतर का प्राण बचाया था, इस कथन में वह आदर्श व्यक्त है।

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

मैं राज्य की कामना नहीं करता। मुझे स्वर्ग और मोक्ष नहीं चाहिये। दुःख से पीड़ित प्राणियों के कष्ट दूर करने में सहायक हो सकूँ यही मेरी कामना है।

को नु यस्मादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं दुःख भाक् सदा।।

च्यवन ऋषि का जिन्होंने जल में तपस्या करते हुए, वहाँ की मछलियों के प्राण बचाने के लिये अपना प्राण अर्पण कर दिया था, यह कथन उनके ध्यान में सदा ही रहता था।

वह कौन सा उपाय है जिसके द्वारा मैं दुखी जनों के अंतःकरण में प्रवेश कर उनके दुःख से दुखी होऊँ।

इस श्लोक के नीचे एक बार उन्होंने लिखा था कि हजारों वर्ष पूर्व एक प्राचीन ऋषि ने यह प्रार्थना की थी, यही आज मेरी भी प्रार्थना है। दूसरों के दुःख का अनुभव कर ही मनुष्य उनके दुःख को दूर करने में प्रवृत्त हो सकता है। मालवीय जी जीवन भर इन्हीं आदर्शों से अनुप्राणित रहे। उनका जीवन दूसरों के कष्टों को दूर करने के प्रयत्नों से भरा था। व्यक्ति, समाज, धर्म और देश सभी के कार्यों में उनकी यही प्रवृत्ति रही।

१६ मार्च सन् १९३२ को मैं अनायास ही मालवीय जी की सेवा में पहुँच गया। एक दिन पूर्व मुझे मुरादाबाद में उनके कनिष्ठ पुत्र स्व० गोविन्द मालवीय जी का यह तार मिला था कि पिता जी ने तुम्हें बुलाया है, तुरन्त चले आओ। मैं उसी दिन ही उज्जैन से अस्थायी अध्यापन कार्य से मुक्त होकर लौटा था और कुछ समय तक घूमने फिरने की इच्छा थी पर मैं दूसरे दिन ही मालवीय जी के समक्ष उपस्थित हुआ और उसी क्षण से ही मैं उनकी सेवा में संलग्न हो गया। उसी समय उन्होंने गोविन्द जी से कहा था कि अभी तो यह अकेले हैं। इन्हें मकान भी जल्दी नहीं मिलेगा। ये यहीं रहेंगे। इनके खान-पान का ठीक प्रबंध करना। दूध रोज़ मिलना चाहिये। इन्हें कोई कष्ट न हो। मैं सोचने लगा कि अभी तो मैंने काम आरम्भ भी नहीं किया है और मालवीय जी को मेरी सुविधा की इतनी चिन्ता हो गई है। पहले ही दिन उन्होंने मेरे प्रति जो आत्मीयता व्यक्त की, वह उनके जीवन के अंतिम दिन तक बनी रही। लगभग १४ वर्षों तक मुझे उनकी सेवा का अवसर मिला। उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा और पाया। मैंने बारबार अनुभव किया कि वे सबके आत्मीय हैं। उनकी सेवा और सहायता का क्षेत्र असीम है। इस संबंध में अपनी जानकारी की कुछ घटनाओं का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

सन् १९३२ या सन् १९३३ में मालवीय जी पूना गये थे। एक सज्जन ने एक रुग्ण बालक रघुनाथ भाऊ साहब को उसके घर पर ही जाकर देखने का उनसे आग्रह किया। बालक को घोर शारीरिक और मानसिक कष्ट था। उसके अधिक काल तक जीवित रहने की आशा नहीं थी किन्तु उसकी यह भावना थी कि मालवीय जी के दर्शन से उसको शान्ति मिलेगी। उसने स्वयं ही उनके दर्शन की इच्छा व्यक्त की थी। मालवीय जी उसके घर गये, उसको सान्त्वना दी और धीरज के साथ कष्ट सहन करते हुए अपने आपको भगवान के अर्पण करने का उसको उपदेश दिया। भागवत-कथित गजेन्द्रमोक्ष भी स्तुति द्वारा भगवान का ध्यान करने को भी उससे कहा। बालक ने मालवीय जी के उपदेश का पालन किया और जितने दिन वह जीवित रहा, उसने अपनी पीड़ा में कमी का अनुभव किया। कष्ट सहन करने में उसे पहले जैसी कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। उसकी माता ने मालवीय जी को एक पत्र में लिखा था कि मेरा पुत्र मृत्यु से पूर्व अपना यह संदेश आपके लिये छोड़ गया है।

"परम आदरणीय पंडित जी! आपके उपदेश और गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र के निरंतर पाठ करने का मेरे मन पर इतना अच्छा प्रभाव हुआ है कि मुझे अब न तो मृत्यु का भय है और न

शरीर छोड़ने का दुःख। मुझे शक्ति के स्रोत आत्मा की प्राप्ति हो गई है और मैं अब प्रसन्न हूँ। मुझे इस संसार की असारता का ज्ञान हो गया है और अब मैं चुपचाप शान्ति के साथ इस शरीर का त्याग कर ब्रह्म में समा जाने में समर्थ हूँ। आपके उपदेश की कृपा से मैं अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँच सका हूँ।"

पत्र में माता ने यह भी लिखा था कि आपका परम शिष्य अंतिम क्षण तक गजेन्द्रमोक्ष-स्तुति का पाठ करता रहा और परम शान्ति और संतोष के साथ उसने प्राण-विसर्जन किया। एक दुखी और व्यथित बालक को मालवीय जी सुख और संतोष पहुँचा सके यह महान पुण्य का ही कार्य है।

दूसरों की सहायता की एक और घटना का भी मैं द्रष्टा हूँ। सन् तो याद नहीं है पर रात्रि के ११ बजे थे। मालवीय जी के मकान पर संगीत का आयोजन हुआ था। सभी जा चुके थे और मालवीय जी भी विश्राम के लिये जा रहे थे। उसी समय दक्षिण भारत के कुछ छात्र, जो विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे थे, उनके समक्ष पहुँचे और कहा कि एक बालक का प्राण संकट में है। दो दिन से वह आपके अस्पताल में है। उसका मल-त्याग करना बन्द हो गया है, डाक्टरों की सम्मति में उसकी अंतड़ियों में गांठ पड़ गई है और कल उसका औपरेशन करने का उन्होंने निश्चय किया है। औपरेशन सफल होगा यह वे निश्चित रूप से नहीं कह सकते। बालक एड-मीशन परीक्षा देने आया है। हमारे साथ ठहरा है। उसके बचाने का आप कुछ उपाय कीजिये। मालवीय जी ने उनको आश्वस्थ किया और तुरन्त डाक्टरों को बुलाया और पूछा कि औपरेशन के अतिरिक्त क्या और कोई उपाय बालक को रोग-मुक्त करने का नहीं है? उन्होंने कहा कि आयुर्वेद और ऐलोपैथी दोनों ही औषधियों का वे प्रयोग कर चुके हैं। कोई प्रभाव रोगी पर नहीं हुआ है। कल औपरेशन करना ही होगा। बचने की आशा पाँच प्रतिशत ही है। मालवीय जी ने उसी समय अपने एक संबंधी होमियोपैथी के डाक्टर श्री दिवस्पति भट्ट को नगर से लाने के लिये मोटर भेजी। वे आये और अस्पताल में रोगी को देखा। उन्होंने २४ घंटों तक औपरेशन न करने का अनुरोध किया और यह आशा व्यक्त की कि उनकी औषधि से लाभ होगा। मैंने ही उनकी दवा लाकर रोगी को दी और पहली खुराक स्वयं ही खिलाई। दूसरे दिन सुबह १० बजे रोगी ने मल-त्याग किया और शाम तक सभी उसकी ओर से निश्चिन्त हो गये और वह भी अस्पताल से चला गया। अर्द्धरात्रि के उस पहर में मालवीय जी उन विद्यार्थियों से दूसरे दिन आने के लिये कह सकते थे पर उन्होंने परिस्थिति की गुरुता को समझा और रोगी को तुरन्त सहायता पहुँचाई। सुबह तक उसकी हालत और भी खराब हो सकती थी।

सन् १९३४ की जनवरी के अंतिम सप्ताह में बिहार में भयंकर भूकंप हुआ। कई नगर ध्वस्त हुए और प्रान्तवासियों की अपार हानि हुई। भीषण दुर्घटना का समाचार पाते ही मालवीय जी ने देश से सहायता की अपील की और स्थान स्थान से प्राप्त धन-राशि बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी को भेजी। कुछ समय बाद स्वयं भी कई स्थानों पर गये और व्यथित व्यक्तियों को सान्त्वना दी। भूकंप-पीड़ित व्यक्तियों की चिन्ता में वे अपना धर्म-कर्म भी भूल गये। ३० जनवरी को चन्द्र-

ग्रहण हुआ था। सनातनधर्मी ग्रहण-काल में जप और पाठ करते हैं। मालवीय जी जप करेंगे, इस विचार से उनके सेवक मूड़ी ने चौकी, माला और पुस्तक यथास्थान रख दी थी और स्वयं गंगास्नान करने चला गया था पर मालवीय जी के सामने भूकंप का प्रलयंकर दृश्य था, कुछ समय पूर्व ही बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से फोन पर बात कर चुके थे। मुझसे कहा कि लिखो—देश-वासियों से अपील की कि नित्य ही बिहार में भूकंप-पीड़ितों के लिये द्रव्य संग्रह करो। अगले रविवार को बिहार दिवस मनाओ। गउओं-पशुओं की रक्षा करो। जो सहायता अब तक दी गई है वह संतोषप्रद है पर अधिकाधिक प्रयत्न होना चाहिये . . .पूरा लिखा कर पढ़ने को कहा। एक बार, दो बार, पाँच-छः बार सुना। नींद आने लगी। मैंने कहा आप जप कर लीजिये। चन्द्रमा का मोक्ष हुआ ही चाहता है। मालवीय जी के मन में भूकंप व्याप्त था। जप न कर सके पर अपील पूरी लिखा दी और अगले दिन वह समाचारपत्रों में प्रकाशित हो गई। उस दिन ही टाउन हाल में एक सभा हुई। श्रीप्रकाश जी और संपूर्णानन्दजी ने मुंगेर और मुजफ्फर-पुर आदि की दुर्दशा का हाल सुनाया। मालवीय जी ने भी सहायतार्थ अपील की। लौटते हुए ग्रहण की चर्चा चलाने पर उन्होंने कहा था 'मेरे जीवन में ऐसा कदाचित ही हुआ है कि मैंने ग्रहण के अवसर पर जप और पाठ न किया हो पर कल तो भूकंप की ही चिन्ता रही और जप-पाठ न कर सकने का मुझे कोई दुःख नहीं है।'

ता० ५ सितम्बर १९३५ को पशुबलि-प्रथा के विरोध में जयपुर राज्य के पंडित रामचन्द्र शर्मा वीर ने कलकत्ता में आमरण अनशन किया था और यह आन्दोलन देशव्यापी हो गया था। स्थान स्थान से सहायता और समर्थन के संदेश वीर जी को मिले थे पर कलकत्ता के काली मंदिर के प्रबंधकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। अनशन के २८वें दिन वीर जी की दशा चिन्ता-जनक हो गई थी। वज़न ३० पौंड घट गया था। वीर जी के पिता, भक्त, सेवक सभी चिन्तित थे। वीर जी के प्राणों की आहुति किसी को भी अभीष्ट न थी। कुछ व्यक्ति मालवीय जी के पास पहुँचे और उनसे वीर जी के प्राण बचाने का अनुरोध किया। अनशन के ३० वें दिन ४ अक्टूबर को सुबह ८॥ बजे मालवीय जी वीर जी के स्थान पर पहुँचे और मृतप्राय, अत्यंत दुर्बल, अर्द्धनिद्रित वीर जी को जगाकर गंगाजल से स्वयं उनका मुख धोया और उन्हें 'दुर्गा सप्तशती' का पाठ सुनाया। मालवीय जी कालीघाट मंदिर गये और सेवाभक्तों से बात की। पचास वर्ष पूर्व मालवीय जी इस मंदिर में गये थे। वहाँ पर होनेवाली पशुबलि देखकर उन्होंने जीवन भर वहाँ न जाने की प्रतिज्ञा की थी पर वीर जी की जीवन-रक्षा के लिये उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। वह उस दिन रात्रि को फिर वीर जी से मिले थे और दो घंटे तक उनसे बात करते रहे थे, मार्ग में काली-मंदिर के सेवाभक्तों से दुबारा बात कर लगभग १२॥ बजे अपने निवासस्थान बिरला पार्क लौटे थे। वीर जी का अनशन चलता रहा। स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अनशन त्यागने के लिये वीर जी को लिखा। ६ अक्टूबर को कलकत्ता में माहेश्वरी भवन में एक विराट सभा हुई। मालवीय जी ही उस सभा के अध्यक्ष थे। कुछ नवयुवकों ने कालीघाट-मंदिर में पशुबलि का खूंटा उखाड़ने का निश्चय किया था। इससे हिंसा फैल सकती थी। मालवीय जी ने रोष

में कोई हिंसात्मक कार्रवाई न करने की अपील की और यह आशा व्यक्त की कि वे वीर जी का अनशन स्थगित करा देंगे। सभा के बाद रात के ८ बजे मालवीय जी वीर जी के पास तीसरी बार गये। उन्होंने एक वर्ष तक अनशन स्थगित रखने का उनसे अनुरोध किया और कलकत्ता के कई प्रतिष्ठित पुरुषों का प्रार्थनापत्र उनको दिया और कहा कि इसको आप पढ़ लीजिये। आपको विश्वास हो जायेगा कि आप उपवास स्थगित करके धर्म की अधिक सेवा कर रहे हैं। अपनी व्यवस्था भी उन्होंने वीर जी को दी। व्यवस्था में उन्होंने लिखा था 'नैतिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से 'वीर' के उपवास का स्थगित किया जाना वस्तुस्थिति की दृष्टि से पूर्णतः उचित है, यह मेरा निश्चित मत है।' वीर जी ने मालवीय जी की बात मानी और उनके हाथ से लेकर मौसंबी का रसपान किया। दूसरे दिन भी मालवीय जी वीर जी के पास गये और तीन घंटे उन्हें समझाते रहे। मालवीय जी के प्रयत्न से वीर जी की प्राणरक्षा हुई। स्वस्थ होने के बाद पशु-बलि के विरोध में देश भर में वीर जी ने आन्दोलन किया। उन्हें सफलता भी मिली। कालीघाट के मंदिर में पशुवध बन्द नहीं हुआ था। जून में वीर जी कलकत्ता आये और वहाँ इस हिंसक प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करते रहे। उनके भाषणों पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। ३० अगस्त से उन्होंने फिर आमरण अनशन कर दिया। ४० दिन तक यह अनशन चलता रहा, बीच में उनका मस्तिष्क भी विकृत हो गया था। मालवीय जी उनके लिये इस बार भी चिन्तित रहे पर रुग्णावस्था के कारण कलकत्ता नहीं जा सकते थे। उन्होंने पं० हीरावल्लभ शास्त्री को उनके पास भेजा था और उन्हें लिखा था कि जब मैं आपसे पिछले वर्ष मिला था तब आपने मुझको गुरु भाव से सम्मानित किया था। उस बात को स्मरण करके ही मैं अत्यंत प्रेम से आपको उपदेश करता हूँ कि आप अनशन-व्रत को समाप्त कर दें। भागवत-कथित ध्रुव की कथा सुनने का भी उनसे अनुरोध किया था और कथा सुनाने के उद्देश्य से भी शास्त्री जी को उनके पास भेजा था। अनशन के ४० वें दिन रात्रि के प्रथम प्रहर में मालवीय जी का पत्र वीर जी को सुनाया गया था। कलकत्ता के कई गण्यमान्य व्यक्ति भी अनशन समाप्त करने की प्रार्थना लेकर वहाँ उपस्थित थे। वीर जी के मन में यदि कुछ हिचकिचाहट रही होगी तो मालवीयजी के पत्र से उन्हें बल मिला होगा। सब का आग्रह देखकर उन्होंने नीबू का रस लेकर ९ बजे अनशन भंग किया था।

सन् ४२ की क्रान्ति के दिनों में जब सरकार की कठोर और उग्र दमन-नीति के कारण नेता और पथ-प्रदर्शक कारागारों में बन्द कर दिये गये थे और देशवासी नौकरशाही की नग्न पाशविकता से त्रस्त थे, उस समय स्वयं घूम फिर सकने में असमर्थ होते हुए भी मालवीयजी ने अर्थसंग्रह कर पड़ोसी ज़िलों के कितने ही परिवारों को सहायता पहुँचाई थी। मानपुर के भूदेव जी को उन्होंने कई बार इसी उद्देश्य से बलिया भेजा था। सन् ४२ में बलिया जाना और वहां से सकुशल लौट आना चमत्कार ही माना जाता था, उन दिनों मालवीय जी निराश व्यक्तियों की आशा और निराश्रितों के आश्रय थे। वे चाहते थे कि वे स्वयं पीड़ित व्यक्तियों के बीच में पहुँच कर उनकी सहायता करें किन्तु ८२ वर्ष की अवस्था में उनके दुर्बल शरीर ने उन्हें असमर्थ कर दिया था। फिर भी घर बैठे ही उन्होंने पर्याप्त सहायता भिजवाई थी।

मैंने कुछ घटनाओं का ही यहाँ उल्लेख किया है। उनका जीवन ऐसी कितनी ही घटनाओं का भंडार है। उनका संग्रह किया जाये तो एक अच्छी ख़ासी पुस्तक तैयार हो जायेगी। मालवीय जी के पास से कदाचित ही कोई निराश लौटता था। ऐसे ही व्यक्तियों के लिये कहा गया है––

'धन्यःस एको भुवि मानवानां, स उत्तमः पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा नाशाभिभंगाद्विमुखा-प्रयान्ति ।।'

संसार में मनुष्यों में वही पुरुष उत्तम है, वही धन्य है जिसके द्वार से अर्थी और शरणागत विमुख नहीं लौटता है। मालवीय जी ने देश और समाज के अभ्युदय के लिये जीवन भर अनेक कार्य किये पर सेवा और सहायता के कार्य ही उनके सर्वश्रेष्ठ कार्य माने जायेंगे। सेवा के संबंध में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे जानने, मनन करने और व्यवहार में आने योग्य हैं। उनका उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा था––

'अपनी इच्छा से–बिना किसी प्रकार के बंधन व स्वार्थ के दीन-दुखी प्राणी की सेवा करना इससे परे क्या यज्ञ है, क्या तप है, क्या दान है, क्या सुख है। असहाय प्यासे को पानी, भूखे को अन्न, शीत से सताये हुए को वस्त्र देना, जले हुए के घाव पर मलहम लगाना, डूबते को बचा लेना, जिसके घर में आग लगी हो, उसके घर भी आग बुझाना, उसके प्राणियों को आग से बचा लेना, रोगी को औषधि देकर रोग की पीड़ा से छुटा देना, अंधों को सहारा देना, अनाथ, बच्चों और विधवाओं के माता, पिता, भाई बनना, मेलों में निराश बिछुड़े हुओं को मिलाकर उन्हें नया प्राण देना, जो अजान अकिंचन प्राणी विदेशों में अकेले छूट गये हैं उनको सहायता देकर उनके घर पहुँचाना, ठग-लुटेरों और अन्यायियों से सताये जाने वालों का रक्षक होना, समाज की बिना वेतन की पुलिस बनना, शुद्ध और निष्काम सेवा करना इससे पवित्र क्या मार्ग हो सकता है, इससे अधिक क्या सुख और सौभाग्य का विषय हो सकता है। मुझे शब्द नहीं मिलते कि मैं सेवा-धर्म की महिमा और उससे उत्पन्न आनन्द का वर्णन करूँ। इसके सिवाय इस महिमा और आनन्द का पूरा ज्ञान शब्दों के द्वारा कराने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। मेरे विचार में यह प्रत्येक प्राणी को अपने अनुभव ही से प्राप्त हो सकता है।' सेवा कार्य के लिये ही उन्होंने पं० मूलचन्द मालवीय और पं० हृदयनाथ कुंजरू के सहयोग से प्रयाग में सेवा समिति की स्थापना की थी। समिति ने शीघ्र ही अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया था और अपने जीवन काल से देश के भिन्न भिन्न भागों में समिति सेवा के पवित्र और महत्वपूर्ण कार्य में संलग्न है।

मालवीय जी का जीवन त्याग, तपस्या और साधना का जीवन था। 'स्व' की उन्होंने कभी चिन्ता न की, परहित, समाजहित और देशहित के कार्यों में उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। उनके विचार और कार्य सदा ही जन-मानस को शुभ कार्यों की प्रेरणा देते रहेंगे।

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री

वाजसूक्तम् : वैदिक शक्ति-साधना

वैदिकधर्म की दृष्टि से वाज, बल या शक्ति की प्रार्थनाओं का बड़ा महत्त्व है। उन्हीं प्रार्थनाओं के आधार पर एक ही स्थान पर शतशः मन्त्रों की उत्कृष्ट भावनाओं के एकीकरण के उद्देश्य से, वैदिक छन्द, शब्दावली, शैली और विचारधारा के अनुसार, निम्नलिखित वाज-सूक्त की रचना की गई है। हिन्दी अनुवाद और भावार्थ के साथ उसे हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं:—

वाजस्य नु प्रसवे तं महान्त-
मिन्द्रं देवं वृत्रहन्तारमीडे।
विश्वकर्माणं मघवानमुग्रं
सायं प्रातर्मन्मना वज्रहस्तम् ।।१।।

अर्थात्, वाज या शक्ति की प्रेरणा के उद्देश्य से मैं, सायं और प्रातः स्तोत्र द्वारा वृत्र अथवा बाधक शक्तियों के निवारक उस महान् देव इन्द्र-रूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ, जो विश्वकर्मा, मघवा (ऐश्वर्यशाली), उग्र और वज्रहस्त है।

यस्ते वाजो निहितो वाजपते!
अग्नौ सूर्ये नायावथ स्रोत्यासु।
ते न नो वाजिन्! वाजवतो विधेहि ।।२।।

(याजुषी रचना)

अर्थात्, हे शक्ति के एकमात्र स्रोत परमात्मन्! जो आपकी अनन्तशक्ति अग्नि में, सूर्य में, वायु में और प्रवहणशील नदियों में कार्य कर रही है, भगवान्! उससे आप हम सबको शक्तिशाली बनाइए।

आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि वायु आदि भौतिक पदार्थों में अनन्तानन्त शक्ति निहित है और उसका उपयोग भी विश्व के व्यावहारिक हित के लिए किया जा सकता है।

इसी सिद्धान्त का विवरण नीचे की ऋचा में किया गया है—

वाजन सूर्यस्तम आभिनत्ति
वाजेन वायुस्तरसा प्रवाति।

वाजेन विद्युद् द्योतते सशब्दं
वाजेन नद्यः प्रवहन्ति वेगात्॥३॥

अर्थात्, वाज से ही सूर्य अन्धकार को दूर करता है, वाज से ही विद्युत् कड़-कड़ाहट के साथ चमकती है, और वाज से ही नदियाँ वेग के साथ वहती हैं।

वाजेन वीरा विजयं लभन्ते
वाजेनेन्द्रो जायते वृत्रहन्ता।
वाजेन विश्वं रुचमादधाति
वाजं विना परितो वर्धते तमः॥४॥

अर्थात्, बल द्वारा ही वीरजन विजय को प्राप्त करते हैं, बलया शक्ति द्वारा ही समुन्नति-शील व्यक्ति (इन्द्र) अपने लक्ष्य की समस्त बाधाओं (वृत्त) को दूर करता है। बल और शक्ति के होने पर समस्त संसार दीप्ति-युक्त अर्थात् रोचक प्रतीत होता है और शक्ति के अभाव में निर्बल व्यक्तियों को अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार फैलता हुआ दीखता है।

वाजः पृथिव्यां दिवि चान्तरिक्षे
वाजो विश्वं भुवनमाविवेश।
आधींश्च व्याधींश्च निवारयन्तो
वाजेन शत्रून् सहसा जयेम॥५॥

अर्थात्, वाज पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान है। वाज समस्त सृष्टि में प्रारम्भ से ही व्याप्त है। हम अपने मानसिक कष्टों और शारीरिक व्याधियों को निवारण करते हुए वाज से समस्त आन्तरिक तथा वाह्य शत्रुओं पर सहसा विजय-लाभ करें।

वाजो हि मा सर्ववीरं करोतु
सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।
वाजः पुरस्तादुत पृष्ठतो मे
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्॥६॥

अर्थात्, मेरे सब पुत्र-पौत्रादि बल से युक्त हों और मैं बलशाली होता हुआ समस्त दिशाओं में विजय प्राप्त करूँ, मेरे सामने बल हो और मेरे पीछे भी बल हो और इस प्रकार बल से युक्त होकर मैं समस्त दिशाओं में सफलता और समृद्धि को पाऊँ।

अगली रचना में, जो यजुरात्मक है, यह बतलाया है कि बल को पाकर मैं किन-किन महान् लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसका उपयोग करना चाहता हूँ—

धीतिश्च मे क्रतुश्च मे, वाक् च मे मनश्च मे,
ओजश्च मे सहश्च मे, शर्म च मे वर्म च मे,

आत्मा च मे तनूश्च मे, महिमा च मे वरिमा च मे,
सत्यं च मे श्रद्धा च मे, क्रीडा च मे मोदश्च मे,
सूक्तं च मे सुकृतं च मे, व्रतं च मे तपश्च मे,
वाजेन कल्पन्ताम्।।७।।

अर्थात्, भगवान्! शक्ति से संपन्न होकर मैं यही चाहता हूँ कि मैं अपने जीवन में उदात्तलक्ष्यों और गुणों को प्राप्त कर सकूँ! जैसे—मुझ में उदात्तविचार (धीति) और उनको कार्यरूप में परिणत करने का संकल्प या शक्ति (क्रतु) दोनों हों; मुझ में वाक्शक्ति के साथ-साथ विचार-शक्ति भी हो; मुझ में बल (ओजः) और उसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति (सहः) दोनों हों; मुझ में कल्याण-भावना (कार्य) और आत्म-रक्षा की शक्ति (वर्म) दोनों हों; मेरी आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ शारीरिक उन्नति भी हो; महत्त्व के साथ-साथ मेरे प्रभाव-क्षेत्र की भी वृद्धि हो; सत्यानुसन्धान के साथ-साथ मुझ में श्रद्धा की भावना भी हो; मैं निर्दोष क्रीड़ाओं में भाग लेता हुआ मोद-प्रमोद को प्राप्त करूँ; मुझे सूक्तों—सुभाषितों का ज्ञान हो और साथ ही मेरा आचरण भी तदनुसार हो; मैं व्रतों के पालन द्वारा तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यासी बनूँ।

इस प्रकार वैदिक शक्ति-साधना का लक्ष्य अपने में उत्कृष्ट गुणों का संपादन करना है, न कि दूसरों को सताना या पीड़ा देना।

परमात्मा से प्रार्थना है कि इस प्रकार वैदिक आदर्शों का अनुसरण करते हुए हम सब सत्य के प्रकाश को इसी जीवन में सतत अनुभव करें।

"जीवा ज्योतिरशीमहि"

(ऋग्वेद ७।३२।२६)



मालवीय जी की 'आत्मकथा' का एक पृष्ठ

[महामना मालवीय जी के प्राचीन कागज-पत्रों में उनकी दिव्य लेखनी से लिखी हुई, कुछ दुर्लभ कृतियाँ प्राप्त हुई हैं, ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने किसी समय अपने जीवन की 'आत्मकथा' लिखनी प्रारंभ की थी किंतु संभवतः व्यस्त जीवन के कारण वह उसे पूर्ण नहीं कर पाये। यहाँ उसी आत्मकथा का एक अंश दिया जाता है, इसमें उनके प्रारंभिक जीवन की एक झांकी प्राप्त हो सकती है--संपादक।]

धार्मिक भावों की ओर मेरा झुकाव लड़कपन ही से था। स्कूल जाने के पहिले मैं रोज हनुमान जी का दर्शन करने जाता था और यह श्लोक पढ़ता था—

मनोजवं मारुत-तुल्य वेगं, जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानर-यूथ मुख्यं, श्री रामदूतं शिरसा नमामि॥

लोकनाथ महादेव के पास मुरलीधर चिम्मनलाल गोटेवाले के चबूतरे पर पिता जी कथा बाँचने जाते थे। मुट्ठीगंज के मंदिर में भी वह कथा कहने जाया करते थे। मैं दोनों जगह कथायें सुनने के लिए नित्य जाता था और उनकी चौकी के पास बैठ कर बड़े ध्यान से कथा सुनता था। पिता जी ने एक दिन कहा--'तू बड़ा भक्त हैं'। यह सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

मैं गायत्री का जप बहुत किया करता था। एक बार घरवालों को शंका हुई कि मैं साधु न हो जाऊँ और वे इसलिए मेरी निगरानी रखने लगे थे।

एण्ट्रेन्स पास करने के बाद मैं म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगा। कालेज में एक 'फ्रेंड्स डिबेटिंग सोसायटी' थी। उसमें मैंने पहली स्पीच अँग्रेजी में दी। वह इतनी अच्छी समझी गई कि इंस्टीट्यूट के सेक्रेटरी लाला साँवलदास कक्कड़ ने मेरी पीठ ठोंकी और मेरी बड़ी प्रशंसा की।

जब मैं कालेज में पढ़ता था, उन दिनों माघ-मेले में सरकारी इन्तजाम से हिन्दू लोग बहुत असन्तुष्ट थे। पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य म्योर कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। लोकसेवा के कार्यों में मेरी रुचि देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वे मुझ पर बहुत कृपा रखते थे। जीवन भर वे मुझ पर पुत्र का-सा स्नेह रखते रहे। मैं भी उनसे गुरु के योग्य बर्ताव रखता था। उनसे मुझे सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने में बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दू समाज' नाम की एक सभा सन१८८० में कायम की। मैं उस सभा में जाने लगा। उन्होंने हिन्दुओं की एकता के संबन्ध में एक बड़ी-सी सुन्दर अपील तैयार की।

जब मैं बी० ए० पास हुआ, घर में गरीबी बहुत थी। घर के प्राणियों को अन्न-वस्त्र का भी क्लेश था।

मामूली-सा घर था। घर में गाय थी; माँ अपने हाथ से उसको सानी चलाती और उसका गोबर उठाती थीं। स्त्री आधा पेट खाकर संतोष कर लेती थी और फटी हुई धोतियाँ सी कर पहना करती थी। मैंने बहुत वर्षों बाद एक दिन उससे पूछा—'तुमने कभी सास से खाने-पहनने के कष्ट की शिकायत नहीं की।'

स्त्री ने कहा—'शिकायत करके क्या करतीं ? वे कहाँ से देतीं ? घर का कोना-कोना जितना वे जानती हैं उतना ही मैं भी जानती हूँ, मेरा दुःख सुनकर वे रो देतीं, और क्या करतीं ?'

बी० ए० पास होने के बाद मेरी बड़ी इच्छा हुई कि बाबा और पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ। किन्तु घर की गरीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था। उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेंट स्कूल में, जिसमें मैंने पढ़ा था, एक अध्यापक की जगह खाली हुई। मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविन्द जी उसमें हेडपंडित थे। उन्होंने मुझसे कहा कि इस जगह के लिए कोशिश करो। मेरी इच्छा धर्म-प्रचार में जीवन लगा देने की थी। मैंने नाहीं कर दी। उन्होंने माँ से कहा।

माँ मुझसे कहने के लिए आयीं। मैंने माँ की ओर देखा। उनकी आँखें डबडबा आयीं थीं। वे आँखें मेरी आँखों में अब तक धँसी हैं। मेरी सब कल्पनाएँ माँ के आँसू में डूब गयीं और मैंने अविलंब कहा—माँ, तुम कुछ न कहो, मैं नौकरी कर लूंगा। जगह चालीस रुपए महीने की थी। मैंने इसी वेतन पर स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली। दो महीने बाद मेरा वेतन ६० रुपया हो गया।



डॉक्टर जयराम मिश्र

महामना मालवीय : भारतीय संस्कृति के प्रतीक

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, जिनमें से, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पंडित मोतीलाल नेहरू, स्वामी विवेकानन्द एवं महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के नाम अग्रगण्य हैं। महामना जी का जन्म २५ दिसम्बर, सन् १८६१ ई० को परम भागवत, सत्यनिष्ठ, सात्त्विक, सन्तोषी एवं अकिञ्चन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित ब्रजनाथ एवं माता का नाम मूना देवी था। पंडित ब्रजनाथ का शरीर अत्यधिक भव्य, सुगठित, आकर्षक और तेजयुक्त था। उनकी बुद्धि परम सात्विकी एवं विमल थी। श्री राधाकृष्ण में उनकी अनन्य प्रीति एवं भक्ति थी। चौबीस-पचीस वर्ष की आयु में वे व्यास बन गए और उन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा कहनी प्रारम्भ कर दी। उनका कण्ठ अत्यधिक मधुर था। उनके कोकिल-कण्ठ पर लोग मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। वे अत्यन्त सन्तोषी थे। उन्होंने जीवन-पर्यन्त किसी के सम्मुख अपना हाथ नहीं फैलाया। महामना जी की माता मूना देवी बड़ी सरल और कोमल हृदया थीं। पड़ोसियों से सद्व्यवहार करती थीं और बहुत ही मृदुभाषिणी थीं। वे किसी का दुःख नहीं देख सकती थीं। इसीलिए अत्यन्त उदार थीं। मुहल्ले भर के बच्चों को अपने सहज स्नेह से अपने औरस बच्चे बना लिए थे। सभी बच्चों को प्यार से बुलाना, बैठाना, पुचकारना, दुलारना और कुछ खिला-पिला देना––ये कार्य उनके नित्य के क्रिया-कलाप थे। इस प्रकार महामना जी के निर्माण में उनके माता-पिता का बहुत बड़ा योग रहा। समस्त दैवी गुण उन्हें पैतृक-सम्पत्ति के रूप में सहजभाव से प्राप्त हुए थे।

मालवीय जी बचपन से ही अध्ययनशील थे। किन्तु वे प्रथम श्रेणी के नटखट, खिलाड़ी और चंचल भी थे। कभी गुल्ली-डंडा खेलते थे, तो कभी कबड्डी। व्यायाम भी डट कर किया करते थे। अखाड़े में नित्य दण्ड लगाते अथवा मुद्गर घुमाते थे। अपनी वृद्धावस्था में भी वे कुछ न कुछ व्यायाम करते थे। होली पर खूब शरारतें करते थे। जो व्यक्ति रंग से चिढ़ता था, उस पर रंग अवश्य डालते थे। जन्माष्टमी के उत्सव पर वे झाँकी की सजावट में अपनी कलात्मक एवं भावात्मक मनोवृत्ति का परिचय देते थे। जहाँ कहीं सेवा का काम पड़ता वे सबसे आगे रहते थे। मेले तमाशे में भीड़ को व्यवस्थित रूप देने का प्रबन्ध करना उन्होंने बाल्यावस्था में ही सीख लिया था। सन्ध्यावन्दन में उनकी बड़ी रुचि थी। एक बार उन्हें गायत्री मंत्र जपने की धुन सवार हुई। वे चुपचाप घर से निकल जाते और यमुना के किनारे बरगद-घाट पर शान्त भाव से आसन लगाकर गायत्री का मंत्र जपते। इस मंत्र-जप से उनके भीतर और बाहर अलौकिक तेज व्याप्त हो गया।

उन्हें संगीत से भी बड़ा प्रेम था। उन्होंने सितार बजाना सीखा और वे बहुत अच्छा सितार बजाने लगे।

बालक मदनमोहन की शिक्षा प्रयाग नगर में हुई। एण्ट्रेन्स परीक्षा पास करने के उपरान्त मालवीय जी म्योर सेन्ट्रल कालेज में प्रविष्ट हुए। वहाँ के प्रिंसिपल हैरिसन् थे। हैरिसन् साहब बड़े गुणग्राही और विद्वान् थे। मालवीय जी के पवित्र जीवन, देशानुराग, धैर्य, पाण्डित्य और निर्भीकता का हैरिसन् साहब पर बहुत प्रभाव पड़ा।

मालवीय जी विद्यार्थी-जीवन में अभिनय भी बहुत सुन्दर करते थे। 'आर्य नाटक-मण्डली' के तत्त्वावधान में शकुन्तला नाटक खेला गया। उस नाटक में मालवीय जी ने शकुन्तला का अभिनय किया। उन्होंने शकुन्तला का इतना सुन्दर अभिनय किया कि सभी दर्शक आनन्द में आत्मविभोर हो उठे। इसी प्रकार कालेज में एक बार 'शेक्सपियर' कृत 'मर्चेण्ट आफ़ वेनिस' नामक नाटक खेला गया। मालवीय जी ने उस नाटक में 'पोर्शिया' का बड़ा सफल अभिनय किया। उनके अभिनय में 'पोर्शिया' के सात्विक गुण साकार हो उठे थे। नाटक के देखने वालों का कथन था कि यदि कोई अंग्रेजी महिला भी 'पोर्शिया' का अभिनय करती, तो उतनी सुन्दरता से न कर पाती।

उन्होंने कालेज में एक वाद-विवाद-समिति की संस्थापना की। इस समिति में आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयों पर वादविवाद हुआ करते थे। सौभाग्य से संस्कृत के प्राध्यापक, महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य उन्हें आदर्श गुरु के रूप में प्राप्त हुए। मालवीय जी के निर्माण में महामहोपाध्याय भट्टाचार्य जी का बहुत बड़ा हाथ रहा। उन्हीं आदर्श गुरु की प्रेरणा से मालवीय जी ने 'हिन्दू-समाज' की स्थापना की। इस संस्था में उन्होंने बड़े बड़े पुरुषों को खींच लिया।

मालवीय जी ने सभी प्रकार की साधना अपने विद्यार्थी-जीवन में की। शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी प्रकार की साधनाओं से युक्त होकर वे जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उतरे। उन्होंने अपनी साधना और तपश्चर्या के बल पर अलौकिक शक्ति अर्जित की। इसीके फलस्वरूप वे जहाँ भी रहे 'सिंह' के समान निर्भय रहे। मालवीय जी का जीवन किसी एक क्षेत्र में सीमित न रह सका। वह सदैव असीमता की ओर बढ़ा। उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को अपने कार्य का माध्यम बनाया। वे अध्यापक बने, पत्रकार बने, वकील बने, धर्म सुधारक बने, राजनीतिक और सामाजिक नेता बने।

बी० ए० उत्तीर्ण करने के पश्चात् मालवीय जी पचास रुपये मासिक पर गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में अध्यापक नियुक्त हो गए। मालवीय जी बहुत सफल अध्यापक सिद्ध हुए। अध्यापकों के लिए तीन गुणों का होना आवश्यक है—सच्चरित्रता, मृदुभाषिता और अपने विषय का पूर्ण ज्ञान। मालवीय जी तीनों गुणों से ओतप्रोत थे। दो ही वर्षों में इनका वेतन पचहत्तर रुपये हो गया। स्कूल में अध्यापन करते समय एक बार की घटना चिरस्मरणीय रहेगी। एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी की नकल कर रहा था। मालवीय जी ने ताड़ लिया और उसी क्षण उसे कमरे से

निकाल दिया। उस लड़के ने मालवीय जी को धमकी दी कि कभी समझ लिया जायगा। पर मालवीय जी उसकी गीदड़भभकी से रंचमात्र भी आतंकित नहीं हुए। बहुतों ने मालवीय जी को समझाया कि आप पैदल न जाया करें, इक्के पर जायँ। पर उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे क्या हाथ नहीं हैं; हम पैदल ही जायँगे। वे बराबर पैदल ही जाते रहे। मालवीय जी को छेड़ने का तो उसे साहस नहीं हुआ पर जिस लड़के की उत्तरपुस्तक से वह नकल कर रहा था, उसे उस दुष्ट ने पकड़ कर दिन भर बैठाए रक्खा। बेचारे को कतिपय लोगों ने मुक्त किया पर मालवीय जी के व्यक्तित्त्व का उस दुष्ट लड़के पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने इनके पैरों पर गिर कर क्षमा माँगी और अपनी भूल स्वीकार की।

कालाकांकर के स्वर्गीय राजा रामपाल सिंह के अनुरोध से महामना मालवीय जी ने अध्यापकी छोड़कर २०० रु० मासिक पर 'हिन्दोस्थान' का सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया। मालवीय जी की लेखनी से मंजकर 'हिन्दोस्थान' चमक उठा। ग्राहकों की संख्या बहुत बढ़ गयी। मालवीय जी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी विषयों पर विचारपूर्ण और विद्वत्तायुक्त लेख लिखते थे। मालवीय जी अपने लेखों का छपते-छपतें तक शोधन करते थे। मुद्रण की अशुद्धियों को भयंकर भूल समझते थे। अढ़ाई वर्ष के पश्चात् मालवीय जी ने पत्र का सम्पादन छोड़ दिया। उस पदत्याग की भी एक प्रेरणादायिनी कहानी है। मालवीय जी सम्पादक का उत्तरदायित्व संभालने के पूर्व राजा साहब से यह तय कर लिया था कि जिस समय आप मदिरा सेवन किए हों, उस समय आप मुझसे बातें न करें। अढ़ाई वर्ष के पश्चात् एक दिन मदिरा के नशे में राजा साहब ने किसी आवश्यक सम्मति के लिए मालवीय जी को बुलवा भेजा। बातचीत कर लेने के बाद मालवीय जी ने राजा साहब से कहा, "आज से मेरा अन्न-जल आपके यहाँ से उठ गया। आपने मुझसे जो प्रतिबन्ध बाँधा था, उसे आपने आज तोड़ दिया। मैं आज ही रात को अथवा कल प्रातःकाल यहाँ से चला जाऊँगा। आप अपने पत्र का प्रबन्ध कर लीजिए। आपकी उदारता एवं स्नेह को मैं कभी नहीं भूलूँगा।" राजा साहब यह सुन कर सन्न रह गए। उन्होंने बहुत अनुनय-विनय की पर मालवीय जी हिमालय की भाँति अडिग रहे। अन्त में राजा साहब ने विवश होकर कहा, "अच्छा जाओ, वकालत पढ़ो। जितने दिन पढ़ोगे, सारा व्यय मैं दूंगा।" मालवीय जी का यह त्याग, साधारण त्याग नहीं था।

मालवीय जी ने इसके पश्चात् कई पत्र-पत्रिकाओं का योग्यतापूर्वक सम्पादन किया। उनके योग्य-सम्पादन में 'अभ्युदय', प्रयाग का बहुत प्रसिद्ध पत्र हो गया। उनकी प्रेरणा से कई पत्र निकले, जिनमें से 'लीडर' 'मर्यादा', 'सनातनधर्म' प्रमुख हैं। पत्रों द्वारा जनता में प्रचार करने में मालवीय जी का पक्का विश्वास था। मालवीय जी की हिन्दी 'ठेठ' हिन्दी होती थी। 'अचरज', 'जतन', लगन', 'पैठना', 'प्रानी', आदि अनेक बोलचाल के शब्द उनके लेखों में मिलेंगे।

सन् १८९१ ई० में मालवीय जी ने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और दो वर्ष पश्चात् ही वे हाईकोर्ट में पहुँच गए। कुछ दिनों तक उन्होंने पण्डित बेनीराम कान्यकुब्ज के पास काम सीखा और फिर स्वतन्त्र रूप से वकालत प्रारम्भ कर दी। पहले पहल उन्होंने नौ रुपये कमाए। उनकी

वकालत थोड़े ही दिनों में चमक उठी। मुवक्किलों के झुण्ड के झुण्ड उन्हें घेरे रहते। उन्हें सांस लेने का भी अवकाश नहीं मिलता था। हाईकोर्ट के जजों ने समय समय पर मालवीय जी की बड़ी प्रशंसा की है। वे इतने अच्छे ढंग से मुकदमा समझाते थे कि उनकी बात मानने को उन्हें विवश होना पड़ता था। शेरकोट की रानी का मुकदमा उनकी वकालत की सर्वश्रेष्ठ कीर्ति समझी जाती है। उस मुकदमें में उन्हें पर्याप्त धन और यश प्राप्त हुआ। मालवीय जी की आय बढ़ी, पर साथ ही उनके उत्तरदायित्व भी बढ़े। प्रयाग भर की संस्थाएँ और सभाएँ उन्हें घेरे रहती थीं। कांग्रेस का काम पृथक् रूप से उनके कन्धों पर था। बहुत दिनों से विश्वविद्यालय स्थापित करने की भावना ने भी अब और जोर पकड़ लिया। इस प्रकार मालवीय जी ने अपनी खासी चलती वकालत पर लात मार दी। गोखले जी ने मालवीय जी के सम्बन्ध में एक बार सत्य-ही कहा था, "त्याग किया है मालवीय जी ने। ग़रीब घर में पैदा होकर वकालत की। धन कमाने लगे। अमीरी का मज़ा चखा। चख कर उसे देश के लिए ठुकरा दिया। त्याग है उनका।" पण्डित बिशननारायण दर की उक्ति भी उनके सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य है—"सचमुच ही मालवीय जी के जीवन को आत्म-त्याग के सिद्धान्त पर एक अनुपम भाष्य समझना चाहिए।"

उनकी वकालत के सम्बन्ध में एक घटना बहुत प्रसिद्ध है। उस समय मालवीय जी वकालत छोड़ चुके थे। ४ फरवरी सन् १९२२ ई० को गोरखपुर जिले में चौरीचौरा में एक भयंकर दुर्घटना हो गई। जनता ने जोश में आकर एक पुलिस के थाने में आग लगा दिया था। इस काण्ड में इक्कीस पुलिस के आदमी जल मरे। उसमें दो सौ पचीस आदमियों के ऊपर मुकदमा चलाया गया। सेशन जज ने उनमें से एक सौ सत्तर को फाँसी की सजा दी। इसकी अपील इलाहाबाद हाईकोर्ट में की गई। सब की दृष्टि मालवीय जी पर पड़ी। मालवीय जी वकालत छोड़ चुके थे। फिर भी उन्होंने मुकदमा लिया और एक सप्ताह तक उसका मननपूर्वक अध्ययन किया। उन्होंने ऐसी सुन्दरता से बहस की कि एक सौ एक्कावन अभियुक्तों की फाँसी की सजा रद्द हो गई। उस समय न्यायाधीश ने कहा था, "इन अभियुक्तों को चाहिए कि ये मालवीय जी को धन्यवाद दें, क्योंकि उन्हीं के कारण आज इनकी जान बच पाई है।"

मालवीय जी की कीर्ति का सबसे बड़ा स्तम्भ 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' है। उसके निर्माण का स्वप्न वे अपने विद्यार्थी-जीवन में ही देखा करते थे। कहते हैं कि उसकी संस्थापना के पूर्व उन्होंने एक करोड़ गायत्री मंत्र का जप किया था और एक सौ आठ बार श्रीमद्भागवत का पारायण किया था। विश्वविद्यालय के लिए उन्होंने सबसे पहले अपने पिता जी से दो रुपये की भिक्षा मांगी थी। किन्तु वह दो रुपये की भीख इतनी फलवती सिद्ध हुई, कि लाखों रुपये अपने साथ खींच लाई। मालवीय जी के इस पुनीत महायज्ञ में देश के राजाओं-महाराजाओं, जमींदारों, श्रीमन्तों, निर्धनों, विद्वानों एवं अपढ़ों सभी ने योग दिया। "मालवीय जी त्रिवेणी बन गए, हिन्दू विश्वविद्यालय पर्व बन गया और सारे देश ने जी खोलकर इस पर्व पर सोना लुटाया।" इस भिखारी की झोली में सारे भारतवर्ष ने एक करोड़ रुपये की भीख डाल दी। मालवीय जी के इस आत्मत्याग पर आकृष्ट होकर एनी बेसेण्ट ने ३१ जनवरी सन् १९१२ ई० को काशी में व्याख्यान

देते समय कहा था, "आपने अपना सांसारिक जीवन, अपनी सब शक्ति, अपनी विलक्षण वाणी, क्या कहा जाय---अपना समस्त जीवन और स्वास्थ्य तक इस महान् कार्य में लगा दिया है।" ४ फरवरी, सन् १९१६ ई० को १२ बजे बसन्त पंचमी के दिन हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास भारतवर्ष के तत्कालीन गवर्नर-जनरल तथा वाइसराय लार्ड हार्डिज के द्वारा रक्खा गया। इसके लिए विशेष समारोह आयोजित हुआ। कहते हैं कि इस समारोह में कदाचित् १९११ ई० के दरबार को छोड़कर ब्रिटिश भारत में ऐसा दृश्य कभी नहीं दिखाई पड़ा। इस उत्सव में लार्ड हार्डिज के साथ अनेक प्रान्तों के अंग्रेज़ गवर्नर, भारतवर्ष के राजा-महाराजा, विद्वान्, नेता, समाज-सुधारक, बड़े बड़े वकील-बैरिस्टर सभी पधारे। हिन्दू विश्वविद्यालय ने आधुनिक भारतवर्ष के निर्माण में जो सहयोग दिया है, वह किसी देशवासी से छिपा नहीं है। मालवीय जी ने अपना समस्त जीवन इसी विश्वविद्यालय के लिए अर्पित कर दिया।

मालवीय जी देश की उन्नति में मातृभाषा हिन्दी की महत्ता पूर्ण रूप से स्वीकार करते थे। उन्हीं के अकथ प्रयास के फलस्वरूप हिन्दी को अदालतों में मान्यता प्रदान की गई। 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के निर्माण में भी उनकी आन्तरिक प्रेरणा थी। उन्होंने इस कार्य के लिए राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन को चुना। राजर्षि जी ने हिन्दी आन्दोलन को कितना आगे बढ़ाया, यह सभी हिन्दी-भाषा-विद् को भलीभाँति ज्ञात है, मालवीय जी का लिखा हुआ लेख--"अदालत की लिपि और प्रारम्भिक हिन्दी" अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है।

वे हिन्दू जाति के परमोद्धारक थे। उन्होंने हिन्दू महासभा को संघटित करके हिन्दुओं को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी सनातनधर्म सभा में अस्पृश्यों को मंत्र-दीक्षा देने का प्रस्ताव स्वीकृत करा लिया। सन् १९२७ ई० काशी में महाशिवरात्रि के दिन दशाश्वमेध घाट पर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को 'ओऽम् नमः शिवाय', 'ओऽम् नमो नारायण', 'ओऽम् रामाय नमः', 'ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय' आदि मन्त्रों की दीक्षा दी। दीक्षा लेने वालों में ब्राह्मण भी थे और चाण्डाल भी। हरिजनों के उद्धार के लिए मालवीय जी कई बार उनके मुहल्ले देखने गये। उन्हें सफाई का उपदेश दिया और उनके मकान बनवाने के लिए उद्योग किया। उनके इस कार्य से काशी के कुछ पण्डित रुष्ट हो गए और उन्हें गालियाँ देने लगे।

महामना मालवीय जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। हाँ, यह बात अवश्य है कि एक का दूसरे के ऊपर अनाचार और अत्याचार नहीं सहन कर सकते थे। इस सम्बन्ध में उनका २८ जून, सन् १९३३ ई० का भाषण पठनीय है। उन्होंने यह भाषण लाहौर में दिया था—

"हिन्दू बलवान होकर मुसलमानों को तकलीफ़ दें, ऐसी मेरी स्वप्न में भी कल्पना नहीं है। मेरे मन में ऐसा विचार आया कि मैं धर्मच्युत हुआ। मेरी सदा यही इच्छा है कि हिन्दू और मुसलमान शक्तिमान हों और जगत् के अन्य समाजों के साथ खड़े होने लायक बनें। हिन्दू और मुसलमान एकत्र हों और उनके अखाड़े भी एक ही हों।"

"मेरा अपने धर्म में दृढ़ विश्वास है परन्तु परधर्म के अपमान करने की कल्पना मेरे मन

को छू तक नहीं गई। किसी गिरजाघर अथवा मसजिद के पास से जब मैं जाता हूँ, तब मेरा मस्तक अपने आप झुक जाता है। जब कि परमेश्वर एक ही है, तो लड़ने का कारण क्या? भूमि एक, देश एक, वायु एक, ऐसी परिस्थिति में रहते हुए भी आपस में दंगे-टंटों का होना, इससे बढ़कर और आश्चर्य की बात क्या हो सकती है? हमारा रक्षण विदेशी सेना करे, यह बड़ी लज्जा की बात है।"

मार्च सन् १९३१ ई० कानपुर में हिन्दू-मुसलमानों का भीषण दंगा हुआ। उसके बाद ११ अप्रैल को कानपुर में एक भारी खुली सभा हुई। इस सभा में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एकत्र थे। पंडित जी ने अपने उद्गार इस भाँति अभिव्यक्त किए——

"मैं मनुष्यता का पूजक हूँ। मनुष्यत्व के आगे मैं जातपाँत नहीं मानता। कानपुर में जो दंगा हुआ, उसके लिए हिन्दू या मुसलमान इनमें से एक जाति की जवाबदेही नहीं है। जवाब-देही दोनों जातियों पर समान है। मेरा आपस में आग्रहपूर्वक ऐसा कहना है कि ऐसी प्रतिज्ञा कीजिए कि अब भविष्य में अपने भाइयों से ऐसा युद्ध नहीं करेंगे।" मालवीय जी के विचार कितने उदात्त और भव्य हैं।

महामना मालवीय जी का देश की सशक्त राजनीतिक संस्था कांग्रेस से प्रारम्भ से ही अटूट संबंध रहा। २८ दिसम्बर सन् १८८६ ई० को कलकत्ते में स्वर्गीय श्री दादा भाई नौरोजी के सभापतित्व में कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन प्रारंभ हुआ। सभी प्रान्तों के चार सौ चालीस प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। मालवीय जी ने भी उस कांग्रेस में अपना ललित भाषण अंग्रेजी में दिया। उनकी वक्तृता में शेर की दहाड़ का प्रभाव था। उनके भाषण में बाईस बार तालियाँ बजीं। सारे राष्ट्र ने उस पचीस वर्ष के गोरे, छरहरे, एकहरे शरीर वाले नवयुवक को सब दिन के लिए अपना बना लिया। इस सम्बन्ध में ह्यूम साहब ने कलकत्ता कांग्रेस की रिपोर्ट में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं, "जिस वक्तृता के लिए कांग्रेस-मण्डप में कई बार तालियाँ बजीं और जिस वक्तृता को जनता ने बड़े उत्साह से सुना, वह उच्चकुलीन ब्राह्मण पण्डित मदनमोहन मालवीय की वक्तृता थी, जिनके गौर वर्ण, मनोहर आकृति ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और अचानक सभापति की बराबर वाली कुर्सी पर कूदकर ऐसा सुन्दर ओजस्वी और धाराप्रवाह व्याख्यान दिया कि सब दंग रह गए।" कांग्रेस के आन्दोलन में उन्हें सरकारी मेहमान भी होना पड़ा। उनका जेल-जीवन भी अत्यन्त पुनीत, साधना और तपश्चर्यामय था।

मालवीय जी का देहान्त १२ नवम्बर सन् १९४६ ई० को हो गया पर उनकी अपर कीर्ति चिर धवल रहेगी। मालवीय जी के पचासी वर्ष के जीवन के साथ भारतवर्ष के पचासी वर्षों का इतिहास संलग्न है। उनका व्यक्तित्व असाधारण दैवी गुणों से सम्पन्न है। उनके एक-एक गुण का स्मरण कर हम अपने को पावन बना सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत्ति का इस प्रकार वर्णन किया है—

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अर्थात्, सर्वथा भय का अभाव, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, मन-वाणी की सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दादि न करना, सभी प्राणियों में हेतु-रहित दया, तृष्णा न होना, कोमलता, अनुचित कार्यों के प्रति लज्जा, गम्भीरता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह और अहंकार का अभाव––हे अर्जुन, यह सब तो दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।

मालवीय जी का जीवन उपर्युक्त सम्पदा से सर्वथा युक्त था। उनकी मनःस्थिति दैवी गुणों से निरन्तर ओतप्रोत थी।

मालवीय जी की आन्तरिक और वाह्य वृत्ति निरन्तर शुद्ध थी। वे किसी इतर जाति के हाथ का छुआ भोजन नहीं करते थे। अपने इस कठोर नियम का पालन उन्होंने व्यवस्थापिका सभाओं में, कांग्रेस की बैठकों में, जेल में और विलायत की गोलमेज परिषद् में किया। एसेम्बली में पाँच-पाँच घण्टे व्याख्यान देने पर भी उन्होंने एक बूंद पानी नहीं पिया। एक बार की बात है। मालवीय जी किसी अफ़सर से बातें कर रहे थे। पंडित रामनारायण मिश्र भी वहीं बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मिश्र जी से कुछ ऐसी बातें कह दीं, जो उस अफ़सर के सामने नहीं कहनी चाहिए थी। मिश्र जी ने एक पत्र लिखकर मालवीय जी पर अपना क्षोभ प्रकट किया। मालवीय जी ने तुरन्त तार देकर उनसे क्षमा याचना की। यह थी महामना के हृदय की शुद्धता।

तत्त्वज्ञान के ध्यान-योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति के लिए उनका प्रयत्न जीवन-पर्यन्त जारी रहा। उनका एकान्त-चिन्तन, मनन इस बात की पुष्टि का प्रवल प्रमाण है। उनका पवित्र और उदात्त चरित्र उनके इन्द्रिय-निग्रह का सबसे बड़ा प्रमाण है। उनके सात्विक दान की तो अनेक घटनाएँ हैं। न जाने कितने याचक उनके पास करुण मुख से आए और हँसता हुआ मुख लेकर वापस लौटे। न मालूम कितने दीन विद्यार्थी मालवीय जी की कृपा से पढ़लिख कर पूर्ण विद्वान् और साथ ही धनवान् हो गए।

बड़ों का सम्मान स्वतः एक महान् यज्ञ है। मालवीय जी बड़ों का सम्मान अपना परम पुनीत कर्तव्य समझते थे। वे अपने माता-पिता के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपने माता-पिता का चित्र अपनी आँखों के सामने जीवन-पर्यन्त रक्खा। एक बार पंडित बालकृष्ण भट्ट बीमार पड़े। मालवीय जी उन्हें बड़ा मानते थे। उन्होंने भट्ट जी की सेवा जिस लगन से की, वह श्लाघनीय है। मालवीय जी अतिथियों का पूरा सत्कार करते थे।

उनका दरबार सबके लिए सदैव खुला रहता था। महात्मा गान्धी जी ने उनके इस गुण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, "पण्डित मालवीय जी ने मुझे अपने ही कमरे में शरण दी। उनके जीवन की सादगी की एक झाँकी मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर मिली। इस अवसर पर उनके साथ एक ही कमरे में होने के कारण मैंने अत्यन्त निकट से उनकी नित्य की जीवन-चर्या देखी थी और उसे देख कर मैं मन्त्रमुग्ध हो गया। उनका स्थान सभी दरिद्रों के लिए एक धर्मशाला की भाँति था। वह इतना ठसाठस भरा था कि एक कोने से दूसरे कोने तक जाना आपके लिए बहुत कठिन था।...इस धर्मशाला के एक कोने में बड़े सम्मान से मेरी खटिया बिछी थी। भिन्न दल और भिन्न विचारों के होते हुए भी वे मुझे बड़े भाई की भाँति प्यार से समझाते थे।"

*   *   *

वसन्त !

आयो वसन्त सुन्दर सुवेश। नव जीवन धारत है स्वदेश।।

हिन्दी कविता के प्रेमियों को कवि अम्बर के वे कवित्त, जिनमें उन्होंने वसन्त ऋतु के आगमन का वर्णन किया है, स्मरण होंगे। 'वसन्त ऋतु आ गई है, कोकिल बोलने लगे हैं, किन्तु कवि-कोकिल अभी तक शिशिर के प्रभाव से ठिठुरे ही मालूम होते हैं। हम आशा करते हैं कि अब वे अपने 'मधुर रस भरे बैन' से हिन्दी के प्रेमियों को सुखी करेंगे। प्रकृति ने अपना रंग बदल दिया है। शीत से जो जीव-जन्तु, पेड़-पल्लव ठिठुर रहे थे, जो वृक्ष पत्र-पुष्प से रहित होकर अस्थिप्राय मनुष्य के समान श्रीविहीन हो रहे थे, जिनमें मालूम होता था कि अब कभी हरियाली की शोभा न आयेगी, वे नया रंग और यौवन धारण कर रहे हैं। कोई इस बात को भी सोचता है कि इन अनन्त वृक्षों में नये जीवन, नये प्राण, नया बल, नयी शोभा कहां से भरती चली आती है। किस शक्ति की प्रेरणा से मनुष्य ही नहीं, पशु भी इस नये जीवन का आनन्द अनुभव कर रहे हैं।

——महामना मालवीय

डॉक्टर कृष्णदेव उपाध्याय

महामना मालवीय के जीवन की कुछ झाँकियाँ

महापुरुषों के जीवन के संबंध में कुछ लिखना बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि उनका व्यक्तित्व इतना महान्, जीवन इतना दिव्य, क्रियाकलाप, इतना बहुमुखी और चरित्र इतना पवित्र होता है कि उसे एक छोटे से निवन्ध की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। परन्तु महान व्यक्तियों की जीवन-गाथा पाठकों को शान्ति प्रदान करती है और उनके जीवन को पवित्र बनाती है। महाकवि श्रीहर्ष ने राजा नल के चरित्र के विषय में लिखा है कि——

> "पवित्रमत्रातनुते जगत्युगे,
> स्मृता रसक्षालन एव यत् कथा।
> कथं न सा यद् गिरमाविलामपि,
> स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति।।"

आज इसी बात को ध्यान में रख कर महामना पं० मदनमोहन मालवीय के जीवन की कतिपय झाँकियाँ पाठकों के सामने प्रस्तुत कर अपनी लेखनी को पवित्र करने बैठा हूँ।

* * *

अपनी बाल्यावस्था में ही मैंने महामना मालवीय जी का नाम सुन रखा था और यह जानता था कि उन्होंने काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की है। मेरे पितृकल्प ज्येष्ठ भ्राता पं० बलदेव उपाध्याय——जिन्होंने लगातार ३८ (अड़तीस) वर्षों तक हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा की है——उन दिनों काशी विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रोफेसर थे। वे जब छुट्टियों में घर आते थे, तब मालवीय जी महाराज का गुण-कीर्तन किया करते थे। अतः ऐसे महान् व्यक्ति के दर्शन की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। ऐसा कोई अवसर बहुत दिनों तक नहीं मिला जब कि महामना के दर्शन कर सकूँ। परन्तु समय बीतते देर नहीं लगती। वे दिन भी समीप आ ही गये।

सन् १९३१ ई० में मैंने हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्र के रूप में प्रवेश प्राप्त किया और वहाँ लगातार चार वर्षों तक रहा। इसी समय मुझे मालवीय जी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन चार वर्षों के भीतर सैकड़ों अवसर ऐसे मिले जब महामना को मैंने विभिन्न रूपों में देखा——कभी विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में, कभी कथावाचक के रूप में, कभी उपदेशक तथा दीक्षक के रूप में और कभी उनके व्यक्तिगत रूप में।

उन दिनों प्रत्येक एकादशी को हिन्दू विश्वविद्यालय में धार्मिक कथा हुआ करती थी जिसके लिए दो धर्माचार्य नियुक्त थे। परन्तु मालवीय जी महाराज का यह नियम था कि जब वे एकादशी के दिन विश्वविद्यालय में उपस्थित रहते तब प्राय: स्वयं कथा कहा करते थे। ऐसी ही एक एकादशी को महामना ने स्वयं कथा कही। कथा का स्थल था आर्ट्स कालेज का विशाल हाल जिसके ऊँचे अर्ध वृत्ताकार चबूतरे पर महाराज की व्यासपीठ विराजमान थी। इस व्यास-पीठ को धवल वस्त्रों से सुसज्जित मालवीय जी सुशोभित कर रहे थे। उस दिन आर्ट्स कालेज का विशाल हाल खचाखच भरा हुआ था। उसमें कहीं तिल रखने की भी जगह नहीं थी। प्राध्यापकों, प्रिन्सिपलों, छात्रों तथा छात्राओं की उपस्थिति दर्शनीय थी। ऐसा ज्ञात होता था मानों महर्षि वशिष्ठ राजसभा में उपदेश देने के लिए स्वयं उपस्थित हुए हों।

उस दिन कथा का प्रसंग था गज-ग्राह उपाख्यान। महामना ने कथा कहनी प्रारम्भ की। अपने कोमल करों में पत्रात्मक पोथी के पन्नों को उठा कर वे मधुर स्वर में संस्कृत के श्लोकों को पढ़ते थे और फिर उसकी व्याख्या करते जाते थे। इस प्रकार कथाक्रम आगे बढ़ता गया। महामना ने बतलाया कि किस प्रकार से ग्राह ने गज को पकड़ा और किस प्रकार भगवान् गज की आर्तवाणी को सुनकर जल्दी में अपने वाहन गरुड़ को छोड़ कर पैदल ही दौड़ पड़े और उन्होंने ग्राह से गज की रक्षा की। इतना कहते कहते महाराज भावावेश में आ गये और भावों के आवेग में आकर तीव्र स्वर में कहने लगे कि "कौन कहता है कि भगवान् आज प्रकट नहीं हो सकते हैं। भगवान् तो भक्तों की रक्षा के लिए आज अभी प्रकट हो सकते हैं यदि हम गज की भाँति आर्तवाणी में उन्हें पुकारें। आज का मानव अपने कर्मों के द्वारा दानव बनता जा रहा है। उसे ईश्वर में आस्था नहीं है, विश्वास नहीं है। यदि वास्तव में मनुष्य की भगवान् में आस्था हो और वह उन्हें आर्त हो कर अपनी रक्षा के लिए पुकारे तो वे अभी प्रकट हो सकते हैं। उन्होंने द्रौपदी की लाज रखी, स्वयं नृसिंह रूप धारण कर प्रह्लाद की रक्षा की। यदि आज भी सच्चे हृदय से आर्त होकर कोई भगवान् का स्मरण करे तो वे उसकी रक्षा के लिए अवश्य ही प्रकट होंगे।" जब मालवीय जी महाराज पूर्ण बल देते हुए इस बात को कह रहे थे उस समय हाल में सन्नाटा छा गया। हजारों की संख्या में उपस्थित मण्डली मंत्रमुग्ध होकर उनके उपदेश को सुन रही थी। अजीब समाँ बँधा हुआ था। उस दृश्य को मैं आजीवन भुला नहीं सकता। जिस दृढ़ता, आत्मविश्वास तथा बल से महामना भगवान् के दर्शन देने या प्रकट होने की बात कह रहे थे उससे ऐसा ज्ञात होता था कि इस महान् आत्मा के हृदय में ईश्वर के प्रति कितनी अविचल आस्था, कितना अटूट विश्वास और कितनी अडिग भक्ति है। समय समाप्त होने पर भी छात्रों के अनुरोध से महामना ने अपनी कथा जारी रखी और भगवान् में दृढ़ विश्वास रखने की छात्रों से अपील करते हुए उन्होंने गज-ग्राह की कथा समाप्त की।

उनके कथा कहने का ढंग बड़ा रोचक था। वे कथा के बीच बीच में उस प्रसंग से संबंधित अन्य घटनाओं की भी चर्चा किया करते थे और अपने विषय की पुष्टि के लिए संस्कृत के श्लोकों तथा हिन्दी की कविता भी सुनाया करते थे। गज-ग्राह की कथा के सन्दर्भ में उन्होंने

भगवान् के द्वारा द्रौपदी के लाज रखने की वार्ता भी सुनाने की कृपा की। भगवान् ने किस प्रकार द्रौपदी के चीर को बढ़ा दिया इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने हिन्दी के किसी कवि की इस कविता का भी उल्लेख किया—"नारी बीच सारी है कि सारी बीच नारी है; कि नारी ही की सारी है, कि सारी ही की नारी है।" इस पद्य को सुन कर श्रोतावृन्द चमत्कृत हो उठे थे। यह था मालवीय जी के कथावाचक का रूप जो धार्मिक तथा पौराणिक कथाओं को कह कर हजारों की संख्या में श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर सकते थे और उनके हृदय को प्रभावित करने की क्षमता रखते थे।

* * *

संभवतः सन् १९२८-२९ ई० की घटना है। उन दिनों सनातनी पण्डितों से मालवीय जी का इस विषय पर बड़ा मतभेद था कि हरिजनों को ओंकार सहित द्वादशाक्षर मंत्र—ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय—का उपदेश दिया जाय या नहीं। महामना का मत था कि सभी वर्णों के लोगों को—चाहे वे शूद्र वर्ण के ही क्यों न हों—ओंकार के साथ 'नमः शिवाय' अथवा 'नमो-भगवते वासुदेवाय' का मन्त्र दिया जाना चाहिए। परन्तु काशी के कट्टरपन्थी सनातनी पण्डित इसका घनघोर विरोध कर रहे थे। मालवीय जी ने सन् १९२८ ई० में कलकत्ते में हुगली के किनारे जब हरिजनों को ओंकार सहित मन्त्र-दीक्षा देनी प्रारम्भ की तब पण्डितों ने बड़ी हुल्लड़-बाजी की थी। परन्तु मालवीय जी महाराज जब किसी काम को करना निश्चित कर लेते थे तब विघ्न तथा विरोधों की तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे। वे उन महान् व्यक्तियों में से थे जिनके विषय में भर्तृहरि ने कहा है कि—

"विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥"

अतः महामना ने काशी में पतित-पावनी गंगा के किनारे दशाश्वमेध घाट पर हरिजनों को सामूहिक रूप से ओंकार सहित द्वादशाक्षर मंत्रों को देने का निश्चय किया। यह सूचना समाचारपत्रों में भी प्रकाशित करा दी गई। काशी सनातनी पण्डितों का अखाड़ा है, अतः यह संभावना थी कि सनातनी पण्डित लोग अपनी सारी शक्ति के साथ मालवीय जी के इस कार्य का प्रबल विरोध करेंगे और इस कारण शान्ति-भंग होने की भी आशंका थी। अतः दूसरे दिन जनता कई हजार की संख्या में इस दृश्य को देखने के लिए उपस्थित हुई। शिक्षित तथा धार्मिक मण्डली में बड़ी सनसनी फैली हुई थी कि देखें कल क्या होता है। इन पंक्तियों का लेखक भी महामना के दर्शन के लिए दूसरे दिन दशाश्वमेध घाट पर पहुँचा। वहाँ पर मालवीय जी महाराज व्यासपीठ पर आसन धारण किये, धोती पहिने तथा रेशमी चादर ओढ़े हुए विराज-मान थे। विश्वविद्यालय के छात्रों तथा अध्यापकों के अतिरिक्त साधारण जनता की अपार भीड़ इस दृश्य को देखने के लिए विद्यमान थी। जो हरिजन मालवीय के पास दीक्षा लेने के लिए लाये जाते थे उन्हें पहिले गंगा में स्नान करा कर पहिनने के लिए धोती और रामनामा (राम

नाम से अंकित चादर) निःशुल्क दिया जाता था। दीक्षा लेने के लिए समागत इन स्नात तथा पूत हरिजनों से मालवीय जी दस प्रतिज्ञायें करवाते थे—जैसे—"सच कह। झूठ मत बोल। पाप कर्म न कर। बड़ों का आदर कर। माता-पिता की आज्ञा मान। मद मत पी। जूआ न खेल। राम नाम जप, आदि।" इन दसों प्रतिज्ञाओं को वे सभी दीक्षा लेने वालों से दुहरवाते थे। प्रतिज्ञा कराने के पश्चात् महामना उन्हें तुलसी की माला बाँटते थे तथा प्रतिदिन उनसे राम नाम जपने का आग्रह करते थे। इसके बाद वे ओंकार सहित 'नमः शिवाय' तथा 'ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय' इन मन्त्रों की दीक्षा देते थे। वे पहिले स्वयं इन मंत्रों का उच्चारण करते थे और पीछे उन हरिजनों को भी दुहराने के लिए कहते थे। दीक्षा के अन्त में वे उपर्युक्त दस प्रतिज्ञाओं की व्याख्या करते हुए उनका पालन करने के लिए उन्हें प्रेरित करते थे। जब एक दल या ग्रूप की दीक्षा समाप्त हो जाती थी तब हरिजनों का दूसरा दल महाराज के सामने उपस्थित किया जाता था और उसके बाद तीसरा दल।

उपस्थित जन-समूह विस्फारित नेत्रों से इस अलौकिक दृश्य को देख रहा था। इतिहास की पोथियों में पढ़ रखा था कि महात्मा बद्ध ने अनेक पतितों का उद्धार किया था। उन्होंने पतिता आम्रपाली को पावन बनाया था और अंगुलीमाल को अपनाया था। परन्तु आज अपनी आँखों के सामने महामना के द्वारा हरिजनों को दीक्षा देकर उनका उद्धार करते देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। जिन शूद्रों को छूने पर भी पण्डित लोग स्पर्श-दोष मानते हैं उन्हीं को मालवीय जी जैसा महान् पुरुष दीक्षा देकर अपना रहा है इस दृश्य को देख कर वास्तव में अचरज होता था।

उस दिन हजारों की संख्या में हरिजनों ने दीक्षा ली थी। उनके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी और उनके हृदय में हुलास भरा हुआ था। स्नान करके प्रसन्न वदन वे जिस तेजी के साथ महामना के पास दीक्षा लेने के लिए आते थे उसे देखने से यह पता चलता था कि महामना से मंत्र-ग्रहण करने के लिए वे कितने लालायित हैं। इस अवसर पर केवल हरिजनों ने ही उपदेश लिया हो ऐसी बात नहीं थी। उस दिन नगर के अनेक उच्चवर्ण के शिक्षित व्यक्तियों ने भी दीक्षा-ग्रहण की। दीक्षा-दान का यह क्रम कई घंटों तक चलता रहा। ऐसा ज्ञात होता था कि दीक्षित होने वाले व्यक्तियों का ताँता ही नहीं टूटेगा। इस अलौकिक दृश्य को देख कर यह जान पड़ता था कि पतित तथा अस्पृश्य कही जाने वाली जनता का भगवान् आज उनके उद्धार के लिए साकार रूप धारण कर विद्यमान है। पण्डितों के द्वारा विरोध-प्रदर्शन की जो आशंका थी वह पूर्णतया निर्मूल प्रमाणित हुई। कालिदास ने ठीक ही लिखा है कि—

> "सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः।
> कल्पेत् लोकस्य कथं तमिस्रा॥"

महामना मालवीय जी को विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में भी देखने का सुअवसर एक दो बार प्राप्त हुआ था। हिन्दू विश्वविद्यालय के वार्षिक दीक्षान्त समारोह के अवसर पर

मालवीय जी के व्याख्यान सुनने तथा कुलपति की हैसियत से स्नातकों को उपाधि देने का दृश्य दर्शनीय था। जिन दिनों की मैं चर्चा कर रहा हूँ उन दिनों स्नातकों को उपाधि या प्रमाण-पत्र विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय के कर्मचारी पेटी क्लर्क नहीं दिया करते थे, उन दिनों एम० ए० और एम० एस-सी० की डिग्रियां आफिस के काउण्टर पर नहीं वँटा करती थी बल्कि उन्हें स्वयं कुलपति अपने हाथ से स्नातकों को देता था। प्रत्येक स्नातक को इस बात का बड़ा गर्व होता था कि मैंने मालवीय जी के कर-कमलों से उपाधि-पत्र प्राप्त की है। मुझे स्वयं इस बात का आज भी बड़ा अभिमान है कि मुझे महामना के हाथों से उपाधि-पत्र पाने का सौभाग्य प्राप्त है और उस प्रमाण-पत्र पर उनके हस्ताक्षर भी विद्यमान हैं।

महामना का हृदय जितना पूत और पवित्र था उनका परिधान भी उतना ही श्वेत और स्वच्छ रहता था। उन्हें श्वेत वस्त्रों से बड़ी अभिरुचि थी। उनकी धोती, चादर और पगड़ी की तो चर्चा दूर रही, वे जूता भी सफेद कपड़े का ही वना हुआ पहिना करते थे। अतः कान्वोकेशन के अवसर पर भी वे सफद रेशम का ही वना हुआ गाउन धारण करते थे। इस दिन उनकी कार्य-क्षिप्रता देखते ही वनती थी। उन दिनों स्तातक कई दलों में विभक्त कर कुलपति के समक्ष लाये जाते थे। जव स्नातकों का दल उपाधि प्राप्त करने के लिए मालवीय जी के समक्ष समुपस्थित किया जाता था तव उनसे वे संस्कृत में तीन प्रतिज्ञायें करवाते थे जिसका उत्तर स्नातक तीनों ही बार 'प्रतिजाने' कह कर दिया करते थे।

इन प्रतिज्ञाओं में विश्वविद्यालय के उच्च आदर्श की रक्षा करने, तन-मन-धन से राष्ट्र की सेवा करने तथा संसार में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयास करने की वात कही गई थी। आज उन प्रतिज्ञाओं की शब्दावली—जो सरस तथा सुन्दर संस्कृत में होती थी—मेरे स्मृति-पथ से विचलित हो गई है परन्तु एक प्रतिज्ञा के कुछ कुछ शब्द मेरे अवचेतन मस्तिष्क के कोने में पड़े हुए हैं जो संभवतः निम्नांकित हैं—

"अपि नाम संगिरन्ते भवन्तो यदिह विश्वजनीन व्यवस्था समव्यवस्थयोः योगक्षेम-धुरा यावदवकाशं यावत्शक्ति च निरुह्येत् भवद्भिः॥"

जव मालवीय जी कुलपति के रूप में स्नातकों से यह प्रतिज्ञा करवाते थे तब सभी स्नातक 'प्रतिजाने,' 'प्रतिजाने' कह कर अपनी स्वीकृति प्रदान करते थे। प्रतिज्ञा के पश्चात् प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष अपने विभागीय स्नातकों को उपाधि देने के लिए कुलपति से प्रार्थना करता था। तब मालवीय महाराज खड़े होकर बड़ी तेजी के साथ सुंदर स्वर से अंग्रेज़ी में निम्नांकित वाक्यों को कहते थे—

"By virtue of the authority, vested in me as the Vice Chancellor of the Banaras Hindu University, I confer upon you the degree of..... ....and charge you to be worthy of the same".

इन वाक्यों को वे जिस 'पाज़', नाज़ तथा गंभीरता के साथ कहते थे उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। उनके उच्चारण में स्पष्टता थी, तेज़ी थी तथा प्रत्येक शब्द पर

उचित बल होता था। इसके पश्चात् वे अपने कर-कमलों से प्रत्येक स्नातक को उपाधि का प्रमाण-पत्र देते थे। यह क्रम प्रत्येक स्नातकों के दल के साथ रहता था।

उपाधि वितरण के पश्चात् वे दीक्षान्त उपदेश भी देते थे जिसमें "सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।...श्रद्धया देयं, अश्रद्धया देयं, श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भिया देयम्" आदि वृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य होते थे। एक बार ह्रिया देयं (लज्जा के कारण भी दान देना चाहिए) पद की व्याख्या करते हुए स्नातकों को सम्बोधित करके उन्होंने कहा कि "देखिए आप यदि किसी बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो जायँ और मालवीय जी आपके पास विश्वविद्यालय के लिए चन्दा (दान) माँगने के लिए पहुँच जायँ तो आप उनको इस लज्जा के कारण दान अवश्य देना कि कुछ भी दान न देने पर लोग क्या कहेंगे।" मालवीय जी के मुख से इन उपदशों की व्याख्या सुन कर चित्त प्रसन्न हो जाता था और जी में यही आता था कि जो कुछ भी पाकेट में पैसा हो उसे विश्वविद्यालय के लिए दान में दे दें। उनकी जादू भरी वाणी का श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। इन उपदेशों को सुन कर कितने स्नातकों ने मुक्तहस्त से विश्वविद्यालय को यथाशक्ति आर्थिक सहायता दी इसका लेखा-जोखा करना कठिन है।

मुझे लखनऊ, प्रयाग, आगरा आदि अनेक विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोहों में उपस्थित होने का अवसर मिला है परन्तु जिस गौरव का अनुभव मुझे काशी विश्वविद्यालय में हुआ वह अन्यत्र नहीं। जिस शालीनता तथा गंभीरता के साथ महामना इस समारोह का संचालन करते थे वह देखते ही बनता था। अब वह दृश्य नहीं दिखाई पड़ने का।

* * *

मालवीय जी उच्चकोटि के वक्ता थे यह कथन उनके संबंध में पिष्टपेषण मात्र होगा। उनकी मधुर वाणी की हिन्दी, संस्कृत, तथा अंग्रेजी भाषाओं में अबाध गति थी। वे कई घंटों तक लगातार इन भाषाओं में स्वाभाविक गति से बिना किसी आयास से बोल सकते थे। सन् १९१९ ई० में रौलेट एक्ट के विरोध में इन्होंने लगातार पाँच घंटे तक केन्द्रीय एसेम्बली में भाषण दिया था। अंग्रेजी तथा हिन्दी में महामना के भाषणों के सुनने का अनेक बार सुयोग मुझे विश्वविद्यालय में प्राप्त हुआ था। उनकी वाणी नदी की धारा की भाँति प्रवाहित होती थी। अनेक वक्ता अनेक प्रकार की भाव-भंगी के द्वारा तथा स्वराघात के बल से श्रोताओं पर प्रभाव जमाने की चेष्टा करते हैं परन्तु महामना के भाषण में किसी भी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होती थी। यह उनकी सरस, मधुर तथा हृदयस्पर्शी वाणी का जादू था जो श्रोताओं को अनायास प्रभावित कर लेता था। उनकी शब्दावली सरल और भाव स्पष्ट होते थे। वे यत्न के लिए 'जतन' और लग्न के लिए 'लगन' शब्दों का प्रयोग पसन्द करते थे। वे अनेक भाषणों में 'आप जानते हैं' के स्थान पर 'आप जानते हो' का व्यवहार किया करते थे। सीधे-सादे सरल शब्दों में अपने भावों को दूसरों के हृदय में पैठा देना उनके भाषण की कला थी। मुझे उनके संस्कृत भाषा में व्याख्यान सुनने का अवसर कभी नहीं मिला। परन्तु मैंने सुना था कि सनातन-

धर्म की एक सभा में--जिसके सभापति गोवर्धन पीठ के शंकराचार्य जी थे--महामना ने संस्कृत में घंटों भाषण देकर पण्डित मंडली को आश्चर्य-सागर में निमग्न कर दिया था।

महामना जैसे महापुरुष के निकट सम्पर्क में आने की मेरी बड़ी इच्छा थी। परन्तु मैं कहाँ विश्वविद्यालय का एक साधारण छात्र! और वे कहाँ उसके कुलपति होने के साथ ही एक महान नेता!! यह इच्छा उतनी ही हास्यास्पद थी जितना डोंगी के द्वारा समुद्र पार करना। कालिदास ने अपने विषय में लिखा है कि "मन्दः कवि यशः प्रार्थी; गमिष्यामि उपहास्यतां प्रांशुलभ्ये फले लोभात्, उद्बाहुरिव वामनः।" मेरे विषय में भी यह उक्ति लागू हो सकती थी। मुझे मालवीय के निकट सम्पर्क में आने की इच्छा रहते हुए भी जीवन में कभी अवसर नहीं मिला परन्तु एक बार उनके पास तक जाने, चरण छूने और थोड़ी बातें करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हो ही गया। सन् १९४३-४४ ई० की बात है। उन दिनों हरद्वार के सुप्रसिद्ध महन्त श्री शान्तानन्द नाथ, भाई साहब--प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय--से 'शंकर दिग्विजय' का हिन्दी अनुवाद करवा रहे थे। वे इसी पुस्तक के प्रकाशन के संबंध में उन दिनों काशी आये हुए थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि महामना मालवीय जी आशीर्वाद के रूप में इस ग्रन्थ पर अपनी सम्मति लिख दें। इस बात की प्रार्थना करने के लिए वे भाई साहब के साथ मालवीय जी से मिलना चाहते थे। मैंने भी इस अवसर का लाभ उठाना उचित समझा। जब हम मालवीय के बँगले पर --जिसे आजकल मालवीय-भवन कहते हैं--पहुँचे तब मालवीय जी की तबीयत ठीक नहीं थी और वे चारपाई पर लेटे विश्राम कर रहे थे। मैंने पहुँचते ही श्रद्धापूर्वक महामना के चरणों का स्पर्श किया और उनके पास ही बैठ गया। महन्त जी से महामना की बातें होती रहीं और अन्त में उन्होंने सम्मति लिखना स्वीकार कर लिया। थोड़ी देर के बाद महामना ने मेरी ओर संकेत करते हुए भाई साहब से पूछा कि इनका परिचय क्या है? जब भाई साहब ने उन्हें बतलाया कि यह मेरा छोटा भाई है और इसी विश्वविद्यालय का स्नातक है तो वे बड़े प्रसन्न से दिखाई पड़े और मुझसे बड़े धीमे स्वर में पूछा कि कुछ 'स्वाध्याय करते हो?' मैंने उत्तर दिया--जी हाँ। महामना बोले--"बहुत अच्छा। ब्राह्मण को सदा स्वाध्याय करते रहना चाहिए। तुम जीवन में स्वाध्याय करना कभी नहीं भूलना। समझे।" मैंने हाथों को जोड़ कर और सिर झुका कर उनके अन्तिम उपदेश को गाँठ में बाँध लिया और उनसे विदा ली। आज महामना नहीं हैं, परन्तु उनका उपदेश आज भी मेरे हृदय को स्वाध्याय करते रहने के लिए प्रेरणा प्रदान करता रहता है।

कायाकल्प कराने के पश्चात् महामना का स्वास्थ्य गिरने लगा था और जीवन के अन्तिम तीन-चार वर्षों में वे प्रायः अशक्त से हो गये थे। सन् १९४६ में उनका स्वास्थ्य अधिक खराब हो गया और अचानक एक दिन यह दुःखदायी घटना सुनाई पड़ी कि महामना का स्वर्गवास हो गया। इस शोक समाचार से देश की समस्त जनता विह्वल हो उठी। दूसरे दिन प्रातःकाल उनके शव को मणिकर्णिका घाट लाया गया। इस जलूस में लाखों की संख्या में जनता विद्यमान थी। सैकड़ों संस्थाओं ने इसमें भाग लिया था। महामना की अर्थी को कंधे पर ढोने के लिए

लोगों में होड़ सी लगी हुई थी। इस जलूस में सम्मिलित होने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मणिकर्णिका घाट पर चन्दन की चिता पर महामना के शव को रख दिया गया। इस अवस्था में भी उनका मुखमण्डल बड़ा भव्य दिखाई पड़ता था; मानो वे महानिद्रा में सो रहे हों। महामना के पुत्र, पौत्र, निकट संबन्धी, परिजन, पुरजन, प्रियजन चिता की प्रदक्षिणा कर उन्हें अन्तिम प्रणाम कर रहे थे। थोड़ी देर में चिता जला दी गई और भयंकर ज्वाला ने उनके शरीर को भस्मसात् कर दिया। मैं लगातार तीन-चार घंटे तक दुःखी चित्त से वहाँ बैठा रहा। मेरे लिए महामना का यही अन्तिम दर्शन था। आज मालवीय जी की केवल कीर्ति शेष रह गई है। सच है—

"परिवर्तनि संसारे, मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन, राष्ट्रवंश समुन्नतिः।।"

*　　　*　　　*

शब्द-अर्थ-परिवर्तन

समय के हेर-फेर से जहां हमारे देश में धर्म, राजनीति, इतिहास प्रभृति विषयों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, वहां शब्दों के अर्थ और उनके आभ्यन्तरिक भावों में भी ऐसी तब्दीली हुई कि जिसने हमारे विचारों, चरित्रों, रीतियों और व्यवहारों को कुछ का कुछ बना दिया है, और इसके कारण हमारे जातीय जीवन की काया ऐसी पलटी है कि जब तक उन शब्दों के वास्तविक तात्पर्य और अर्थ को हिन्दू जाति के सम्मुख दुबारा पूर्ण रूप से न रखा जायेगा और उन शब्दों के साथ श्रेष्ठ और उच्चभावों और विचारों से सम्बन्ध न पैदा किया जायगा, तब तक हमारे सामाजिक व्यवहार और नीति-रीति का सुधार होना बहुत कठिन है।

—महामना मालवीय

प्रोफ़ेसर करुणापति त्रिपाठी

पूज्य मालवीय जी : कुछ संस्मरण

मैं मालवीय जी महाराज का दर्शन करने बाबू शिवप्रसाद गुप्त के घर पर 'सेवा उपवन' गया था--उन दिनों मालवीय जी वहीं रह रहे थे।

स्वामी श्रद्धानन्द की मृत्यु कुछ ही सप्ताह पूर्व हुई थी। मृत्यु क्या हुई थी, वे मार डाले गए थे। सांप्रदायिकता के मद से मतवाले किसी हत्यारे ने धर्म के नाम पर घोरतम अधर्म का कार्य किया था। हिन्दूसभा और आर्यसमाज का समर्थक समझ कर गोली ने स्वामी जी की जघन्य हत्या कर डाली गई थी। देश में एक प्रकार का सांप्रदायिक तनाव छा गया था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे थे। इस देश की जनता का एक भाग साम्प्रदायिक उत्तेजना का शिकार बन गया था। 'बापू' हिन्दुओं और मुसलमानों में भाईचारे की भावना और प्रेम का सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे और चाहते थे कि भारत के उक्त दोनों सम्प्रदायवाले आपसी मतभेद मिटाकर मानवता की भूमि पर खड़े हों। दोनों एक मत होकर अंग्रेजी शासन की घोर अपमानजनक गुलामी से अपने को मुक्त करें। गोरे शासकों द्वारा पशु से भी बदतर समझे जाने वाले भारतीयों में स्वाभिमान और आत्मसम्मान के प्रति आस्था हो। मानवता के सबसे बड़े अभिशाप--गुलामी--को दूर करना और सम्पूर्ण मानव के प्रति प्रेम का, समता का, बन्धुत्व का व्यवहार करना अपना सबसे बड़ा धर्म समझें।

पर सादियों से गुलामी के कीचड़-भरे अँधेरे कूप में रहनेवाले बहुत से भारतीय मंडूक बने हुए थे। अंग्रेज शासक और अंग्रेजी शासन जिस भेदनीति और साम्प्रदायिक विष का जाल बुनने में लगा था, हिन्दुस्तानी बारबार उसी में फँसते जा रहे थे। सत्य और अहिंसा के अभिनव प्रयोग को लेकर स्वातंत्र्य-संग्राम लड़नेवाले अलौकिक सेनानी 'बापू' की रणगति रुद्ध हो-हो जाती थी! मोहमयी साम्प्रदायिक प्रमाद की मदिरा पीकर जाने कितने हिन्दू मुसलमान उन्मत्त और धर्म के नाम पर अंधे हो रहे थे। आजादी के मंजिल के राही, महात्मा गांधी के नूतन पथ पर काँटे बिछा रहे थे। जिन दिनों की बात मैं कह रहा हूँ उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ग्रीष्मावकाश हो गया था। महामना अपने बँगले में वास कर रहे थे। पशुओं जैसी क्रूरता के भाववाले और धार्मिक उन्माद से विक्षिप्त एक्के-दुक्के मुसलमान मालवीय जी के बँगले के आसपास चक्कर लगा रहे थे। और एक दिन तो एक संदेहास्पद व्यक्ति उनके बँगले के हाते में भी घुस गया था। फलतः बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त ने जाकर महामना से अपने 'सेवा-उपवन' में चलकर छुट्टियों भर रहने की प्रार्थना की। 'महाराज' (उन दिनों हम लोग मालवीय जी को

'महाराज' ही कहते थे) पहले तो तैयार नहीं हुए, उन्होंने अपने बँगले से हटना एक दम अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार हटने को वे बहुत बड़ी कायरता मानते थे--पर शिवप्रसाद जी के अनवरत आग्रह पर, जो सत्याग्रह की कोटि तक पहुँच गया--मालवीयजी महाराज कुछ दिनों तक रहने के लिए 'सेवा उपवन' चले आए।

वहीं मैं 'महाराज' के दर्शनार्थ अपने बड़े भाई पंडित काशीपति त्रिपाठी के साथ गया। मेरे भाई साहब—पंडित काशीपति त्रिपाठी--ने मेरा परिचय दिया। उन्होंने मेरा नाम बताया और साथ ही पिता जी का—पंडित नारायणपति त्रिपाठी का--भी नाम बताया। यह भी सूचित किया कि मैं महामहोपाध्याय-स्वनामधन्य-पुण्यश्लोक पंडित शिवकुमार शास्त्री का पौत्र हूँ। इसके साथ यह भी कह दिया कि मेरी माता जी ने मुझे विशेष रूप से संस्कृत पढ़ाया है। क्योंकि वह विद्या पितृकुल की परम्परागत विद्या तो है ही—उस कुल की विद्या तो थी ही जिस वंश के पूर्वज औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ा चुके हैं--पर साथ ही मातृकुल की भी पुण्यकीर्ति मातामह की भी विद्या है।

इसके बाद महाराज का वात्सल्य भाव मुझ पर विशेष तरल हो उठा। मेरे अध्ययनादि की बहुत सी बातें उन्होंने पूछी। बहुत से श्लोक सुने। अन्त में मुझे उपदेश दिया कि व्यायाम किया करो और बादाम-दूध का सेवन नियम से किया करो। उसी प्रसंग में यह भी कहा कि गरीबों का बादाम भिगोया चना है। कम से कम प्रातःकाल वही खा लेना चाहिए। चलते समय कहा कि कभी-कभी आया करो।

तीन चार दिनों बाद एक दिन मैं उनकी सेवा में पुनः पहुँचा। उस दिन सौभाग्य से एकादशी थी। एक पंडित जी कहीं से आए थे। मालवीय जी महाराज को गजेन्द्र-मोक्ष की कथा सुना रहे थे। महाराज बड़ी भक्तिभाव से कथा सुन रहे थे और रुककर पंडित जी से पुनः प्रसंग दुहराने का आग्रह करते जा रहे थे। कभी-कभी कथा के श्लोक की स्वयं व्याख्या करने लगते थे और स्वयं भी कथांश कहने लग जाते थे। वहाँ महाराज के अतिरिक्त केवल पाँच-सात व्यक्ति उपस्थित थे।

कथा समाप्त हो गई। महाराज ने गजेन्द्र की भक्ति और उद्धार का प्रसंग स्वयं उठाकर भाव समझाना प्रारम्भ किया। उनकी मधुर, स्निग्ध और सरसवाणी की अजस्र धारा ऐसी बहने लगी जैसे कहीं से अमृत का स्रोत फूट पड़ा हो। बीच बीच में महाराज श्रीमद्भागवत और महाभार के श्लोक सुनाने लगते थे। पन्द्रह मिनटों के भीतर मुझे सैकड़ों श्लोक सुनने का सौभाग्य मिला। उच्चारण इतना शुद्ध कि जैसे वैदिक ब्राह्मण सस्वर मंत्रपाठ कर रहा है। कथा कहते-कहते उनकी आँखों से अश्रुधारा बह चली, वाणी गदगद हो गई, गला भर आया। लगता था रोम-रोम पुलक से अंचित हो उठे हों। ऐसा लगता था कि जैसे महाराज कहीं दूसरे लोक में पहुँच गए हैं, जैसे जो कुछ प्रत्यक्ष और ठोस है, सामने जो भत जगत् का सत्य है, उनके लिए उसका तिरोभाव हो गया है। वे वह नहीं हैं जो कुछ हाड़मास के शरीरधारी संसारी का भीतर और बाहर होता है। वे भक्तवत्सल, गोपी वल्लभ नटवर गिरिधर की मंधुर मरली की मीठी तान मानों सुन रहे

सम्वाद

(एक अव्यवसायिक साहित्यिक पत्रक)

सम्पादक : महाराज शाह
महाराज सन्तोषी

सम्पादकीय

मनुष्य कालक्रम के बनावटी घेरों से मुक्त है और गर्दिश के फासले को अपनी सुविधा के लिए मनुष्य ने समय की कड़ियों में पिरो रखा है, पर ऐतिहासिक मनुष्य को नकार कर हवा में उस की चेतना का, अस्तित्व का डोल पीटना कितना हास्यास्पद लगता है। ऐसी धाराओं के प्रवाह में बहकर कई लोग इस ज़मीन को ठुकरा कर मनुष्य के अगम-अगोचर रुप को तलाश रहे है और जीवन की ऊटपटांग परिभाषाओं तथा व्याख्याओं से जनता को गुमराह करते है। कहीं यह काम सोचे-समझे धरातल पर होता है और कहीं अज्ञानवश। इसलिए हम एक ऐसा संवाद-सेतु निर्मित करना चाहते हैं जिस के माध्यम से चीज़ों को उन के सही रुप में देखा जा सके।

सम्पादक

बन्द दरवाज़ों के बीच

कहानी

संजना कौ॰

दफतर से घर लौटते हुए सीमा के कदम मन-मन भर के हो रहे थे। उस की सहेलियाँ दूसरे रास्ते से चली गई और किसी तरह अपने टूटे शरीर को सम्भालती हुई वह अपनी गली में मुड़ गई। दूर से ही नल के पास खड़ी औरतों की भीड़ को देखकर उसकी टांगो की शक्ति जसे किसी ने चूर कर रखली। पूरी गली में एक वही लड़की थी जो अभी तक अविवाहित थी और नौकरी करके अपने परिवार को पाल रही थी। सभी निम्नमध्यवर्गीय परिवार थे और एक कुंवारी नौकरी पेशा लडकी से उन्हें काफी चटपटा मसाला मिल जाता था।

दफतर जाते हुए और लौटते हुए सीमा को रोज ही इन औरतों की घूरती हुई आँखों का सामना करना पड़ता है। बहुत चहाती है कि वह उन की ओर ध्यान न दे, किन्तु पास पहुचने पर उन्हें अपनी ओर आँखें फाडते हुए या मुस्कराते हुए देख-कर वह पसीना २ हो जाती है। आँखें झुकाए उन के सामने से गुज़र कर धीरे से घर का दरवाज़ा खोलती है और अपने कमरे में आकर दफतर के कपडों में फर्श पर पसर जाती है। बन्द आँखों के भीतर ढेरों सपने, तरह २ की महत्वाकाँक्षाएं तैरने लगती है।

आज भी हमेशा की तरह नल के पास पसीना छूटने और दम घुटनेकी प्रक्रिया से गुजर कर आहिस्ता से उस ने घर का दरवाज़ा खोला।बिना किसी से बात किए ज़ीने की ओर बढने जा रही थी कि माँ ने पुकार लिया." सीमा "। वह कमरे में आ गई, चहरे पर असंख्य झुर्रियो का जाल समेटे हुए सीमा की माँ हाथ में पंखा लिए मक्खियों को उडा रही थी, सीमा के कुछ पूछने से पहले ही उस ने एक पीला लिफाफा उस की ओर बढा दिया, " देखो तो किस की चिट्ठी है "।

वह पत्र खोल कर पढने लगी। इलाहबाद से भाईसाहब ने लिखा था। तीन साल पहले उन्होंने इजीनियरिंग की परीक्षा पास की थी और अब नौक-री की तलाश में भटक रहे थे। पैसे जो उन के पास थे, समाप्त होने को थे और इसलिए उन्होंने पत्र लिखा था। यह भी लिखा था कि नौकरी के लिए प्रयत्न चल ही रहे थे।

उस ने पत्र माँ को सुनाया तो मां ने अपने मैले आँचल से अपनी छलछलाई आँखों को पोंछ लिया,

" कल दफतर जाते हुए पैसे भेज देना "

सीमा तिक्त हो उठी। वह किसी की बेटी और बहन भी है या पैसा कमाने की मशीन? भाईसहाब को कभी उन की याद नही आएगी, माँ और पिता जी सारा समय चुप-चाप बैठे रहेंगे और पैसों की आवश्यकता आ पड़े तो एकदम सीमा याद आ जाती है। लेकिन अगले ही क्षण उसका उबाल शांत हो गया। भाईसाहब इतने

वर्ष पढाई में गंवाने के बाद आज बेकार है । आज जब वह औरों का सहारा बन
सकते थे, छोटी बहन पर निर्भर रहने की विवशता उन्हें कैसी ग्लानी से
भरदेती होगी - वही जानते होंगे । महत्वाकाँक्षी वे भी कम नही
थे । पढाई के दिनों में एक बार वे जीवन का बडा उजला खाका खींच
रहे थे । मेरे हंसने पर उस ने कहा था, " अपने सपनों को यथार्थ में बदलने के
लिए मुझ में काफी ताकत है सीमा :- मेरी महत्वाकाँक्षाए कभी नही मर सकती "
उस के भीतर डर फैलने लगा । आज तो भाईसाहब को नौकरी ढूँढने के साथ
ही अपने अन्दर बैठती आत्महीनता से भी लडना पड़ता होगा । निराशाओं से निढ़-
-ती हुई अपनी उस क्षमता को,जिस पर उन्हें गर्व था, वे पंगु बने हुए चुप चाप देख
रहे होंगे । खंडित व्यक्तित्व लिए वे जीवन के कैसे भयानक मोड़ पर लड रहे हैं ।
सोचते २ दिमाग़ की नसें फटने को हो आई । कपडे बदलकर चाय का एक कप
पी लिया और अपने कमरे में लौट आई । उस से लगा, उसका और भाइसाहब का
भी सबसे बडा दोष स्वप्नदर्शी बनकर अपने परिवेश के बाहर निकलने की आकाँक्षा
पालना है, नही तो यह बिखराव और कुन्ठाएं क्यों भोगनी पडती ? साधनहीनता के
अभिशाप को समझते हुए उन्हें ऊंची उडाने नहीं भरनी चाहिए थी ।
अचानक उस से यूनिवर्सिटी के दिन याद आए । उललास से भरे हुए जीवन्त कह-
कहे और उनके बीच ज़बर्दस्ती निकाली हुई उस की खोखली हंसी । पिता कब के
निराश हो चुके थे और उन की पेंशन से घर और भाईसाहब का खर्चा मुश्किल से
निकल पाता था - - - -
क्लास में रुसो और हाब्स के सिद्धान्तों पर लैक्चर चल रहा है । सीमा ध्यान
से सुन रही है । तभी उस की एकाग्रता भंग हो जाती है । सामने की पंक्ति में बैठा
विकाँस कापी में आँखें गड़ाए नोट्स लेने में व्यस्त । हॉब्स और रुसो, कक्षा और
विद्यार्थी एक अदृश्य परदे में छिप जाते हैं और सीमा क्लास से बाहर आजाती है ।
दूर बहती हुई नदी की निर्मल जलधारा - - - - तरह २ के फूलों की सुगन्ध से लदी
हुई हवा - - - - नदी के तट पर पुष्पमा-लाओं से सजा हुआ छोटा सा कुटीर, उस
में वह और विकास । पसीने से तर वह क्लास में लौट आती है । पीरियड समाप्त
होने को था ।
भाईसाहब पढाई समाप्त करके उन्ही दिनों नौकरी ढूंडने में लग गए थे । घर
की अवस्था जर्जर होती जा रही थी और विवश होकर पिता को सिमा की पढाई
छुड़वानी पडी थी । यह मालूम होने पर कि पिताजी उस से नौकरी करवाना
चाहते है, वह मन की सन उबल पडी थी नही, उस के अपने सपने, अपनी आकाँ-
क्षाएं हैं । उस से स्वतन्त्रता पूर्वक अपने बारे में सोचना होगा । वह हरगिज़ अपने
को बलि नहीं होने देगी,चाहे इस की कोई भी कीमत मुझे देनी पडे । लेकिन अंततः
उस से बलि होना ही पड़ा । पिता ने बहुत ही बेचारगी के साथ थके हुए स्वर में
उस से अपनी विवशता समझा दी और वह सारी बाते भूल कर " भुलवाकर "
नौकरी के लिए तैयार हो गई । नौकरी एक अदद सिफारिश के कारण तलाश भी

ली गई थी। बीच की स्थिति के समाप्त होने पर उस ने राहत की साँस ली और मन ही मन कराह भी उठी। इस बंद दायरे से निकलने के, ऊंची उड़ाने भरने के सभी दरवाज़े बन्द। और विकास ?

लेटे - लेटे ही एक यातना पूर्वक अनुभूति उस से जकड़ने लगी किन्तु उस ने सहज होने की कोशिश की लेकिन वह सहज हो न सकी।

मैं ने नहीं देखा

कविता

रतनलाल शान्त

जहाँ मैं बैठा था
वहाँ से मुझे बौना दिखा
हिमालय का बेटा,
उस से कुछ ऊंची
निपत्ते चिनार की शाखाँए
उन पर दो पक्षियों के
काले थिराए आकार,
उससे और ऊंचे
टिनवाली छतों के मकान
उन पर झूम रहे एंटनाई हाथ,
उस से और बडा
पूरा परिदृश्य लिए
अपनी खिड़की का चौखट -
उस से बड़ी अपने आँख
मैं खुद अपनी किश्ती पर सवार
और सामने फैला मेरे समुद्र का ज्वार।

आँख कलम से जुड़ी
कलम हाथ में कैद।

मैं ने यह नहीं देखा कि
पहाड भूत लगते है निकट, दूर से सुदंर,
चिनार हाथ फैलाकर
बटोरते है बादलों से पत्ते और धूप से फ़ल,
एंटीना हवा से शब्द लेते है.
मेरी खिडकी हवा ही से अर्थ.
चूस लेते है मुझी सी नमी मेरी
ठेलता है मुझ को लहर पर
मेरे अलेकेपन का समन्दर।

साहित्य और राजनीति

महाराज सन्तोषी

जिस तरह एक साधारण आदमी राजनीति से प्रभावित होता है ठीक इसी प्रकार एक साहित्यकार भी अपने ऊपर एक राजनैतिक प्रभाव ओढे हुए होता है, और वह जो कुछ भी रचता है उस में राजनैतिक चेतना आवश्य होती है।

प्रत्येक देश में दो तरह की राजनीति पाई जाती है - एक सत्ता समर्थक और एक सत्ताविरोधी। इस तरह साहित्यकारों में भी दो गुट बनजाते है। ऐसे साहित्यकार जो सत्तारूढ़ दल या नेता का समर्थन करते है, तथाकथित बड़े लेखक कहलाए जाते है क्योंकि पुरस्कार उन्हें मिलते है. विदेशी डेलिगेशनों में वे जाते है। भाषा-साहित्य संस्कृति सम्बन्धी नीतियाँ बनाने में सलाहकार यही बनते है। ~~ऐसे साहित्यकार यदि बन रहे है~~। ऐसे साहित्यकार यदि " कला २ के लिए " सिद्धान्त का प्रतिपादन करें तो कोई आश्चर्य नहीं। सत्ताविरोधी लेखकों की दशा को लिपिबद्ध करने की आवश्याकता ही नही। वे बेचारे जीवन भर संघर्ष करते रहते है और अंततः एक दुःखद मौत मरते है। मगर सवाल सिर्फ समर्थन या विरोध का नहीं है। असल बात तो राजनैतिक चेतना का है, राजनैतिक विचारधारा का है। जिस व्यवस्था में शोषणकर्त्ता और शोषित मौजूद हो, वह व्यवस्था एक लेखक के लिए कभी स्वीकारीय नहीं, भले ही वह एक लेखक को सुखसुविध्यधाओं में डुबो दे। इसलिए ज़रुरी है कि एक लेखक में राजनैतिक चेतना होनी चाहिए जो वर्गसंघर्ष पर आधारित हो बकौल धूमिल, "लेखन के लिए राजनीति समझदारी ज़रुरी है। बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन सम्भव नही। यह वर्गो की समझदारी है। क्या बराबरी का दर्जा और आत्महीनता से मुक्ति का रास्ता एक नही है? यह आता कहाँ से है? आर्थिक मुक्ति से। और इसी को सब टुकड़खोर और हरामखोर शब्दों के कुहासे से ढकने की व्यर्थ कोशिष करते है।"

लेखक समाज का जागरुक व्यक्ति होता है, किसी भी देश का मस्तिष्क होता है। वह समाज का मसीहा तो नही, कंपास ज़रुर होता है। अपने व्यकितगत लाभ या यश के लिए लेखन को बेचना या मोड़ना स्वयं में एक जघंन्य अपराध है जिस से आने वाली पीढियाँ कभी क्षमा नहीं करेंगी। रही बात राजनैतिक प्रति बद्धता की। साहित्य में राजनीतिक विचारधारा का प्रतिबिंब उस सीमा तक झलकना चाहिए जहाँ वह केवल प्रचारमात्र न लगे। नारेबाज़ी या प्रोपगन्डा तो गुंड़ों और किराए के टट्टुओं का काम है। एक लेखक का नही। एक लेखक का उद्देश्य तो जनमानस में सही सोच को जन्म देना भर होना चाहिए।

सम्वाद के विषय में

अपनी जिज्ञासा / प्रतिक्रिया ज़रुर भेजें
सम्पर्क के लिए हमारा पत्ता है : ----

महाराज सन्तोषी-
विद्याभवन, मार्तण्ड़ 192125 काश्मीर

·- एक रुपया

(Kashmir Printing Press Ang.)

हैं और उनकी परम आह्लाद देनेवाली रसमयी, रासमयी, मंजुल लीला की स्वमन्दाकिनी के लहरों में तैर रहे हों। उन पर मुदिता मुद्रा की आभा चमक रही थी।

इसी संदर्भ में उन्होंने द्रौपदी-चीरहरण और श्रीकृष्ण द्वारा उनकी लाजरक्षा का प्रसंग छेड़ दिया और तब ऐसा जान पड़ने लगा कि वह उसी में, भगवान् के यशोगान में, उनकी वत्सलता और करुणा का, उनकी शक्ति और सब भक्तों की देख-रेख करने वाली लम्बी भुजा का दर्शन करके मुग्धभाव से वेसुध होगए हैं। कुछ देर तक इसी पूर्ण तल्लीन भाव और गद्‌गद कंठ से कथा कहने के वाद वे शांत हुए और तब अनेक क्षणों तक आँखों को वन्द किए बैठे रहे। कदाचित् वे कहीं, वहुत दूर अपने आसन से वड़ी दूर चले गए थे, और अब वहाँ से धीरे-धीरे, नहीं वड़ी तीव्रगति से लौट रहे हैं, लौट रहे हैं।

अन्त में उनकी आँखें खुलीं। ओठों में मधुर मुस्कान की हलकी हलचल दिखाई पड़ी। जान पड़ने लगा—शत-सहस्र कार्यों की व्यग्रता, व्यस्तता और जिम्मेदारी की दुनिया से दूर जाकर शान्त, स्निग्ध, आह्लादसागर के स्वप्नशैया पर महाराज जहाँ विश्राम कर रहे थे—वहाँ से अब लौट आए। अपने सदा के सामान्य जीवन का संसार का वन्द दरवाजा उन्होंने खोल दिया और हम विद्यार्थियों के संरक्षक और उपदेशक वन गए।

वैसे तो महाराज की कथा सुनने का अनेक वार अवसर मिलता रहता था। आर्ट्स-कालेज के हाल में गायनाचार्य श्री शिवप्रसाद जी का भजन और महाराज की कथा, जब वे विश्वविद्यालय में रहते, अक्सर एकादशी को सुनने का सौभाग्य मिल जाता था। पर उस दिन की कथा हृदय की सबसे गहरे तल तक जा पहुँची थी। उनकी वह मूर्ति अब भी आँखों की कोर में छिपी वैठी है। उनकी भक्ति-गद्‌गद वाणी, आज भी कानों में कभी कभी गूंज उठती है।

महाराज सामान्यस्थिति में आए। भागवत की महिमा कहने लगे। कहा कि इसका एक-एक श्लोक वेदसार है, वेद का सर्वस्व है, भक्ति का अनंत उत्स है। यह भी उपदेश दिया कि नित्य इसका पाठ करना चाहिए। नित्यपाठ से फिर कुछ भी ऐसा नहीं जो प्राप्त न हो सके। जब संसार के समस्त प्राप्यों के भी ऊपर जो है, जिसके भ्रूभंग के संकेत पर अखिल ब्रह्माण्ड का निर्माण-संचालन और संहार होता है—वही जब मिल सकता है तब और क्या दुष्प्राप्य रह सकता है!!

यद्यपि उस क्षण मैंने नियम से, नित्य कुछ न कुछ अंश पाठ करने का दृढ़ निश्चय किया था, पर अनेक किए हुए दृढ़ निश्चय, वालू की भीत की तरह जैसे अनेक वार अनायास ही ढहते रहे, वैसे ही यह भी पूरा न हो सका। मैं कहाँ उस महामना का उपदेश मान सका!

फिर उन्होंने मुझे श्लोक, सुनाने की आज्ञा दी। मैंने कुछ सुन्दर श्लोक सुनाए और साथ ही अपने पूर्व-पुरुष पंडितधुरीण श्री रामानन्द विरचित 'विन्ध्यवासिनी-कल्पद्रुम-स्तोत्रम्' सुनाया। महाराज प्रसन्न हो उठे। आशीर्वाद दिया, कहा—तुम पंडित होगे। पर भागवत के, अधिक नहीं, पाँच ही श्लोक नित्य, श्रद्धा के साथ पाठ करते रहना, कभी-कभी आते रहना उसके बाद अनेक बार, उनका प्रायः दर्शन करता रहा। पर उसकी बात आज न कहूँगा।

मैं पंडित जो नहीं हो पाया, सोचता हूँ, शायद भागवत के पाँच श्लोकों का रोज पाठ करता तो महापुरुष का वचन सत्य होता। फिर भी उनके प्रसाद से पंडित न हो कर भी 'पंडितन केर पिछलगा' बन ही गया, क्या इतना ही कम है! बहुत है! हम जसे छोटों के लिए यह बहुत है। इतने को ही यदि मालवीय जी की उस अलौकिक मूर्ति के चित्र की याद के साथ संचित रख सकूँ तो अपने को परम भाग्यशाली मानूँगा।

* * *

विद्यार्थी और राजनीति

विद्यार्थी अपने नियत अध्ययन से जो समय बचा सकें, उसको अपने देश का इतिहास, अपने धर्म का इतिहास, अपने पूर्वजों के चरित्र, अपने देश की विगत और वर्तमान अवस्था, दूसरे देशों के इतिहास के ग्रन्थ, समाचार पत्र, मैगजीनों को पढ़ने और विचारने में लगावें और अपने विद्याभ्यास को हानि न पहुंचा कर समय पावें तो सभा समाजों में विद्वानों के व्याख्यानों को भी सुनें। यह हम नौजवानों की शिक्षा का अंग समझते हैं। इससे उनको बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होगा, जो उनको होना चाहिए और जो उनको आगे चलकर स्वतंत्र और प्रतिष्ठित नागरिक होने में बहुत सहायक होगा। हमारी राय में इससे आगे जाकर विद्यार्थियों का राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होना, राजनैतिक सभा कमेटी कर राजनैतिक बातों में मत प्रकाश करना या और किसी रीति से राजनैतिक बातों में हाथ डालना, अथवा सामाजिक या धर्म सम्बन्धी या व्यापार सम्बन्धी सुधार या उन्नति के लिए उद्योग करना उनके स्वाध्याय का विरोधी है, और उनके तथा देश के लिए अहितकर है। यदि विद्यार्थी लोग अपना विद्याध्ययन-धर्म छोड़ कर शक्ति को अन्य कामों में लगावेंगे, तो जब वे इन औरों की अवस्था को पहुँचेंगे, तब अपने उस अवस्था के धर्म करने में अपने को सर्वथा योग्य न पावेंगे और अपने देश की पूरी सेवा करने का सुख और सौभाग्य न पा सकेंगे।

—महामना मालवीय

डॉक्टर वृन्दावनलाल वर्मा

महामना मालवीय : उस दिन का वह चित्र !

रायबरेली जिले के एक ताल्लुकेदार ने श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के ऊपर ताज़ीरात हिन्द की दफ़ा ५०० के अन्तर्गत रायबरेली के मैजिस्ट्रेट के न्यायालय में मुक़दमा चलाया। 'प्रताप' में एक संवाददाता ने उक्त ताल्लुकेदार के विरुद्ध कुछ आरोप लगाये थे। ताल्लुकेदार ने नोटिस दिया। विद्यार्थी जी के एक वकील मित्र ने, जो उन दिनों सत्याग्रह आन्दोलन में भाग ले रहे थे, नोटिस का उत्तर दिया कि संवाद सही है, लड़ लेंगे मुकद्दमा! उसने दावा दायर कर दिया।

विद्यार्थी जी, श्री मैथिलीशरण गुप्त और मैं घनिष्ठ मित्र थे। मुकद्दमें की सलाह और पैरवी में सहायता करने के लिये मैं तैयार हो गया परन्तु पैरवी करने के लिये कोई बहुत चतुर अनुभवी वकील चाहिये था। तब मुझे वकालत आरम्भ किये छः या सात वर्ष ही हुये थे।

बात अड़तीस उन्तालीस वर्ष पहले की है। समस्या थी कि मुकद्दमें की पैरवी के लिये वकील किसे किया जाये। विद्यार्थी जी, गुप्त जी, मैं और बालकृष्ण शर्मा नवीन इलाहाबाद गये। तब नवीन जी अपनी तरुणाई पर थे।

हम सब पंडित मोतीलाल नेहरू के पास पहुँचे। उनसे बातचीत की।

उन्होंने कहा—'मैंने तो वकालत छोड़ दी है। इलाहाबाद में फौजदारी मुकद्दमों की सबसे अच्छी पैरवी करने वाले श्री हरिमोहन राय हैं। जिरह भी कमाल की करते हैं, उन्हें वकील कर लो।' थोड़ी सी और बातें करके हमलोग 'आनन्द भवन' से लौट आये। प्रवासस्थान पर निर्णय करने की चर्चा हुई। अन्त में निश्चित किया कि काशी चलकर महामना मालवीय जी की भी सलाह ले ली जाये।

दूसरे ही दिन हम सब मालवीय जी के दर्शन करने के लिये काशी यात्रा के लिये चल पड़े। जैसे ही समय मिला हम सब उनके पास जा पहुँचे। वह तब हिन्दू विश्वविद्यालय के एक भवन में रहते थे, पलंग पर लेटे थे, अस्वस्थ। निर्बल हो गये थे। हम सबने उनके चरण छुये और असीस पाई।

मैंने उनके दर्शन पहले भी किये थे और झांसी में ही एक बार उनका भाषण सुना था। ऐसा सुरीला कंठ शायद ही किसी व्याख्याता का रहा हो। अर्डले नौर्टन नाम का एक बड़ा प्रसिद्ध बैरिस्टर कलकत्ता में वकालत किया करता था। मालवीय जी से आयु में बहुत जेठा था। उसने मालवीय जी की सुरीली वाग्मिता और निर्भीक प्रकृति की कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले 'स्टेट्स-मैंन' दैनिक में बड़ी प्रशंसा की थी। उस दिन याद आया कि उन विख्यात नेता, त्यागी, तपस्वी महामना से आज कुछ बातें करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। बातचीत हुई।

मैंने मामले का ब्योरा देकर निवेदन किया—'इलाहाबाद के श्री हरिमोहन राय वकील से पैरवी करवाने की सम्मति मिली है, आपका क्या आदेश है?'

उन्होंने लेटे-लेटे ही उत्तर दिया,—'बिलकुल उपयुक्त हैं श्रीराय। उन्हीं को वकील रक्खो, तुम कुछ लिख रहे हो आजकल?' मुझे आश्चर्य हुआ। यह महापुरुष क्या मुझ सरीखों को भी अपनी स्मृति में रखते हैं!

'कभी-कभी छोटी मोटी कहानियाँ ही लिख पाता हूँ, पेट पालने के लिये वकालत करनी पड़ती है'—मैंने उत्तर दिया।

'सो तो ठीक है, परन्तु अपनी हिन्दी पर विशेष ध्यान दिये रहना। वकालत तो बहुत लोग करते हैं। लिखते कितने हैं?' उन्होंने कहा।

मैं चुप रहा। मालवीय जी कुछ क्षण सोचकर बोले—'लिखने में बहुत सफलता प्राप्त करोगे, परन्तु मैं इस समय इस विषय पर अधिक नहीं कहूँगा। मुकद्दमें की बात करनी है। पहली बात यह है कि वादी के नोटिस का उत्तर ठीक नहीं दिया गया। वेतुका रहा।' नवीनजी ने तुरन्त प्रश्न किया—'तो क्या उत्तर देना चाहिये था, महाराज?' 'उत्तर यह देना चाहिये था कि यदि 'प्रताप' में संवाद गलत छपा है तो प्रतिवाद भेज दीजिये, हम प्रकाशित कर देंगे,'—मालवीय जी ने वतलाया।

मैंने समर्थन किया। नवीनजी बहुत भावुक थे ही। तुरन्त बोले—'हम लोग महात्मा-गान्धी के सत्याग्रह मार्ग के यात्री हैं ऐसा उत्तर कैसे देते?'

विद्यार्थी जी सिर नीचा किये रहे। मालवीय जी उठ बैठे और बहुत हलकी तमक के साथ उन्होंने कहा—'गान्धी जी मुझे अपने बड़े भाई की तरह मानते हैं। मैं उन्हें और उनके सत्याग्रह मार्ग को अधिक अच्छे प्रकार से जनता ँ। सत्याग्रह का अर्थ इस तरह की भूल करना नहीं है।'

मुकद्दमें के सम्बन्ध में थोड़ी देर बातचीत और हुई। फिर हम सब उनके चरणस्पर्श करके लौट आये।

उस दिन का वह चित्र आज भी मेरी स्मृति में ज्यों का त्यों बना हुआ है।



श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

भारतीय संस्कृति के यूरोपीय साधक

"जादू का देश" भारत सोलहवीं शताब्दी से ही अंग्रेज आगन्तुकों के आकर्षण का केन्द्र वना हुआ था। परन्तु उन दिनों उनकी दृष्टि साहित्य और संस्कृति से अधिक भारतीयों के वीच प्रचलित अंध-विश्वासों, रूढ़िग्रस्त आचार-विचारों तथा रहस्यात्मक धार्मिक भावनाओं पर केन्द्रित थी। इसका तत्कालीन उद्देश्य ज्ञान-संवर्द्धन की अपेक्षा कौतूहल का शमन था। उनकी धारणा के अनुसार भारतवर्ष साहित्यिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से "पिछड़ा हुआ देश" था। इस भ्रम को वढ़ाने में हमारी गोपन-वृत्ति ने भी वल दिया जिससे क्षुब्ध होकर उन्होंने हमें 'रूढ़िप्रिय' तथा 'हठधर्मी' समझा। यहाँ की जनता की रहन-सहन भी इतनी साधारण थी कि वह उन्हें प्रभावित न कर सकी। फलस्वरूप उनके मन में हमारे प्रति अज्ञानता घर कर गई और मेकाले जैसा सुधी पंडित भी हमारी साहित्यिक उपलब्धियों से अनभिज्ञ वना रहा। उसकी जानकारी में सारे भारत तथा अरव को मिला कर कुल साहित्य एक अच्छी आलमारी से कम था।

परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक टिकी न रह सकी और बढ़ते हुए सम्पर्क के कारण ज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में जिज्ञासामूलक शोध तथा अध्ययन की प्रवृत्ति अंग्रेज़ों में जगी। इसके फलस्वरूप जो निष्कर्ष उनके सामने आते गए उन पर चामत्कारिक प्रभाव पड़ा। जेम्स जीन्स के अनुसार जिस समय उनके पूर्वज परस्पर युद्धरत रहा करते थे, उस समय भारतीय दर्शन अपने चरम विकास पर था और काव्य, कला तथा साहित्य की उन्नति उच्च शिखर पर थी।

इस प्रकार हमें ऐसा लगता है कि उन दिनों उक्त दिशा में काम करने वालों के चार वर्ग थे। इनमें से पहला वर्ग कौतूहल का शमन करना चाहता था और दूसरा वर्ग अपनी जिज्ञासा द्वारा ज्ञान-पिपासा को शान्त करना चाहता था। इसी प्रकार तीसरा वर्ग शासकीय सुविधा का ध्यान रख कर अध्ययन करता था। इनके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण वर्ग चौथा भी था जो ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भारतीय समाज तथा संस्कृति की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना चाहता था। परन्तु प्रारम्भ में सुनियोजित अथवा सुसंगठित कार्य की अपेक्षा व्यक्तिगत रुचि के काम अधिक हुए। इन प्रयत्नों का फल भी सदा एक जैसा नहीं रहा। प्रारम्भ में जिन बातों का केवल वाह्य परिचय सम्भव था बाद के प्रयत्नों द्वारा उनकी सीमा तथा क्षेत्र का भी पता लगा। इसी प्रकार जब वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन आरम्भ हुआ तो उनके स्वरूप का दर्शन मिला। इसी पीढ़ी द्वारा पुरातत्व विषयक कार्य का समारम्भ हुआ। भाषा सम्बन्धी अध्ययन

का सूत्रपात बाद में हुआ। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद तक की रुचि अथवा जिज्ञासा-मूलक शोध-क्रम का परिचय मिल जाता है।

सन् १६५१ में भारत विषयक एक पुस्तक डच भाषा में लिखी गई जिसका नाम 'ओपेन-डोर टु हिडेन हीथेण्डम' था और उसके लेखक का नाम अब्राहम रोजर था। वह मद्रास के आसपास कहीं रहा करता था। इस पुस्तक का मुख्य विषय ब्राह्मणों की रीति-नीति तथा आचार-विचार से सम्बद्ध था। किन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तक ज.ान मार्शल की है जो सन् १६६८ में लिखी गई थी और जिसका नाम 'नोट्स एण्ड आवजर्वेशन्स ऑन ईस्ट इण्डिया' है। इसका लेखक बंगाल तथा पटना में रह चुका था और उसे हिन्दी, संस्कृत एवं बंगला भाषा का परिचय प्राप्त था। उसका अध्ययन जिज्ञासापूर्ण था। उसने जगन्नाथपुरी से लेकर कश्मीर तक की यात्रा की थी। उसके ज्ञान-गुरु पटना के श्रीनाथ वैद्य थे।

फ्रांसीसी पर्यटकों में वर्नियर तथा टैवर्नियर के नाम महत्वपूर्ण हैं जिनका पर्यटन-काल सन् १६७१-७७ के बीच का है। इनकी कई सूचनाएँ बड़े काम की हैं। फिर भी जो विस्तृत सूचनाएँ सन् १७४० में ईसाई मिशनरी पेरीपांस द्वारा सुलभ हुई वह अपने समय की अमूल्य निधि है। सन् १७५६ में हालवेल द्वारा हिन्दू धर्म-ग्रंथों का संग्रह भी हुआ था जिनमें नागरी अक्षर में लिखे दो हिन्दी ग्रन्थ भी बतलाये जाते हैं। रावर्ट्स डि नोबिलिबिस (मृत्युकाल सन् १७५६) द्वारा लिखित एक फ्रेंच पुस्तक भी ज्ञातव्य है जिसका प्रभाव कदाचित् वाल्टेयर पर पड़ा था। इसके पूर्व डेनमार्क के एक मिशनरी ने सन् १७५० में यजुर्वेद विषयक एक पुस्तक 'चीफ कण्टेट्स ऑफ यजुर्वेद' लिखी। इसी प्रकार सन् १६९९ और सन् १७३२ के बीच संस्कृत व्याकरण सम्बन्धी एक पुस्तक जर्मन मिशनरी हेन्स लीडेन ने तैयार की। यह पुस्तक कभी प्रकाशित तो नहीं हो सकी, किन्तु उसका उपयोग आस्ट्रेलिया के मिशनरी फ़ामावोला बार टु लोम्स द्वारा हुआ। यह मिशनरी सन् १७७६-८९ के बीच मालाबार में रहा और इसने सन् १७९० में दो संस्कृत व्याकरण रोम से प्रकाशित करवाये। ये अपने ढंग की युरोप में प्रकाशित पहली पुस्तकें थीं। इसके पहले सन् १७६७ में कर्चर द्वारा अक्षर-बोध कराने वाली पुस्तक 'चाइना इलस्ट्राटा एम्सटर्डम' प्रकाशित हो चुकी थी। इस विषय की एक अन्य पुस्तक 'होटस इन्डिकस मेलाबारिक्स' थी। कर्चर की पुस्तक के कुछ वर्ष बाद की लिखी थामस हाइड की पुस्तक 'हिस्टारिया शाहिलुडी' थी। परन्तु इस कोटि की रचनाओं को प्रारंभिक तथा परिचयात्मक ही समझना चाहिए। इनमें गहरी पैठ का अभाव था।

राज्य-व्यवस्था ठीक होने पर अंग्रेजों को न्याय-सूत्र का भी संचालन व्यवस्थित रूप में करना आवश्यक जान पड़ा। इसके लिए भारतीय दण्ड विधान, सामाजिक रीति-नीति और सभ्यता-संस्कृति का गहरा अध्ययन अनिवार्य था; इसकी पूर्ति का एक माध्यम यहाँ का साहित्य था जिसका अनुशीलन-आलोड़न आरम्भ हुआ। भारतीय कानून की प्रथम पुस्तक सन् १७७६ में प्रकाशित हुई। वारेन हेस्टिंग्ज की इस विषय में विशेष रुचि थी। सन् १७९८ में ग्लेडविन ने 'ओरिएण्टल निसेलिनी' को प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त अन्य कई विद्वान इस प्रकार

के अध्ययन में रुचि ले रहे थे। सन् १७८४ में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना इसी प्रेरणा का परिणाम थी।

संस्कृत भाषा का ज्ञान रखनेवालों में सर्वप्रथम नाम चार्ल्स विल्किन्स का आता है जिसने 'भगवद्गीता' का अंग्रेजी अनुवाद 'सांग ऑफ द एडोरेबिल वन' नाम से किया था। उसने एक संस्कृत व्याकरण भी सन् १८०८ में लिखा था। भारतीय शिलालेखों से परिचय प्राप्त करने वाला वह पहला अंग्रेजी विद्वान था। इसके कई अन्य अनुवाद ग्रन्थ भी हैं। विलियम जोन्स फोर्ट विलियम का एक सब जज होकर सन् १७८३ में भारत आया था, 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' स्थापित करने का श्रेय उसी को है। उसने शाकुन्तल, ऋतुसंहार, गीत-गोविन्द और मनुस्मृति का अनुवाद सन् १७८९ से ९४ के बीच किया। संस्कृत आदि आर्य-परिवार की भाषाओं का भी उसने तुलनात्मक अध्ययन किया। कोलब्रुक ने जो सन् १७७२ में कलकत्ता आया था 'ए डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला' नामक पुस्तक लिखी जो सन् १७९७-९८ में प्रकाशित हुई। सन् १८०५ में उसने वेद विषयक ग्रन्थ लिखा। किरातार्जुनीय का अनुवाद उसने 'द कम्बेट ऑफ द माउण्टेनियर' नाम से किया। इसके अतिरिक्त उसने हितोपदेश तथा पाणिनीय व्याकरण का भी अनुवाद किया। उसने संस्कृत की पाण्डुलिपियों का एक संग्रह भी तैयार किया जो 'इण्डिया ऑफिस' में सुरक्षित बतलायी जाती है। इसके बाद मानियर विलियम्स का नाम आता है जिसने कोश तैयार करने के साथ-साथ 'शाकुन्तल' का भी अनुवाद किया। फ्रेंच विद्वान डुपेरन द्वारा उपनिषद् का लैटिन अनुवाद पेरिस से उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रकाशित हुआ जिसका नाम 'ओपेन खत' रखा गया। इसी के द्वारा शापेनहावर जैसे विचारक प्रभावित हुए थे। युज़िन बुर्नो ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों में वेद विषयक महत्वपूर्ण कार्य किया। इसके प्रमुख शिष्यों में रूडाल्फ राथ तथा मैक्समूलर के नाम लिये जाते हैं जिनकी वेद सम्बन्धी कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। राथ की पुस्तक 'ऑन द लिट्रेचर ऐंड हिस्ट्री ऑफ वेद' सन् १८४६ में प्रकाशित हुई थी। सन् १८५२ में बेवर ने 'हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन लिट्रेचर' लिखा। जैन साहित्य से भी वह परिचित था। इसके साथ ही राथ और बोटालिंक द्वारा संस्कृत का एक वृहद् शब्दकोश सात खण्डों में प्रकाशित हुआ। बर्नाट की पुस्तक 'एसे आन पाली' सन् १८२६ में प्रकाशित हुई। इसके बाद सन् १८४४ में 'इण्ट्रोडक्शन टू द हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म' प्रकाशित हुआ। सन् १८४३ से ही लासेन ने 'इण्डियन-ऐण्टिक्वेरी' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था। सन् १८२९-३२ में जेम्स टॉड का महत्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ 'एनल्स ऐंड ऐंटीक्विटी ऑफ राजस्थान' प्रकाशित हुआ। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर विसेंट स्मिथ ने भारतीय इतिहास विषयक ग्रन्थ लिखा जो तीन भागों में प्रकाशित हुआ। वेलज़ली की रुचि भी देशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की ओर झुकी और उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की चिन्ता न करके सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना करा दी। यह कालेज हिन्दी भाषा और शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस प्रसंग में जॉन गिलक्राइस्ट, जॉन मोअट, विलियम टेलर तथा विलियम प्राइस के नाम

स्मरणीय हैं। इनके सहायकों में हंटर तथा मैकडूगल के भी नाम आदर पूर्वक लिये जाते हैं। यहाँ से कई हिन्दी पुस्तकों के सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुए। लार्ड मिण्टो भी संस्कृत साहित्य के पुनरुज्जीवन में रुचि लेता था।

इसके बाद गम्भीर अध्ययन की ओर विदेशी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ जिसके फलस्वरूप कनिंघम सन् १८५७ से पुरातत्व विभाग की स्थापना की ओर प्रवृत्त हुआ। सन् १८६० में उसे सरकारी प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और आर्कियालॉजिकल सर्वे रिपोर्टों द्वारा नवीन तथ्यों का उद्घाटन होने लगा। सन् १८०२ में लार्ड कर्जन ने विशेष रुचि ली और भारतीयों को भी इस दिशा में प्रोत्साहन मिलने लगा। इस सन्दर्भ में जेम्स जीन्स, स्टेन जॉन मार्शल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

एडिनबरा के संस्कृत प्राध्यापक थ्रियोडोर आफ्रेक्ट ने सन् १८६१-६३ में सम्पूर्ण ऋग्वेद का प्रकाशन रोमन लिपी में कराया इसमें संस्कृत साहित्य सम्बन्धी मूल्यवान सूचनाएँ प्रदान कीं। फलस्वरूप अंग्रेजी विद्वानों का ध्यान आर्कर्षित हुआ और वे इस ओर शोध-कार्य करने में प्रवृत्त हुए। थीबो, ग्रिफिथ, डॉ० बूलर, जे० मूर, बर्सेज, पिशल, पिन्सेप, वैलेंटाइन और एडविन अर्नाल्ड आदि ऐसे ही विद्वान थे जिन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया। डॉ० थीबो का 'ब्रह्मसूत्र' विषयक कार्य और ग्रिफिथ का 'बाल्मिकि रामायण' वाला अंग्रेजी अनुवाद अपने-अपने ढंग के हैं। सन् १८८२ में डब्ल्यू० राइस डेविड्स ने 'पाली टेक्स्ट सोसायटी' के माध्यम से कार्य आरम्भ किया। सन् १९०७ में इसी प्रकार पेरिस निवासी गेरिनाट ने साढ़े आठ सौ जैन लेखों का संकलन किया था। देशी भाषाओं का अध्ययन भी कर्नल स्लीमैन, ग्राउज आदि विद्वानों द्वारा अग्रसर हुआ, इस सन्दर्भ में बीम्स और केलॉग के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने व्याकरण ग्रन्थ प्रस्तुत किये। हार्नेली का काम इन सबसे आगे है। हिन्दी को उसने नेपाली, मराठी, पंजाबी, बंगला, काश्मीरी और गुजराती की माँ बतलाया। उसकी पुस्तक 'ग्रामर ऑफ इण्डियन लैंग्वेजेज' को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। हिन्दी के उद्भव को लेकर बड़ा मतभेद रहा करता था। क्राफर्ड, कॉडवेल, एण्डरसन आदि हिन्दी को स्वतन्त्र भाषा मानते थे जो आर्यों के यहाँ आने के पूर्व से ही प्रचलित थी, किन्तु तासी ओर म्योर आदि विद्वान उसे प्राकृत से प्रादुर्भूत बतलाते थे। उनके अनुसार संस्कृत भाषा आर्यों के साथ-साथ भारत में प्रविष्ट हुई और आगे चलकर इसने उसे अत्यधिक प्रभावित किया। कॉडवेल हिन्दी को द्रविड़ तथा तुर्रानी से सम्बद्ध मानता रहा। परवर्ती विद्वानों बीम्स और होर्नली ने हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत तथा प्राकृत से बतलायी। बंगला को बीम्स हिन्दी की एक उपभाषा मैथिली का परिवर्तित रूप मानता था।

सन् १८६९ में चार्ल्स इलियट ने 'आल्ह खण्ड' का सम्पादन कर प्रकाशित कराया। ग्राउज ने 'रामचरितमानस' का सुसम्पादित संस्करण निकाला। टर्नर तथा मैकडानल के शब्द-कोश प्रख्यात हैं ही, तासी, तेस्सितोरी तथा ग्रियर्सन के भाषा और साहित्य विषयक शोधकार्य महत्व के हैं। इन्होंने ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्रस्तुत की। रायल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित भोजपुरी लोकगीतों का संग्रह अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। तुलसीदास का साहित्यिक

मूल्यांकन सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने ही किया था। कजली आदि लोक प्रचलित गीतों का भी इसने अध्ययन प्रस्तुत किया। सन् १८९४ में डब्ल्यू० क्रुक की पुस्तक 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टू द पापुलर रेलिजन ऐण्ड फोक़लोर ऑफ नार्दन इण्डिया' प्रकाशित हुई। क्रुक ने इससे अधिक महत्वपूर्ण कार्य 'ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स ऑफ नार्थ वेस्टर्न प्रार्विसेज ऐण्ड अवध' लिख कर किया जिसका सन् १८९६ में प्रकाशन हुआ। इस दिशा में अन्य कई विद्यानुरागियों ने भारत के विभिन्न खण्डों पर कार्य किया। परन्तु यह विवरण अधूरा ही रह जायेगा यदि 'कथासरित्सागर' के अनुवादक पेंजर का नाम छूट जाय। वी० जी० रेले ने भी 'द वेदिक गाड्स़' नामक पुस्तक लिख कर विचार का एक नया क्षेत्र खोल दिया है। फ्रेंच विद्वान् रेनो भी भारतीय संस्कृति पर लिखते रहते हैं। कीथ हापकिंस विल्सन, फर्कुहर ज्यूल ब्लाख़ तथा विण्टरनित्स भी ऐसे ही विद्वान् लेखक थे जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। ब्लूमफील्ड का भी नाम आदर पूर्वक लिया जाता है। टामस ओर श्रेडर के भी कार्य महत्वपूर्ण हैं। वेरियर एलविन का गोंड जाति विषयक कार्य भी स्थायी महत्व का है। फादर कामिल बुल्के और डाँ० बाँदविल के कार्यों द्वारा हमारा सांस्कृतिक भाण्डार समृद्ध होता जा रहा है। इनके अतिरिक्त जाने कितने ज्ञात-अज्ञात भारतीय संस्कृति के यूरोपीय साधक निरन्तर कार्य करते आ रहे हैं।



पंडित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी

महामना मालवीय के कुछ संस्मरण

महामना के महनीय जीवन के किसी अंश अथवा कतिपय संस्मरणों को एक लेख में आबद्ध करने का प्रयास नितान्त हास्यास्पद प्रतीत होता है। उनके ८६ वर्ष के जीवन का एक एक क्षण महत्वपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण है। जब महामना स्कूल के छात्र थे तभी से उनके भावी महापुरुष होने का संकेत मिलता था। कालेज छोड़ने के पश्चात् ही आप सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में कूद पड़े और अपने जीवन का प्रत्येक क्षण एक आदर्श एवं विशिष्ट मार्ग पर व्यतीत किया। उनसे सम्बन्धित कतिपय घटनाओं अथवा दृष्टान्तों पर यथार्थ प्रकाश डालना मेरे लिए प्रायः दुष्कर सा है। वस्तुतः महामना की सर्वतोमुखी महनीयता का यथार्थ चित्रण करने में मैं अपने को अक्षम समझता हूँ।

मैंने सर्वप्रथम मालवीय जी का नाम तब सुना जब कि मैं वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल का छात्र था। हमारे अध्यापक अर्ध-साप्ताहिक पत्र "अभ्युदय" मँगाया करते थे। इस पत्र में मालवीय जी के कार्य-कलाप प्रकाशित होते थे। उनके सानुप्रास नाम "मदन मोहन मालवीय" का उच्चारण ही मेरे मन में एक अपूर्व प्रेरणा का सञ्चार करता था। यद्यपि मैंने अपने दो वरिष्ठ अध्यापकों को मालवीय जी तथा तिलक जी की एक साथ ही चर्चा करते सुना था किन्तु मालवीय जी के नाम से मुझे एक विशिष्ट प्रेरणा मिली। उन दिनों छात्र न तो राजनीति में ही भाग लेते थे और न सामाजिक कार्यों में ही। अतः मुझे महामना के संबंध में अधिक परिचय प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला।

जब हम अंग्रेजी स्कूल में प्रविष्ट हुए और अर्ध साप्ताहिक पत्र "लीडर" पढ़ने लगे तब मैं मालवीय जी के कार्यों तथा गतिविधि से अधिक परिचित हुआ। सौभाग्य से हिन्दू-छात्र-सभा का सचिव होने के नाते मुझे बहुधा स्वर्गीय श्री नरसिंह दास से मिलने का अवसर मिलता था। श्री दास हिन्दू कालेज के छात्र तथा उत्साही कांग्रेस-कार्यकर्ता थे। आप बहुधा मालवीय जी तथा हिन्दू विश्वविद्यालय की चर्चा किया करते थे। उन दिनों मालवीय जी हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण तथा संघटन में लगे थे और यह कार्य प्रान्त तथा देश की चर्चा का प्रमुख विषय था। मालवीय जी की गणना उस समय देश के प्रमुख राजनीतिज्ञों में थी। उनके चित्र समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ करते थे। हमारे हृदय में उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलने तथा बात करने की उत्कण्ठा होती थी किन्तु मुझे उनसे मिलने का कोई अवसर नहीं मिला। मेरी यह उत्कण्ठा तब शान्त हो सकी जब कि १९२१ में मैं "म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद" में प्रविष्ट हुआ। यहाँ मुझे "हिन्दू

छात्रावास" में स्थान मिला। इस छात्रावास के संस्थापक मालवीय जी थे। हम लोग मालवीय जी के दर्शन तथा उनसे वार्तालाप का अवसर प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे और सर्वदा इस प्रतीक्षा में रहते थे कि मालवीय जी इलाहाबाद कब आ रहे हैं। ज्यों ही उनके इलाहाबाद आने के समाचार मिलते, हम उनके निवास-स्थान पर पहुँचते और उनसे "हिन्दू-छात्रावास" में पधारने का अनुरोध करते थे।

मुझे उनसे मिलने का सर्वप्रथम अवसर उस समय मिला जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति होने के नाते इलाहाबाद विश्वविद्यालय की नव-संघटित शिष्टपरिषद् की बैठक में भाग लेने के लिए आये। हम लोगों ने उन्हें घेर लिया और "हिन्दू-छात्रावास" में पधारने की प्रार्थना की। वे बड़े ही दयालु थे। उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार की और बड़ी कठिनाई से हमारे लिये २० मिनट का समय निकाला। जब वे पधारे तो हम सब बलरामपुर-कक्ष में एकत्र हुए और छात्रों द्वारा अनेक प्रकार के प्रश्नों की बौछार की गई। मझे स्मरण है कि छात्रों ने यह भी माँग की थी कि उनके कमरों के निकट शौचालय नहीं है एतदर्थ उन्हें दूर जाना पड़ता है। मालवीय जी शास्त्रों के अच्छे पण्डित थे और उन्होंने धर्मशास्त्र का वचन "दूरे मूत्रपुरीषयो:" उद्धृत करते हुए उत्तर दिया कि मल-मूत्र विसर्जन के लिए दूर ही जाना चाहिये। उन्होंने छात्रावास के भोजनालय, स्नानागार, शौचालय अदि स्थानों का निरीक्षण किया और हमारे छात्रावास के अधीक्षक स्वर्गीय पं० देवीप्रसाद शुक्ल को उचित निर्देश दिये। हमने उनसे "हिन्दू-छात्रावास" के लिए अधिक समय देने की प्रार्थना की और उन्होंने कहा कि वे स्वयं ऐसा चाहते हैं किन्तु समय निकालना बहुत कठिन हो जाता है। उस समय वे शक्ति तथा लोकप्रियता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुके थे और शैक्षिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों के स्वल्पानल्प महत्त्व के समस्त कार्यों में उनका हाथ रहता था।

मालवीय जी के इस अल्पकालिक आगमन से हमको अभीष्ट सन्तोष नहीं हुआ। दूसरी बार वे स्वर्गीय सर सुन्दरलाल के चित्र का अनावरण करने के लिए "हिन्दू-छात्रावास" में पधारे और सर्वप्रथम इस समारोह के अवसर पर मैंने उनका भाषण सुना। मैंने उनके अनेक भाषण समाचार पत्रों में पढ़े थे; उनकी भाषण-पटुता की चर्चा सुनी थी; किन्तु धवल-वस्त्र-धारी और आकर्षक व्यक्तित्व वाले उन तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ वक्ता को भाषण करते हुए उससे पूर्व कभी नहीं देखा था। उन्होंने एक घंटे तक भाषण किया। उच्चकोटि की इंगलिश शैली; अविच्छिन्न विषय योजना; चुना हुआ शब्द-विन्यास। श्रोतागण मंत्रमुग्ध से प्रतीत होते थे। इस बार हमने उनको उनके सर्वोत्तम स्वरूप में देखा और हमको अधिक सन्तोष मिला।

मैं उनके निकट सम्पर्क में सर्वप्रथम उस दिन आया जब जनवरी १९२२ में महात्मा गान्धी ने लार्ड रीडिंग को यह अन्तिमेत्थम् दिया था कि यदि एक सप्ताह की अवधि में स्वराज्य की घोषणा न की गई तो असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया जायेगा। उन दिनों मेरे अन्तरंग मित्र पं० चन्द्रबली त्रिपाठी मालवीय जी के वैयक्तिक सचिव थे। मालवीय जी उस दिन अपराह्न में वाराणसी से आये थे और पं० चन्द्रबली त्रिपाठी मुझे मालवीय जी से मिलाने के लिए उनके भारती-

भवन के मकान में ले गये थे। मैं वहाँ लगभग ४ घंटे बैठा रहा। इस बीच बालकों से लेकर वृद्धों तक विभिन्न विचारों तथा व्यवसायों के आगन्तुकों का गमनागमन होता रहा। मालवीय जी ने सभी से बातें कीं और सभी से उनके विषयों से सम्बन्धित कुछ प्रश्न पूछे।

हम लोग बैठे थे। इसी बीच महात्मा गान्धी जी के कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय श्री देवदास गान्धी मालवीय जी से मिलने के लिए भारती-भवन आये। इन्होंने अध्ययन छोड़ दिया था और कांग्रेस के कार्यों के सम्बन्ध में उस समय आनन्द भवन में रहते थे। अपने वार्तालाप के प्रसंग में देवदास जी ने मालवीय जी से पूछा कि बापू जी के पत्र के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं। मालवीय जी ने पत्र के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। उनसे कहा गया कि उक्त पत्र "लीडर" में प्रकाशित हुआ है। "लीडर" मँगाया गया और मालवीय जी ने पत्र को ध्यान से आद्योपान्त पढ़ा। पत्र पढ़ कर वे विचारमग्न हो गये। देवदास जी के द्वारा व्यग्रता का कारण पूछे जाने पर मालवीय जी ने कहा कि वे एक शब्द को छोड़ कर पत्र के शेष सभी विषयों से सहमत हैं। उन्होंने आगे कहा कि बापू जी को पत्र में एक सप्ताह की निश्चित अवधि की चर्चा नहीं करनी चाहिये थी। "एक सप्ताह" के स्थान पर "न्यूनतम संभव अवधि" शब्दों का प्रयोग अधिक उचित है। आपने स्पष्ट किया कि ब्रिटिश शासन का जैसा ढाँचा है उसके अनुसार यदि वे भारत की स्वतंत्रता की घोषणा करना भी चाहें तो "एक सप्ताह" की अवधि में इस संबध में निर्णय करना उनके लिए असंभव होगा और फलत:, सप्ताह समाप्त होते ही महात्मा जी को सत्याग्रह के लिए बाध्य होना पड़ेगा। यदि देश आन्दोलन के लिए तैयार न हुआ अथवा यदि सत्याग्रह सफल न हुआ तो देश की प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा और इस "अन्तिमेत्थम्" को केवल "धमकी" समझा जायेगा। इसके विपरीत यदि "एक सप्ताह" के स्थान पर "न्यूनतम संभव अवधि" शब्दों का प्रयोग किया जाता तो अवधि को सुविधानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता था। यदि देश सत्याग्रह के लिए तैयार होता तो एक सप्ताह से पूर्व भी सत्याग्रह आरंभ किया जा सकता था।

यह घटना उस समय की है जब प्रिन्स आफ़ वेल्स भारत आये थे और उनके आगमन का कांग्रेस द्वारा विरोध किया जा चुका था किन्तु मालवीय जी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय में उनका स्वागत किया था। मालवीय जी ने लार्ड रीडिंग को इसके लिए सहमत कर लिया था कि यदि भारत में युवराज का समुचित स्वागत किया गया तो औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा कर दी जायेगी। यद्यपि देश में युवराज के स्वागत का वहिष्कार किया जा चुका था किन्तु मालवीय जी को घोषणा की आशा थी और वे वाइसराय तथा अन्य नेताओं से मिलने के लिए दिल्ली जा रहे थे। मालवीय जी ने कहा कि इस पत्र से उनकी योजनाओं को बहुत क्षति पहुँची है और उन्होंने तुरन्त ही टेलीग्राम द्वारा श्री जयकर आदि कुछ नेताओं को दिल्ली में मिलने का समाचार भेजा।

मालवीय जी से मिलने का दूसरा अवसर मुझे उस समय मिला जब वे गोरखपुर आकर मुंशी ईश्वरशरण जी के यहाँ रुके और दूसरे दिन ट्रेन द्वारा चौरी-चौरा होते हुए इलाहाबाद गए। इस वार मुझे उनका अधिक निकट सम्पर्क मिला और मैंने गोरखपुर से देवरिया तक उन्हीं के साथ-साथ यात्रा की। वे तने व्यस्त व्यक्ति थे कि ट्रेन पर भी अपने वैयक्तिक सचिव को कुछ निर्देश

देते रहे अथवा पत्र आदि लिखवाते रहे। उन्होंने पहले लिखाये गए कुछ पत्रों का संशोधन किया तथा जनसामान्य से अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्श भी करते रहे। मैंने एक सार्वजनिक सभा में उनका भाषण भी सुना। यद्यपि मुझे तब तक अन्य अनेक अखिल-भारतीय नेताओं के भाषण सुनने का अवसर मिल चुका था किन्तु मेरी दृष्टि में मालवीय जी सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे। वे अपनी वक्तृता के प्रभाव से श्रोताओं को अपनी इच्छा का वशवर्ती बना लेते थे। उनका व्यक्तित्व इतना भव्य था कि जनता केवल उनका भाषण ही नहीं सुनती थी वरन् उसकी दृष्टि भी मालवीय जी पर ही रहती थी। जब तक उनका भाषण होता था तब तक जनता की दृष्टि अन्यत्र कहीं नहीं जाती थी। यहाँ तक कि जब वे अन्य नेताओं के बीच बैठते थे तब भी उनकी विशिष्ट-वेश-भूषा तथा निराला व्यक्तित्व दोनों ही जनता की दृष्टि को विशेष रूप से आकृष्ट करते थे।

इसके पश्चात मुझे उनसे एक दिन सायंकाल मिलने का अवसर मिला। दूसरे ही दिन हाईकोर्ट में चौरीचौरा-काण्ड की अपील पर विचार होना था। इस काण्ड में एक जन-समह ने जनवरी सन् १९३२ में चौरीचौरा थाने पर आक्रमण करके उसे जला दिया था और थाने के कर्मचारियों तथा कुछ चौकीदारों को मार डाला था। फलस्वरूप सेशन्स जज ने १७२ व्यक्तियों को मृत्युदण्ड देने का निर्णय किया था। इस घटना से महात्मा गान्धी ने पहले आरम्भ किया गया असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया और इस काण्ड को महान् भूल की संज्ञा दी। इस अभियोग से जनता का हृदय दहल गया। मालवीय जी ने १९११ में वकालत का व्यवसाय छोड़ दिया था किन्तु इस अभियोग की हाईकोर्ट में पैरवी करने को तैयार हुए। दूसरे ही दिन अभियोग के विचार की तिथि थी किन्तु मालवीय जी को अभियोग सम्बन्धी कागज़-पत्र देखने का अवकाश नहीं था। वे विगत सायंकाल को ही आये थे और अपने जार्जटाउन के बंगले में ठहरे थे। मैं उनके पास ७ बजे सायंकाल गया और ११ बजे तक लगभग चार घंटे रहा। इस पूरी अवधि में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कोषाध्यक्ष श्री बलदेव राम दवे के साथ विश्वविद्यालय सम्बन्धी अनेक समस्याओं तथा कागज़-पत्रों पर विचार करने में व्यस्त रहे। इस विचार-विमर्श के बीच-बीच में कुछ और लोग भी अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर आते-जाते रहे। मैं बैठा हुआ आद्योपान्त विविध समस्याओं के विचार-विमर्श को सुनता रहा। बीच बीच में मालवीय जी ने अनेक बार कहा कि कल दस बजे हाईकोर्ट में चौरीचौरा-अभियोग की बहस के लिए उपस्थित होना है और मैं चाहता हूँ कि अभियोग सम्बन्धी कागज़-पत्र भी देख लूँ। हम ११ बजे वहाँ से हटे और इस समय तक मालवीय जी को उक्त अभियोग की रूप-रेखा समझने का भी अवकाश नहीं मिला।

दूसरे दिन वे हाईकोर्ट में उपस्थित हुए। संभवतः प्रातःकाल उन्हें लगभग तीन घंटे का समय मिला और वे सेशन्स जज के निर्णय सम्बन्धी कागज़-पत्रों का अध्ययन कर सके। इसी अध्ययन के आधार पर मालवीय जी हाईकोर्ट में उक्त अभियोग पर दो दिन तक बहस की। हाई-कोर्ट बेन्च के अध्यक्ष न्यायाधीश श्री पिगट ने मालवीय जी की बहस को सुनने के पश्चात्

१५

कहा कि इस अभियोग की पैरवी के लिए पूरे भारत में मालवीय जी से अधिक उपयुक्त दूसरा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता था।

मैं उनसे अनेक बार मिला। उनसे मिलने के अवसर को मैं कभी हाथ से जाने नहीं देता था क्योंकि मुझे यह अनुभव था कि उनका दस मिनट का सम्पर्क भी एक चारित्रिक तथा बौद्धिक प्रेरणा प्रदान करता था। उनकी आत्मा परम पावन थी। उनके अल्पकालिक सम्पर्क में आने पर व्यक्ति को अपने विचारों, कार्यों तथा भावी संकल्पों में पावनता का प्रभाव प्रतीत होने लगता था। वे बड़े ही सरल थे, दयालु थे और स्नेह-भावना से ओत-प्रोत थे। वे एक वहिरंग व्यक्ति से भी कोई रहस्य नहीं छिपाते थे। जब कभी मैं उनसे मिलने गया और जितने समय तक उनके निकट रहा; ऐसे अनेक अवसर आए जब उन्होंने देश के प्रमुख व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श किया। कभी कभी तो देश की ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार हुआ जिनके सम्बन्ध में हम सामान्य व्यक्ति भी नितान्त एकान्त में तथा गुप्त रूप से बातचीत करते किन्तु उन्होंने कभी यह संकेत भी नहीं किया कि उनकी दृष्टि में किसी व्यक्ति की उपस्थिति अनावश्यक और अवाञ्छित है।

प्राशासनिक सेवा में आ जाने के पश्चात् राजनीतिक नेताओं से मिलने की मेरी स्वतंत्रता स्वभावतः छिन गई और फलतः मैं मालवीय जी से सम्पर्क नहीं रख सका। मेरे हृदय में मालवीय जी से मिलने की लालसा तो सदा ही बनी रही। मालवीय जी उन नेताओं में से थे जिन्हें जनता और शासन दोनों ही का विश्वास प्राप्त था। अतः मुझ उनसे मिलने का अवसर १९३४ में फिर मिला, जब मैं वाराणसी आया। रात्रि हो चली थी। मेरे साथ कुछ अन्य मित्र भी थे। इनमें से एक यक्ष्मा (टी० बी०) रोग के विशेषज्ञ डाक्टर भी थे। इन्होंने यक्ष्मा के सम्बन्ध में हिन्दी में लिखित अपनी एक पुस्तक मालवीय जी को भेंट की। मालवीय जी ने उनसे यक्ष्मा के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर प्रश्न किये। वार्तालाप सुनने पर ज्ञात हुआ कि मालवीय जी उक्त रोग की उत्पत्ति तथा चिकित्सा से सम्बन्धित आधुनिकतम विचारों एवं सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थे। यक्ष्मा जैसे प्राविधिक तथा जटिल विषय पर मालवीय जी का ज्ञान इतना उच्चकोटि का था कि हमारे मित्र डाक्टर, जो अपने यक्ष्मा सम्बन्धी ज्ञान को वहुत व्यापक और विशिष्ट कोटि का समझते थे, संशय में पड़ गए। उन्हें अनुभव हुआ कि उक्त विषय पर यदि मालवीय जी का ज्ञान किसी दृष्टिकोण से उनके ज्ञान से अधिक न समझा जाय तो उसे उनके ज्ञान की समकक्ष कोटि का कहना भी सर्वथा उचित न होगा। हमने देखा कि वहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में वे रात्रि के दस बजे भी अपनी अचकन, पगड़ी तथा दुपट्टा की वेष-भूषा में कार्यालय की कुर्सी पर सीधे और अविश्रान्त वैठे रहते थे। आगन्तुकों के गमनागमन का अनवरत क्रम वना रहता था और विविध समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था। वस्तुतः नवागन्तुकों से बाध्य हुए बिना कोई भी उनके निकट से जाना नहीं चाहता था। नवागन्तुकों को स्थान देने के लिए बाध्य होने पर ही लोग उनके सान्निध्य से जाते थे। हमारी उपस्थिति में ही एक ऐसे आगन्तुक आए जो असंयत और क्रुद्ध प्रतीत होते थे। इन्होंने विश्वविद्यालय में किसी विशेष उद्देश्य के लिए कुछ दान दिया था और मालवीय जी से यह शिकायत करने

आये थे कि उन्होंने जिस उद्देश्य के लिए दान दिया था उससे सम्बन्धित योजना आरम्भ नहीं की गई। मालवीय जी ने उनकी बातें शान्तिपूर्वक सुनीं और किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त किये विना ही उनके समक्ष सम्बन्धित योजना का विवरण प्रस्तुत कर दिया। वस्तुस्थिति समझने पर उक्त आगन्तुक अपने आवेशपूर्ण व्यवहार के प्रति बहुत लज्जित हुए।

जैसा कि मैं पहले से समझ सका हूँ, मालवीय जी ने अपने जीवन को अपने, अपने परिवार अथवा अपने वर्ग के हितसाधन में नहीं वरन् देश के कल्याण में लगाया और उन कार्यों में लगाया जिनसे हमारा देश शक्तिशाली बन सके।

उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में, जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद को छोड़ चुके थे, मुझे उनसे मिलने का अवसर नहीं मिला। भले ही उनसे मिलने का अवसर मुझे न मिल सका हो; पर मेरे विचारों में वे उन नेताओं में से एक हैं जिनके प्रति मेरी पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा तथा जिन्हें मैं भारतीय सभ्यता और संस्कृति का मूर्त्तरूप समझता हूँ। यद्यपि वे बहुत सरल और शालीन थे किन्तु साथ ही बड़े दृढ़ एवं औपचारिक भी थे। उनके व्यवहार से आगन्तुक को यह प्रतीत होता था कि वे किसी के मत या मन्तव्य की कटु आलोचना या विरोध नहीं करेंगे किन्तु उन्हें अविलम्ब ही आगन्तुक के उद्देश्य का अनुमान हो जाता था और वे दुरुद्देश्य अथवा कुत्सित विचारों के साथ आने वाले आगन्तुक को प्रोत्साहन नहीं देते थे।

मुझे स्मरण है कि जब तत्कालीन गवर्नर सर विलियम मैरिस इलाहाबाद में रुके थे तब एक आगन्तुक मालवीय जी से मिलने आए। ये सज्जन मालवीय जी की गति-विधि का पता लगाने आये थे। ये इलाहाबाद के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे और अच्छी वेशभूषा में तथा हाथ में टेनिस का बल्ला लिये हुए मालवीय जी के कमरे में प्रविष्ट हुए। कुछ मिनटों के पश्चात् उक्त सज्जन ने मालवीय जी से पूछा कि क्या आपका विचार सर विलियम मैरिस से मिलने का है? मालवीय जी ने उत्तर दिया कि उनका गवर्नर से कोई प्रयोजन नहीं है और न मिलने का ही विचार है। उक्त सज्जन को आगे बात करने का अवसर देने के बजाय मालवीय जी ने उनसे कहा कि इलाहाबाद के कुछ लोगों ने उन (मालवीय जी) से अनुरोध किया था कि वे उन (आगन्तुक) सज्जन के विरुद्ध गवर्नर से मिलने के लिए एक प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व करें। आगन्तुक ने पूछा कि उसके (आगन्तुक के) प्रति लोगों को क्या शिकायत थी? मालवीय जी ने कहा कि उन्होंने उन लोगों को अधिक बात करने का अवसर नहीं दिया। क्योंकि आगन्तुक के मित्र होने के नाते उन लोगों से शिकायत सुनने के बजाय उन्होंने (मालवीय जी ने) अधिक उचित यही समझा था कि उन (आगन्तुक) अपने को सुव्यवस्थित रक्खें। आपने आगन्तुक से आगे कहा कि संभव है उन (मालवीय जी) के सहमत न होने पर वे लोग अपनी शिकायत गवर्नर तक पहुंचाने के लिए किसी अन्य उपयुक्त व्यक्ति की खोज में हों। इस प्रकार उक्त सज्जन बड़ी आतुरता के साथ मालवीय जी के कमरे से बाहर निकले। वे कठिनाई से पांच मिनट ही मालवीय जी के पास रुक पाए होंगे और बड़ी उदासीनता के साथ हतोत्साहित होकर वापस गये। अनन्तर पं० बलदेव राम दवे द्वारा यह पूछे जाने पर कि आपने उक्त आगन्तुक को इस प्रकार हतोत्साहित करके आतिथ्य के बिना ही क्यों वापस कर दिया।

मालवीय जी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि ये सज्जन मेरे यहाँ गुप्तचर बनकर आये थे और मैंने उनका अधिक समय तक यहाँ रुकना उचित नहीं समझा।

भारत की स्वतंत्रता के वीर सेनानियों एवं देश के निर्माताओं में मालवीय का स्थान बहुत ऊँचा और दुरधिगम्य रहेगा। वे भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़े और इस विश्वास के साथ लड़े कि उसे अपने जीवन में ही प्राप्त करेंगे। देश के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सर्वत्र ही देश के विकास के लिए उनका सर्वतोमुखी योगदान अनेक दृष्टियों से अद्वितीय रहेगा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जिसे उनके महत्तम कार्यों में से एक समझा जाता है, वस्तुतः एक ऐसी दीवार है जो उनके विविध विषयों के व्यापक कार्य-क्षेत्र पर दर्शकों की दृष्टि नहीं पड़ने देती। शिक्षा के क्षेत्र में वे एक अद्वितीय विचारक थे और उनके विचार बहुत उच्चकोटि के थे जिन्हें मूर्त्तरूप देने तथा कार्यान्वित करने का भी अवसर उन्हें मिला। निःसन्देह, ज्यों-ज्यों समय बीतेगा और अन्याय एवं अविवेक, वैमनस्य एवं विचार-वैमत्य तथा पक्षपात क्रमशः दूर होंगे, हम मालवीय जी की सेवाओं को अधिकाधिक परिमाण में समझ सकेंगे। उनमें एक महापुरुष के व्यापक गुणों का अद्भुत एवं दुर्लभ सामञ्जस्य था।

* * *

कलाओं की जन्मभूमि

योरप के विद्वान् अब यह भी मानते हैं कि चित्रकर्म, मूर्ति-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, आभूषण-रचना, संगीत, नाट्य इत्यादिक शिल्प और कला भारतवर्ष में उन समयों में उच्च कोटि को पहुंचे हुए थे, जब योरप में विद्याओं और कलाओं का आरम्भ भी नहीं हुआ था। बम्बई हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश सर जार्ज बर्डवुड ने एक पत्र में लिखा है कि लोहा, तांबा इत्यादिक धातु बहुत प्राचीन समयों में कहीं नहीं थे, उनकी बनाने की विधि का आविष्कार उन आर्य लोगों ने किया, जिनकी कुल परम्परा में भारत के ऋषि और आचार्य हुए।

—महामना मलावीय

कुँवर सुरेश सिंह

वह अपनत्व जिसे हम भूल नहीं सकते

बचपन में अपने गाँव में जो वस्तु मुझे सबसे अधिक आकर्षित करती थी वह था मेरे पितामह (स्वर्गीय राजा रामपाल सिंह) के समय का प्रेस जहां हिन्दी का सर्वप्रथम दैनिक पत्र "हिन्दोस्थान" छपता था। बाबा साहब के स्वर्गवास के बाद से प्रेस बंद पड़ा था क्योंकि रियासत कोर्ट आफ़ वार्ड्स के आधीन थी लेकिन कभी कभी कोई उसे ठेके पर ले लेता था और प्रेस में फिर कुछ दिनों के लिए चहल पहल हो जाती थी।

मुझे थोड़ा भी अवकाश मिलता तो सीधा प्रेस जा पहुंचता और वहां के पुराने कंपोज़ीटरों के बीच बैठकर उनसे बाबा साहब (राजा रामपाल सिंह) तथा पूज्य मालवीय जी के किस्से सुना करता। पूज्य मालवीय जी प्रेस के बगल वाले कच्चे मकान में किस तरह सादगी से रहते थे, बाबा साहब उनका कितना आदर करते थे, वे केवल उन्हीं के सामने शराब नहीं पीते थे और फिर एक दिन किस प्रकार शराब के नशे में चूर रहने पर मालवीय जी से उनका साक्षात्कार हुआ जिसके दूसरे ही दिन मालवीव जी यहां से चले गए। इसी तरह के न जाने कितने किस्से मैं सुनता और कल्पना करता कि कभी बड़े होने पर पूज्य मालवीय जी के अवश्य दर्शन करूंगा।

हम तीन भाई थे। सबसे बड़े राजा अवधेश सिंह, मँझले कुंवर ब्रजेश सिंह उसके बाद मैं। हम लोग शुरू ही से कालविन स्कूल भेज दिए गए और बचपन ही से हम लोगों को एक फ़ौज़ी अंग्रेज़ गारजियन की देखरेख में कर दिया गया था क्योंकि कोर्ट आफ़ वार्डस के अधिकारियों को हम लोगों के देशप्रेम की ख़बर लग चुकी थी। उसी बीच पूज्य मालवीय जी लखनऊ पधारे। हम लोग उनके दर्शनों के लिए आतुर हो उठे लेकिन अंग्रेज़ गारजियन बहुत सख्त था। बड़े भाई साहब ने उससे बिना पूछे ही हम दोनों भाइयों को साथ लिया और अमीनुद्दौला पार्क जा पहुंचे जहां पूज्य मालवीय जी का व्याख्यान हो रहा था। सभा के समाप्त होने पर जब हम लोगों ने अपना परिचय देकर उनके चरण छुये तो मालवीय जी कालाकांकर का नाम सुनते ही भाव-विभोर और गद्गद हो उठे। उन्होंने बड़े प्यार से हमलोगों के सर पर हाथ फेर कर कहा—"भगवान् करे तुम लोग भी अपने बाबा की तरह निर्भीक बनो।" यही उनका प्रथम आशीर्वाद था।

इसके बाद हम लोग अक्सर उनसे मिलते रहे और वे भी जब कभी लखनऊ पधारते तो हम लोगों को ज़रूर अपने पास बुला भेजते। एक बार हम लोग नैनीताल में थे तो पूज्य मालवीय जी भी नैनीताल आये। एक दिन वे हमारी कोठी पर आये तो अंग्रेज़ गारजियन ने हमारे मंझले भाई साहब की बड़ी शिकायत की। भाई साहब ने कुछ ही दिनों पहले खद्दर पहनना शुरू कर दिया

था जिससे साहब बहादुर बहुत चिढ़ते थे। खद्दर से ज्यादा चिढ़ उन्हें भाई साहब के उस मोटे सोंटे से थी जिसे भाई साहब उनके साथ घूमने जाते समय अपने हाथ में लिए रहते थे। साहब की ज़िद थी कि वे उस सोंटे का त्याग कर दें लेकिन भाई साहब उसे त्यागना नहीं चाहते थे। साहब ने मालवीय जी से इसकी शिकायत की। साहब की शिकायत सुन कर हमलोग सोचने लगे कि पता नहीं मालवीय जी क्या करेंगे ? साहब की बात रखेंगे कि भाई साहब की। मालवीय जी जब चलने के लिए डांडी पर बैठे और हमलोग उनका पैर छूने गए तो उन्होंने भाई साहब के हाथ से सोंटा लेकर कहा, "बड़ी सुन्दर लाठी है भाई तुम्हारी, हम जैसे बुड्ढों को यहां ऐसी लाठी के बिना चढ़ाई पर बड़ा कष्ट होता है। मैं इसे लिए लेता हूं। लो तुम हमारी छड़ी अपने पास रखो।" यह कह कर उन्होंने बड़े कौशल से साहब का भी मान रख दिया और मंझले भाई साहब भी प्रसाद स्वरूप उनकी छड़ी पा कर प्रसन्न हो गए। किसी का जी दुखाना वे जैसे जानते ही नहीं थे।

इसी तरह की एक घटना अपने संबंध की सुना दूं। जब मैं काशी विश्वविद्यालय में पढ़ता था तो मालवीय जी ने यह घोषणा की कि वे दशाश्वमेध घाट पर हरिजन तथा अन्य सभी भाइयों को मंत्र देंगे। चूंकि मेरा ऐसी बातों पर विश्वास नहीं था, और वहां जाकर उनसे दीक्षा न लेना उनका अपमान करना होता, यही सोच कर मैंने वहां जाना ठीक नहीं समझा। लेकिन मेरे मास्टर साहब श्री सुन्दरम् जी मुझे फ़ोटो लेने के लिए यह कहकर वहां लिवा ले गए कि हम लोग फ़ोटो ले कर पहले ही वापस आ जायेंगे। जब मैं वहां पहुंचा तो सुन्दरम् साहब ने सब के सामने घोषित कर दिया कि पहले वे, गोविन्द जी तथा सुरेश जी मंत्र लेंगे। मैं बुरी तरह फँस गया। मंत्र लेता हूं तो अपने को धोखा देता हूँ और नहीं लेता हूं तो इतने दर्शकों के सम्मुख पूज्य मालवीय जी का अपमान होता है। अन्त में मैंने मंत्र न लेने का ही फैसला किया और हाथ जोड़कर कहा,--" बाबू जी, आप जानते ही हैं कि मेरा इस पर विश्वास नहीं है, मैं आपको और अपने को धोखा देना नहीं चाहता। आशा है आप क्षमा करेंगे।" सब लोग स्तब्ध हो गए। मालवीय जी ने बड़े स्नेह से कहा—"अपने बाबा के मार्ग पर चल कर भला तुम कैसे इस पर विश्वास करोगे, मनुष्य को वही संकल्प लेना चाहिए जिसे वह निभा सके। तुम्हारे सत्य भाषण से मैं बहुत प्रसन्न हूं।" और मैंने देखा कि उस दिन से मैं उनका कोप-भाजन नहीं वरन उनका और स्नेह-भाजन बन गया और उनकी निगाह में और ऊंचा उठ गया, ऐसा विशाल हृदय था उनका।

शिक्षा-काल में मुझे लगभग दो वर्षों तक काशी विश्वविद्यालय में रहना पड़ा, जहां मैं भी उनके घर का एक प्राणी सा हो गया था। उन दो वर्षों की न जाने कितनी घटनायें आज भी आंखों के सामने हैं और उनका स्नेहपूर्ण व्यवहार तो जीवन भर एक पवित्र धरोहर के समान हृदय में सुरक्षित रहेगा।

काशी में नित्य ही कोई न कोई बड़ा आदमी उनसे मिलने आता। कभी जब मैं भी वहां उपस्थित रहता तो वे मेरी ओर संकेत करके कहते,—"इन्हें आप जानते हो ? ये कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह के पौत्र हैं, राजा रामपाल सिंह का एहसान मैं कभी नहीं भुला सकता, वैसा बहादुर आदमी अब कोई नज़र नहीं आता।"

काशी में मेरा अधिक समय बीमारी में ही बीता, जिससे मेरी उपस्थिति पढ़ाई के दर्जे में कम हो गई। मैंने मालवीय जी से इसके बारे में कहा तो उन्होंने अनजान सा बन कर पूँछा—"तो हाजिरी कम होने से क्या होगा?"

मैंने कहा, "बाबू जी, इम्तहान में न बैठ पाऊँगा और एक साल फिर उसी दरजे में रहना होगा।"

मालवीय जी ने कहा—"एक बात बताओ, पढ़ना अच्छी चीज़ है या बुरी?"

मैंने कहा,—"अच्छी।"

"तो फिर पढ़ने से घबराते क्यों हो" उन्होंने मुस्कुरा कर कहा—"विद्यार्थियों को दरजे का ख़्याल किए बिना सच्चे मन से पढ़ना चाहिए, ये दरजे तो ऐसे ही बना दिए गए हैं।"

मुझे कुछ उदास देख कर उन्होंने बड़े स्नेह से कहा,—"मेरा विश्वास मानों, पढ़ाई स्कूल और कालेजों में नहीं होती, जिसे पढ़ना होता है वह यहां से निकल कर पढ़ता है। तुम्हारे बाबा कहां कालेज में पढ़े थे लेकिन वैसा विद्वान् मैंने बहुत कम देखा है। विद्या के लिए तपस्या करनी पड़ती है, जीवन भर पढ़ने का सौभाग्य तो विरले को ही मिलता है।"

मैं उनके इन अमृतोपम शब्दों से प्रसन्न चित्त घर लौट आया।

उसके कुछ ही दिनों बाद पूज्य बापू ने नमक सत्याग्रह आन्दोलन की घोषणा कर दी। मैंने उनसे अपनी डांडी-यात्रा की टोली में मुझे भी सम्मिलित करने की प्रार्थना की तो उन्होंने लिखा कि मैं अपना जत्था बना कर पैदल रायबरेली जाऊं। मैंने जब वह पत्र मालवीय जी को दिखाया तो वे पहले तो गंभीर हो उठे लेकिन फिर बड़े स्नेह-सिंचित शब्दों में कहा—"आज्ञा तो तुम्हें गांधी जी से मिल ही चुकी है, हाईकोर्ट के फैसले के बाद लोअर कोर्ट के फैसले की क्या ज़रूरत है? तुम देश के सच्चे सेवक बनो यही मेरा आशीर्वाद है।"

कहां मैं सोच रहा था कि वे कालिज न छोड़ने के लिए कहेंगे लेकिन उनका आशीर्वाद पाकर मैं चकित रह गया।

कालिज छोड़कर मैं अपना जत्था लेकर रायबरेली गया, लेकिन नमक कानून भंग करने पर भी हम लोग नहीं पकड़े गए। मैंने उसी समय सुना कि मालवीय जी पेशावर गोलीकांड की जांच के लिए रावलपिंडी जा रहे हैं, जहां से वे पेशावर जायेंगे और वहाँ उनकी गिरफ्तारी अवश्य होगी। इससे पहले मालवीय जी कभी जेल नहीं गए थे। वे पहली बार सक्रिय आन्दोलन में भाग लें और मैं उनके साथ न रहूं यह मुझे अच्छा न लगा। मैं अकेले ही यहां से रावलपिंडी के लिए रवाना हो गया।

मालवीय जी ने रावलपिंडी में मझे अकस्मात देखकर कहा—"अरे तुम यहां कैसे?"

"आपकी सेवा करने के लिए आया हूं"—मैंने उत्तर दिया

"घर में पूंछ कर आए हो या ऐसे ही भाग आए हो?" उन्होंने स्नेह से मुस्कुरा कर पूछा।

"आपके निकट रहने के लिए भी क्या किसी से पूछने की आवश्यकता है ?" मैंने उत्तर दिया, मालवीय जी स्नेह-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखने लगे।

हम लोग थोड़े दिनों तक रावलपिंडी में रहे, जहाँ का बंधा हुआ कार्यक्रम था। दिन भर हम लोग पेशावर गोलीकांड के लोगों की दरखास्तें लिखा करते और मालवीय जी लोगों से बातें और परामर्श करते, शाम को उनकी कहीं न कहीं मीटिंग होती जिसमें हज़ारों लोग जमा हो जाते।

दोपहर को जब खाना तैयार हो जाता तो मालवीय जी ऊपर आते। वे आलमारी पर रखी हुई चांदी की छोटी थाली, कटोरी और गिलास को अपने हाथ से धो-मांज कर चौके में बैठ जाते और बगल में एक कम्बल बिछा कर मेरे साथ श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी बैठते, श्री गोविन्द जी हम लोगों को खाना परोसते, खाने के बाद मालवीय जी अपने बर्तन स्वयं मांज कर आलमारी पर रख देते और नीचे जा कर कुछ देर आराम करते। रात को हम चारों आदमी मैदान में तख्त पर बातचीत करते करते सो जाते। ऐसा सादा जीवन तो मैंने किसी भी नेता का नहीं देखा।

क़रीब दो सप्ताह बाद जब हम चारों आदमी पेशावर के लिए रवाना हुए तो स्टेशन पर तिल रखने की जगह नहीं थी। पेशावर में करफ्यू लगा था और सारा पंजाब जोश से भरा था। जैसे ही हम लोगों की ट्रेन ने अटक का पुल पार किया कि हम चारों आदमी गिरफ्तार कर लिए गए और अगले स्टेशन कैम्बलपुर में उतार लिए गए। शाम तक मशीनगनों और फ़ौजी दस्तों के बीच रख कर हम लोगों को फिर पंजाब की सरहद में छोड़ दिया गया।

कैम्बलपुर में मालवीय जी को अपने से ज्यादा मेरी फ़िक्र सताने लगी। उन्होंने कहा, "तुम अकेले घर से इतनी दूर आकर गिरफ्तार हो गए, यह ठीक नहीं हुआ, लोग मुझे क्या कहेंगे ?"

मैंने कहा—"लोग यही कहेंगे कि कैसा भाग्यशाली लड़का था, जिसे देशसेवा के साथ ही साथ आपकी सेवा का भी सौभाग्य प्राप्त हो गया।"

लेकिन उनकी चिन्ता तब तक दूर न हुई जब तक हम लोग फिर रावलपिंडी वापस न आ गए, मुझे अनेक नेताओं के साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ है लेकिन जैसा अपनत्व का भाव पूज्य मालवीय जी के हृदय में था वैसा मैंने और किसी के हृदय में नहीं पाया।

रावलपिंडी में किसी दिन जब किसी सभा का आयोजन न रहता तो हम लोग मोटर पर घूमने चले जाते। एक दिन हम लोग कार से "मरी" जा रहे थे तो मालवीय जी ने सूरदास के कुछ पद गा कर सुनाये। उनका वह कोमल स्वर और उनकी वह सुरीली आवाज़ आज भी मेरे कानों में गूंज रही है, उन्हें संगीत का बहुत अच्छा ज्ञान है यह तो मैं जानता था लेकिन वे खुद भी इतना अच्छा गा लेते हैं इसका पता मुझे उसी दिन चला। उसके बाद वे सूरसागर के एक अच्छे और संशोधित संस्करण के अभाव पर दुःख प्रकट करने लगे। फिर थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने मुझसे कहा, "अब तो तुम जेल चल ही रहे हो। सूरदास जी के सुन्दर पदों का एक अच्छा संकलन कर डालो। जेल में ऐसे कामों के लिए अच्छा अवसर मिलता है।" मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और जेल में उस संकलन को पूरा करके उनकी सेवा में प्रस्तुत कर दिया।

रावलपिंड़ी से मैं उनसे आज्ञा लेकर घर वापस आया क्योंकि उनके जेल जाने में अभी देर थी और साथियों के बंद हो जाने से मेरा जी बाहर नहीं लग रहा था। मैं वहां से लखनऊ आकर फ़ौरन ही गिरफ्तार हो गया।

मेरे जेल जाने पर मेरे बड़े भाई राजा अवधेश सिंह भी जेल-यात्रा की तैयारी करने लगे। मैंने यह देख कर कि उनके जेल जाने पर रियासत ज़ब्त हो जायेगी, सारा समाचार मालवीय जी तक पहुँचा दिया और भाई साहब से मैंने प्रार्थना की कि वे जेल जाने से पूर्व मालवीय जी से आज्ञा ले लें। भाई साहब जब मालवीय जी से दिल्ली-जेल में मिले तो उन्होंने उनसे कहा, "आपका यह निर्णय सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। इस समय देश के प्रत्येक व्यक्ति का यही कर्तव्य है। अब यदि आप मुझे अपने वंश का हितैषी समझते हैं, तो इतना मेरे ऊपर छोड़ दीजिए कि आपके जेल जाने का समय मैं निर्धारित करूं।" भाई साहब निरुत्तर हो कर लौट आए और इस प्रकार मालवीय जी ने राज्य पर आने वाले भावी संकट को निकट नहीं आने दिया।

आज उनका भौतिक शरीर अवश्य पंचतत्व में मिल गया है लेकिन उनकी कीर्ति अजर अमर है। कभी कभी जब उनकी देवतुल्य मूर्ति आंखों के सामने आ जाती है तो यह सोच कर हृदय आनन्द से भर उठता है कि उनका चरण-सेवक होने के नाते मैं भी कितना भाग्यशाली हूँ।



"आपके निकट रहने के लिए भी क्या किसी से पूछने की आवश्यकता है?" मैंने उत्तर दिया, मालवीय जी स्नेह-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखने लगे।

हम लोग थोड़े दिनों तक रावलपिंडी में रहे, जहाँ का बंधा हुआ कार्यक्रम था। दिन भर हम लोग पेशावर गोलीकांड के लोगों की दरखास्तें लिखा करते और मालवीय जी लोगों से बातें और परामर्श करते, शाम को उनकी कहीं न कहीं मीटिंग होती जिसमें हज़ारों लोग जमा हो जाते।

दोपहर को जब खाना तैयार हो जाता तो मालवीय जी ऊपर आते। वे आलमारी पर रखी हुई चांदी की छोटी थाली, कटोरी और गिलास को अपने हाथ से धो-मांज कर चौके में बैठ जाते और बगल में एक कम्बल बिछा कर मेरे साथ श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी बैठते, श्री गोविन्द जी हम लोगों को खाना परोसते, खाने के बाद मालवीय जी अपने बर्तन स्वयं मांज कर आलमारी पर रख देते और नीचे जा कर कुछ देर आराम करते। रात को हम चारों आदमी मैदान में तख्त पर बातचीत करते करते सो जाते। ऐसा सादा जीवन तो मैंने किसी भी नेता का नहीं देखा।

क़रीब दो सप्ताह बाद जब हम चारों आदमी पेशावर के लिए रवाना हुए तो स्टेशन पर तिल रखने की जगह नहीं थी। पेशावर में करफ्यू लगा था और सारा पंजाब जोश से भरा था। जैसे ही हम लोगों की ट्रेन ने अटक का पुल पार किया कि हम चारों आदमी गिरफ्तार कर लिए गए और अगले स्टेशन कैम्बलपुर में उतार लिए गए। शाम तक मशीनगनों और फ़ौजी दस्तों के बीच रख कर हम लोगों को फिर पंजाब की सरहद में छोड़ दिया गया।

कैम्बलपुर में मालवीय जी को अपने से ज्यादा मेरी फ़िक्र सताने लगी। उन्होंने कहा, "तुम अकेले घर से इतनी दूर आकर गिरफ्तार हो गए, यह ठीक नहीं हुआ, लोग मुझे क्या कहेंगे?"

मैंने कहा—"लोग यही कहेंगे कि कैसा भाग्यशाली लड़का था, जिसे देशसेवा के साथ ही साथ आपकी सेवा का भी सौभाग्य प्राप्त हो गया।"

लेकिन उनकी चिन्ता तब तक दूर न हुई जब तक हम लोग फिर रावलपिंडी वापस न आ गए, मुझे अनेक नेताओं के साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ है लेकिन जैसा अपनत्व का भाव पूज्य मालवीय जी के हृदय में था वैसा मैंने और किसी के हृदय में नहीं पाया।

रावलपिंडी में किसी दिन जब किसी सभा का आयोजन न रहता तो हम लोग मोटर पर घूमने चले जाते। एक दिन हम लोग कार से "मरी" जा रहे थे तो मालवीय जी ने सूरदास के कुछ पद गा कर सुनाये। उनका वह कोमल स्वर और उनकी वह सुरीली आवाज़ आज भी मेरे कानों में गूंज रही है, उन्हें संगीत का बहुत अच्छा ज्ञान है यह तो मैं जानता था लेकिन वे खुद भी इतना अच्छा गा लेते हैं इसका पता मुझे उसी दिन चला। उसके बाद वे सूरसागर के एक अच्छे और संशोधित संस्करण के अभाव पर दुःख प्रकट करने लगे। फिर थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने मुझसे कहा, "अब तो तुम जेल चल ही रहे हो। सूरदास जी के सुन्दर पदों का एक अच्छा संकलन कर डालो। जेल में ऐसे कामों के लिए अच्छा अवसर मिलता है।" मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और जेल में उस संकलन को पूरा करके उनकी सेवा में प्रस्तुत कर दिया।

रावलपिंड़ी से मैं उनसे आज्ञा लेकर घर वापस आया क्योंकि उनके जेल जाने में अभी देर थी और साथियों के बंद हो जाने से मेरा जी बाहर नहीं लग रहा था। मैं वहां से लखनऊ आकर फ़ौरन ही गिरफ्तार हो गया।

मेरे जेल जाने पर मेरे बड़े भाई राजा अवधेश सिंह भी जेल-यात्रा की तैयारी करने लगे। मैंने यह देख कर कि उनके जेल जाने पर रियासत ज़ब्त हो जायेगी, सारा समाचार मालवीय जी तक पहुँचा दिया और भाई साहब से मैंने प्रार्थना की कि वे जेल जाने से पूर्व मालवीय जी से आज्ञा ले लें। भाई साहब जब मालवीय जी से दिल्ली-जेल में मिले तो उन्होंने उनसे कहा, "आपका यह निर्णय सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। इस समय देश के प्रत्येक व्यक्ति का यही कर्तव्य है। अब यदि आप मुझे अपने वंश का हितैषी समझते हैं, तो इतना मेरे ऊपर छोड़ दीजिए कि आपके जेल जाने का समय मैं निर्धारित करूं।" भाई साहब निरुत्तर हो कर लौट आए और इस प्रकार मालवीय जी ने राज्य पर आने वाले भावी संकट को निकट नहीं आने दिया।

आज उनका भौतिक शरीर अवश्य पंचतत्व में मिल गया है लेकिन उनकी कीर्ति अजर अमर है। कभी कभी जब उनकी देवतुल्य मूर्ति आंखों के सामने आ जाती है तो यह सोच कर हृदय आनन्द से भर उठता है कि उनका चरण-सेवक होने के नाते मैं भी कितना भाग्यशाली हूँ।



श्रीमती शीला शर्मा, एम० ए०

पूज्य बाबू जी की पावन स्मृति

[श्रीमती शीला शर्मा स्वर्गीय पूज्य मालवीय जी के कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय गोविन्द मालवीय की सुपुत्री हैं। यह लेख श्रीमती शर्मा ने पंडित त्रिलोचन पंत के पास लिख कर भेजा था। पंडित त्रिलोचन पंत पूज्य मालवीय जी के १४ वर्ष तक निजी सचिव रह चुके हैं और इस समय काशी विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग में रीडर हैं--संपादक]

पूज्य बाबू जी का स्मरण आतें ही चलचित्र के समान अतीत-स्मृतियाँ मन में कौंध जाती हैं; पूज्य बाबू जी के साथ व्यतीत किये हुये अपने ही जीवन के न जाने कितने संस्मरण याद आने लगते हैं। वे देश के एक महान् नेता थे, समाज सुधारक थे, ज्ञानी थे, पंडित थे और वास्तव में भारत माँ के एक अनुपम सपूत थे--परन्तु हम सब बच्चे यह सब क्या जानें--हमारे लिये तो वे श्रद्धा और प्रेम की मूर्ति ही थे--निश्छल दैवी-स्नेह से ओतप्रोत। पूज्य चाची[१] द्वारा सिखाये गये श्लोक अथवा कविताओं को जब हम उन्हें सुनाते थे तो वे प्रसन्न हो जाते थे। सूर, मीरा व तुलसी के पदों को सुनते ही वे आत्मविभोर हो जाते थे। कहते थे कि बच्चों के मुख से भजन बड़े ही अच्छे लगते हैं। उच्चारण अथवा स्वर की तनिक सी त्रुटि उन्हें मान्य नहीं थी--वे स्वयं उसे सिखलाते थे और शुद्ध होने ही पर उनको सन्तोष होता था।

उनके ऐसा संयमी कहाँ मिलेगा? उनके लिये लौकी की तरकारी बनी थी। उन्होंने चखी और कहा 'तिक्त' है, छोटी सी विभा[२] समझ न सकी कि क्या अर्थ है। उसने समझा सदैव के समान प्रशंसा कर रहे हैं। थोड़ी सी और लाकर रख दी। उन्होंने सब खा ली। जब बाद में हम लोग खाने बैठे तब पूछने पर पता चला कि उन्होंने 'तिक्त' कहा था--हम सब सन्न रह गये जिसका द्वितीय ग्रास हममें से किसी से भी न खाया गया और उसे उन्होंने स्वाद से खा लिया।

कभी-कभी उनके साथ सायं-भ्रमण के लिये मैं भी घोड़ागाड़ी पर जाती थी। एक बार का स्मरण है। आम के एक पेड़ को देखकर उन्होंने कहा था कि उस चितेरे का ही हम मनन करते हैं जिसे यह शक्ति प्राप्त है कि आम की असंख्य पत्तियों को रचते समय भी किसी जगह पर तनिक भी हेर-फेर नहीं होता--सबकी एक जैसी रचना है, एक सा रंग और एक सा स्वरूप। इतनी बड़ी सृष्टि का रचने वाला कितना अनूठा रचयिता है। बहुत देर तक वे मुझे और

---

१. लेखिका की माँ, २. लेखिका की छोटी बहिन।

शशिधर[३] को यही सब बतलाते रहे। सूर्यास्त की लाली का जैसा वर्णन मैंने उनके मुख से सुना है वैसा साहित्य में भी पढ़ने को अभी तक नहीं मिला।

हाँ, एक बात और याद आ गई। एक बार यूंही मैंने पूछा—बाबू जी जिस विश्वविद्यालय की रचना आपके प्रयास से हुई है वह आपको कैसा लगता है? प्रश्न कैसा था— आज सोचती हूँ तो लज्जित हो जाती हूँ। वे थोड़ी देर मुस्कराते रहे, उसके बाद कहने लगे—यह ईश्वर का प्रसाद है। इसके भवनों को, मैदानों को और यहाँ के छात्र-छात्राओं को देखकर कैसा लगता है, यह जब तुम बड़ी हो जाओगी तब स्वयं ही समझोगी।

मेरे विवाह पर पूज्य छुटचा[४] कारावास में थे। अश्रुपूरित नेत्रों से पूज्य बाबू जी ने अपने जीवन में प्रथम और अन्तिम कन्यादान मेरा ही किया था। उस समय मुझे कितनी लज्जा लगी थी कितना संकोच हुआ था—यह कैसे लिखूं। जिनके पैरों की धूलि को मस्तक में लगाने के लिये लोग व्याकुल रहते थे उन्होंने हम लोगों के पैर पूजे। न जाने किन जन्म-जन्मान्तर के पुण्य का फल था कि मुझे यह मिला। त्रिभुवन-विहारी भगवान कृष्ण भी तो विदुर का साग खाने गये थे।

पूज्य भइया[५] के देहान्त के पश्चात् वे बड़े खिन्न रहते थे। पूज्य छुटचा जेल में थे इससे और भी दुःखी थे। उन दिनों नित्य मैं उनके पास जाकर कुछ देर उन्हें हँसाने का प्रयत्न करती थी। एक दिन वह कुछ अधिक दुखी थे। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि थोड़ा प्रसन्न हो जायं परन्तु असफल रही, इतने में भोजन के लिये मुड़ी[६] उठाने आया। वृद्धावस्था में उनका हाथ काँपा करता था। मैंने उसीको लक्ष्य करके कहा—"बाबू जी याद करके बतलाइये कि आपने अपने किस भाँजे या भाँजी को बचपन में मारा था क्योंकि चाची कहती हैं कि जो भाँजे या भांजी को मारता है बुढ़ापे में उसका हाथ काँपता है।" वे खिलखिला कर हँस पड़े, बोले—"तुम्हारा नाम ठीक रखा गया है—तुम बड़ी विनोदशील भी हो।"

समय-चक्र चलता रहा और उनके जाने का समय आगया। बचपन से जिनके पास रही, दुर्भाग्य ऐसा कि अन्तिम समय नहीं ही पहुँच सकी। उसी दिन—उनके देहावसान के कुछ घन्टों पश्चात् ही—पुष्पा[७] का जन्म हुआ था। अन्तिम दर्शनों से वंचित रह गई जिसकी कसक आजीवन बनी रहेगी।

आगे क्या लिखूँ, आपका (पंडित त्रिलोचन पंत) तो जीवन ही उनके साथ व्यतीत हुआ है। अब तो केवल सबकी याद कर लेती हूँ। पूज्य बाबू जी चले गये—पूज्य छुटचा चले गये। जाने

---

३. मालवीय जी के ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय रमाकान्त जी के द्वितीय पुत्र

४. लेखिका के पिता, मालवीय जी के कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय गोविन्द मालवीय।

५. रमाकान्त जी मालवीय।

६. बाबू जी का सेवक।

७. लेखिका की पुत्री।

वाले जाकर ही अमर हो गये परन्तु मेरा तो मन उनकी याद में रोया करता है। ऐसा लगता है मानों धीरे-धीरे प्यार करने वाले और आशीर्वाद देने वाले चले जा रहे हैं।

अन्त में पुनः यही प्रार्थना करती हूँ कि आने वाली पीढ़ियों को स्त्रियों और पुरुषों को पूज्य बाबू जी की मूर्ति को देखकर प्रेरणा मिले और उनके पद्‌चिन्हों पर चलने की योग्यता प्राप्त हो, दुःख से पीड़ित प्राणियों का कष्ट दूर हो और उनकी आत्मा को सन्तोष मिले।

* * *

देशभक्ति का सच्चा धर्म

यह सच्चा धर्म देशभक्ति द्वारा प्राप्त है। देशभक्ति का संचार हमारे हृदय से स्वार्थ को निकाल कर फेंक देगा। हम अदूरदर्शी, स्वार्थी और खुशामदियों की तरह ऐसे कार्य कदापि न करेंगे जिनसे कि देशवासियों को हानि पहुंचे, बल्कि दूरदर्शी, परमार्थी, सत्यशील और दृढ़ताप्रिय आत्माओं की भांति, असंख्यों कष्ट उठाते हुए भी वही करेंगे, जिसमें देश का भला हो। निर्धन, धनवान्, निर्बल और मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जायं, प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दुःख मिटें और दुर्भिक्ष आदि विपत्तियां दूर होकर लाखों बिलबिलाती हुई आत्माओं को सुख पहुंचे। देशभक्ति द्वारा इतने धर्मों का सम्पादन होता हुआ देखकर भी यदि कोई धर्म के आगे देशभक्ति को कुछ नहीं समझता, उस पुरुष को जान लीजिए कि वह धर्म के तत्व ही को नहीं पहचानता। वह 'धर्म-धर्म' शब्द गा रहा है, परन्तु यह नहीं जानता कि धर्म क्या वस्तु है। प्रायः हमारे देश भाइयों का विचार है कि ईश्वर का भजन और उपासना करनी चाहिए, जिससे परलोक संभले, और झगड़ों में क्या रक्खा है। वास्तव में झगड़ों में कुछ नहीं रक्खा है, परन्तु देशभक्ति उन झगड़ों में शामिल नहीं है। यह धर्म का एक साधन है, और जैसे कि गृहस्थाश्रम का पालन किये बिना वैराग्य ग्रहण करना अधर्म है, उसी प्रकार बिना देश-भक्ति किये हुए मत-मतान्तरों में पड़े रहना अधर्म समझना चाहिए।

——महामना मालवीय

स्वर्गीय आचार्य नरदेव शास्त्री

भारतीय आस्तिकता का जीता-जागता स्तंभ

'महामना'––'मदन'––'मोहन' यह बात तो लोगों की समझ में आ जाती है पर 'मालवीय' का अर्थ उनकी समझ में नहीं आता कि 'मदन-मोहन' के साथ यह 'मालवीय' का पद क्या है ? इनके पूर्वज 'मालवा' प्रदेश से आकर प्रयाग में बसे थे। वे अपने नाम के साथ "मालवीय" शब्द का व्यवहार करते रहे तब से इनके वंशजों के नाम के साथ "मालवीय" शब्द चल पड़ा। "मालवीय" मालवा के निवासी।

महामना मालवीय स्वयं कहा करते थे "शास्त्री जी, मेरे पिता भागवत के बड़े नामी पण्डित थे। भागवत की कथा कहा करते थे––ऐसी सुन्दर कथा कहा करते थे कि लोगों की कथा सुनने के लिए बड़ी भारी भीड़ लगा करती थी। वे ८० वर्ष के होकर कालवश हुए। "विद्यावतां भागवते परीक्षा" विद्या वालों की परीक्षा भागवत में होती है। क्योंकि इसमें अनेक प्रकरण ऐसे हैं जो साधारण संस्कृतज्ञों की समझ में नहीं आ सकते। विशेषकर वेदस्तुति के प्रकरण को कोई-कोई समझ पाता है और उसके तथ्य को कोई ही कह सकता है। ऐसा है वह कठिन प्रकरण। कइयों ने तो वेद-स्तुति पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाला है।"

यही कारण है कि मालवीय जी संस्कृत के अच्छे पण्डित हुए। अंगरेजी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही वे बहुत-कुछ 'संस्कृतज्ञ' थे, फिर बड़े होकर भी पढ़े, इसलिए संस्कृतज्ञ पण्डितों में सरल, ललित संस्कृत बोल लेते थे। काशी के संस्कृत सम्मेलन में तो उन्होंने अपने संस्कृत के भाषण से काशी के पण्डितों को मुग्ध कर डाला था।

मालवीय जी जन्म से ही वक्ता थे। उधर मधुर-भाषित्व पैतृक संस्कारों के कारण आया। उस वक्तृत्व का प्रभाव उनकी अंगरेज़ी, हिन्दी आदि पर पड़ा। इसीलिए अंगरेज़ी के विद्वान् 'चांदी की जिह्वा वाले मालवीय जी' कहा करते थे। संस्कृत बोलते थे तब उसमें पुराण, भागवत, महाभारत के प्रमाणों के प्रमाण आते थे। जब इनकी अंग्रेज़ी चलती थी तो उसको सुन कर अंग्रेज़ भी दंग रह जाता था। इनकी अंग्रेजों के समय की कौंसिलों की स्पीचों को लोग अब तक याद करते हैं। हिन्दी भाषण का तो कहना ही क्या है। इनकी उर्दू चलती थी तो हिन्दी का एक शब्द नहीं आने पाता था। हिन्दी बोलते थे तो उर्दू नहीं आने पाती थी। जब लौकिक प्रयाग की पूर्वीय बोलते थे तब गाँव की जनता मुग्ध हो जाती थी। हमने मालवीय जी का ऐसा भाषण प्रयाग के कुम्भ में सुना था। अंग्रेज़ी के एक बड़े प्रोफेसर हमसे बोले––'आज हम यह भाषण सुन कर कृतार्थ हुए। हमारा जन्म सफल हुआ।"

मालवीय जी महाराज से हमारा प्रथम परिचय लखनऊ कांग्रेस में हुआ और वह परिचय कांग्रेस के अधिवेशन में—आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटियों में बढ़ता गया। काशी, हरिद्वार, देहरादून, मसूरी में वह सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया। जब वे गरमियों में मसूरी आते थे तब दो-दो महीने रहते थे। हम, घनानन्द हाई स्कूल के गंगादत्त पाण्डे, और बहुत से लोग प्रतिदिन उनके पास जाते थे और ३-३।। घण्टों में लौट आते थे। हम तो उनकी बातें सुन-सुन कर थक जाते थे, पर मालवीय जी बोलते-बोलते कभी नहीं थकते देखे गए। यह बात स्वयं मालवीय जी के लिए अच्छी थी कि पूजा-पाठ के समय वे किसी से नहीं बोलते थे। नहीं तो इस जन्म में उनका पूजा-पाठ कभी न बन पाता।

वे हिन्दू-धर्म की चलती-फिरती मूर्ति थे। हिन्दू हो तो कैसा हो मालवीय जी जैसा हो। राजनीति में मालवीय जी नरम यानी मीठे नेता थे। पर सदा समय पर कांग्रेस के काम आते रहे। आड़े वक्त में जब सब नेता जेल में बन्द हो जाते थे, तब कांग्रेस अधिवेशनों के यही तो सभापति बनते थे और जेल जाते थे—वे जेल में क्या जाते थे, उनका रसोइया, कहार, तेल मलने वाला सब को साथ ले जाते थे और अंग्रेज़ भी जानते थे कि मालवीय जी भावुक व्यक्ति हैं—भावुकता में आ गये हैं। चौरी-चौरा का सत्याग्रह जब हो गया, तब ऐसा जंचता था मानो कांग्रेस मर गई। ऐसे विकट समय में भी मालवीय जी चौरी-चौरा पहुंचे। गोरखपुर जिले में व्याख्यानों की झड़ी लगा दी। कांग्रेस में मालवीय जी बहुत गरम प्रस्तावों के विरोध में बोलते थे। कांग्रेस नरम हुई कि मालवीय गरम हो जाते थे। उनकी नरमी-गरमी को कोई थर्मामीटर ठीक तरह बतला नहीं सकता था।

अमृतसर के जलियाँवाला बाग काण्ड के विषय में वे छः घण्टे बोले, इतना गरम बोले कि सरकार उस काण्ड की जाँच कमीशन के लिए हण्टर कमीशन बैठाने के लिए बाध्य हुई। उनका वह व्याख्यान इतना करुणरस से भरा हुआ था कि उसको सुनकर कौंसिल के अंग्रेज़ मेंबर हक्का-बक्का रह गये, हिन्दी मेंबर रो पड़े और बाहर जिसने वह भाषण पढ़ा-सुना, वह भी रो पड़ा। गान्धीजी इनको "बड़े भाई" कहते थे। बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन में जब महात्मा गान्धी कांग्रेस के उपरत होने को हुए तब इस बड़े भाई ने भी इन को समझाया कि "कांग्रेस न छोड़ो" "कांग्रेस की हानि होगी।" तब गान्धी जी केवल कभी-कभी मुस्कराते रहे। एक ने—शायद विधानचन्द्र राय ने कहा "महात्मा जी, आप ऐसा क्यों करने लगे हैं ?" तो महात्मा जी बोले, "आप उस मास्टर को लेकर रख कर क्या करेंगे, जिसके ट्यूशन में लड़का सदा फेल ही रहता आया हो।"

कांग्रेस में मालवीय जी आते थे। अपनी बात कह जाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मालवीय जी के व्याख्यान के प्रवाह में लोग बह जायेंगे। उन्हीं को वोटें अधिक मिलेंगी पर जब वोट लिए जाते तब कांग्रेस के नेताओं को ही वोट अधिक मिलते थे। वैसे कांग्रेस के मंच के नेता मालवीय जी के भाषण को बड़े ध्यान से सुनते जाते थे, पर बोलते समय खण्डन करते थे।

एक बार हरिद्वार में हरिद्वार यूनियम ने हरि की पौड़ी पर कथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पण्डों-पण्डितों में खलबली पड़ गई। उन्होंने सत्याग्रह बोल दिया। मैंने भी इस सत्याग्रह में पण्डों

का पूरा साथ दिया। खूब आंदोलन किया---हरिद्वार-यूनियन के विरुद्ध। हमने मालवीय जी को बुलाया, उनके आने की कोई आशा नहीं थी। पर एक दिन देखते हैं क्या, चुपचाप प्रयाग से आ धमके और कहने लगे, आज हमारी कथा रख दो। सायंकाल इस कथा में ५० सहस्त्र से कम की भीड़ नहीं थी। मालवीय जी की कथा क्या थी, मानो साक्षात सप्तस्रोत पर व्यासपुत्र शुक की कथा थी---बस फिर क्या था। हरिद्वार की हरिद्वार-यूनियन अर्थात् म्यूनिसिपैलिटी का प्रतिबन्ध हट गया। १४४ धारा टूट गई। सत्याग्रह में गये पण्डे और कथावाचक सब जेल से वापस आये। देखने को कितना क्षुद्र सत्याग्रह था "कथा" का, पर इतना बड़ा मालवीय हिन्दू-हित पर आघात नहीं सह सकता था। आखिर वह सत्याग्रह में आ गये, उनसे न रहा गया।

एक बार उन्होंने एक तार लिखा और अपने प्राईवेट सैक्रेटरी त्रिलोचन पन्त को दिया। "जाओ, कर आओ" त्रिलोचन पन्त वहाँ से खिसके। मैं पास ही बैठा था। मालवीय जी बोले, "इस समय हमारे पास कोई आदमी नहीं हैं, तुम्हीं दौड़ कर त्रिलोचन को बुला लाओ। तार में दो शब्द जोड़ने को रह गये हैं" मैं दौड़ा गया एक फर्लांग और त्रिलोचन पन्त को बुला लाया। मालवीयजी ने उसमें (तार में) न जाने क्या-क्या काटा और क्या-क्या मिलाया। त्रिलोचन फिर तार देने गये। थोड़ी दूर त्रिलोचन गये या न गये थे कि मुझे फिर हुक्म हुआ कि त्रिलोचन को लौटा लाओ। मैं फिर त्रिलोचन पन्त को बुला लाया। मालवीय जी ने पहला तार रद्द किया और नया ही लिख डाला। फिर त्रिलोचन तार देने गये। जाते-जाते मेरे कान में कह गये "अब फिर मुझे बुलाने नहीं आना। यहाँ तो प्रतिदिन यही किस्सा रहता है।"

थोड़ी देर में मालवीय जी को न जाने क्या ध्यान आया, मुझसे फिर बोले "हो सके तो त्रिलोचन को रोको।" त्रिलोचन बंगले की पीछे की पगडण्डी से न जाने कहाँ पहुंच गये। मैं आया और मालवीय जी से कहा---"त्रिलोचन कहां सटक गए, बड़े मार्ग पर तो नहीं मिले।" तब मालवीय जी ने कहा कि नहीं मिलता है तो रहने दो।

इनके यहां मिलने-मिलाने की कोई रुकावट नहीं रहती थी। जो भी मिलने आता था, बिना किसी रुकावट के इनके पास पहुंच जाता था। मैंने भारतवर्ष में दो ही नेता देखे जिनके यहां मिलने-मिलाने की कोई रुकावट नहीं थी, एक तो मालवीय जी के यहां और दूसरे लोकमान्य तिलक के यहां। अन्य नेताओं के वालण्टियर बहुत तंग करते रहते थे। वे किसी को भी अप्रसन्न नहीं रखना चाहते थे। एक बार एक आर्टिस्ट चित्रकार आया और बोला---बाबू जी, मैं आपका चित्र खींचना चाहता हूँ। आप अपना चित्र खिंचवाना चाहेंगे तो प्रतिदिन आठ दिन तक एक घण्टा स्थिर बैठना होगा। आप अपना काम करते रहिए। मैं उसमें बाधा नहीं डालूंगा, पर एक ही जगह बैठे रहिए। मालवीय जी ने मान लिया। आठ दिन तक मालवीय जी बराबर एक घण्टा बठे रहे।

जब चित्र तैयार हो गया तो चित्रकार बोला---'यह लीजिए आपका सुन्दर चित्र।' देख कर मुस्करा कर बोले---'चित्र तो सुन्दर है पर इस चित्र में मैं कहां हूँ---यह तो किसी और का प्रतीत होता है, मालवीय का नहीं। इस चित्र को उसी को दे दो जिसका है।'

यह सुनकर सब लोग हँस पड़े और नया चित्रकार लज्जित हो गया। फिर भी महामना मालवीय जी ने उस चित्रकार को पारिश्रमिक-पुरस्कार दे ही दिया।

जब हिन्दुओं पर किए गए अत्याचारों की खबर महामना जी के पास काशी पहुँची उसको सुनकर मालवीय जी बच्चों की तरह रोने लगे, 'अरे मेरे भाइयों के साथ इतना अत्याचार!' नोआखाली की खबर सुन कर उनको कई दिन ज्वर रहा।

महामना मालवीय कोई एक व्यक्ति नहीं थे, संस्था थे। एक संस्था नहीं थे, अपितु अनेक संस्था थे। अनेक संस्थाए नहीं थे, अपितु समस्त भारत की प्रतीक चलती-फिरती मूर्ति थे।

विलायत में गोलमेज कान्फ्रेंस हुई थी। निमन्त्रण आया सब विचार के नेताओं के पास। महामना मालवीय जी के पास भी निमन्त्रण आया। अन्य नेता तो बड़े मौज में गए। महामना मालवीय जी के सामने एक बड़ी दिक्कत थी। वह थी "शास्त्र-निषिद्ध" समुद्र यात्रा की। एक ओर "निषिद्ध समुद्र-यात्रा" दूसरी ओर अत्यन्त आवश्यक स्वदेश में स्वराज्य का प्रश्न। आखिर मालवीय जी इतने संकुचित विचार के हिन्दू नेता नहीं थे। वे उदार थे इसीलिए जनता ने उन्हें एक स्वर से 'महामना' कहा, माना, उनका आदर किया।

स्वदेश से, विदेश गये अपनी गंगाजली मिट्टी को लेकर। हमारे नेताओं में कोई तो बूट सूट-पतलूनधारी, अंगरेजी ठाट-बाट के पुजारी। राऊण्डटेबल कान्फ्रेंस में दो ही ऐसे व्यक्ति थे जिनकी ओर सबका ध्यान रहा। एक महात्मा गांधी थे जो अंगोछा बांध कर और कंधे पर एक दुपट्टा डाल कर गए थे। वेष-भूषा से भारत के महात्मा जान पड़ते थे। दूसरे थे मालवीय जी, जो वेष-भूषा और माथे पर चन्दन के तिलक आदि से भारतवर्ष के कट्टर हिन्दू प्रतीत होते थे। एक बार तिलक भी विलायत गए थे। उन्होंने अपनी पेशवाओं की पगड़ी नहीं छोड़ी थी। उनकी मरहठाशाही पगड़ी को देखकर वहां के लोग चिल्ला उठते थे——वह देखो तिलक जा रहे हैं। विलायत से वापस आकर लोकमान्य तिलक ने समुद्रयात्रा का प्रायश्चित्त किया था। मालवीय जी गंगा जल साथ ले गए थे। वे तो कभी अशुद्ध नहीं हुए तथापि समुद्रयात्रा के संसर्गजन्यदोष-निवारणार्थ प्रयागराज के संगम पर दान-पुण्य किया ही।

मैं लिख रहा था गोलमेज की बात। वहां मालवीय जी और गान्धी जी ने जो कुछ कहा उन्हीं भाषणों की ओर लोगों का अधिक ध्यान रहा और प्रतिनिधियों ने बड़े आदर-भाव से सुना। ये दोनों नेता एक बात में अद्वितीय रहे। महामना मालवीय जी राजभोज में गए, पर पदार्थों को छूआ भी नहीं। गान्धी जी तो राजभोज में गए ही नहीं। किस विचार से ? इस विचार से कि मैं भारत का प्रतिनिधि हूँ। मैं भला इनका भोजन कैसे करूं। भाषण में मैं कोई ऐसी बात कह गया तो भारत की जनता कह उठेगी कि लो, महात्मा जी पर भी राजभोज का प्रभाव पड़ गया।

महात्मा गांधी भोज के समय अलग जिस कमरे में बैठे थे——अखबार पढ़ रहे थे वहीं पर इंगलैंड का राजा आया और गांधी जी से मिल गया।

बी० बी० सी० विलायत की रेडियो की एक बड़ी कम्पनी है। उस कम्पनी ने भारत-वर्षीय कतिपय नेताओं के भाषण रिकार्ड कराए। आश्चर्य कि अनेक नेता पालिटिक्स अर्थात्

राजनीति पर ही बोले। जब महात्मा गान्धी और महामना की बारी आयी तब दोनों ने स्पष्ट शब्दों में कम्पनी से कहा कि ––

"संसार की राजनीति कभी स्थिर नहीं रही। प्रतिदिन प्रतिक्षण बदलती ही रहती हैं, इसलिए प्रतिक्षण बदलती रहने वाली पालिटिक्स पर हम क्या बोलें। इस प्रकार का भाषण तो कोई चिरस्थायी भाषण नहीं होगा।"

कम्पनी के डायरेक्टर ने कहा––"तो फिर आप किस विषय पर बोलेंगे, हमारे देश में तो पालिटिक्स ही चलती है, पालिटिक्स ही पुजती है। हमारे देश में पोलिटिकल नेता का ही महत्व है।"

"हम तो ईश्वर विषय पर ही बोलेंगे जो सदा एकरस रहता है। न कभी बदलता है।"

इसको सुनकर महामना भी बोले––"मैं भी ईश्वर विषय पर ही बोलूँगा"—इन दोनों का ईश्वरविषयक व्याख्यान रिकार्डवन्द है और जब चाहे रिकार्ड की डण्डी मारी और व्याख्यान सुन लिया। इन दोनों ने विदेश में भारतीय आस्तिकता का जीता-जागता उदाहरण प्रस्थापित किया।



सेठ जुगुलकिशोर बिरला

पूज्य मालवीय जी के निकट सम्पर्क में

पूज्य मालवीय जी के प्रथम दर्शन मैंने लगभग ५० वर्ष पूर्व कलकत्ता में किये थे जब कि वे वहाँ काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना के उद्देश्य से धनसंग्रह के लिए गये थे। उसके पश्चात् तो उनका सम्पर्क तथा अनुग्रह बढ़ता ही गया और उनसे हम लोगों का परिवार जैसा सम्बन्ध स्थापित हो गया। उनका स्वभाव इतना सुन्दर था कि जो भी उनके सम्पर्क में आया उनके स्नेहपाश में बंध गया। वे जहाँ भी गये अपनी आत्मीयता बिखेरते गये और प्रायः सारा भारत उनका अपना परिवार बन गया। विदेश में भी उनके मित्रों की संख्या कम नहीं थी।

मालवीय जी सच्चे अर्थों में महामना थे। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा गीता में वर्णित दैवी सम्पत्तियों के तो वे मूर्तिमान् प्रतीक थे। वे जनता को जनार्दन का स्वरूप मान कर उसकी सेवा करते थे। प्रजा पर जब जहां कोई संकट आता मालवीय जी के लम्ब हाथ वहां पहुंच जाते और वे कष्टनिवारण के लिए यथासाध्य प्रयत्न करते। उनका व्यक्तित्व एक ऐसे विशाल वट-वृक्ष की भांति बन गया था कि उसकी छत्रछाया में सब प्रकार के लोगों को सुखशांति का अनुभव होता था।

उनका कार्यक्षेत्र बड़ा व्यापक था। शिक्षा-प्रसार, स्वराज्यप्राप्ति तथा हिन्दुओं की सामाजिक दुर्बलता दूर करने के लिए शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर शुद्धि तथा अछूतोद्धार इत्यादि सभी कार्यों में वे अग्रणी रहे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी अक्षय कीर्ति का जीता-जागता स्मारक है। उसकी स्थापना का उद्देश्य यही था कि भारत अपने प्राचीन गौरव तथा जगत्-गुरुत्व के पद को फिर से प्राप्त करे।

यद्यपि उनकी यह इच्छा उनके जीवन-काल में पूर्ण नहीं हुई, किन्तु जो प्रेरणा वे भारतीय राष्ट्र को दे गये वह उन जैसे महात्मा के ही योग्य थी। उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय आदि हिन्दू नेताओं का सम्मेलन करके जो हिन्दू संघटन का आन्दोलन चलाया था उसका भी यही उद्देश्य था कि हिन्दुओं के संघटित होने पर ही भारत की उन्नति हो सकती है। उनकी दृष्टि में हिन्दुत्व समस्त मानवीय सद्गुणों का प्रतीक था। वे सनातनी, आर्यसमाजी, बौद्ध, जैन, सिख आदि को, जो मूल में एक ही हैं, आर्यधर्म-परिवार की भिन्न-भिन्न शाखाएं समझते थे।

यद्यपि मालवीय जी प्राणिमात्र के हितैषी थे तथापि आततायियों के प्रति कठोरता का वर्ताव करने में ही वे भलाई समझते थे। राजनीति तथा समाज के लिए वे महात्मा गांधी के अहिंसा के विरोधी थे। उनके जीवन के अन्तिम दिनों में पूर्वी बंगाल तथा दूसरे स्थानों में हिन्दुओं

पर जो संकट आये उनके कारण उनको बहुत आघात पहुँचा। उन्होंने मरने के पूर्व जो अन्तिम वक्तव्य दिया था उसके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

"पिछले वर्षों में हिन्दुओं ने सदा हानि उठायी है, उनकी आशाओं पर विकसित होने के समय ही पानी फेर दिया गया है और भारतीय राष्ट्रीयता के नाम पर उनकी सदा अवहेलना की गयी है। हिन्दुओं के धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रश्नों पर निर्णय देने का अधिकार किसी प्रतिष्ठित हिन्दू संस्था को ही है। मैं इस प्रकार की प्रेरणा करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, क्योंकि इस समय हिन्दू संस्कृति और धर्म खतरे में है। परिस्थिति संकटापन्न है और ऐसा समय आ गया है कि हिन्दू एक होकर सेवा तथा सहायता के साधनों को परिपुष्ट करें और अपनी रक्षा तथा अपने स्वत्व को प्रभावशाली बनायें।"

महामना मालवीय जी के ये अन्तिम उद्‌गार आज भी विशेष ध्यान देने योग्य हैं। यदि वे जीवित होते तो निश्चय ही स्वतन्त्र भारत में धर्म की निरपेक्षता को कोई स्थान न मिलता, गोवध का कलंक दूर हो गया होता, हिन्दी व्यावहारिक रूप से राष्ट्रभाषा बन गयी होती और विधर्मियों द्वारा हिन्दू जन-संख्या की जो लूट हो रही है, वह न हो पाती।

भगवान् से प्रार्थना है कि हिन्दुओं को सुबुद्धि दें जिससे कि वे अपनी स्थिति पर गम्भीरता से विचार कर सकें।



सौभाग्यवती श्रीमती कमलाबाई किबे

आदर्शवादी नेता महामना मालवीय जी

बम्बई के कांग्रेस-अधिवेशन में हम गये थे। उस समय स्वर्गीय पंडित मदनमोहन मालवीय तथा गो-प्रचारक श्री चौंड़े महाराज यह दोनों मंडप के बाहर आकर कुछ गोपनीय बातचीत कर रहे थे। यह दृश्य मैंने दूर से देखा। इसके पूर्व मैंने मालवीय जी का नाम मराठी तथा हिन्दी पत्रों में पढ़ा था। उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के भवन-निर्माण कार्य के लिये संस्थानों में जाकर जो लोग चंदा एकत्रित करने का कार्य कर रहे थे, उनमें एक प्रमुख व्यक्ति महामना मालवीय जी माने जाते थे।

आर्यसमाज की शैक्षणिक संस्थाओं को छोड़कर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के कार्य के संबंध में भारत में महामना मालवीय जी के प्रति जनता में बहुत आदर तथा सहानुभूति थी। समस्त उत्तर भारत के उस समय के प्रमुख नेता श्री मालवीय जी ही थे। ज्योतिषशास्त्र में योग्य सुधार करने के लिये मालवीय जी हर समय भरसक प्रयत्न करते थे। वह हिन्दू धर्म के कट्टर पक्षपाती थे। उनका आचार-विचार अत्यन्त शुद्ध था। उनका हृदय गंगाजल के समान पवित्र था। इन्हीं गुणों से भारतीय जनता उनका बड़ा सम्मान करती थी।

महान् अंग्रेजी शासन के समय अपने भूले हुए न्यायपूर्ण तथा नागरिक अधिकारों की जागृति, जनता में जाग्रत् करने के लिये जिस प्रकार लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाराष्ट्र में पैदा हुए थे, उसी प्रकार महामना मदनमोहन मालवीय जी ने सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक कार्यों में एक प्रमुख नेता के रूप में उत्तर प्रदेश को ऊंचे स्तर पर उठाकर धन्य किया था। उनका स्वच्छ और सीधा पहनावा तथा प्रत्येक से मिष्ठभाषा और नम्रतापूर्वक बोलने का एक विशिष्ट प्रकार आदि सब गुण ध्यान में रखने योग्य हैं।

सन् १९३१ में श्री मालवीय जी विलायत गये थे। उस समय वे बिरला-भवन में ठहरे थे। वहां पर उनके पुत्र और वे स्वयं रेशमीवस्त्र पहनकर अपने हाथों से रसोई बनाकर भोजन करते थे। यह उनका नित्य नियम वहां पर भी कायम था। यह हमने अपनी आंखों से देखा था। क्योंकि, उस समय हम भी बिरला-भवन में ही ठहरे थे, जिससे उनकी दिनचर्या हमें नजदीक से देखने को मिलती थी।

उनके पुत्र अति दक्षता पूर्वक उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक कामों में भलीभांति ध्यान दिया करते थे। यह उनका एक कौटुंबिक महान् भाग्य था और इस भाग्य को हर एक कुटुंब के तरुण और बालक तथा बालिकाओं को ध्यान में रखकर उसी प्रकार अनुकरण करना चाहिये

ऐसा आज की विचित्र परिस्थिति देखकर कहना ही पड़ता है। बिरला-भवन में महामना मालवीय जी और हम ठहरे थे। उस समय उन्होंने इलाहाबाद के प्रसिद्ध वकील डा० तेजबहादुर सप्रू से मेरा परिचय करा दिया था। मुझे बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ कि श्री तेजबहादुर सप्रू का और मेरा परिचय केवल वर्तमान पत्रों में उनका नाम पढ़कर हुआ था। इस प्रकार मालवीय जी की मेरे ऊपर बड़ी कृपा थी।

कानून के पंडितों की कार्यभूमि हाईकोर्ट में हजारों मुअक्किल और वकील थे ही और यह श्री सप्रू जी के आगे पीछे हरवक्त घूमा ही करते थे किन्तु इसके अपवाद बंगाल के प्रसिद्ध वकील स्वर्गीय श्री चित्तरंजन दास थे। वकालत के पेशे में अपना व्यवसाय सम्हालकर वकील कैसा होता है और होना चाहिये इसका उदाहरण श्री सप्रू और श्री चित्तरंजनदास इन दोनों ने भारत को बता दिया था, और अपने अच्छे व्यवहार के कारण वकीली धंधे को ऊंचे स्तर पर कायम किया था। यह कल्पना मेरे मन में श्री सप्रू जी के मुलाकात के बाद आई, उसे प्रकट करने में मुझे कोई संकोच नहीं है।

बिरला-भवन में हमारा और महामना मालवीय जी का एक जगह एक मास तक साथ होने के कारण बहुत ही नजदीक से मुझे उन्हें देखने का अवसर मिला।

भरतपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मैं प्रथम बार गई थी। मेरे साथ मेरे कौटुंबिक डॉक्टर श्री सरजूप्रसाद तिवारी भी थे। श्री किबे साहब सम्मेलन में बाद में आने वाले थे। डॉक्टर सरजूप्रसाद का कहना था कि मैं जिस प्रकार मराठी साहित्य सम्मेलन में भाग लेती हूं उसी प्रकार मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भी काम करना सीखना चाहिये। वे आग्रह पूर्वक मुझे भरतपुर के सम्मेलन में ले गये थे। उन दिनों भरतपुर में महिलाओं में बड़ा परदा था। मैं तो सभा सम्मेलनों में महाराष्ट्रीय होने के नाते कभी परदा नहीं रखती थी। फिर भी जिस संस्था या सम्मेलन में मुझे जाना पड़ता था, वहां मुझे वहां के रीतिरिवाजों को सम्मानपूर्वक निभाना पड़ता था, और यह समझदार मानव का धर्म भी है, ऐसा समझकर मैं अधिवेशन के दिन चिक के पर्दे के पीछे बैठी, जहां महिलायें बैठी थीं, किन्तु परदे में बैठने की मुझे आदत न होने के कारण मेरी आंखों को तकलीफ होने लगी। इस कारण मैंने डाक्टर साहब से कहा कि सार्वजनिक मंच के पास हमारे बैठने का प्रबंध किया जाय। इसके अनुसार मंच के बगल में हमारे बैठने का प्रबंध हुआ। मैं और मेरी अल्पपरिचित भगिनियां श्री यमुनादेवी शास्त्री और श्री कुमारी चौधराणी आदि चार पांच महिला सहित हम सब वहां बैठे थे।

सम्मेलन शुरू होने में थोड़ा समय बाकी था। सरस्वती-वंदना समाप्त हो चुकी थी। किन्तु सरस्वती-वंदना तथा पूजन में एक भी महिला ने भाग नहीं लिया था, यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। थोड़े समय बाद एक स्वयंसेवक मेरे पास आया और बोला कि आप मंच पर चलिये, किन्तु अल्प परिचित साहित्यिकों में जाकर बैठना मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ा। इससे मैंने स्वयंसेवक को उत्तर दिया कि हम यहां ही आराम से बैठे है। स्वयंसेवक ने जाकर मंच पर बैठे हुए एक सज्जन से मेरा संदेशा कहा। इसके बाद ही मंच पर बैठे हुए मालवीय जी महाराज ने

कहा कि "पुत्री पिता की बात नहीं सुनती क्या ?" यह शब्द सुनते ही मैं अपनी परिचित बहिनों सहित मंच पर जाकर बैठ गई।

सम्मेलन प्रारंभ हुआ। मैंने मन में कहा कि आज से मैं श्री मालवीय जी की धर्म-पुत्री बन गई, यह मेरे लिये अभिमान की बात है। सभा समाप्त होने के बाद ही मेरे पास बैठे हुए 'कर्मवीर' के प्रसिद्ध संपादक श्री माखनलाल चतुर्वेदी (एक भारतीय आत्मा) ने मुझसे विनोद में कहा कि आपने हमारा मंच आज पवित्र किया। श्री माखनलाल जी कई बार सार्वजनिक कामों से इंदौर आये थे, जिसके कारण मेरा और उनका पूर्व परिचय भी था। मैंने सात्विक आनन्द से उन्हें उत्तर दिया और कहा कि अधिक महिलाओं के इस मंच पर आकर बैठे बिना हिन्दी साहित्य सम्मेलन की शोभा नहीं बढ़ती, यह सुनकर वह भी हँस पड़े।

जब जब हम काशी जाया करते थे, तब तब पवित्र गंगा-स्नान, श्री विश्वनाथ-दर्शन और इसी प्रकार महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी का दर्शन किये बिना वापस नहीं आते थे। वे जब तक विद्यमान थे, तब तक हमारा यह नियमित नियम था। उनके प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धा-भक्ति थी।

उत्तर प्रदेश को श्री मालवीय जी सरीखे विद्वान् और पवित्र आचरण का आदर्श रखने वाली विभूतियों का लाभ होता जाय यही मेरी श्री काशी विश्वनाथ के चरणों में प्रार्थना है।



श्री विष्णुकान्त मालवीय

हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान के प्राण महामना मालवीय

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सन् १९३१ में 'हिंदी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' के प्राण महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के संवंध में लिखा था—"मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूं। पुजारी कैसे स्तुति के वचन लिख सके हैं? वह जो कुछ लिखेगा, उसे अपूर्ण-सा प्रतीत होगा। मालवीय जी का दर्शन मैंने सन् १८९० में एक चित्र द्वारा किया था। वह चित्र विलायत में 'इंडिया' पत्र में था, जो मिस्टर डिगवी निकालते थे। आज मालवीय जी के साथ देशभक्ति में कौन मुकाबला कर सकता है। यौवन-काल से आरम्भ करके आज तक उनकी देशभक्ति का प्रवाह अविच्छिन्न चला आया है।"

महात्मा गांधी के उपास्य महामना मालवीय जी उस युग की विभूति थे, जब भारत दीर्घकालीन सुषुप्ति के वाद जागरण के प्रथम प्रभात में अंगड़ाइयां ले रहा था। राष्ट्र के इस नवीन अभ्युत्थान में जिन महापुरुषों ने योग दिया है, उनमें पंडित मदनमोहन मालवीय का नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायगा। महामना मालवीय ने अपनी दिव्यवाणी एवं देवोपम कार्यों द्वारा देश-वासियों में धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नवचेतना संचार की तथा इसके लिए देश सदैव उनका ऋणी रहेगा।

महामना मालवीय का जन्म प्रयाग के एक अत्यन्त कुलीन, धर्मपरायण किंतु निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता पंडित ब्रजनाथ अत्यन्त धर्मनिष्ठ, सदाचारी एवं भग-वद्भक्त ब्राह्मण थे तथा उनका सारा समय पूजा-पाठ एवं भगवद्भक्ति में व्यतीत होता था। वे एक प्रभावशाली कथावाचक भी थे तथा अपने सुन्दर वंशी-वादन से श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। कहते हैं कि सन् १८५७ की राज्य-क्रांति के समय, जब कि इलाहाबाद के चौक में फिरंगी, लोगों को बेकसूर पकड़-पकड़कर नीम के वृक्षों पर फांसी की सजा दे रहे थे, पंडित ब्रजनाथ ने उनके द्वारा गिरफ्तार किए जाने पर उन्हें अपनी वंशी की मनमोहक धुन से वशीभूत कर मुक्ति पायी थी। ऐसे भगवद्भक्त पिता का पुत्र होने के नाते मालवीय जी में बाल्यकाल ही से धार्मिक संस्कारों का उदय हुआ था, जो समय के साथ-साथ अधिकाधिक गहरा होता गया। यही कारण था कि वे हिन्दू संस्कृति, हिंदू धर्म एवं हिंदू जाति के रक्षार्थ आजीवन कृत-संकल्प बने रहे। वे तत्कालीन हिंदू समाज के व्याप्त अनैक्य एवं अकर्मण्यता को दूर कर उसमें संगठन, पारस्परिक राष्ट्रभावना एवं सहानुभूति का बीजारोपण करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से वे हिंदू महासभा, सनातन धर्म महासभा तथा महावीर दल के कार्यों में अत्यधिक दिलचस्पी लेते थे। जब कभी हिंदू जाति, धर्म एवं

संस्कृति पर कुठाराघात किए जाने की नौबत आयी, मालवीय जी एक सच्चे ब्राह्मण की भाँति स्थिति का सामना करने के लिए सबसे पहिले आगे आए। नोआखाली कांड से क्षुब्ध होकर महामना मालवीय जी ने जो वक्तव्य दिया था, उसके एक-एक शब्द आज भी हिंदू जाति के लिए अमृत-तुल्य हैं। उन्होंने अपनी रुग्ण-शैया से समस्त राष्ट्र को चेतावनी देते हुए कहा—"जब तक हिंदू एक जाति के रूप में कमर कसकर तैयार नहीं हो जायेंगे, तब तक हिंदू-मुस्लिम समस्या अपनी सारी भयंकरताओं को साथ लिए बनी रहेगी। हिंदू नेताओं का जैसा कर्तव्य अपनी मातृभूमि के प्रति है, वैसा ही अपने धर्म, संस्कृति और अपने हिंदू बंधुओं के प्रति भी है। यह नितान्त आवश्यक है कि हिंदू अपने को संगठित करें, सब एक होकर काम करें, निःस्वार्थ और देशभक्त कार्यकर्ताओं का एक दल निर्माण करें, जिनका एक मात्र उद्देश्य सेवा हो। जाति तथा वर्णगत भेदों को भुला दें और हिंदू जाति की रक्षा के लिये और अपने आदर्श तथा संस्कृति को बचाने के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करें। हिंदुओं को भयमुक्त होकर बहादुर और मजबूत बनना चाहिए। सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, स्वयंसेवकों की संस्थाएं बनानी चाहिए और आत्मरक्षा के लिए एक केन्द्रीय स्वयंसेवक सेना का निर्माण करना चाहिए।" मालवीय जी राष्ट्र को सबल बनाना चाहते थे। देश के नौनिहालों एवं भावी आशाओं को उनका उपदेश होता था —

दूध पियो, कसरत करो,
नित्य जपो हरि नाम,
हिम्मत से कारज करो,
पूरेंगे सब काम।

तकिए के सहारे अपना जीर्ण कलेवर लिए, श्वेत वस्त्र धारण किए, वे ऋषि सदृश सबको उपदेश देते थे। अपनी वाणी द्वारा राष्ट्र-निर्माण करते थे। किन्तु इतना सब होते हुए भी उनकी धार्मिकता संकुचित नहीं थी। उसमें साम्प्रदायिकता की पुट जरा भी नहीं थी। आप कट्टर हिंदू होते हुए भी हरिजनोद्धार एवं उनके मंदिर-प्रवेश के पक्षपाती थे। देशवासी उन दिनों की सुधि अभी तक बिसरा नहीं पाए हैं, जबकि मालवीय जी हरिजनोद्धार के लिए नासिक, कलकत्ता, काशी तथा अन्यान्य धार्मिक क्षेत्रों में अछूतों को मंत्रदीक्षा देकर उन्हें उच्चवर्ग के लोगों में सम्मिलित करते हुए देश का दौरा कर रहे थे।

सार्वजनिक जीवन में महामना के निकट हिंदू, मुसलमान, अंग्रेज़ एवं ईसाई का कोई भेदभाव नहीं था। आप 'सर्वभूत हिते रता' सिद्धान्त के अनुसार प्राणिमात्र का कल्याण करते थे। उन्हें गरीबों से परम स्नेह था, क्योंकि वे स्वतः एक गरीब परिवार में गरीबी की गोद में पले थे। गरीबों की व्यथा देखकर तथा उनकी करुण कहानी सुनकर उनका नवनीत-सा हृदय द्रवीभूत हो जाता था और वे स्वतः करुणार्द्र हो उठते थे। जिन लोगों ने महामना से साक्षात्कार किया है, वे उनके विनम्र स्वभाव, मधर भाषण, आचरण की पवित्रता एवं निःस्वार्थ सेवा आदि गुणों को अभी तक विस्मृत नहीं कर पाए हैं। महात्मा गांधी के शब्दों में वे ब्रह्मावर्त्त के परम प्रिय प्राणी

महामना मालवीय जी की हस्त-लिपि

श्रीः

चि. श्रीधर.

शुभाशिष. तुम्हारा पत्र मिला

[illegible]

Final परीक्षा के लिये [illegible]

और [illegible] पुस्तकें लेनी जरूरी हैं. [illegible]

और दाम लिख भेजो. [illegible]

तुम [illegible] परिश्रम के साथ और [illegible] उत्साह के साथ

पढ़ो और 1st division में पास हो.

[illegible] कुशल समाचार लिखते रहा करो.

सबको आशीष.

[illegible]

[illegible]

[illegible]

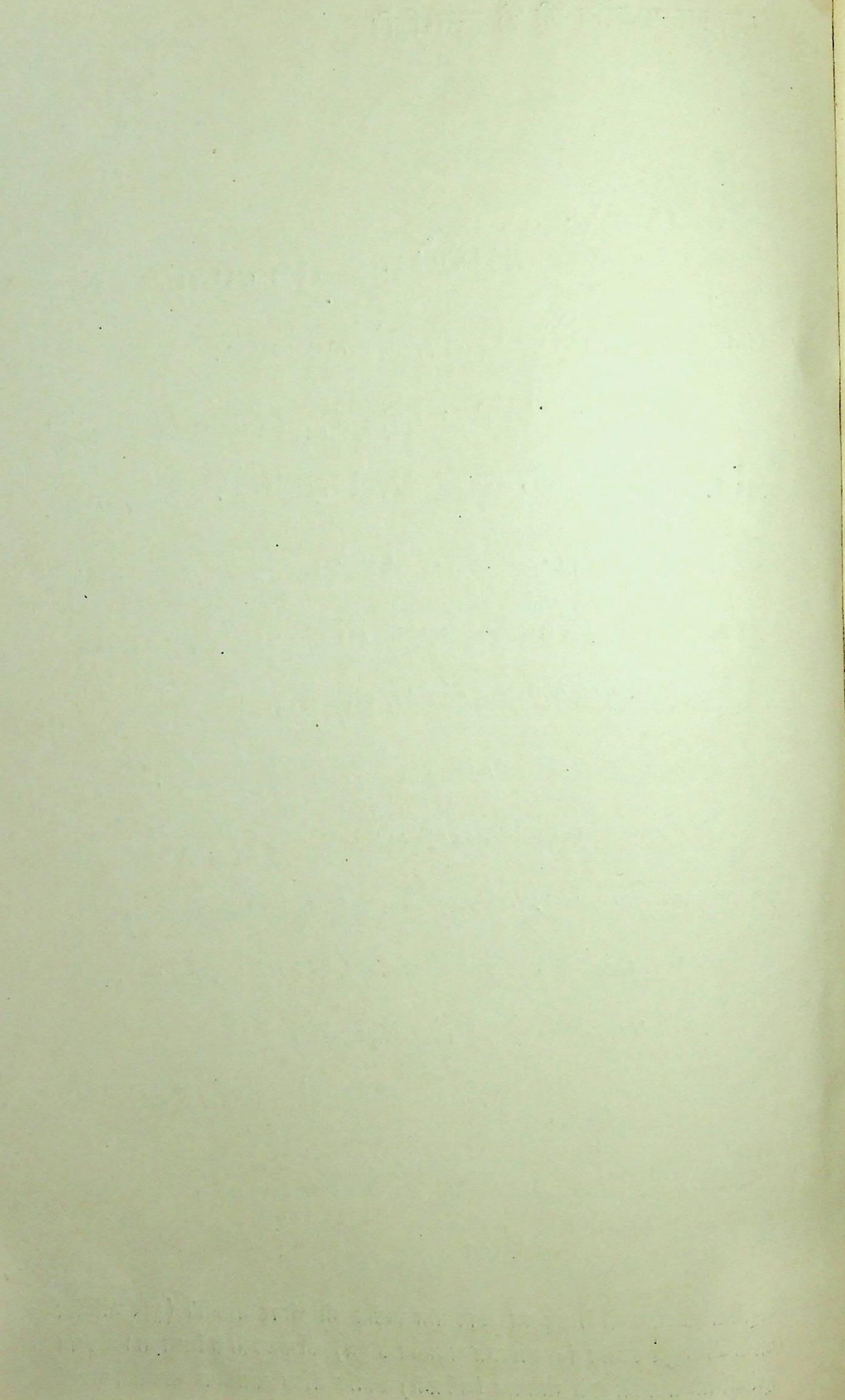
[illegible]

[illegible]

I.C.S. Examination में [illegible]

[illegible]

महामना मालवीय जी ने यह पत्र अपने पौत्र स्वर्गीय श्री श्रीधर मालवीय (पूज्य मालवीय जी के ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय पं० रमाकान्त मालवीय के पुत्र) को कलकत्ता से लिखा था। यह पत्र हमें श्रीमती सरस्वती देवी मालवीय (धर्मपत्नी) स्वर्गीय पंडित रमाकान्त मालवीय, भूतपूर्व प्रधान मंत्री हिन्दी साहित्य सम्मेलन, से प्राप्त हुआ है—सं० स० प०।



थे तथा राजा-रंक का समान रूप से आदर करते थे। अपनी इस लोकप्रियता के कारण वे अपने जीवनकाल में देश की अगणित संस्थाओं के प्राण-से बन गए थे। कांग्रेस, हिंदू महासभा, सनातन धर्म महासभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, अखिल भारतीय सेवा समिति आदि जैसी देश की अनेक संस्थाओं से उनका किसी न किसी ढंग से संबंध था। उनके व्यस्त जीवन को देखकर स्पर्धा होती थी। वास्तव में, मालवीय जी के जीवन का प्रत्येक क्षण गौरवमय तथा उनका व्यक्तित्व महान था। मालवीय जी के संबंध में महाकवि अकबर के ये हृदयोद्गार कितने फबते हैं :—

"भाई गांधी ख़ुदसरी कि आरज़ू के साथ हैं,
और सहाब लोग ग़रबी रंगो-बू के साथ हैं
मालवी जी सब से बेहतर हैं मेरी दानिस्त में,
यानी मंदिर में हैं और अपनी गऊ के साथ हैं।।

मालवीय जी स्नेह के आगार थे, साथ ही अत्यन्त सामाजिक एवं सहिष्णु। वृद्धावस्था में वे एक तीर्थ सदृश हो गये थे। काशी में उनके जीवनकाल में केवल दो वस्तुएं दर्शनीय समझी जाती थीं—एक तो विश्वनाथ जी की मूर्ति तथा दूसरी महामना की भव्य ऋषि-तुल्य जीवित प्रतिमा। अतएव प्रतिक्षण महामना के दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहता था।

एक दिन का जिक्र है। मालवीय जी आराम कर रहे थे कि एक दर्शनार्थी ने उनके कमरे के द्वार पर माथा टेका। भेंट करने का समय नहीं था, किन्तु उन्होंने यह जानकर कि वह परदेश से आ रहा है, उसको मिलने की अनुमति दे दी। आगन्तुक ने कमरे के भीतर प्रवेश करते ही श्रद्धा से गद्गद होकर उनकी चरण-रज ग्रहण करने के अभिप्राय से उनका चरण उठाकर पगड़ी बंधे अपने मस्तक के चारों ओर रगड़ना शुरू किया। यह मालवीय जी के लिए महाकष्ट-कारी था। उनके चेहरे पर व्यथा के भाव झलकने लगे, किन्तु एक क्षण आगन्तुक महोदय की ओर देखकर, उनकी उम्र का ख्याल कर (वे अनुमानतः ७५ वर्ष के रहे होंगे) मौन धारण किए रहे। कुछ न कह सके। आगन्तुक की पलक श्रद्धावश वन्द थी—उसे अपने उपास्य के कष्ट की लेशमात्र भी परवाह न थी। कष्ट असह्य होने पर मालवीय जी से न रहा गया। आन्तरिक शक्ति के सहारे दम लगाकर बोले—"आपसे कहो, इतना कष्ट न करें।" अभाग्यवश, मालवीय जी के उपासक बहिरे थे। पहिले तो कुछ सुन न सके। जब ज्यादा जोर से चिल्लाकर कहा गया, तब उन्होंने महामना का चरण छोड़ा।

महामना के पास अक्सर ऐसे बेतुके पत्र आते थे, जो सर्वथा हास्यास्पद होते थे। उन्हें पढ़ने में समय बेकार जाता, क्रोध-मिश्रित हँसी आती, किन्तु यदि उनमें तत्व की बात होती तो मालवीय जी उनका समुचित उत्तर लिखवा भेजते। वे दया के सागर थे। बस, इसी नाते से अनेक व्यक्ति उनके पास अपनी करुण कहानी लिख भेजते। उदाहरणार्थ किन्हीं अंशुमान पंडित खुमान शंकर शास्त्री सनातन धर्म-सम्राट् सच्चा बादशाह ने बटपुर (सीतापुर) से मालवीय जी को लिखा कि "आप संन्यासी हो जायं, 'गाड' गड़बड़ में है।" एक दूसरे सज्जन ने लिखा कि "भारत की वर्त-

मान राजनीति को देखते हुए यह परमावश्यक है कि एक ब्राह्मण वायसराय की नियुक्ति तत्काल कर दी जाय। कृपया आप हमें नियुक्त कराने का प्रयत्न करें।" एक तीसरे सज्जन का पत्र था : "मैं अपनी सगी बुआ की लड़की से प्रेम करता हूं, किन्तु बुआ उसकी शादी मुझसे करने को राजी नहीं हैं। मेरी बुआ आपकी भक्त हैं। सो आप उन्हें मेरे संबंध में समझा-बुझा दें।"

ऐसे ही अनेक पत्र यदा-कदा उनके पास आते रहते थे। कभी-कभी वे परमावश्यक, गोपनीय एवं व्यक्तिगत होते। एक बार एक वकील ने लिखा : "आप सर तेज बहादुर सप्रू से कह दें कि वे मुझे अपने साथ का वकील बना लें। मैं एक गरीब वकील हूं।"

काशी हिंदू विश्वविद्यालय महामना मालवीय की देशभक्ति, शिक्षाप्रेम, लगन, अदम्य उत्साह एवं साधना का ज्वलंत प्रतीक है। उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से भी अधिक इससे प्रेम था। बिस्तर पर लेटे हुए भी वे हरदम उसी की चिन्ता किया करते थे। अपनी कल्पना का संसार बनाते थे। उनकी शैया के नीचे दो दानपात्र धरे रहते थे—एक सनातनधर्म का और दूसरा प्रस्तावित विश्वनाथ मंदिर और विश्वविद्यालय का। दर्शनार्थियों से उनका सर्वप्रथम प्रश्न होता—"क्यों, विश्वविद्यालय देखा ?" उत्तर मिलता—"हाँ देखा।" पुनः प्रश्न होता—"कैसा लगा, कुछ दिया ?" और इतना कहते ही आप तत्काल याचना कर बैठते। उसमें न आपको संकोच होता, न झिझक। आपका कहना भी था—"मरि जाऊं माँगू नहीं अपने हित के काज, परमारथ के कारने मोंहि न आवे लाज।"

बस, इसी भावना से प्रेरित होकर वे जीवनपर्यन्त हिंदू विश्वविद्यालय के लिए एक भिखारी का बाना धारण किए रहे। महात्मा गांधी के शब्दों में वे भारत के एक महान भिखारी थे। महामना विश्वविद्यालय की स्थापना के संबंध में जब प्रयाग पधारे तो एक अत्यंत रोचक घटना घटित हुई। प्रयाग के रईसों तथा धनीमानी सज्जनों से विश्वविद्यालय के लिए धन एकत्र करने के उद्देश्य से उन्होंने उनकी एक सूची तैयार की और उनको एक सभा में आमंत्रित किया। इस सभा में नगर के प्रायः सभी धनीमानी व्यक्ति पधारे और उन्होंने इस पुण्य-कार्य में यथासंभव योग प्रदान किया, किन्तु नागरिकों की इस सूची में भूलवश एक रईस का नाम शामिल नहीं किया जा सका। महामना जब सभा से लौटे तो उन्हें उनकी याद आयी। आप तुरन्त उनकी कोठी पर गए। वे रईस महोदय कुपित होकर बोले—"कहिए, कैसे आए पंडित जी ?" "विश्वविद्यालय के कार्य से आया था"—महामना का उत्तर था।

"मुझसे आपको क्या प्रयोजन ? आपने अपनी सूची के मुताबिक नगर के रईसों को न्यौता दिया, किन्तु मुझे नहीं। हाँ भाई, मैं तो कोई बड़ा आदमी हूँ नहीं, कैसे आप मुझे बुलाते।"

महामना उनके इस कथन पर अवाक् रह गए, किन्तु उनकी वाक्पटुता ने उनका तुरन्त साथ दिया। वे मंद मुस्कान छोड़ते हुए बोले—"आप भी क्या कहते हैं। मैं पहिले ही यह समझता था कि आप रुष्ट हो जायंगे। किन्तु वह सूची तो रईसों की थी, राजा-महाराजाओं की नहीं। आप तो मेरी दृष्टि में महाराज हैं।"

बस, इतना सुनते ही उक्त रईस पिघल गए और उन्होंने न केवल २५०००) नकद दिए, अपितु विश्वविद्यालय में एक सुन्दर भवन बनवाने का भी आश्वासन दिया। ऐसा था महामना का व्यक्तित्व और उनकी संगतिपूर्ण वाणी! महामना के सम्बन्ध में लार्ड हार्डिज ने कहा था कि वे (पंडित मालवीय) संसार के सबसे महान भिखारी हैं। बात भी कुछ ऐसी ही थी। सन् १९४५ की मई थी। स्वर्गीय पंडित गोविंद मालवीय की छोटी लड़की सुश्री सुधा का विवाह था। मालवीय जी कामकाज की चहलपहल से दूर अपने कमरे में पड़े थे। महाराज ग्वालियर के यहाँ पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ था तथा उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मालवीय जी ग्वालियर में आकर नवजात शिशु को अपने वरदहस्त से आशीर्वाद प्रदान करें। बदले में विश्वस्त सूत्र के अनुसार महामना को कम से कम १० लाख रुपयों की पूंजी बतौर गुरुदक्षिणा के मिलने की संभावना थी। मालवीय जी, जो विश्वविद्यालय के लिए भिखारी थे ही, ग्वालियर जाने के लिए व्याकुल हो उठे। पर जाते कैसे? राज दरबार के कर्मचारी वायुयान सहित ४–५ दिनों तक काशी में ठहरे रहे, मालवीय जी को ग्वालियर ले जाने के लिए, किन्तु वे अपनी अस्वस्थता के कारण ग्वालियर नरेश के गृह को पवित्र करने में सर्वथा असमर्थ रहे।

विश्वविद्यालय के लिए महामना सब कुछ करने को प्रस्तुत थे। साधारण ब्राह्मण से कर्मकांडी बन जाते थे। कोटा महाराज के यहाँ होने वाले विवाह के संबंध में आपने वर-वधू की जन्मपत्री मिलाने में काफी सहायता प्राप्त की थी।

महामना नव भारत के निर्माताओं में से एक थे तथा वे देशभक्ति के रस से ओत-प्रोत थे। उनकी देश सेवाओं से देश कभी भी उऋण नहीं हो सकता है। वे धर्म से देश तथा देशभक्ति को महान समझते थे। उन दिनों कांग्रेस देशव्यापी चुनाव लड़ने की तैयारी कर रही थी। हिंदू महासभा उसका विरोध करने को आमादा थी। महंत दिग्विजयनाथ जब इस सम्बन्ध में महामना से परामर्श करने काशी पधारे तब मालवीय जी ने हिंदू धर्म-रक्षक होने पर भी उन्हें सलाह दी कि वे कांग्रेस का विरोध कदापि न करें। वह एक राष्ट्रीय संस्था है। महामना की देशभक्ति रचनात्मक थी। स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी भी देश की एकमात्र राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस पर संकट आया, उसकी एकता खतरे में हुई तथा देशवासियों पर विपत्ति के काले बादल मँडराए, महामना मालवीय उदार दल के होते हुए भी सच्चे देशभक्त की भाँति स्वतंत्रता-संग्राम के जुझारु वातावरण में उतर पड़े और महात्मा गांधी के राष्ट्रीय कार्यों में सहयोग प्रदान किया। यह सत्य है कि गांधीजी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत न होने के कारण वे कांग्रेस को अपना सक्रिय सहयोग सदैव न दे सके किन्तु देश की पुकार पर गाढ़े समय में कांग्रेस की रक्षा करने में कभी भी पीछे न रहे। आपने कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर भी दो बार सन् १९०९ तथा १९१८ में ग्रहण की। इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि महामना का जन्म ठीक उसी दिन (२५ दिसम्बर) को हुआ था, जिस दिन संसार के सबसे बड़े शांति-दूत ईसामसीह इस धरा पर अवतरित हुए थे। अस्तु, महामना के स्वभाव में महात्मा ईसा के अनेक गुणों का समावेश हो गया था। वे हमेशा

शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहे तथा अपनी इसी शांतिप्रिय मनोवृत्ति के कारण देश के राजनीतिक रंगमंच पर उन्होंने महाभारत के कृष्ण जैसा पार्ट अदा किया। अमृतसर कांग्रेस के अवसर पर मांटेग्यू सुधार-योजना को लेकर एक ओर लोकमान्य तिलक और देशबंधु दास दूसरी ओर महात्मा गांधी और मिस्टर जिन्ना के बीच जो भयंकर मतभेद पैदा हो गया था, उसके सम्बन्ध में कुशल राजनीतिज्ञ मालवीय जी के हस्तक्षेप करने से ही समझौता हो सका। असहयोग आंदोलन के समय महात्मा गांधी तथा लार्ड रीडिंग में मेल कराने का पूरा प्रयत्न भी उन्होंने ही किया था। सवर्ण हिंदुओं तथा दलितों के मध्य जिस प्रसिद्ध 'पूना पैक्ट' द्वारा समझौता हुआ था, उसमें भी महामना का हाथ था। सन् १९३२ में उनके द्वारा प्रयाग में आयोजित एकता सम्मेलन में हिंदू, मुसलमान तथा अन्य सम्प्रदायों के मध्य समझौते का एक महत्वपूर्ण आधार स्थापित किया गया था। जलियांवाला बाग की लोमहर्षक घटना का केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में आपने जो मर्मस्पर्शी चित्र अपने ३॥ घंटे के भाषण में प्रस्तुत किया, वह आपके विशुद्ध देशप्रेम का परिचायक है।

सन् बयालीस के विद्रोह की कहानी कभी नहीं भूलेगी। ब्रिटिश सरकार के दमन एवं उत्पीड़न के शिकंजों में जकड़ा भारत 'करो या मरो' के सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करने को व्याकुल हो उठा था। भारतीय जनसमूह एक नए इतिहास का निर्माण करने को कटिबद्ध हो उठा था। उधर ब्रिटिश सरकार भी अपना नग्न रूप प्रदर्शित कर रही थी। उस समय वृद्ध महामना का यौवन तड़प उठा और उन्होंने अपनी तुलना एक बूढ़े सिंह से करते हुए कहा था—"मैं एक बूढ़े सिंह की तरह हूँ। आज मेरे इस जीर्ण शरीर में जरा भी शक्ति का संचार हो जाता तो मैं सारे देश में विद्रोह करा देता।" महामना अपने देश में अपना राज चाहते थे।

ऐसी थी महामना की देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता! वे ऊपर से एक उदार देशभक्त थे, किन्तु भीतर से एकदम कठोर। उनकी राजनीति उनके जीवन के अंतिम क्षणों में एकदम कठोर हो गयी थी और कहा जाता है कि महात्मा गांधी के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में मालवीयजी का गहरा हाथ था।

मालवीय जी को अपनी मातृभाषा हिंदी से अगाध स्नेह था तथा आपने हिंदी की जो सेवा की, वह राष्ट्रभाषा के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। आपकी हिंदी सेवा का जीवित प्रतीक है—हिंदी साहित्य सम्मेलन। महामना की कामना थी कि हिंदी राष्ट्रभाषा बने तथा अदालतों और सरकारी कार्यालयों में इसका प्रचलन हो जाय। कालान्तर में आपके अत्यन्त प्रिय राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन तथा अन्य हिंदी-भक्तों की साधना से महामना का स्वप्न पूरा हो गया और आज हिंदी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है। यह सब उन्हीं के आदि प्रयत्नों का फल है।

हिंदी-भक्त होने के कारण मालवीय जी बहुधा कहा करते थे—"अंग्रेजी में लिख-पढ़ तो लेता हूँ, किन्तु इतना भरोसा नहीं कि मैंने अपने मन की बात ठीक ही लिखी है।" इस समय देश में हिंदी के प्रश्न को लेकर एक विवाद-सा छिड़ा हुआ है। कुछ स्वार्थी लोग अपने हितसाधन

के लिए अंग्रेजी को अभी कुछ दिनों तक देश में कायम रखना चाहते हैं। ऐसे लोगों को महामना के उक्त मनोभाव के प्रति गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

मालवीय जी की हिंदी, हिंदू और हिंन्दुस्तान के प्रति घोर निष्ठा देखकर स्वर्गीय सर सी० वाई० चिंतामणि ने भारत के इस ऋषि के प्रति जो उद्गार प्रकट किए थे, उनका उल्लेख करना असंगत न होगा। उन्होंने लिखा था—"पंडित मालवीय के सिर से पाँव तक केवल हृदय ही हृदय है। मानवीय करुणा की दुग्धोपम शुभ्र सरलता उनमें भरी हुई है। वह केवल अपने कार्यों में ही नहीं, बल्कि अपने विचारों में भी उदार हैं; वह अनौचित्य की सीमा तक निःस्वार्थ हैं; अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अटल बल्कि हठधर्मी हैं, पर साथ ही दूसरों के विचारों के सम्बन्ध में अत्यंत सहनशील हैं। अपने धर्म और देश के प्रति उनके हृदय में असीम गौरव का भाव है और अपनी जाति की भावी उन्नति के सम्बन्ध में वे अत्यंत आस्थावान हैं, अपने मित्रों के प्रति वह सच्चे हैं और शत्रुओं के प्रति क्षमाशील । वह एक आदर्श हिंदू तथा आदर्श ब्राह्मण हैं। आज भारतीय नेताओं में महात्माजी के बाद उनका ही दूसरा स्थान है। प्रायः एक शताब्दि से वे इस प्रान्त के सर्वोच्च व्यक्ति हैं।"

यद्यपि महामना के अनुपम व्यक्तित्व की झाँकी एक महान पत्रकार, समाजसेवी, देशभक्त एवं वक्ता के रूप में मिलती है, तथापि उनके जीवन का परम उत्कर्ष एक महान शिक्षाविद् एवं हिंदी प्रेमी के रूप में हुआ था। वे देश में लोकतंत्र के कल्याणार्थ यह चाहते थे कि हर देशवासी शिक्षित हो। उनकी इसी शिक्षा-प्रसार की लगन एवं आदर्शों का प्रतीक काशी हिंदू विश्वविद्यालय है तथा जब तक यह विश्वविद्यालय तथा हिंदी साहित्य-सम्मेलन की एक-एक ईंट कायम रहेगी, तब तक महामना मालवीय का नाम युग-युग तक अमर रहेगा तथा उनकी स्मृति देशवासियों के मानस-पटल पर अंकित रहेगी।



श्री विद्याभास्कर

यह आत्म-चिन्तन का अवसर है

पूज्यपाद पण्डित मदनमोहन मालवीय जी महाराज भारत राष्ट्र की समस्त प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, परम्परा और प्रकृति के समन्वय, समुच्चय तथा सम्मिश्रण के मूर्त्तरूप थे। वह वर्तमान की धारा के सूक्ष्मद्रष्टा और उसकी भावी गति एवं रूप के अग्रद्रष्टा थे। इस प्रकार वह भारत के भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सम्पूर्ण उत्कृष्टताओं के साक्षात् प्रतिनिधि थे। अपनी मातृभूमि की जिन गौरवपूर्ण प्राचीन श्रेष्ठताओं को हम विस्मृत कर चुके थे, उन्हें उन्होंने हमारे सामने नये रूप में उपस्थित किया। वर्तमान काल की हमारी दबी हुई शक्ति का उद्घाटन कर उन्होंने हमें उसका ज्ञान कराया तथा भावी भारत का रूप कैसा होना चाहिये, इसका उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया। ठीक इसी कारण से वह तूफानी समय के नितान्त लोकप्रिय नेता नहीं बन सके, दूसरे शब्दों में, ठीक इसी कारण वह आंधी के साथ नहीं बह सके। भारत की प्रकृति की गहन गम्भीरता का इस बहाव की अस्थिरता से कोई मेल नहीं था। तूफानी हवा अथवा बरसाती नदी की बाढ़ न स्वयं स्थायी रह सकती है और न प्राणियों का स्थायी लाभ ही कर सकती है। तूफान और बाढ़ से जो थोड़ा लाभ होता है, वह भी अस्थायी होता है। हां, बाढ़ को नियंत्रित कर उससे दीर्घकालीन लाभ प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु बाढ़ पैदा करनेवाली शक्ति में इस प्रकार का लाभ उठाने की क्षमता कम रहती है। पूज्य मालवीय जी महाराज के जीवन-काल में हमने इस सत्य का ज्ञान नहीं किया था; किन्तु आज बरबस करना पड़ रहा है। अग्रद्रष्टा मालवीय जी महाराज की जन्म शताब्दी के पवित्र उत्सव के अवसर पर अपनी वर्तमान दुरवस्था का यह ज्ञान हमें आज हो रहा है। तूफान के दिनों में तात्कालिक आवश्यकता को देखते हुए हमने जो अविवेकपूर्ण निश्चय और कार्य किये थे, वही आज हमारे लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं। मालवीय जी के उपदेशों की उपेक्षा तथा अवहेलना करने का जो पाप हमसे हुआ है, उसका फल आज हमें भोगना पड़ रहा है।

हमने भारत के सांस्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बांधने का प्रयास नहीं किया; बल्कि मालवीय जी महाराज के इस विषय के उपदेशों की हमने उपेक्षा की। फलतः दक्षिण और उत्तर, अनार्य और आर्य का काल्पनिक, मिथ्यावादी तथा अनर्थकारी झगड़ा उठ खड़ा हुआ। हमने लोकतंत्र-पद्धति को अपनाया किन्तु उसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया। इससे लोकतन्त्र कलुषित और भ्रष्ट हुआ। भारत की पराधीनता के दिनों में हमने भारत के मसलमानों के दिलों में यह धारणा उत्पन्न कर दी कि लोकतन्त्र की हमारी कल्पना मिथ्यावाद पर आधारित है, हम

अल्पसंख्यकों को उनके लिए योग्य तथा उचित से अधिक अधिकार तथा सुविधाएं देंगे, उन्हें अपने सर पर लिये फिरेंगे, उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करेंगे और उनके सहयोग के बिना स्वराज्य को भी अप्राप्य मानेंगे। फल वही हुआ, जो होना था। भारत के मुसलमान देश की स्वाधीनता के मार्ग में सबसे बड़े बाधक बनकर खड़े हुए। हमारी स्वाधीनता तभी आयी, जब मुसलमानों की इच्छा के अनुसार उन्हें पृथक राज्य प्राप्त हो गया। हमने "हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई" का नारा बुलन्द किया और मुसलमानों ने भाई की तरह अपना हिस्सा अलग कर लिया। पूज्य मालवीय जी महाराज इस मिथ्याचार से अपने समय के तूफान के प्रेमी सहयोगी नेताओं को बराबर सचेत करते रहे। उन्होंने बार-बार कहा कि लोकतन्त्र की व्यवस्था के अनुसार देश के शासन-संचालन का भार बहुमत पर निर्भर है। उसका कर्तव्य है कि वह अल्पमत के प्रति न्याय करे। इसके लिए बहुमत का सत्यनिष्ठ होना जरूरी है और उसे मिथ्यावादी आचरण से दूर रहना चाहिये। उन्होंने कहा था कि देश अखण्ड रहेगा और उसकी अखण्डता की रक्षा देश के उस वर्ग को करनी होगी, जिसका देश की जनसंख्या की दृष्टि से बहुमत है। उन्होंने कहा था कि देश के बहुमत को इस कर्त्तव्य-पालन के योग्य बनाना चाहिये। पूज्य मालवीय जी के इस कथन को हिन्दू सम्प्रदायवादी उद्‌बोधन बतलाया गया। किन्तु देश का बँटवारा हिन्दू और मुसलमान नामक दो पृथक् राष्ट्रों के रूप में कर लेने में ऐसे आरोप-कर्ताओं को कुछ अनुचित नहीं प्रतीत हुआ। एक तो मालवीय जी की बात न मानी गयी; दूसरे उन पर मिथ्या आरोप लगाया गया। देश आज इस पाप का फल भोग रहा है और आगे न जाने कितने समय भोगता रहेगा।

देश की अखण्डता को सांस्कृतिक स्तर पर अक्षुण्ण बनाये रखने की मालवीय जी की अपील को अनसुनी कर हमारे नेताओं ने जो भूल की उसका फल भी हम देख रहे हैं। रामायण और महाभारत, वेद और उपनिषद् भारतीयों मात्र की सम्पदा है। किन्तु इस बात को स्वीकार किये बिना विशुद्ध राष्ट्रीयता के नाम पर यह कहा गया कि ये सब ग्रन्थ हिन्दू धर्मग्रन्थ हैं और इनसे अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोगों के मान को ठेस पहुँचेगी। पहली बात तो यह है कि जो शाश्वत सत्य इन महान् ग्रन्थों में है वह सबके कल्याण की है; सबमें समान प्रकार से कल्याण नैतिकता और सत्यनिष्ठा का भाव उत्पन्न और परिपुष्ट करते हैं। दूसरे यह कि मूलतः जो लोग भारतीय हैं, जो किन्हीं दुर्बलताओं के कारण सम्प्रदाय-परिवर्तन के फलस्वरूप विदेशी धर्मावलम्बी हो गये हैं, उन्हें उनके पुरखों की थाती या धरोहर से वंचित करना वास्तव में राष्ट्र में विभेद उत्पन्न करना है। आज भी इण्डोनेशिया के मुसलमान रामायण और महाभारत का पाठ करते हैं। उनके पात्रों के नाम अपना लेते हैं और इन्हें नैतिक बलप्रदायक ग्रन्थ मानकर इनकी पूजा करते हैं। केवल भारत के ईसाई और मुसलमान इन्हें हिन्दू धर्मग्रन्थ क्यों मानें? दक्षिण के लोग इन ग्रन्थों के पात्रों को आर्य तथा स्वयं अपने को अनार्य क्यों मानें? मालवीय जी महाराज चाहते थे कि भारतीय परम्परा की थाती का लाभ सबको मिले। शंकर और रामानुज ने जिस प्रकार देश को एक संस्कृति के सूत्र में बांधा था, उसी प्रकार उसे फिर से बांधा जाय। सबको हर

श्री विद्याभास्कर

यह आत्म-चिन्तन का अवसर है

पूज्यपाद पण्डित मदनमोहन मालवीय जी महाराज भारत राष्ट्र की समस्त प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, परम्परा और प्रकृति के समन्वय, समुच्चय तथा सम्मिश्रण के मूर्त्तरूप थे। वह वर्तमान की धारा के सूक्ष्मद्रष्टा और उसकी भावी गति एवं रूप के अग्रद्रष्टा थे। इस प्रकार वह भारत के भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सम्पूर्ण उत्कृष्टताओं के साक्षात् प्रतिनिधि थे। अपनी मातृभूमि की जिन गौरवपूर्ण प्राचीन श्रेष्ठताओं को हम विस्मृत कर चुके थे, उन्हें उन्होंने हमारे सामने नये रूप में उपस्थित किया। वर्तमान काल की हमारी दबी हुई शक्ति का उद्घाटन कर उन्होंने हमें उसका ज्ञान कराया तथा भावी भारत का रूप कैसा होना चाहिये, इसका उन्होंने स्पष्ट निर्देश किया। ठीक इसी कारण से वह तूफानी समय के नितान्त लोकप्रिय नेता नहीं बन सके, दूसरे शब्दों में, ठीक इसी कारण वह आंधी के साथ नहीं बह सके। भारत की प्रकृति की गहन गम्भीरता का इस बहाव की अस्थिरता से कोई मेल नहीं था। तूफानी हवा अथवा बरसाती नदी की बाढ़ न स्वयं स्थायी रह सकती है और न प्राणियों का स्थायी लाभ ही कर सकती है। तूफान और बाढ़ से जो थोड़ा लाभ होता है, वह भी अस्थायी होता है। हां, बाढ़ को नियंत्रित कर उससे दीर्घकालीन लाभ प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु बाढ़ पैदा करनेवाली शक्ति में इस प्रकार का लाभ उठाने की क्षमता कम रहती है। पूज्य मालवीय जी महाराज के जीवन-काल में हमने इस सत्य का ज्ञान नहीं किया था; किन्तु आज बरबस करना पड़ रहा है। अग्रद्रष्टा मालवीय जी महाराज की जन्म शताब्दी के पवित्र उत्सव के अवसर पर अपनी वर्तमान दुरवस्था का यह ज्ञान हमें आज हो रहा है। तूफान के दिनों में तात्कालिक आवश्यकता को देखते हुए हमने जो अविवेकपूर्ण निश्चय और कार्य किये थे, वही आज हमारे लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं। मालवीय जी के उपदेशों की उपेक्षा तथा अवहेलना करने का जो पाप हमसे हुआ है, उसका फल आज हमें भोगना पड़ रहा है।

हमने भारत के सांस्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बांधने का प्रयास नहीं किया; बल्कि मालवीय जी महाराज के इस विषय के उपदेशों की हमने उपेक्षा की। फलत: दक्षिण और उत्तर, अनार्य और आर्य का काल्पनिक, मिथ्यावादी तथा अनर्थकारी झगड़ा उठ खड़ा हुआ। हमने लोकतंत्र-पद्धति को अपनाया किन्तु उसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया। इससे लोकतन्त्र कलुषित और भ्रष्ट हुआ। भारत की पराधीनता के दिनों में हमने भारत के मसलमानों के दिलों में यह धारणा उत्पन्न कर दी कि लोकतन्त्र की हमारी कल्पना मिथ्यावाद पर आधारित है, हम

अल्पसंख्यकों को उनके लिए योग्य तथा उचित से अधिक अधिकार तथा सुविधाएं देंगे, उन्हें अपने सर पर लिये फिरेंगे, उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करेंगे और उनके सहयोग के बिना स्वराज्य को भी अप्राप्य मानेंगे। फल वही हुआ, जो होना था। भारत के मुसलमान देश की स्वाधीनता के मार्ग में सबसे बड़े बाधक बनकर खड़े हुए। हमारी स्वाधीनता तभी आयी, जब मुसलमानों की इच्छा के अनुसार उन्हें पृथक राज्य प्राप्त हो गया। हमने "हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई" का नारा बुलन्द किया और मुसलमानों ने भाई की तरह अपना हिस्सा अलग कर लिया। पूज्य मालवीय जी महाराज इस मिथ्याचार से अपने समय के तूफान के प्रेमी सहयोगी नेताओं को बराबर सचेत करते रहे। उन्होंने बार-बार कहा कि लोकतन्त्र की व्यवस्था के अनुसार देश के शासन-संचालन का भार बहुमत पर निर्भर है। उसका कर्तव्य है कि वह अल्पमत के प्रति न्याय करे। इसके लिए बहुमत का सत्यनिष्ठ होना जरूरी है और उसे मिथ्यावादी आचरण से दूर रहना चाहिये। उन्होंने कहा था कि देश अखण्ड रहेगा और उसकी अखण्डता की रक्षा देश के उस वर्ग को करनी होगी, जिसका देश की जनसंख्या की दृष्टि से बहुमत है। उन्होंने कहा था कि देश के बहुमत को इस कर्त्तव्य-पालन के योग्य बनाना चाहिये। पूज्य मालवीय जी के इस कथन को हिन्दू सम्प्रदायवादी उद्‌बोधन बतलाया गया। किन्तु देश का बँटवारा हिन्दू और मुसलमान नामक दो पृथक् राष्ट्रों के रूप में कर लेने में ऐसे आरोप-कर्ताओं को कुछ अनुचित नहीं प्रतीत हुआ। एक तो मालवीय जी की बात न मानी गयी; दूसरे उन पर मिथ्या आरोप लगाया गया। देश आज इस पाप का फल भोग रहा है और आगे न जाने कितने समय भोगता रहेगा।

देश की अखण्डता को सांस्कृतिक स्तर पर अक्षुण्ण बनाये रखने की मालवीय जी की अपील को अनसुनी कर हमारे नेताओं ने जो भूल की उसका फल भी हम देख रहे हैं। रामायण और महाभारत, वेद और उपनिषद् भारतीयों मात्र की सम्पदा है। किन्तु इस बात को स्वीकार किये बिना विशुद्ध राष्ट्रीयता के नाम पर यह कहा गया कि ये सब ग्रन्थ हिन्दू धर्मग्रन्थ हैं और इनसे अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोगों के मान को ठेस पहुँचेगी। पहली बात तो यह है कि जो शाश्वत सत्य इन महान् ग्रन्थों में है वह सबके कल्याण की है; सबमें समान प्रकार से कल्याण नैतिकता और सत्यनिष्ठा का भाव उत्पन्न और परिपुष्ट करते हैं। दूसरे यह कि मूलतः जो लोग भारतीय हैं, जो किन्हीं दुर्बलताओं के कारण सम्प्रदाय-परिवर्तन के फलस्वरूप विदेशी धर्मावलम्बी हो गये हैं, उन्हें उनके पुरखों की थाती या धरोहर से वंचित करना वास्तव में राष्ट्र में विभेद उत्पन्न करना है। आज भी इण्डोनेशिया के मुसलमान रामायण और महाभारत का पाठ करते हैं। उनके पात्रों के नाम अपना लेते हैं और इन्हें नैतिक बलप्रदायक ग्रन्थ मानकर इनकी पूजा करते हैं। केवल भारत के ईसाई और मुसलमान इन्हें हिन्दू धर्मग्रन्थ क्यों मानें? दक्षिण के लोग इन ग्रन्थों के पात्रों को आर्य तथा स्वयं अपने को अनार्य क्यों मानें? मालवीय जी महाराज चाहते थे कि भारतीय परम्परा की थाती का लाभ सबको मिले। शंकर और रामानुज ने जिस प्रकार देश को एक संस्कृति के सूत्र में बांधा था, उसी प्रकार उसे फिर से बांधा जाय। सबको हर

एक भारतवासी को उपनिषद् आदि ग्रन्थों की विशेषता से परिचित कराया जाय। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में सत्य-निष्ठा के प्रण का उपदेश दिया जाता था और इसके लिए उन्हीं श्लोकों का उच्चारण कराया जाता था जो उपनिषद् में दिये हैं। कहने की जरूरत नहीं कि हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों में मुसलमान और ईसाई सभी शामिल होते थे। इस उपदेश के अनुसार सांस्कृतिक एकसूत्रता में देश को आबद्ध करने का हमने प्रयास किया होता तो आज यह देश दूसरे प्रकार का होता। आज हम इसका अनुभव कर रहे हैं कि पूज्य मालवीय जी के आग्रह की उपेक्षा कर हमने कितनी बड़ी भूल की।

पूज्य मालवीय जी महाराज ने आज से ६०–६५ वर्ष पूर्व जान लिया था कि देश की एकता को पुष्ट करने के लिए हिन्दी भाषा सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। उसे राजकीय सम्मान और समादर दिलाने का प्रयास सबसे पहले उन्होंने किया। हिन्दी की महत्ता की अभिवृद्धि के लिए उन्होंने धनोपार्जन के बड़े साधन वकालत के पेशे की उपेक्षा की। कहते हैं कि जब उनकी वकालत चल निकली थी तब भी उनके सहयोगी यह देखकर हैरान थे कि वह 'बार लाइब्रेरी' में बैठकर मैकडोनेल्ड के लिए हिन्दी की प्रतिष्ठा के निमित्त आवेदन पत्र तैयार कर रहे हैं। हमने मालवीय जी महाराज की कृपा और दूरदर्शिता से राष्ट्रीय एकता का एक बड़ा साधन पाया था। उस साधन का नाम हिन्दी भाषा है। कितने शोक और लज्जा की बात है कि हमने उस साधन का समुचित उपयोग कर देश को एकताबद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया। यहाँ तक तो यह हमारी अकर्मण्यता ही कही जा सकती है। किन्तु हमने स्वयं ऐसा आचरण और व्यवहार किया कि यही साधन (हिन्दी) देश में अखण्डता उत्पन्न करने वाला माना जाने लगा। हिन्दी क्षेत्र के राजनीतिक नेताओं ने इस अनाचारी धारणा को पुष्ट किया; यह और भी अधिक क्षोभ की बात है।

आज हम पूज्य मालवीय जी महाराज की जन्मशती मना रहे हैं। यह स्वाभाविक बात है कि इस अवसर पर हम यह आत्म चिन्तन करें कि पूज्य मालवीय जी के किन-किन उपदेशों की अवहेलना कर हमने अपनी और देश की हानि की है। श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर और उनके संस्मरण सुनकर छुट्टी पा जाना सरल काम है। किन्तु अपनी भूल और प्रमाद, उपेक्षा और अवज्ञा का ध्यान कर पुनः सही रास्ता पकड़ना ही सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। आज हमें यही आत्म-चिन्तन करना चाहिये।



श्री ब्रजभूषण पाण्डेय

राष्ट्रभाषा हिन्दी के भविष्य-द्रष्टा : महामना मालवीय

नियति की यह अद्भुत् विशेषता है कि जब कोई देश या काल विशेष अन्धकार की गहन घटाओं में घिर कर अपने अस्तित्व को खोने लगता है तो किसी ऐसे सूर्य का उदय अवश्यम्भावी हो जाता है, जो समस्त अन्धकार को विदीर्ण कर प्रकाश की उज्ज्वल आभा से दिग्-दिगन्त को आलोकित कर देता है। इस अर्थ में हमारा प्रिय देश भारत बड़ा ही सौभाग्यशाली रहा है। क्योंकि उसके तिमिराछन्न काल में एक नहीं, कई ऐसे महापुरुषों का उदय हुआ, जिनके प्रभाव की अमोध किरणों ने अपनी चतुर्मुखी आभा से समस्त देश को आलोकित कर दिया। इस आलोक में देश ने नवजागरण की ऐसी प्रभावोत्पादक अंगड़ाई ली, जिससे उसके सारे बन्धन, सारी विघ्न-वाधाएं चूर-चूर हो गयीं।

महामना मालवीय हमारे देश के ऐसे ही नररत्न थे। उनका नेतृत्व, उनकी कार्यपटुता और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनका दृढ़ एवं विश्वासपूर्ण निश्चय ऐसा था, जो सर्वत्र अपनी छाप छोड़ता चलता था। उन्होंने जिस काम को भी उठाया, उसमें ऐसी शक्ति, ऐसी गति पिरो दी कि उनके अभाव में भी उसकी क्रियाशीलता निरन्तर बढ़ती रही। हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की निरन्तर गतिशीलता और स्थायित्व में उनके वरद हस्तों का ही प्रभाव प्रवहमान हो रहा है। युवाकाल में ही मालवीय जी की विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत कार्यपटुता की निःसीम किरणें हमारे देश के कोने कोने में फैल गयीं। फल यह हुआ कि देश की सोई हुई शक्ति जाग उठी और अपने अस्तित्व के लिए देश ने फिर एक बार अपना गौरवपूर्ण और पावन संघर्ष छेड़ दिया। इस संघर्ष में महामना का नेतृत्व वरदान सिद्ध हुआ और संघर्ष के अनेक मोर्चों पर देश की जनता का विशाल बाहुबल, धनबल और बुद्धिबल आ खड़ा हुआ। यहां हम उनमें से एक मोर्चे की चर्चा करेंगे। वह मोर्चा है, भाषा का मोर्चा। इस मोर्चा की स्थापना उस समय हुई थी, जब स्वतन्त्रता आन्दोलन का एक प्रकार से श्रीगणेश ही नहीं हुआ था।

किसी भी देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन में, अथवा उसके अस्तित्व की स्थापना के आन्दोलन में उसकी अपनी भाषा कितना महत्व रखती है, यह किसी भी मनीषी से छिपा नहीं है। देश के नवजागरण की पुनीत वेला में यद्यपि जन-जन के मन में देश-प्रेम की उद्दाम भावना भीतर ही भीतर हिलोरें मारने लगी थीं, किन्तु 'स्वतंत्रता' शब्द का सृजन उस समय नहीं आ था। ऐसे घोर परतन्त्रकाल में देश की भावी राजभाषा के राजनीतिक अधि-

कारों की आवाज बुलन्द करना कोई साधारण कार्य नहीं था। यद्यपि इस समय राष्ट्रभाषा हिन्दी का साज-श्रृंगार करने के लिए उसके अनेक सेवकों ने चारों ओर से भरपूर प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु मां भारती के राजनीतिक अधिकारों के लिए किसी संगठित मोर्चे का सृजन अभी तक नहीं हुआ था। यद्यपि इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नागरी और हिन्दी का झण्डा अपने सशक्त हाथों में लेकर इस मोर्चे की ओर जनता को आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु शासन की चहेती उर्दू के समर्थकों का एक प्रभावशाली वर्ग इस प्रचार-आंदोलन को कुचलने के लिए तत्पर दिखलाई दे रहा था। भारतेन्दु का कार्य-क्षेत्र जनता के मध्य था। शासन में हिन्दी को स्थान दिलाने का प्रयत्न उनकी ओर से नहीं हुआ। यद्यपि कुछ लोग इस ओर भी सक्रिय थे, किन्तु प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में यह प्रयत्न बिखरे हुए अतएव निर्बल थे। ऐसे समय में महामना ने इस आन्दोलन को अपने हाथों में लेकर भारतेन्दु की इच्छा और उनके भौतिक प्रयत्नों में सफलता लाने का जो ऐतिहासिक कार्य किया वह उनके अनेक अमर कार्य-कलापों का एक महत्वपूर्ण अंग है।

सन् १८९३ में कांग्रेस का नवां अधिवेशन लाहौर में दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुआ था। इस समय तक कांग्रेस में लोकमान्य तिलक का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था और इसीलिए अभी तक कांग्रेस का स्पष्टतः कोई ऐसा उद्देश्य और लक्ष्य नहीं निर्धारित था, जिसे हम स्वातंत्र्य आन्दोलन का प्रतीक मान सकें। इस समय कांग्रेस ऐसे निर्बल सोते की तरह थी, जो जिधर से ही रास्ता पाता, उधर से ही वह निकल जाता। सामने आने वाली चट्टानों को चूर चूर कर स्वातंत्र्य महोदधि में विलीन होने का दृढ़ संकल्प तो कांग्रेस में लोकमान्य तिलक के आने पर ही उदय हुआ। इस समय भारत का स्वातंत्र्य आन्दोलन भविष्य के गर्भ में था। या यों कहा जाय कि इस समय जनगण के मन में उसका भ्रूणरूप विकसित हो रहा था। इसी समय (सन् १८९३ में) काशी में बाबू श्यामसुन्दर दास, ठाकुर शिवकुमार सिंह तथा श्री रामनारायण मिश्र के प्रयत्नों से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई।

हिन्दी और नागरी के प्रति यत्र-तत्र पनप रहे प्रेमभाव का ही यह सभा मूर्त रूप थी। अभी स्वातंत्र्य आन्दोलन का कहीं पता नहीं था, किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा के मंच से हिन्दी और नागरी के राजनीतिक अधिकारों के लिए आन्दोलन छिड़ गया। महामना मालवीय जी इन दिनों वकालत कर रहे थे। किन्तु उनकी दृष्टि हिन्दी और नागरी के इस आन्दोलन की ओर लगी हुई थी। फलतः सन् १८९५ में उन्होंने इसका नेतृत्व संभाल लिया। अपने वकालत पेशे के साथ साथ मालवीय जी हिन्दी और नागरी के पक्ष में अनेक प्रमाण और आंकड़े आदि इकट्ठा करते रहे और जगह जगह शिष्टमंडल आदि भेजकर नागरी और हिन्दी की महत्ता और उपयोगिता का प्रबल पक्ष उपस्थित करते रहे। इस प्रकार उनके रचनात्मक प्रयत्नों से इस आन्दोलन को बड़ा बल मिला और चारों ओर से जनता का सजग वर्ग इस ओर आकर्षित होने लगा।

इस समय हिन्दी-नागरी आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य था, कचहरियों और स्कूलों में उसे उचित

स्थान दिलाना। वस्तुतः यह उसके राजभाषा-पद पर बढ़ने की प्रथम सीढ़ी थी। किन्तु इन दोनों स्थानों पर उर्दू जमकर बैठी हुई थी। फल यह हुआ कि उर्दू के समर्थकों ने इस आन्दोलन का उग्र विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु मालवीय जी को इसकी चिन्ता नहीं थी। उन्होंने इस आन्दोलन में भी वकालत शैली को अपनाया। वे नागरी और हिन्दी के पक्ष को सबल बनाने के लिए गम्भीर चिन्तन-मनन और ऐतिहासिक खोजबीन करने लगे। फलस्वरूप कचहरियों की लिपि का इतिहास और प्राचीन शासनाध्यक्षों की सम्मतियों का संकलन करके उन्होंने 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़' नाम की एक पुस्तिका तैयार की। इस छोटी-सी पुस्तिका में मालवीय जी की पक्ष-संस्थापन की प्रभावशाली शैली और अकाट्य प्रमाणों को युक्तिसंगत रूप में प्रस्तुत करने की रचनात्मक प्रवृत्ति उभर कर सामने आई है।

उक्त पुस्तिका में तथ्यों और आंकड़ों का इतना विशद् और गम्भीर विवेचन-संकलन है कि यह मानने में हमें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि हिन्दी बनाम उर्दू के विवाद में हिन्दी की ओर से इतने सशक्त रूप में पक्ष-संस्थापन का यह स्वरूप अपने ढंग का अकेला है। और यदि उर्दू का मसला अलग कर दिया जाय तो हिन्दी और नागरी की व्यापकता, लोकप्रियता और उसकी महत्ता का तथ्यपूर्ण और ऐतिहासिक प्रमाणों से युक्त यह प्रथम दिग्दर्शन है। यह दिग्दर्शन इतना प्रभावशाली और विविध अकाट्य प्रमाणों से भरपूर है कि कोई भी व्यक्ति, जिसके अन्दर पहले से ही कोई दुराग्रह न हो, इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि इस पुस्तिका के प्रभाव में आकर तत्कालीन छोटे गवर्नर सर एण्टोनी मैकडोनल ने हिन्दी के सम्बन्ध में मालवीय जी की सभी मांगे स्वीकार कर लीं। यह घटना २ मार्च सन् १८९८ की है। अपने कुछ प्रभावशाली मित्रों के साथ मालवीय जी उक्त तिथि को सर एण्टोनी महोदय से प्रयाग के गवर्नमेंट हाउस में मिले थे और उक्त पुस्तिका के साथ अपनी मांगे प्रस्तुत की थीं। सर एण्टोनी ने सब कुछ स्वीकार कर लिया। हिन्दी की इस विजय ने उसके आन्दोलन को बड़ी शक्ति प्रदान की और दूने उत्साह के साथ लोग हिन्दी के प्रचार में संलग्न हो गये। फिर तो मालवीय जी ने पूरी तौर से हिन्दी आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण कर देश में हिन्दी-प्रेम की एक लहर सी पैदा कर दी।

जन नेता में ऐसी सहज प्रतिभा होती है कि वह जनता के भीतर प्रवाहित भावनाओं की तह तक पहुँच जाता है और फिर उसका सहारा लेकर वह उसे संगठित और कार्यरत बनाता है। महामना जी सहज जननेता थे। यही कारण है कि उन्होंने जन-भावना को पहचान कर यथा समय उसका परिष्कार और नेतृत्व किया। यह मालवीय जी की सूझ-बूझ थी कि ऐसे समय में उन्होंने हिन्दी के लेखकों, पत्रकारों और उसके प्रेमियों का एक वृहत सम्मेलन बुलाने का आयोजन किया। इस सम्मेलन का नाम रखा गया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और इसे नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में आयोजित किया गया था। हिन्दी के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी, जब सारे देश के हिन्दी प्रेमी हिन्दी के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में विचार विनिमय करने के लिए एक जगह एकत्र हुए थे।

सोमवार १७ अक्टूबर सन् १९१० ई० को दिन में साढ़े ग्यारह बजे से यह सम्मेलन काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विशाल कम्पाउण्ड में प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में उत्साह की जो लहर देखी गई, वह अद्‌भुत थी। अपने सामान्य नेता महामना मालवीय जी के सभापतित्व में मां भारती के उपासकों ने जिस जोश-खरोश का परिचय दिया, उसका ही प्रभाव था कि वह सम्मेलन स्थायी होकर वर्तमान हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के रूप में विकसित हुआ। देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाली महान् राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के समान ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भी प्रतिवर्ष अधिवेशन होने लगा। और जब कांग्रेस ने देश की स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तो सम्मेलन ने भी मां भारती को राजसिंहासन पर बिठा दिया। यह कैसा अद्‌भुत संयोग है।

उक्त सम्मेलन में सभापति पद से मालवीय जी ने जो वक्तृता दी, वह भी ऐतिहासिक है। उन्होंने अपने भाषण में हिन्दी की रीति-नीति और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में जो विवेचना प्रस्तुत की है, हिन्दी आज भी उन्हीं रीति-नीतियों द्वारा संचालित हो रही है। हिन्दी के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी:—

"हिन्दी में फारसी-अरबी के बड़े बड़े शब्दों का व्यवहार जैसा बुरा है, हिन्दी को अकारण ही संस्कृत शब्दों से गूंथ देना भी वैसा ही बुरा है।. . . .आपकी हिन्दी में कितने ही शब्द ऐसे हैं, जो देश की बहुतेरी भाषाओं में ज्यों के त्यों या कुछ बदले हुए रूप में काम में लाए जाते हैं। आप उन शब्दों के व्यवहार में संकोच न कीजिए। हमें यह देखना चाहिए कि हमारी भाषा के शब्द ऐसे हों, जिससे सब प्रदेश के लोग लाभ उठावें।"

मालवीय जी के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका लक्ष्य हिन्दी को स्कूलों और कचहरियों के मुंशी तक पहुँचा देना नहीं था, अपितु वे हिन्दी को सारे देश की राजभाषा के रूप में देखना चाहते थे। मालवीय जी ने अपने इस लक्ष्य को प्रकट भी कर दिया है। भाषा के स्वरूप का निर्धारण कर वे हिन्दी के लेखकों, पत्रकारों और कोशकारों को सम्बोधित कर अपने भाषण में कहते हैं:—

"इसलिए भाषा की उन्नति करने में हमारा सर्व प्रधान कर्त्तव्य यह है कि हम स्वच्छ भाषा में हिन्दी लिखें। पुस्तकें भी ऐसी भाषा में लिखी जायं. . . .विज्ञानादि लिखने के सम्बन्ध में पहले भाषा के शब्द लीजिए। जब भाषा में शब्द न मिलें तो संस्कृत से लीजिए या बनाइये। भाषा का सुधार बड़ा ही प्रयोजनीय है। समाचारपत्रों और स्कूल की पुस्तकों में ऐसी भाषा चल जाने पर उसके प्रसार की तरह खुलेगी। एक दिन यह भाषा राष्ट्रभाषा हो सकेगी।"

सन् १९१० ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम सम्मेलन के अवसर पर मालवीय जी द्वारा निर्देशित उक्त मार्ग पर ही अन्त तक हिन्दी आन्दोलन चलता रहा और मालवीय जी का आशीर्वाद सफल हुआ। आज भी हिन्दी के स्वरूप, शब्द निर्माण और भाषा के अन्य गुणों के सम्बन्ध में मालवीय जी की उक्त मान्यताओं का ही सम्बल लेकर सारा हिन्दी-जगत अपनी राष्ट्रभाषा की सेवा कर रहा है।

दूसरे वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन फिर प्रयाग में हुआ और यहीं निश्चय हुआ कि इस सम्मेलन को स्थायी कर दिया जाय और इसका प्रधान कार्यालय प्रयाग में ही रखा जाय। इस अधिवेशन में मालवीय जी ने सम्मेलन की बागडोर स्वर्गीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के उन सशक्त हाथों में सौंप दी जिसका सहारा सम्मेलन को ३० जून सन् १९६२ तक मिलता रहा। इस प्रकार मालवीय जी ने हिन्दी साहित्य के प्रचार प्रसार के लिए एक ऐसे स्थायी मंच का निर्माण कर दिया जो सारे देश के हिन्दी प्रेमियों का प्रेरणास्रोत बना और इस मंच पर महात्मा गांधी, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद आदि देश की सभी प्रमुख विभूतियां हिन्दी-प्रचार प्रसार में योग देने के लिए आ इकट्ठी हुईं और हिन्दी साहित्य सम्मेलन कांग्रेस के समान देश की गौरवशाली संस्था बन गई। मालवीयजी जब तक जीवित रहे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन से उनका गहरा और अटूट सम्बन्ध ही नहीं बना रहा, अपितु वे उसकी रीति नीति के विधायक और नियामक भी रहे। सन् १९१९ के बम्बई अधिवेशन के भी सभापति श्री मालवीय जी ही चुने गए।

अपनी अमर कृति हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में यद्यपि वे इतने व्यस्त थे कि राजनीतिक दौड़धूप के लिए उनके पास समय का सर्वथा अभाव सा हो गया था किन्तु वे वहाँ भी हिन्दी और उसके सेवक साहित्यकारों को नहीं भूल सके। देश का यह सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था, जहाँ सर्वप्रथम स्वतन्त्र रूप से एम० ए० तक हिन्दी का पठन-पाठन प्रारम्भ हुआ और अंग्रेजी शिक्षा की डिग्रियों के लेविल से मुक्त हिन्दी के विद्वान् भी प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, डा० श्यामसुन्दरदास, लाला भगवानदीन तथा पं० केशवप्रसाद मिश्र जैसे हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकारों को हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थान देकर मालवीयजी ने विश्वविद्यालय के क्षेत्र में हिन्दी और हिन्दी के विद्वानों को प्रथम बार प्रवेश कराया। यह उनकी उदात्त सहृदयता और हिन्दी के प्रति दृढ़ आशावादिता का परिचायक है।

कुछ लोग सोचते होंगे, मालवीय जी का हिन्दी-प्रम, देश-प्रेम अथवा राजनीति से प्रेरित था, वे स्वयं साहित्यकार नहीं थे। किन्तु यह बात नहीं है। राजनीति और देश तथा समाज के अन्य कार्यों में उलझे रहने के कारण उनकी साहित्यिक प्रतिभा विकसित नहीं हो सकी, किन्तु मूलतः वे साहित्यकार थे। अपनी युवावस्था में वे भी कविता कामिनी के रस महोदधि में गोते लगा चुके थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गोष्ठी में, जिसमें काव्य-रस का स्रोत फूटा पड़ता था, मालवीय जी भी सम्मिलित होते थे। उस समय समस्यापूर्ति की परम्परा थी। भारतेन्दु की गोष्ठी से समस्या प्रसारित की जाती थी, और उस पर तत्कालीन रसज्ञ कवि अपनी रचनाएं प्रस्तुत करते थे। कहना न होगा कि उस समय ब्रजभाषा में ही कविता लिखी जाती थी। मालवीय जी भी 'मकरन्द' उपनाम से इस समस्यापूर्ति में भाग लेते थे और उनकी रचनाएं बड़ी ही सरस और मनोरंजक होती थीं।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी मालवीय जी ने एक पथप्रदर्शक की भाँति आदर्श मार्ग की स्थापना की है। 'हिन्दोस्थान' 'अभ्युदय' तथा 'मर्यादा' जैसी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन

द्वारा उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता का ऐसा मापदंड निर्धारित किया था, सम्पादन कला की ऐसी ज्योति जगायी थी, जिसके शुभ प्रकाश में कई दशकों तक हिन्दी पत्रकारिता अपने प्रशस्त पथ पर बढ़ती रही है। इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रस्तुत उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ न केवल हिन्दी पत्रकारिता की अमूल्य निधियाँ हैं, अपितु तत्कालीन भारतीय जनमानस की ऐसी चित्र-मूर्तियाँ हैं, जिनसे इतिहास के पृष्ठ अपना सर्वोत्तम तथ्य पा सकेंगे।

इस प्रकार महामना मालवीय जी की हिन्दी सेवाओं और हिन्दी के प्रति उनकी उदात्त कल्पनाओं पर एक दृष्टि पात करने से यह सहज ही अनुभव होता है कि उनकी पैनी एवं दूरगामी दृष्टि कितनी सशक्त और स्पष्ट थी।

हिन्दू धर्म

भारतवर्ष में लोग सदा से धर्म को सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ समझते चले आये हैं। उसके लिए भारतवासियों ने अपने तन, मन, धन को कुछ नहीं समझा। जैसे कि बहुत से देश अपने साम्पत्तिक अभ्युदय के लिए धर्म अधर्म का कुछ विचार नहीं करते...... चाहे झूठ बोलना पड़े, बेईमानी करनी पड़े और हिंसा भी क्यों न होती हो, परन्तु यदि कोई देश अथवा माल हाथ लगे तो कुछ परवाह नहीं। ऐसा विचार भारतवर्ष का कभी नहीं रहा। यहां के धर्म-बुद्ध, धर्म-राज्य और धर्म-कार्य प्रसिद्ध है। और इसमें सन्देह भी नहीं कि धर्म सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। इसको खोकर अन्य वस्तुओं का प्राप्त करना अपने परलोक को नष्ट करना है। प्रत्येक कार्य के करने में धर्म का पालन करना आवश्यक है, परन्तु धर्म को एक तमाशा बना लेना मूर्खता है। धर्म की आड़ में अपनी काहिली, निर्बलता और मानसिक अशक्ति को छिपाना नाश का कारण है। बहुधा यह कहा जाता है कि भारतवर्ष में लोगों का अपने धर्मों में अधिकतर लगे रहना ही इस देश की अवनति का कारण हुआ है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, धर्म में लगा रहना तो किसी भी अवस्था में, अवनति का कारण हो ही नहीं सकता। कारण यह है कि भारतवासी, धर्म में लगे रहना तो दूर रहा, अपने धर्म को समझते ही नहीं। धर्म को एक खेल मान रखा है। क्या धर्मों के भेद से हिन्दुओं, आर्यों, मुसलमानों और ईसाइयों का आपस में झगड़ा करना कोई धर्म कहा जा सकता है?

—महामना मालवीय

श्री हरिमोहन मालवीय

कवि 'मकरन्द' और उनकी कविता

महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने हिन्दी की सेवा पत्रकार, वक्ता और प्रचारक के साथ ही 'मकरन्द' कवि के रूप में भी की थी। उनके कवि रूप के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का विचार है कि यह उनके जीवन का प्रधान रूप नहीं था। वह हमारे कौतूहल और आश्चर्य का ही विषय है। वस्तुतः मालवीय जी ने हिन्दी के निर्माण का नहीं, प्रचार का ही काम अधिक किया है। व्याख्याता और वक्ता के रूप में उन्होंने हिन्दी के प्रसार में योग दिया है। 'मकरन्द' उपनाम से रची हुई महामना की कविताओं की संख्या के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाओं का अभाव है। जो कविताएं प्राप्त हैं वे प्राचीन रससिद्ध कवियों की रचनाओं के समकक्ष सहज ही रखी जा सकती हैं। उनकी ब्रजभाषा की कुछ रचनाओं को देख कर यह नहीं प्रकट होता कि वे कविताएँ एक ऐसे महापुरुष द्वारा रची गई हैं जिसने आजीवन समाज सुधार, सांस्कृतिक पुनर्जागरण एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए सक्रिय रचनात्मक कार्य किये हैं।

"भारतेन्दु" अर्वाचीन और पुरातन युग-सन्धि के प्रतीक तथा अपने युग के प्रेरणा-केन्द्र थे। नवयुग की प्रवृत्तियों के बीज तथा भक्ति एवं रीति-कविता की समस्त परम्पराएं विकसित रूप में उनके काव्य में ध्वनित होती हैं। यौवन के दीप्त वसन्त में मदनमोहन कवि 'मकरन्द' के रूप में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्णतया अनुगामी थे। १४ वर्ष की अवस्था में महामना ने श्रृंगार रस के सम्बन्ध में यह दोहा रचा था:–

> "यह रस ऐसो है बुरो, मन को देत बिगारि।
> याते पास न जाइये, जब लौं होय अनारि।।"

किन्तु कविता और संगीत से उन्हें परम्परागत लगाव था। कालेज-जीवन में उन्होंने नाटकों में "शकुन्तला" तथा "मर्चेन्ट आफ वेनिस" में पोर्शिया का उत्कृष्ट अभिनय किया था। वे प्रायः कहते थे—

> **गुनी जनन के साथ, रसमय कविता मांहि रुचि।**
> **अवसि दीजियो नाथ, जब जब इहां पढ़ाइयों।।**

भारतेन्दु की अनेक कविताएँ उद्दाम श्रृङ्गाररस से पूर्ण हैं, इसी परम्परा की कविताएँ मर्यादावादी महामना की चाहे न मानी जायें किन्तु वह मदनमोहन के मन के "मकरन्द" की रसज्ञता को प्रकट करती हैं।—

मांगत मोतिन माल नहीं नहिं मांगत तोसों न भोजन पानी।
सारी न मांगत हौं 'मकरन्द' न थारी अनेक सुगन्धन सानी।।
मांगत हौं अधरा रस रन्चक, सोउ न दीजतु हौं सनमानी।
सूमता एती तुम्हें नहीं चाहिए बाजति हौ चहूं रधिका रानी।।

राधा कृष्ण के प्रेमप्रसंगों पर आधारित काव्य की परम्परा "गाथा सप्तशती" से प्रारम्भ होती है। इस कथानक के आधार-ग्रंथ न पुराण हैं न अन्य शास्त्रीय वाङ मय। ये लोक-मानस से उद्भूत हैं। गाथाओं से गीतगोविन्द में और आगे विद्यापति के काव्य में इस परम्परा का निर्वाह हुआ है। हिन्दी के भक्त कवियों ने राधा कृष्ण के युगल रूप का सौन्दर्य एवं भावमय वर्णन किया है। हिन्दी-रीति कविता में वे ही राधा और कृष्ण सामान्य नायक नायिका बन गए थे।

ब्रज-भाषा की सरस कविताओं का सृजन महामना के उस जीवन-काल-खण्ड तक ही सीमित था जब तक कि उनके अंतःकरण में स्वधर्म और स्वराज्य का प्रवल झंझावात आन्दोलित नहीं हुआ था। जब राष्ट्रीयता, धार्मिकता और समाज-सुधार का भाव जगा उनके उद्दाम यौवन के आवेश का रेचन हो गया और कवि मकरन्द निष्क्रिय होकर अंतस के एक कोने में ठिठक कर रह गया। अन्य अनेक रूपों में महामना की कविता-गंगा फिर भी प्रवाहित होती रही किन्तु उसमें वह माधुर्य और सरसता नहीं थी। कालान्तर में नीति और उपदेशों से वह बोझिल हो गई।

अपने कालेज-जीवन में महामना ने दो हास्यप्रिय झक्कड़ सिह और जेण्टिलमैन रचना लिखी थी। झक्कड़ सिंह के रूप में उन्होंने अपना अलमस्त जीवन-चित्र खींचा था। इन रचनाओं में उन्होंने अपना नाम 'मदनमोहन' ही लिखा है।

दोनों रचनायें हास्य की सृष्टि करती हैं, यद्यपि वे उनकी प्रारम्भिक रचनाएं हैं।

गरे जूही के हैं गजरे पड़ा रंगी दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके की मंगाते हैं।।
न देखें हम तरफ उनकी जो हमसे नेक मुंह फेरे।
जो दिल से हम से मिलते हैं, झुक उनको देख जाते हैं।।
नहीं रहती फिकर हमको, कि लावें नोन औ लकड़ी।
मिले तो हलवे छन जावे, नहीं झूरी उड़ाते हैं।।

—झक्कड़ सिंह

तथा

अहले यूरप पूरा जेण्टिलमैन कहलाता है हम।
जेण्ट से बाबू दुखी मिस्टर कहा जाता है हम।।
बाबू चाचा का कहना, लाइक हम करता नहीं।
पापा कहता अपने बच्चों को भी सिखलाता है हम।

कोट और पतलून पहने हैट एक सिर पर धरे।
ईवनिंग में वाक करने पार्क को जाता है हम।।

—'जेण्टिलमैन'

जीवन-संध्या में महामना को ''मकरन्द' नाम से रचित स्वतः की कविताओं के प्रकाशन से दुःख होता था। सनातनधर्म, पत्र के सम्पादक पं० गयाप्रसाद जी ज्योतिषी ने जब इन कविताओं को अपने पत्र में छापा, महामना जी तब अप्रसन्न भी हुए थे किन्तु उनकी ब्रजभाषा में रचित कविताओं का स्तर ऊँचा है। सवैये की भाषा मधुर प्रसाद-गुण-पूर्ण सरल और सरस है। इनमें राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का मर्यादित चित्रण है। इस प्रकार की रचना करने का कारण यह था कि उन्हें सूर और विहारी के सहस्रों पद और दोहे कण्ठ थे। ब्रजभाषा की ये कविताएँ उच्च साहित्यिक प्रौढ़ता की प्रतीक हैं। ये सवैये घनानन्द और रसखान की परम्परा के हैं:—

इन्दु सुधा वरस्यो नलिनीन पै वैं न बिना रवि के हरषानी।
त्यों रवि तेज दिखायो तऊ बिनु इन्दु कुमोदिनि ना विकसानी।।
न्यारी कहूँ यह प्रीति की रीति नहीं 'मकरन्द' जू जात बखानी।
सांवरे कामरी वारे गोपाल पै रीझि लटू भईं राधिका रानी।।

नायिका के मान-मनुहार का विषय रीतिकालीन कवियों को प्रिय था। भक्त कवियों ने भी मान सम्बन्धी पद रचे हैं। कवि 'मकरन्द' की उक्ति राधा के मान पर इस प्रकार है :—

वे कब के उत ठाढ़े अहैं इत बैठि अहौं तुम नारि चुपानी।
थाकी तुम्हे समुझावत सामते ऐसी मैं रावरी बानि न जानी।।
मोहि कहा पैं यहै 'मकरन्द' हूँ जो कहूं खीझि कै रूसन ठानी।
आजु मनाये न मानती हौ कल्ह आपु मनाइहौं राधिका रानी।।

ब्रज के फाग का वर्णन कवि 'मकरन्द' ने इन शब्दों में किया है:—

धूम मची ब्रज फागु री आजु बजैं डफ झाँझ अबीर उड़ानी।
ताकि चले पिचुका दुहुं ओर गलीन में रंग की धार बहानी।।
भीजैं भिगोवैं ठढ़े 'मकरन्द' दुहूं लखि सोभा न जात बखानी।
ग्वालन साथ इतै नन्दलाल, उतै संग ग्वालिन राधिका रानी।।

कृष्ण के वियोग में गोपिकाओं के विरह-विदग्ध मन की दशा के सम्बन्ध में ''मकरन्द'' की भाव-मय लेखनी से निम्न उद्गार निःस्तृत हुए—

भूलि है सो हंसि मांगिबो दान को रंच दही हित पानि पसारन।
भूलि हैं कागु के रागु सबै वह ताकिहि ताकि कैं कुंकुम मारन।।

सोतो भयो सब ही 'मकरन्द' जू दाखहि चाखि के बैर बिसारन।
जापर चीर चुराय चढै वह भूलि है कैसे कदम्ब को डारन।।
ढूंढ्यों चहुँ झँझरीन झरोखन ढूंढ्यों किते भर दान पहारन।।
मन्जुल कुन्जन ढूंढि फिरयो पर हाय मिले न कहूं गिरिधारन।।
लावत नाहि तऊ परतोति सह्यौ इतनो दुख प्रीति के कारन।
जानत स्याम अजौं उतही चित चौंकल देखि कदम्ब की डारन।।

राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों से व्यस्त जीवन में भी समयानुसार महामना भारत के हित-चिन्तन में सदैव रत रहते थे—

भारत चारहुं ओर दुःखी दुःख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहियै दुःख कौन उपाय सो होय निवारन।।
सो सब दूरि रहे 'मकरन्द' हमें इन बातन में केहि कारन।
होय सो होय इहां नहिं भूलिनो राधिका रानी कदंब की डारन।।

महामना की कुछ उक्तियों में साहित्यिक सौष्ठव का अभाव है, किन्तु भावों की उत्कृष्टता कथन की आत्मीयता और यथार्थता, व्यक्ति को आर्कषित करती है:—

पाप दीनता दरिद्रता, और दासता पाप।
प्रभु दीजे स्वाधीनता, मिटै सकल संताप।।
उठो धर्म के काम में, उठो देश के काज।
दीनबंधु तव नाम ले, नाथ राखिये लाज।।

महामना ने ६ अप्रैल सन् १९२७ में हरिद्वार की अखिल भारतीय खादी प्रदर्शनी में स्वरचित कविता पढ़ी थी। कविता "भारतेन्दु" की शैली की अनुगामिनी हैं। सूत कातने और स्वदेशी वस्त्र के व्यवहार पर आग्रह प्रकट करते हुए आपने कहा था—

वस्त्रहिं के कारन बढो इहां विदेशी राज।
तजो विदेशी वस्त्र को जो तुम चहौ स्वराज।
बूंद बूंद घट भरत है, कन कन कोटि जुटाय।।
सब बिधि कातौ सूत जिमि देस लाज रहि जाय।।

महामना अपने किए हुए कार्य की सफलता पर प्रसन्न होते थे। हरिजनोद्धार के कार्य में जब उन्हें सफलता मिली तो वे प्रसन्न हो उठे, उनका मन नाचने लगा:—

कूप खुले मंदिर खुले, खुले स्कूल चहुं ओर।
सभा, सड़क, जमघट खुले, नाचत है मन मोर।।

महामना का जीवन संस्कृत के नीति-श्लोकों एवं हिन्दी-नीति के दोहों से प्रभावित था। वे भी समय समय पर सहज भाषा में उद्बोधक नीति के दोहे रचते थे। वाराणसी में दशाश्वमेघ घाट पर हरिजनों को दीक्षा देकर उन्होंने कहा था —

दूध पियो कसरत करो, नित्य जपो हरिनाम।
हिम्मत से कारज करो, पूरेंगे सब काम।।

महावीर दल के लिए उन्होंने निम्न नीति-वाक्य लिखे थे—

महावीर को इष्ट है, ब्रह्मचर्य को नेम।
दृढ़ता अपने धर्म में, सारे जग से प्रेम।।

आर्त भक्तों की भांति उन्होंने आत्मनिवेदन भी किया था:—

मन पिरात धीरज छुटत, समुझि चूक अस पाप।
सब प्रानिन के प्रान प्रभु, छमहु मिटै संताप।।

'ईश्वर' पर उनकी एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। ईश्वर की सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में महामना ने लिखा है—

थावर जंगम जीव में, घट घट रमता राम।
सत चित आनन्द घन प्रभू सब विधि पूरन काम।।

महामना मालवीय जी द्वारा रचित निम्न बहुचर्चित पद प्रसिद्ध है। इसकी प्रथम पंक्ति में कहीं कहीं "दशरथ नन्दन राम जप रे" भी मिलता है। इस पद में संतों की वाणी का रसात्मक उपदेश निहित है:—

घट घट व्यापक राम जप रे।
मत कर बैर, झूठ मत भाखै।
मत परधन हर, मत मद चाखै।
जीव मत मार, जुवा मत खेले,
मत पर तिय लख, यहि तेरो तप रे।
घट घट व्यापक राम जप रे।

सहज और स्वाभाविक भाषा में सात्विक संस्कारों को प्रगट करने की शक्ति उनकी मृदुल, मंजुल वाणी में थी। उनकी रजत-जिह्वा और लेखिनी से अमृत निर्झरित होता था।

महामना मालवीय जी !

('मालवीय काव्यम्' से)

श्री शंकरो मदनमोहनमालवीयरूपेण योऽत्र भगवान्करुणावतारः।
कर्त्तुं सुखानि जगतां प्रकटीबभूव तं वन्द्यपादसरसीरुहमानमामः॥

कामं द्विजा जगति के न पुरा बभूवुः किन्तु त्वजायत महीयमनेनधन्या।
कं कं न गच्छति जनं कमला परन्तु रागेण संभजति सा त्वरविन्दनाभम्॥

सत्ये युधिष्ठिर इवात्मबले स भीमो भक्तौ नृपार्जुनसमो न कुलः क्रियासु।
शास्त्रावबोधनिपुणस्सहदेवएवमेकोऽवतार इव पाण्डवपंचकस्य॥

कीर्त्यास्यचन्द्रसितया धवलं तथैवारक्तं प्रतापतपनस्यगभस्तिपुंजैः।
नीलं सदाध्वरमलीमसधूमजालैश्चित्रं दुकूलमभवद्धरिदङ्गनानाम्॥

यो मालवीयकुलविप्रधुरन्धरेषु श्रेष्ठोऽमरेषु सकलेषु यथा महेन्द्रः।
कंचित्क्वचिद्विमुखतां न निनाय धीरः स्नेहं बबन्ध दयया परया जनेषु॥

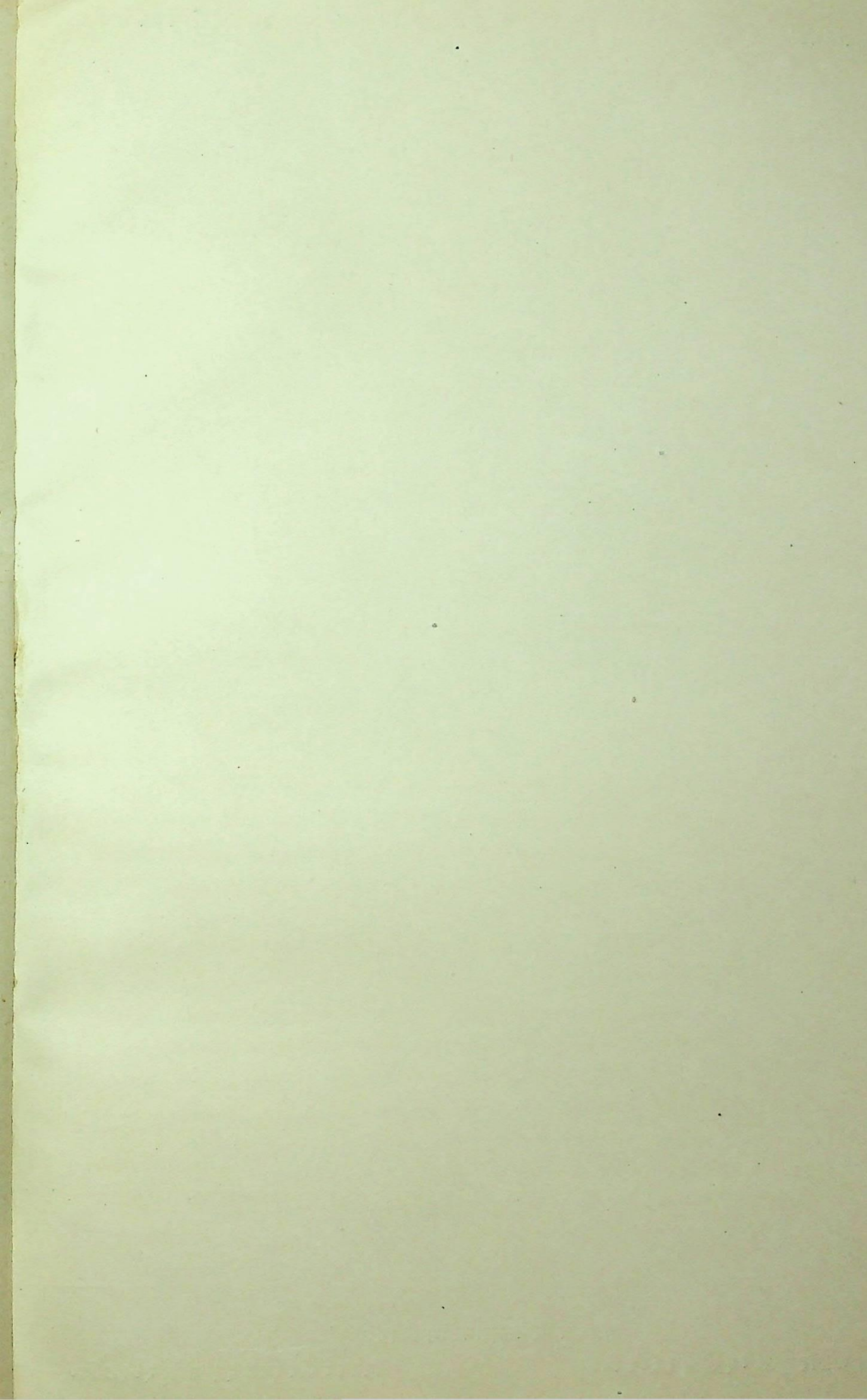
यस्मिन्द्विजे जगति जागृति विश्ववन्द्या विच्छाधिकं तु सकलाय सदाददाने।
व्यर्थत्वमेव समभूद्विबुधद्रुमाणां पंचत्वमेव तु ततः सुतरां बभूव॥

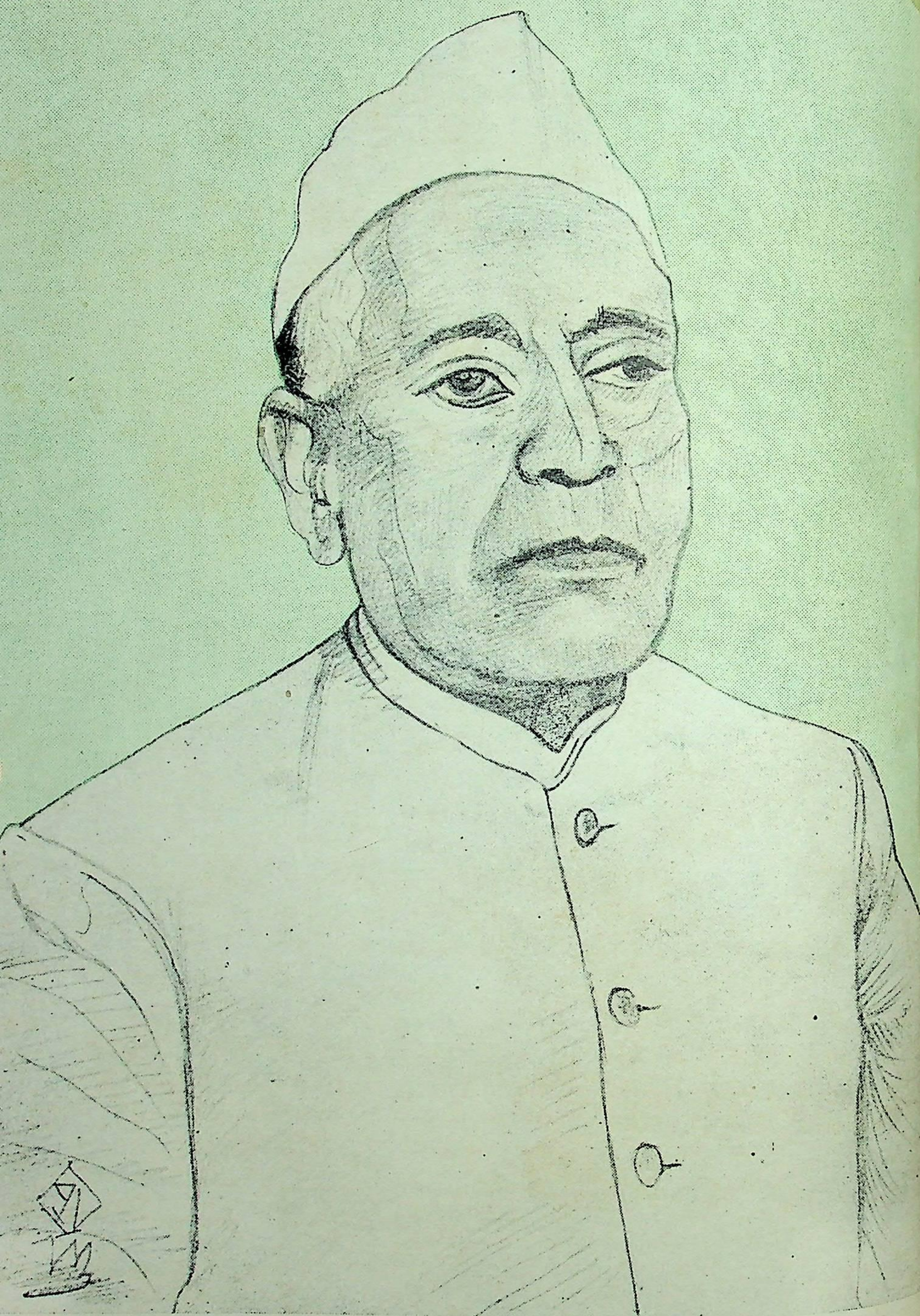
दुःखाब्धिमग्नमपरं सुसमीक्ष्य धीरो निस्तारकर्मनिरतो द्रुतमेव जातः।
कामारिवत्करुणयाधिककोमलात्मा कामानपूरि परितः शरणागतानाम्॥

संधारयन्सुरभितां धवलस्वरूपो यः शीतलोऽधिकगुणो भजमानवृन्दे।
यो दक्षिणाश इति चन्दन एव किन्तु न स्वीचकार परितो मिलितान्द्विजिह्वान॥

रात्रिन्दिवं सविमलोज्वलकीर्त्तिशाली श्रृङ्गे सदा लसति चोदयपर्वतस्य।
अस्तं जगाम न कदापि जगत्प्रकाशोऽपूर्वो विभाति भगवानरविन्दबन्धुः॥

—रामकुबेर मालवीय, एम० ए०
साहित्य०-व्याकरणाचार्य
अध्यक्ष, साहित्य-विभाग
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी





आचार्य पण्डित रामनरेश त्रिपाठी

जन्म : भाद्रपद शुक्ल १३ संवत् १९४६ वि० निधन : पौष शुक्ल ११. संवत् २०१८ वि०

दूसरा खंड

स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी

(व्यक्तित्व, कृतित्व और संस्मरण)

श्री बालकृष्ण राव

हिन्दी-भक्त रामनरेश त्रिपाठी

बीसवीं शती के हिन्दी साहित्य के इतिहास में पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के नाम का एक विशेष स्थान और महत्व है। उन्हें हम तीन विभिन्न क्षेत्रों में, तीन विभिन्न रूपों में, स्मरण करते हैं—छायावाद के अग्रदूत के रूप में, अथवा यों कहें कि द्विवेदीयुगीन स्पष्ट, सुथरी किन्तु नीरस शब्दावली और इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध, संवेदनशील तथा भावप्रवण कवि-हृदय की प्रतिक्रिया के प्रतीक के रूप में—अर्थात् 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' के रचयिता के रूप में, ग्राम-गीतों के अन्वेषक, आविष्कारक तथा काव्य-भावक के मन पर प्रतिष्ठापक के रूप में, और 'कविता-कौमुदी' की गागर में हिन्दी-काव्यसागर को भर कर जन-सुलभ बनाने वाले साहित्य-सेवी के रूप में। यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन-सा रूप भविष्य के इतिहासकार की दृष्टि में सर्वाधिक महत्व का होगा, पर इतना तो निश्चित है ही कि प्रत्येक का वह सादर उल्लेख करेगा।

कवि के रूप में त्रिपाठी जी के तीनों प्रसिद्ध काव्यों में, कल्पित पात्रों के सहारे कवि ने आत्माभिव्यक्ति की चेष्टा की है, आगे आनेवाली छायावादी कवियों की पीढ़ी की तरह सीधे अपनी बात न कहकर द्विवेदीयुगीन काव्यगत मान्यताओं के अनुरूप उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त पात्रों की परिकल्पना की है। पर यदि त्रिपाठी जी ने समसामयिक मान्यताओं के प्रति इस अर्थ में आदर और आस्था प्रकट की है तो साथ ही साथ आने वाले युग की रुचियों, मान्यताओं और अभिव्यंजना-शैलियों के प्रति इस अर्थ में संकेत भी कर दिया है कि उनके काव्यों के पात्रों में कहीं भी द्विवेदीयुगीन स्थूलता नहीं मिलती। वे आगामी (छायावादी) युग के काव्य-प्रतीकों के समान सूक्ष्म और प्रायः वायवी ही बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त देश-प्रेम की जो भावना, जो द्विवेदीयुगीन तथा छायावादी काव्यों को एक अखण्ड धारा का रूप दे देती है, त्रिपाठी जी के काव्यों की अंतःप्रेरणा के रूप में सदैव जीवन्त और क्रियाशील रहती है।

द्विवेदीयुगीन काव्य को आधुनिकता की ओर ले जाने में त्रिपाठी जी का कितना महत्वपूर्ण योगदान है यह समझने के लिए उनके द्वारा परिकल्पित पात्रों की सूक्ष्मता के अतिरिक्त उनके काव्यों के दो अन्य पक्ष भी हैं। द्विवेदीयुगीन काव्य में कवि ने वाह्य प्रकृति का उपयोग प्रायः उसी रूप में उसी सीमा तक किया है जिस रूप में और जिस सीमा तक हमारे पुराने रीतिकालीन कवि करते आये थे, अर्थात् आलम्बन के रूप में। प्रकृति को एक स्वतः सम्पूर्ण, प्राणवान और संवेदनात्मक तत्व के रूप में देखने और स्वीकार करने में न रीतिकालीन कवि ही सफल हुए थे न द्विवेदीयुग के कवि ही। उन्होंने प्रकृति को अधिक से अधिक मानव-जगत के रंगमंच के लिए

उपयुक्त (अथवा अनुपयुक्त) पृष्ठभूमि मात्र ही माना था। त्रिपाठी जी इस परंपरागत सीमा को तोड़कर अपनी संवेदना और काव्यदृष्टि के बल पर सहज ही आधुनिक काव्य-चेतना की दिशा में बहुत आगे बढ़ सके। उन्होंने केवल प्राकृतिक दृश्यों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन ही नहीं किया है, प्राकृतिक सौन्दर्य के मर्म को स्पर्श कर लिया है, प्रकृति के साथ कुछ उस प्रकार का तादात्म्य स्थापित किया है जो आगे चलकर पन्त के काव्यों में अपनी पूरी सुन्दरता और गरिमा के साथ अभिव्यक्त हुआ। प्रकृति के प्रति त्रिपाठी जी का सहज अनुराग और आदर ही इसका कारण है कि उनके अनेक उत्कृष्ट चित्रण सर्वथा सीधे-सादे, स्वाभाविक तथा अनलंकृत हैं। यहाँ एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा :—

छिटक रही थी स्निग्ध चांदनी,
पवन तान भरता था।
ज्योत्स्ना में पत्ते हिलते थे,
जल छप्-छप् करता था॥
बैठे हुए शिला पर,
तन आगे की ओर झुकाए।
पथिक अचेतन अचल एकटक-
क्षिति पर दृष्टि गड़ाए॥

ग्राम-गीतों के क्षेत्र में त्रिपाठी जी के कार्य को एक सच्ची साधना, अपितु तपश्चर्या कहा जा सकता है। लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-कला आदि नागर-सभ्यता की दृष्टि में आदर की नहीं, कुतूहल और विनोद की वस्तुएँ रही हैं। जिस प्रकार प्रायः किसी विशाल और सुन्दर वृक्ष के बारे में बातें करते हुए लोग उसके तने के, उसकी शाखाओं के, उसकी टहनियों और पत्तियों के, उसके फूलों और फलों के बारे में तो बात करते हैं पर उसकी जड़ के बारे में नहीं, केवल इसलिए कि वह अदृश्य होती है और विकसित वृक्ष के सौंदर्य के सन्दर्भ में उसका कोई उपयुक्त स्थान नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार शिष्ट काव्य, संगीत, कला, आदि के सन्दर्भ में विचार करते समय हम उनके मूलभूत रूप, लोक-गीत, लोक-नृत्य और लोक-कला, की बात नहीं करते। पर क्योंकि हमारे अन्तर्मन में कहीं यह भाव छिपा रहता है कि हम अपने आरम्भिक, प्राकृत रूप से जितना दूर चले जायँ उतने ही सभ्य और शिष्ट बनते जायंगे। इसलिए समय-समय पर हम लोक-गीत, लोक-नृत्य लोक-कला आदि से परिचित होते रहना चाहते हैं। यह केवल अपने स्वाभाविक कुतूहल के कारण ही नहीं, जाने-अनजाने इस कारण भी कि हम अपने आदिम रूप से अपनी दूरी जानते रहना चाहते हैं। त्रिपाठी जी ने इस प्रकार के कुतूहल के कारण ग्रामगीतों का संकलन और प्रकाशन नहीं किया। उनके हृदय में ग्राम-गीतों के प्रति सच्ची आस्था और सच्चा आदर था—और अनलंकृत सौन्दर्य के प्रति यह वही आस्था और आदर का भाव था जिसने उन्हें सुन्दरतम प्रकृति-चित्रणों को सीधा-सादा रखने और हर प्रकार की अतिरंजना से बचाने की प्रेरणा और क्षमता दी।

त्रिपाठी जी के भगीरथ प्रयत्न के फलस्वरूप ग्राम-गीतों का हिन्दी साहित्य के जगत में पुनः प्रचार ही नहीं हुआ उनके प्रति शिष्ट मन में अपेक्षित आदर का संचार भी हुआ।

"कविता कौमुदी" के संकलन के विषय में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसके प्रथम प्रकाशन के इतने वर्षों के बाद आज भी कोई प्रबुद्ध पाठक "कविता कौमुदी" की उपेक्षा नहीं कर सकता।

त्रिपाठी जी की हिन्दी-सेवा की कहानी इस युग के हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक ऐसा पृष्ठ है जिसके बिना वह इतिहास कभी सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकेगा।

० ० ०

स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी

प्रिय निर्मल जी,

आपका दिनांक १ नवम्बर का कृपा-पत्र मिला। धन्यवाद! 'सम्मेलन-पत्रिका' का 'श्रद्धाञ्जलि अंक' जिसमें स्वर्गीय रामनरेश जी त्रिपाठी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश एवं श्रद्धांजलि होगी, प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

श्री रामनरेश जी त्रिपाठी उन दिनों मेरे परिचय में आये जब उनके संपादन में 'कविता-कौमुदी' का प्रकाशन हुआ। इसके बाद तो उनके साहित्यिक-स्तर ने मेरे और उनके इस परिचय में दिनोंदिन अधिकाधिक मैत्री और प्रगाढ़ता ही भर दी। श्री त्रिपाठी संत-साहित्य के, विशेषकर रामचरितमानस के, मर्मज्ञ थे। इसके साथ ही एक उच्चकोटि के आलोचक। फिर वे आलोचक मात्र ही नहीं थे। गद्य और पद्य दोनों ही माध्यमों से हिन्दी के भंडार की उन्होंने सदा श्रीवृद्धि की। एक साहित्यकार के नाते वे बड़े मृदु, विनम्र और सहृदय थे। उनकी इन स्वभावगत विशेषताओं के कारण मैं सदा उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। मुझे प्रसन्नता है कि हिंदी साहित्य सम्मेलन हिन्दी के यशस्वी साहित्यकारों की स्वर्गीय आत्माओं के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है।

मैं स्वर्गीय आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

जबलपुर
४ नवम्बर, १९६२

भवदीय
—गोविन्ददास

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

स्वर्गीय रामनरेश त्रिपाठी के कुछ संस्मरण

वे भी क्या दिन थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन नियमानुकूल प्रतिवर्ष हुआ करते थे। हम लोग बड़ी उत्कण्ठा से उनकी प्रतीक्षा किया करते और उसने राष्ट्रीय उत्सव का रूप धारण कर लिया था। उस अवसर पर नवीन नवीन लेखकों तथा कवियों से परिचय प्राप्त होता था, जो कभी कभी आगे चलकर प्रगाढ़ मित्रता में परिणत हो जाता था! किन्तु "ते हि नो दिवसः गतः।"

सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवां अधिवेशन इन्दौर में हुआ था। महात्मा गान्धी जी उसके सभापति थे और उसी मौके पर मुझे श्री रामनरेश जी त्रिपाठी के दर्शन करने का मौका पहली बार मिला था। चवालीस वर्ष पहले की सिर्फ एक बात मुझे याद रह गई है—वह यह कि हम लोग साथ साथ श्री जमनालाल जी बजाज के स्थान पर गये थे। त्रिपाठी जी से उस समय सूक्ष्म सा ही परिचय हो सका, क्योंकि अधिवेशन के साहित्य-विभाग तथा प्रदर्शिनी के मंत्री होने के कारण मुझे बहुत व्यस्त रहना पड़ता था और स्वयं त्रिपाठी जी श्रद्धेय टंडन जी के सहायक के रूप में काफी व्यस्त थे। उसके बाद जब बम्बई के अधिवेशन में हम लोग फिर मिले तो एक धर्मशाला में साथ ही ठहरे और हास्यरसावतार चतुर्वेदी जगन्नाथप्रसाद जी को भी वहीं स्थान मिला था। उस सन्ध्या की बात मैं कभी नहीं भूल सकता जब हम तीनों समुद्र के किनारे चौपाटी पर टहलने के लिये गये थे। यद्यपि चतुर्वेदी जी हम दोनों से उम्र में काफी बड़े थे, तथापि हम लोगों के साथ उनका व्यवहार बिल्कुल बराबरी का था। उनका व्यक्तित्व बड़ा सजीव था और न जाने कितनी बार उन्होंने हम दोनों को हँसया होगा। उनका बातचीत करने का ढंग स्वाभाविक था, मनहूस से मनहूस आदमी उनकी संगत में हँसे बिना नहीं रह सकता था। वे जहाँ जाते आनन्द ही आनन्द बिखेरते थे। स्वयं रामनरेश जी त्रिपाठी को भी हास्यरस की अनेक कविताएँ कण्ठस्थ थीं और उन्होंने उनके पाठ से वातावरण को और भी उल्लासमय बना दिया। एक भौंड़ी सी कविता भी उन्होंने सुनाई थी, जिसका एक अंश मुझे अब भी याद रह गया है। "चन्द्रमुखी चट्टान पै........" यह कविता चिरकीन की स्टाइल की थी, इसलिये उसके बारे में कुछ न कहना ही ठीक होगा। उस समय दोनों कवियों में हलकी-फुलकी कविताओं के सुनाने की मानो होड़ सी लग गई थी और श्लीलता या अश्लीलता का कोई सवाल ही नहीं उठता था। कई घंटे तक हम लोग हँसते हँसाते रहे।

त्रिपाठी जी उम्र में मुझ से सिर्फ दो तीन वर्ष ही बड़े थे पर उन्होंने साहित्य के लिये जितना कार्य किया उतना मैं दो तीन जन्म में भी न कर पाऊँगा।

त्रिपाठी जी गद्य और पद्य दोनों के अच्छे निर्माता थे, पर उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण। त्रिपाठी जी ने सिर्फ हिन्दी मिडिल पास किया था और बाद में अंग्रेजी भी थोड़ी सी पढ़ ली थी पर निरन्तर स्वाध्याय से उन्होंने अपने ज्ञान को अत्यन्त सुविस्तृत तथा सुसम्बद्ध बना लिया था। हमारे देश में अंग्रेजी को और अंग्रेजी पढ़ों को जो अनुचित महत्व दिया जाता है, उसके कारण शुद्ध हिन्दी पढ़ों में एक प्रकार की क्षुद्रता की भावना आ जाती है, जो अत्यंत हानिकारक है। हमारा तो यह निजी अनुभव है कि निरन्तर अंग्रेजी लिखने पढ़ने का दुष्प्रभाव हिन्दी लेखकों पर पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रसंग में एक किस्सा याद आ रहा है। श्री गोविन्द मालवीय जी अपने पूज्य पिता जी को (पूज्य मालवीय जी) 'पायनियर' पढ़कर सुना रहे थे। पंडित पद्मसिंह शर्मा वहीं विराजमान थे। गोविन्द जी कहीं जाने लगे, तो बड़े मालवीय जी ने पं० पद्मसिंह जी से कहा — "आप ही कृपया 'पायनियर' पढ़कर सुना दीजिये"। पं० पद्मसिंह जी ने जवाब दिया "मैं तो अंग्रेजी बिल्कुल नहीं जानता।" इस पर मालवीय जी ने कहा "पर हिन्दी तो आप बहुत अच्छी लिखते हैं"। इस पर आचार्य जी ने कहा कि "हिन्दी इसीलिये अच्छी लिख लेता हूँ कि अंग्रेजी नहीं जानता।"

दीनबन्धु जी एण्ड्रूज की एक सभा में मैंने त्रिपाठी जी का परिचय देते हुए उनके गौरव को बढ़ाने के लिये उनके अंग्रेजी के अज्ञान की एक बार चर्चा की थी, उसे भी त्रिपाठी जी ने अन्यथा ही समझा और कुछ बुरा भी माना। बात दरअसल उल्टी थी। यदि त्रिपाठी जी ने अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पाई होती तो वे किसी विद्यालय के मामूली-मामूली अध्यापक बन गये होते और जितना महान् कार्य उन्होंने किया उसका शतांश भी न कर पाते, ऐसा मेरा निश्चित मत है।

साधारण जनता में कविता के प्रति रुचि उत्पन्न करने में उनकी 'कविता कौमुदी' के सात भागों ने बड़ा महत्वपूर्ण काम किया था और इन काव्यसंग्रहों की जो भूमिकायें त्रिपाठी जी ने लिखी थीं वे बड़ी विद्वत्तापूर्ण थीं। उनकी 'कविता कौमुदी' का चतुर्थ भाग अब भी मेरे पास सुरक्षित है और कभी-कभी मैं उसे अब भी देख लिया करता हूँ।

स्वयं त्रिपाठी जी बहुत अच्छे कवि थे। उनकी भाषा में ओज था, प्रवाह था और अर्थगाम्भीर्य भी था। 'पथिक' और 'मिलन' में उनकी काव्यशक्ति पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। आश्चर्य की बात यह है कि इन दोनों को उन्होंने थोड़े ही दिनों में लिखा था। पर असल में ये ग्रन्थ उनके वर्षों के संचित अनुभवों के परिणाम थे।

आगे चलकर उनके जिस कार्य को सबसे अधिक महत्व दिया जायगा वह है ग्रामगीतों का संग्रह। इस विषय में तो वे हिन्दीवालों के पथ-प्रदर्शक थे। आगे चलकर श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, रामइकबाल सिंह 'राकेश', मनोरंजन जी तथा अन्य लेखकों ने इस काम को आगे बढ़ाया और सत्यार्थी जी ने तो अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग ही इसी के लिये अर्पित कर दिया। ग्रामगीतों के संग्रह करने में त्रिपाठी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ा, अधिक तो कहिये कि उन्हें असाधारण

परिश्रम के कारण उन्हें डायबिटीज (मधुमेह) की बीमारी हो गई, जिसने उनके शरीर को खोखला ही कर दिया। उनके जीवन के दस वर्ष इस यज्ञ में लग गये। इसमें उन्हें सैकड़ों मील की यात्राएं करनी पड़ीं, कभी बैलगाड़ी में, कभी ऊँट पर, तो कभी पैदल ही। खाने पीने और रहने-सहने का तो कोई इन्तजाम था ही नहीं। अपने पेट पर उन्होंने काफी जुल्म किये और बीमारी मोल ले ली। फिर भी अपने अदम्य उत्साह तथा अद्‌भुत लगन के द्वारा वे ऐसा काम कर गये, जो हिन्दी साहित्य में चिरस्थायी रहेगा। वस्तुतः यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि किसी भी विश्वविद्यालय ने त्रिपाठी जी के इस कार्य के महत्व को नहीं समझा। वे दर असल डी० लिट् की उपाधि के हकदार तो थे ही।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि कई विदेशी लोगों ने उसकी 'कविता कौमुदी' के कई भागों की काफी कद्र की थी। त्रिपाठी जी ने महाकवि तुलसीदास का एक आलोचनात्मक जीवन-चरित्र लिखा था, जिसका महत्व किसी भी शोधग्रन्थ से कदापि कम नहीं था और रामायण के तो वे अच्छे टीकाकार थे ही। त्रिपाठी जी ने कहानी-लेखन की ओर भी ध्यान दिया था और उनकी एक कहानी 'बफाती चाचा' अब भी मुझे याद है। शायद वह पच्चीस तीस वर्ष पहले लिखी गई थी लेकिन आज भी उसका सन्देश ज्यों का त्यों ताजा है। क्या ही अच्छा हो यदि उसकी सहस्रों प्रतियां छपवाकर जनता में बँटवा दी जायें। साम्प्रदायिकता की भावना को दूर करने और राष्ट्रीय भावना के प्रसार में उनकी यह कहानी अच्छा काम करेगी।

देश के महापुरुषों से उनका अच्छा खासा परिचय था। महात्मागांधी, महामना मालवीय-जी और लाला लाजपतराय के वे कृपापात्र थे। उनकी एक पुस्तक 'मालवीय जी के साथ एक मास' उन महापुरुष के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डालती है। त्रिपाठी जी ने जो भी कीर्ति अर्जित की, वह उनके घनघोर परिश्रम का परिणाम था; उसके लिये उन्हें अपने शरीर को तिल तिल करके गलाना पड़ा था। महाकवि शंकर जी ने मजाक में उनके बारे में लिखा था :—

"श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी,
लूटा सुयश, मार कृति लाठी"

शंकर जी का वह मजाक बहुतों को अब भी याद है।

अत्युक्ति करना कवियों का अधिकार है और त्रिपाठी जी ने ग्रामगीतों का मूल्यांकन करते समय कुछ अत्युक्ति से काम अवश्य लिया था। उन्होंने ग्रामगीतों के निर्माताओं को महान से महान कवियों के मुकाबले में लाकर खड़ा कर दिया था। उसका नतीजा यह हुआ कि आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा जैसे आलोचक उद्विग्न हो गये थे। व्रजभाषा के विषय में भी त्रिपाठी जी ने कुछ बातें ऐसी कह दी थीं जिनसे उस भाषा के प्रेमियों को बुरा मालूम हुआ था। पं० पद्मसिंह जी की प्रेरणा से हमने 'विशाल भारत' में दो कार्टून त्रिपाठी जी के विरुद्ध छाप दिये थे, जिससे उन्हें कुछ उद्विग्नता हुई थी, पर वे उदार व्यक्ति थे और हमारे उनके सामाजिक सम्बन्धों में कभी कोई बाधा नहीं पड़ी। सन् १९३० में त्रिपाठी जी पं० पद्मसिंह जी के साथ हमारे घर फीरोजाबाद

में भी पधारे थे। एक बार वे कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) गये थे और वहां हमने उनके दो भाषणों का भी प्रबन्ध किया था। उनका पहला व्याख्यान, जो ग्रामीगीतों के विषय में था, बहुत बढ़िया रहा, यद्यपि दूसरा उतना प्रभावशाली नहीं बन पड़ा।

त्रिपाठी जी ऊँचे स्टैण्डर्ड पर रहने के अभ्यासी हो गये थे और बम्बई में बड़े से बड़े सेठों का आतिथ्य उन्हें प्राप्त हुआ करता था। स्वच्छता के वे प्रेमी थे और अव्यवस्था से उन्हें नफरत थी, इसलिये जब वे हमारे यहाँ कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) पधारे तो उन्हें कुछ असुविधा अवश्य हुई; हमारी अव्यवस्था और प्रबन्धहीनता उन्हें बहुत खली और उन्होंने हमें खरीखोटी भी सुना दी—लेकिन बड़े माधुर्य के साथ! उस समय की एक बात मैं अभी तक नहीं भूला। उन्होंने कहा था :—

"चौबे जी! आप पर यह ग्रामीण कविता चरितार्थ होती है :—

सावन में ससुरारी गये
औ' पूसैं खाये पूआ
चैतें छैला पूछत फिरहीं,
केहिका केतिक हूआ!

उनका अभिप्राय यह था "आप दूसरों की रचनाओं की खोज खबर तो खूब रखते हैं, लेकिन अपना कोई ठोस साहित्यिक काम नहीं करते।"

जब मैंने त्रिपाठी जी को अपना संग्रहालय दिखलाया, जिसमें उनका एक अप्राप्य लेख भी था, तो उससे उनका क्रोध कुछ शान्त हुआ। त्रिपाठी जी मुझ से उम्र में बड़े थे और अग्रज होने के नाते भी मुझे डांट बताने का उन्हें अधिकार भी था, और वे यह भी जानते थे कि उससे हम दोनों के बीच कोई ग़लतफहमी नहीं हो सकती। उन्होंने मुझ से कहा:—"अपने इकट्ठें किये हुए सारे मसाले को सन्दूकों में बन्द करके फिनाइल की गोलियों के साथ रख दो।" खेद है कि उनकी आज्ञा का पालन अभी तक नहीं हो सका।

त्रिपाठी जी पत्र-लेखक भी बहुत अच्छे थे। उनके एक पत्र की याद मुझे ख़ासतौर पर आ रही है, जो उन्होंने हाथरस के ब्रज-साहित्य-मंडल के अधिवेशन के बाद लिखा था। उस पत्र में उन्होंने लिखा था :—

"हाथरस से तो मैं यह अनुभव लेकर आया हूँ कि चतुर्वेदियों को स्वागत-सत्कार के प्रबन्ध का काम सौंपा ही नहीं जाना चाहिये। यह तो खानेवाली जाति है, खिलाना जानती ही नहीं। स्वागताध्यक्ष के घर में जहाँ मिठाइयां रखी रही होंगी, चतुर्वेदी लोग उसी के आसपास मँड-राते रहे होंगे।"

बात यह हुई थी कि स्वागत समिति वाले श्रद्धेय राष्ट्रपति महोदय के सत्कार में इतने व्यस्त हो गये थे कि अन्य अतिथियों की उपेक्षा ही हो गई थी। त्रिपाठी जी के कई सुन्दर पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं और किसी भी अच्छे पत्र-संग्रह में उनको स्थान मिल सकता है।

एक दुर्घटना और भी हुई। यद्यपि त्रिपाठी जी ने स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया था और जेल-यात्रा भी की थी, तथापि प्रयत्न करने पर भी उन्हें चुनाव में कांग्रेस का टिकट नहीं मिला। इससे वे उद्विग्न हो गये थे। २-२-५२ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था :—

"मैं कृमि-महोत्सव नाम का एक छोटा सा नाटक लिखने वाला हूँ, जिसमें पार्लियामेण्ट का नाम कृमि-मंडल और उसकी बैठकों का नाम कृमि-महोत्सव होगा।"

'मतदान' पर अभी अभी मैंने एक कवित्त लिखा है। आपको सुनाता हूँ :—

धर्म के स्वराज में था भूमिदान, गजदान,
हेमदान, गृहदान, प्राणदान, मानदान।
आई बादशाही तो कलमदान, पीकदान,
और कई दान था कटोरदान, पानदान॥
आये अंगरेज तब दानी गोंददानी रही,
उजड़ रहा था दानदानियों का खानदान॥
आया मतदान अब आँखहीन, हाथहीन,
देते हैं निरक्षर भी पंडितों को ज्ञानदान॥

दान की यह परम्परा आपको प्रिय होगी। दान के इस विकृतीकरण का प्रभाव चौबे लोगों की तोंद पर भी पड़ेगा।"

दरअसल त्रिपाठी जी को टिकट मिलना ही चाहिये था। कम से कम एम० एल-सी० तो वे बनाये ही जा सकते थे, जिससे उन्हें संसद या विधान सभा की ऊंची दूकानों के फीके पकवानों का कुछ जायका तो मिल ही जाता। त्रिपाठी जी ने साहित्य के अनेक अंगों की पूर्ति की थी। बच्चों के साहित्य के तो वे विशेषज्ञ थे ही। उनका मस्तिष्क नवीन चीजों को ग्रहण करने के लिये सदैव तत्पर रहता था। उन्होंने 'मिट्टी के सुन्दर घर—नमूने और गाँव' नामक पुस्तिका लिखी थी। उनकी आँखों देखी कहानियां भी बहुत सुन्दर बन पड़ी थीं। उनके "पैसा परमेश्वर" नामक नाटक की भी काफी तारीफ हुई थी।

त्रिपाठी जी की कई छोटी छोटी बातें इस समय हमें याद आ रही हैं। एक बार उन्होंने मुझसे कहा "आपकी लेख-शैली मुझे इतनी पसन्द है कि मैंने चिरंजीव आनन्दकुमार को उसकी सिफ़ारिश की है" मैंने उत्तर दिया "यह तो आप मुझे ऐसा सर्टीफिकेट दे रहे हैं, जिसका मैं अधिकारी नहीं हूं। मेरी तो कोई लेख-शैली नहीं, उसमें कोई ख़ूबी नहीं, यों ही सीधी-सादी ज़बान लिख लेता हूँ," इस पर त्रिपाठी जी बोले :—"बस, इसीको मैं उसकी खूबी मानता हूँ।" मैंने इससे त्रिपाठी जी का आर्शीवाद ही समझा। कुण्डेश्वर से विदा होते समय त्रिपाठी जी ने हमारी भतीजी सुभद्रा कुमारी को एक रुपया दिया। जब वह लेने में संकोच करने लगी तो बोले "मेरी पुत्री का भी नाम सुभद्रा ही है और मैं इसे अपनी पुत्री को ही भेंट कर रहा हूँ।"

त्रिपाठी जी के अन्तिम दर्शन मुझे श्रद्धेय टंडन जी के अभिनन्दन-महोत्सव के समय सत्यनारायण-कुटीर में हुए थे। उन्होंने मुझसे कहा:--"मैं तो आपकी ही सत्यनारायण कुटीर में ठहरा हुआ हूँ।"

यह भी एक आकस्मिक घटना ही समझिये कि खड़ीबोली के एक महाकवि का स्वर्गवास ब्रजभाषा के एक कविरत्न की कुटीर में हुआ।

पिछली २६ जनवरी को जब मुझे अपने नगर फीरोजाबाद के तिलक इण्टर कालेज में जाना पड़ा तो वहाँ पर उत्सव की कार्रवाई के प्रारम्भ में ईश-प्रार्थना हुई :--

"हे प्रभो ! आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिये,
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए।"

तिलक विद्यालय के सैकड़ों विद्यार्थियों में शायद ही किसी को इस बात का पता होगा कि यह कविता, जो पचासों विद्यालयों में गाई जाती है, त्रिपाठी जी की ही लिखी हुई थी।

वह दृश्य अब भी मेरी आंखों के सामने है जब चाय-पान के बाद त्रिपाठी जी कुण्डेश्वर-आश्रम में अपने जीवन के अनुभव हमें सुना रहे थे। अपने उपवन को उन्होंने किस प्रकार सुसज्जित किया था, किस तरह से जगह जगह से पौधे वे लाये थे, उसका विवरण बड़ा प्रेरणाप्रद था। उस समय मन में इच्छा हुई थी कि सुल्तानपुर पहुँच कर त्रिपाठी जी के बगीचे को जरूर देखा जाय। उस इच्छा की पूर्ति तो नहीं हो सकी, पर स्वर्गीय त्रिपाठी जी के साहित्य-उपवन की सैर तो मैंने अनेक बार की है और वहाँ से मैं हमेशा नई ताजगी और नये विचार लेकर लौटा हूँ।

त्रिपाठी जी निस्सन्देह एक विस्तृत जीवन-चरित्र के उपयुक्त अधिकारी हैं। अभी उस दिन जब विश्वविद्यालय के एक छात्र हमारे यहाँ पधारे और हमें सूचना दी कि वह त्रिपाठी जी पर एक शोध-ग्रन्थ तैयार कर रहे हैं, तो हमें बड़ा सन्तोष हुआ और कुछ खेद भी। सन्तोष इस बात से था कि आखिर विश्वविद्यालयवालों को उस महाकवि की कद्र करने की बात सूझी तो और खेद इस बात पर हुआ कि उनके जीवनकाल में किसी विश्वविद्यालय ने उनका यथोचित और औचित्य-पूर्ण सम्मान नहीं किया।



डॉक्टर विनयमोहन शर्मा

स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी

सन् ५१ या ५२ की बात है। पं० रामनरेश त्रिपाठी नागपुर पधारे थे और तत्कालीन राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा के अतिथि थे। पकवासा जी की पुत्र-वधू को हिन्दी से विशेष प्रेम था। अतः वे हिन्दी साहित्यकारों से परिचित होने के लिए सदैव उत्सुक रहा करती थीं। श्री श्रीगोपाल नेवटिया जी के तो त्रिपाठी जी श्रद्धास्पद थे ही। कदाचित् उन्हीं के सम्बन्ध से त्रिपाठी जी राज्यपाल पकवासा जी के यहां ठहरे थे। हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार के स्वागत् में नागपुर-विदर्भ राष्ट्रभाषा-समिति के भवन में एक गोष्ठी आयोजित की गई थी। वहीं उनकी दूधिया खादी से सज्जित भव्यमूर्ति के प्रथम दर्शन हुए।

प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक कून्हे ने 'आकृति-निदान' नामक एक पुस्तक लिखी है जिसमें 'खतका मजमूं ताड़ लेते हैं लिफाफा देख कर' के अनुसार व्यक्ति-आकृति से रोग का निदान स्थिर करने का गुरु समझाया गया है। मैं इस संबंध में कोई पुस्तक न पढ़ कर भी त्रिपाठी जी के मुख और उनके भाषण की भाव-भंगी से जान गया कि त्रिपाठी जी कवि मात्र ही नहीं हैं, "घाव करें गंभीर" कोटि के व्यंग्य-बाण भी अपने बुद्धि-तरकश में रखे हुए हैं। इसी समय खंडवा से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दी स्वराज्य' में उनके आधुनिक बिहारी की 'दोहावली' पर लिखे गए चुटीले लेख मेरे स्मृतिपटल पर छा गए हैं (मैं उस समय उसके साहित्य-स्तम्भ का संपादन करता था)।

एक युग था जब त्रिपाठी जी की कविताओं को रुचि और सम्मान के साथ पढ़ा जाता था। महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन-काल में जो रचना ब्रिटिशसत्ता के प्रति अवमानना का भाव इंगित करती वह जनता का गलहार बन जाती। त्रिपाठी जी का "पथिक" खण्डकाव्य असहयोग-अस्त्र के प्रभाव की घोषणा करता था और पथिक के रूप में महात्मा गांधी का जयघोष। अतः उसका देश में ही नहीं, विदेशों में भी—जहाँ हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन होता—स्वागत किया गया। छात्रों के मन में देश-प्रेम और अहिंसा को अंकुरित करने की दृष्टि से वह कई विश्व-विद्यालयों तथा जनता-विद्यापीठों की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुआ। यद्यपि उसमें प्रतिपादित तर्कों तथा वर्णनों में कहीं कहीं अस्वाभाविकता प्रतीत होती थी तो भी उसके सम्मिलित प्रभाव की ओर जब दृष्टि जाती तो कवि के प्रति साधुवाद ही उद्गारित होता।

उनका लोक-साहित्य के क्षेत्र में किया गया कार्य—विभिन्न हिन्दी जनपदों के ग्रामगीतों का संग्रह—कभी विस्मृत नहीं होगा। उन्होंने किसी पुस्तकालय में बैठकर नहीं, गांव-गांव घूम कर,

खेतों-खलिहानों में चिलकती हुई दोपहरी में पेड़ों की छाया में बैठकर, खेतिहरों को फुसला कर, किसानों-मजदूरों के घर चक्की चलाती हुई स्त्रियों की मनहार कर और चौपालों में बड़े-बूढ़ों की अनुनय-विनय कर, उनका संग्रह किया था। लोक-गीतों पर आज कई शोध-प्रबन्ध प्रकाश में आ चुके हैं पर उनके प्रेरणा-स्रोत त्रिपाठी जी के ग्राम्य-गीत कहे जा सकते हैं। आलोचना और शोध पर 'तुलसी और उनके काव्य' पर आलोचना-कृति उनकी महत्वपूर्ण देन है। तुलसी के जन्मस्थान के संबंध में विद्वानों में वर्षों से विवाद चलता आ रहा है। डा० ग्रियर्सन ने 'तारी' के पक्ष में अपना मत दिया। स्व० शिवनन्दनसहाय ने 'गोस्वामी तुलसीदास' में 'तारी' का पक्ष समर्थन किया है। कई एक प्रसिद्ध रामायणी लोगों ने अपने-अपने रामायणी गुरुओं से सुना है, संस्कृत में जो भक्तमाल का अनुवाद है उसमें भी 'तारी' ही लिखा है, राजापुर नहीं। अयोध्या-निवासी श्री राम-रसरंगमणि जी ने भी 'कवित्त रामायण' की टीका में 'तारी' ही को जन्म-स्थान माना है। राजापुर को जन्म-स्थान मानने वालों में अनेक देशी-विदेशी विद्वानों की सूची है। उत्तर प्रदेश शासन ने तो उस पर शासकीय मुहर ही लगानी चाही है। इधर एक-दो स्थानों के संबंध में भी पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा चल निकली। हाल ही में श्री शिवसिंह 'सरोज' ने 'हिन्दुस्तान' (१२ अगस्त, १९६२) में गोंडा और बाराबंकी की सीमा पर स्थित एक और राजापुर तथा बाराहक्षेत्र का आविष्कार किया है। वहां नरहरिदास की कुटिया है और बाराह मंदिर भी, जिसमें तुलसीकृत रामचरितमानस की प्राचीन पोथी रखी है। मानस की भाषा के आधार पर लेखक राजापुर को इनकी जन्मभूमि मानते हैं और इसी आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजापुर के दावे का समर्थन किया तथा त्रिपाठी जी ने भी भाषा की गंध के सहारे एटा के 'सोरों' में तुलसी का जन्म खोजा। सच बात तो यह है कि तुलसीदास ने उत्तर भारत के कई स्थानों में भ्रमण किया था और जहां तहां वे ठहरे भी थे। अतः उनकी भाषा में कई स्थानों के शब्दों का मिश्रण हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। अतएव केवल 'भाषा'—प्रमाण ही उनकी जन्मभूमि निर्धारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इधर सोरों संबंधी प्रकाशित अप्रकाशित पुष्कल सामग्री उपलब्ध हो गई है। सन् १९६० में भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन पर त्रिपाठी जी ने अपने अशक्त स्वास्थ्य की स्थिति में भी तुलसी-गोष्ठी में भाग लेने का कष्ट किया था और यही प्रतिपादित किया था कि तुलसी का जन्म-स्थान सोरों ही है। त्रिपाठी जी जैसे समर्थ लेखक ने जब 'सोरों' का प्रबल समर्थन किया तो अन्य लेखकों ने भी प्रमाण जुटा कर 'सोरों' के पक्ष में जनमत अनुकूल बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है।

कवि-हृदय स्वभावतः ग्रहणशील होता है। वह अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों के भाव-सौंदर्य के प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। त्रिपाठी जी इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं थे। उन्होंने सुकवियों पर रीझ कर कई काव्य-संग्रह प्रकाशित किए। हिन्दी के प्राचीन और अर्वाचीन काव्य-संग्रह के अतिरिक्त उन्होंने उर्दू-बंगला आदि भाषाओं के कवियों की चुनी हुई कृतियों को 'कविता कौमुदी' नाम से कई भागों में संगृहीत किया जिनका खूब प्रचार हुआ। त्रिपाठी जी का साहित्य-सृजन एक व्यसन था—वे कुछ न कुछ लिखे बिना रह ही नहीं सकते थे। उन्होंने नाटक,

रेखाचित्र के अतिरिक्त बालकों के उपयुक्त साहित्य भी लिखा है। अपनी प्रकाशन-संस्था-हिन्दी मंदिर से वे बच्चों के लिए 'बानर' भी कुछ समय तक निकालते रहे।

त्रिपाठी जी के दुबारा दर्शन तब हुए जब वे भारतीय हिन्दी परिषद्, पटना में धोखे से पहुँच गए थे। विश्वविद्यालय के छात्रावास में हम लोगों को ठहराया गया था, जहां सामने हरी दूब का छोटा-सा "लान" था। प्रातः घूमने का स्वभाव होने के कारण मैं उसी पर टहल रहा था और चमचमाते ओस-सीकरों की शीतलता का आनन्द ले रहा था। त्रिपाठी जी सामने खड़े खड़े मुसकरा रहे थे। फिर पास आकर बोले—"क्या शीत के दिनों में भी इसी तरह ओस पर चलते हो ? यह तो आंखों के लिए बड़ा लाभकारी कहा जाता है।" मैंने कहा, "हां, योंहीं कहीं पढ़ा था। इसी से जब कभी मौका मिलता है, टहल लेता हूं।" मुझे उनकी सहृदयता का उस समय विशेष परिचय मिला जब मेरे शोध-निबंध-गोष्ठी के अपने अध्यक्षीय भाषण में लोक-साहित्य की चर्चा के संदर्भ में उनकी सेवाओं का उल्लेख न करने पर भी मैंने उन्हें मुझे खुले हृदय से बधाई देते हुए देखा। मुझे अपनी उस अनजानी भूल पर आज तक पश्चात्ताप है। उनके अंतिम दर्शन हुए थे सन् १९६० की मई में जब दिल्ली में तुलसी-साहित्य-गोष्ठी में वे पधारे थे। मेरे गिरे हुए स्वास्थ्य को देखकर उन्होंने बड़ी चिन्ता के साथ कहा था—"अरे तुम तो बहुत जल्द बुढ़ा गए।" उसी समय उन्होंने 'पथिक' के संस्कृत अनुवाद की एक प्रति भी मुझे बड़े स्नेह से भेंट की थी और कहा था, "इस पर अपनी सम्मति भेजना" मैं आज तक उसे नहीं भेज पाया और अब भेजूं भी तो उसे उन तक कौन पहुँचायेगा ?

० ० ०

हैट के गुण

दृग को दिमाग को ललाट को श्रवण को भी,
धूप से बचाती अति सुख पहुँचाती है।
बीट से बचाती मारपीट से बचाती
यह अपढ़ देहातियों में भय उपजाती है।
पर इसमें है उपयोगिता विचित्र एक,
योरप-निवासियों की बुद्धि में जो आती है॥
सिर पर हैट रख चाहे जो अनर्थ करो,
हैट यह ईश्वर की दृष्टि से बचाती है।

—रामनरेश त्रिपाठी
('मानसी' कविता-संग्रह से)

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

पंडित रामनरेश त्रिपाठी : एक संस्मरण

मित्रवर रामनरेश त्रिपाठी के निधन के बाद आज जब मैं अपने पुराने सम्पर्क और सम्बन्ध के मूलस्रोत की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाता हूं तो सन् १९१६–१७ ईसवी का वह दिन स्मरण हो आता है, जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था। पाठ्य-पुस्तकों से जब कभी अवकाश मिलता था तो ज्ञान-विज्ञान की जिज्ञासा जोर मारती थी। फलस्वरूप पुस्तकालयों और पुस्तक-विक्रेताओं की ओर कदम बढ़ जाते थे। हिन्दी में उन दिनों काम की पुस्तकें अधिक न थी। हाँ, पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी अच्छे लेखादि पढ़ने को मिल जाते थे। त्रिपाठी जी तब प्रयाग के जान्स्टनगंज में हिन्दी पुस्तकों की एक दूकान पर बैठा करते थे। हमारे परिचय का आरम्भ यहीं से हुआ था। उस समय साहित्यकार का नहीं, दूकानदार का परिचय मिला था।

किन्तु प्रथम परिचय से ही यह आभास मिल गया था कि त्रिपाठी जी एक सामान्य दूकानदार से किंचित् भिन्न स्तर के हैं। फिर ज्यों-ज्यों हमारा परिचय बढ़ता गया त्यों-त्यों उनका प्रकृत रूप उभरता आया और यह प्रकट होने में अधिक विलम्ब न लगा कि वे वास्तव में एक साहित्यकार की प्रतिभा से भी सम्पन्न थे। अब हमारी चर्चा का विषय पुस्तकें मात्र नहीं रहा करती थीं, अपितु साहित्य–विशेषतः कविता का भी प्रसंग छिड़ जाया करता था। उन दिनों मैं भी तुक भिड़ा लिया करता था। पंडित ओंकारनाथ वाजपेयी से हमें इस दिशा में प्रोत्साह भी मिल जाया करता था। धीरे-धीरे हमारे सम्पर्क ने स्नेह और सौहार्द्र का स्थान ग्रहण कर लिया था। अब हम परस्पर परिचित मात्र नहीं रह गये थे।

त्रिपाठी जी को शिक्षा से अधिक संस्कार मिला था। वह संस्कार जो गांवों की धरती में अंकुरित होकर नगरों के वातावरण में पलता है। फलतः अपने उद्गम के प्रति उनका मात्र आकर्षण नहीं, मोह अन्त तक बना रहा। ग्रामगीतों तथा लोक-साहित्य के प्रति उनके अनुराग का यही रहस्य है। इस प्रवृत्ति के कारण लोकरंजनकारी तुलसी उनके प्रिय कवि बने। जहां तक स्मरण है "मिलन" का प्रथम प्रकाशन इन्हीं दिनों कभी हुआ था।

व्यवसाय-क्षेत्र में काम करते करते त्रिपाठी जी व्यवहार-कुशल हो गए थे अवश्य, किन्तु उनके मित्रों से यह बात छिपी नहीं रह पाती थी कि यह ऊपरी आवरण बहुत झीना है जिसके भीतर से उनके सरल, भावुक और सहृदय व्यक्तित्व को अनायास ही देखा जा सकता था। आगे चल कर तो विनोदप्रियता भी उनके स्वभाव का एक अंग बन गई थी। जो कभी-कभी रसिकता की सीमा तक को भी स्पर्श कर लेती थी। इसी प्रकार उनके राजनैतिक जीवन ने उनकी लोकोन्मुखी

वृत्ति को विकसित करने में सहायता पहुंचायी थी। "कविता कौमुदी" उनके धुन, लगन, और अध्यवसाय के प्रमाण स्वरूप है। इसे हम उनका "कीर्ति-स्तम्भ" भी कह सकते हैं।

जब मैं प्रयाग छोड़कर वलिया चला गया तो हमारा सम्पर्क शिथिल पड़ गया, किन्तु स्मृति सदा वनी रही। साक्षात्कार का स्थान पत्राचार ने ले लिया। आज सभी पत्र तो नहीं रह गए, किन्तु उनमें से जो कुछ शेष रह गए हैं वे पर्याप्त रोचक हैं। जिन दिनों वे "कविता कौमुदी" के लिए संग्रह तैयार कर रहे थे, उन दिनों वे वलिया भी खिंच कर चले आये थे। उसके वहुत दिनों वाद जो पत्र उन्होंने भेजा वह इस प्रकार है—

अजमेर
२४-११-२७

प्रिय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम। वलिया से लौटने के वाद मैंने आपको कई पत्र दिये पर उत्तर नहीं मिला। गीतों के लिए मैंने गुजरात और काठियावाड़ का बड़ा दौरा समाप्त कर लिया और सफलता भी खूब मिली। अब मैं राजपूताने और पंजाब में १५ दिन भ्रमण करके शीघ्र प्रयाग लौटूंगा। यदि वलिया में अभी कुछ काम न हुआ हो और आने की आवश्यकता हो तो मैं एक बार नहीं, दो चार बार आ सकता हूँ। पर आपने कहा था कि मेरे आने की आवश्यकता नहीं, पत्र से ही काम चल सकता है। अस्तु, वहुत अधिक गीत न संगृहीत हुए हों तो थोड़े ही सही। जो कुछ हुए हों, कृपया शीघ्र भेज दीजिए। श्रीमान् वावू महादेवप्रसाद जी को भी मैंने पत्र लिखा है। आशा है आप इधर काफी ध्यान देंगे और मुझे फिर आने का अवसर न देंगे।

गुजरात और काठियावाड़ के गीत बड़े ही मनोहर हैं। वलिया के जो कथात्मक गीत हैं उनमें से एक दो तो अवश्य आने चाहिए।

आशा है आप स्वस्थ और सुखी होंगे। और मित्रों को यथायोग्य निवेदन कर दें। उत्तर प्रयाग के ही पते पर भेजिएं।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

इसके वाद का एक अन्य पत्र इस प्रकार है—

के० आफ शिवसहाय-ऐशीराम
श्रीनगर (कश्मीर)
१५-५-२८

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार। ९-५-२८ का कृपा कार्ड मिला। मैं अपने सव संगृहीत गीत लेकर यहां चला आया हूं। यहां डल झील में एक वोट हाउस में वैठकर अपनी गीतगाथा लिख रहा हूँ। जून तक यह काम समाप्त करके लौट आऊंगा। आप जो कुछ भेज सकें, एक बार तो शीघ्र ही भेज दें, जिससे मैं उनको पुस्तक में स्थान दे सकूँ। बाकी फिर भेजते रहियेगा।

कश्मीर तो भू-स्वर्ग है ही। यहां के सौंदर्य का वर्णन असंभव है। जहां मैं हूं, उसके चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत मालाएं हैं। सूर्य के प्रकाश में वे चांदी के से मालूम होते हैं। जल और वनश्री का जैसा वैभव यहां है, वैसा शायद ही कहीं हो। अद्भुत स्थान है।

पत्र का उत्तर, गीतों का विवरण और चनैनी या लोरिक के नमूने कृपया शीघ्र भेजिये।

आपका

रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी जो काम जिससे लेना चाहते थे वह उसके पीछे पड़ कर पूरा करा ही लेते थे। एक दूसरे पत्र का नमूना देखिए—

के० आफ शिवसहाय ऐशीराम
श्रीनगर (कश्मीर)
१९-६-२८

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार। आपका ८-६-२८ का कृपा पत्र मिला। एक गीत भी मिला। बड़ी ही प्रसन्नता हुई। मैं तो आज कल यहां "स्वप्न" नामक एक खण्डकाव्य लिखने में लग गया हूँ। गीतों के सम्पादन का काम स्थगित कर दिया है।

जून भर यहां रहूंगा। और भी गीत आये हों तो भेज दीजियेगा। प्रयाग के पते से भेजियेगा।

स्नेही

रामनरेश त्रिपाठी

परन्तु साहित्यकार की कल्पना अथवा उसके हौसले का जितना ऊंचा वितान है, उतनी उसके जीवन-डोरों की न तो लम्बान है, न उड़ान। फिर जीवन-संघर्ष की जटिलताएं उस पर प्रायः अपना जोर आजमा लिया करती हैं। त्रिपाठी जी भी उस सौभाग्य से वंचित न रह सके। इसका परिचय उनके नीचे उद्धृत पत्र से मिल जाता है, जो इस प्रकार है—

बसन्त-निवास,
सुलतानपुर
८-१०-४३

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार। २८-९ का कार्ड मिला। साहित्य से तटस्थ ही नहीं हुआ, बल्कि तट से बहुत ऊपर निकल आया हूँ। मैंने उपाध्याय जी की पुस्तक देखी है, बहुत ही प्रिय लगी। मेरे पास उधर के गीतों का संग्रह है जरूर, पर उसको खोज निकालना बहुत श्रमसाध्य है। इलाहाबाद से चलते समय इस तरह की वस्तुयें जैसे आयी थीं उससे भी अधिक अस्त-व्यस्त अवस्था में रक्खी हैं। फिर भी खोज करूंगा, मिलने पर आपको लिखूंगा। उपाध्याय जी को कहिये कि भ्रमण

करके संग्रह करें। उसमें जो आनन्द आयेगा, वह गीतों के भावानन्द से अलग होगा और वही संग्रह-कर्त्ता का पुरस्कार होगा। लोरिक के प्रकाशन का प्रयत्न होना चाहिए। आप सुख से होंगे।

सस्नेह

रामनरेश त्रिपाठी

इसके बाद जाने कितने पत्र और दर्शन मिले। वही स्नेह-स्निग्धता, वही आत्मीयता सदा बनी रही।

एक बार मैंने बलिया हिन्दी प्रचारिणी सभा के वार्षिक समारोह का सभापतित्व स्वीकार करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया, किन्तु अप्रत्याशित कारणवश वे उक्त अवसर पर नहीं आ सके। उसके बाद जब कभी भेंट हुई उन्होंने नम्रतापूर्वक वहां आने की बात दुहरायी, किन्तु काल-देवता को कदाचित् यह अभीष्ट न था और उपयुक्त अवसर आने के पहले ही उन्हें अपना अतिथि बना बैठे।

० ० ०

मनुष्य-पशु

बक सा छली है कोई, गाय सा सरल कोई, चूहे सा चतुर कोई मूढ़ कोई खर सा।
काक सा कुटिल, मधुमक्खी सा कृपण कोई, मोर सा गुमानी, कोई लोभी मधुकर सा।।
श्वान सा खुशामदी, कबूतर सा कोई प्रेमी, स्यार सा है भीरु कोई, वीर है बबर सा।
कैसा है विचित्र यह मानव-समाज कोई तेज तितली सा, कोई सुस्त अजगर सा।।

पशुओं के जीव

क्रोधी प्रतिहिंसक विरोधी हैं स्वजाति के जो व्यग्र रहते हैं पेट ही की तद्बीर में।
मुंह से हैं कुछ और मन से हैं और कुछ शामिल किसी के नहीं प्यार में न पीर में।
किसी से न प्रीति और किसी से प्रतीति नहीं, मानो पराधीनता लिखी है तकदीर में।
ऐसे पशुओं के जीव जरठ बिरंचि ने क्या डाल दिये भूल से मनुष्य के शरीर में ?

—रामनरेश त्रिपाठी

('मानसी' कविता-संग्रह से)

डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

समृद्ध साहित्यकार पं० रामनरेश त्रिपाठी

'कविता-कौमुदी', 'ग्राम-साहित्य', 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' के रचयिता पं० रामनरेश त्रिपाठी द्विवेदी-युग के उन कवि-पुंगवों में से थे जिन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्मित कवि-मण्डल से बाहर रह कर हिन्दी साहित्य की समृद्धि में योग-दान दिया और जिन्होंने स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा का मार्ग प्रशस्त किया। उनका जन्म सन् १८८९ ई० में कोइरीपुर, जिला जौनपुर में हुआ था। उनके पिता पं० रामदत्त त्रिपाठी एक धर्मप्राण व्यक्ति थे। साहित्य-प्रेम और धार्मिकवृत्ति उन्हें अपने पूज्य पिता से ही उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई थी। प्रारम्भ से उन्हें साहित्य के प्रति अभिरुचि थी। पहले कलकत्ता और फिर मारवाड़ में रहते हुए उन्होंने अनेक कविताओं और पुस्तकों की रचना की। 'हे प्रभो आनन्ददाता' शीर्षक प्रसिद्ध प्रार्थना उन्होंने वहीं लिखी थी और साथ ही 'हिन्दी महाभारत' का निर्माण किया। सन् १९१७ ई० में प्रयाग आने पर 'कविता-कौमुदी' (७ भाग), 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न', 'मानसी', 'स्वप्न चित्र', 'हिन्दुस्तानी कोष', 'जयंत', 'प्रेमलोक', 'तरकस', 'रामचरितमानस की टीका', 'तुलसीदास और उनकी कविता', (२ भाग) 'मारवाड़ के मनोहर गीत', 'सुदामा चरित', 'पार्वती मंगल', 'घाघ और भड्डरी', 'चितामणि', 'हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास', 'सुकवि कौमुदी', 'कौन जागता है', 'शिवा बावनी', 'सोहर', 'बाल कथा कहानी' (१७ भाग), 'गुपचुप कहानियाँ' (२ भाग), 'मोहन माला', 'बताओ तो जानें', 'बानर संगीत', 'हँसू की हिम्मत', 'नेता बुझौवल', 'बुद्धि विनोद', 'पेखन', 'मोतीचूर के लड्डू', 'अशोक', 'चन्द्रगुप्त', 'महात्मा बुद्ध', 'आल्हा', 'हिन्दी ज्ञानोदय', 'कन्या शिक्षावली रीडर', 'हिन्दी प्राइमर', 'हिन्दी पत्र-शिक्षक', 'गाँव के घर', 'हिन्दी शब्द कल्पद्रुम', 'ग्राम गीत', 'हमारा ग्राम-साहित्य' 'तीस दिन—मालवीय जी के साथ', 'ग्राम साहित्य' (३ भाग) आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों की उन्होंने रचना की। त्रिपाठी जी राष्ट्र-प्रेम से ओतप्रोत साहित्य-सेवी थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और देश के प्रमुख नेताओं से परिचय प्राप्त किया। महात्मा गांधी ने जब असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया तो उन्होंने एक-डेढ़ वर्ष तक कारावास की कठोर यातना भी सहन की। उससे पूर्व वे तिलक स्वराज फ़ंड के लिए चन्दा इकट्ठा कर चुके थे। प्रयाग में निवास करते हुए ही त्रिपाठी जी ने हिन्दी मंदिर (१९२४ ई०) और फिर एक प्रेस (१९३१ ई०) की स्थापना की। वे बड़े ही परिश्रमी और अध्यवसायी थे। उन्होंने न केवल उच्चकोटि के साहित्य की ही रचना की, वरन् उच्चकोटि के साहित्य का प्रकाशन भी किया। उनके 'स्वप्न' शीर्षक खंडकाव्य पर प्रयाग की

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने ५००) रु० का पुरस्कार दिया। इसके अतिरिक्त त्रिपाठी जी ने 'कवि-कौमुदी' और 'वानर' पत्रों का संपादन भी किया। अपने दैनिक जीवन में वे बड़े ही संयमी थे और स्वास्थ्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। वे मिलनसार, उदार और सहृदय थे। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को उनके दर्शन करने का कई बार अवसर प्राप्त हुआ था। जिस उमंग के साथ वे स्वागत करते और मेवा खाने के लिए देते थे, वह अब तक स्मृति-पटल पर अंकित है।

त्रिपाठी जी का साहित्य विविधता-संपन्न है। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' जैसी मौलिक काव्य-रचनाओं के अतिरिक्त कविताओं और ग्रामगीतों के संग्रहों से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है। 'मानस की टीका' और उसकी भूमिका में, अथवा 'तुलसीदास और उनकी कविता' में उनके आलोचक-रूप के दर्शन होते हैं। भूषण की रचनाओं का संपादन उनकी साहित्य-मर्मज्ञता का परिचायक है। बाल-साहित्य के क्षेत्र में यदि उन्हें अग्रगण्य कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने ऐसे बाल-साहित्य की रचना की जो बालकों को धार्मिक, नैतिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से साहसी, कर्मठ और चरित्रवान् बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। उन्होंने उस समय कोशों की रचना की जब उनकी नितान्त आवश्यकता थी। कवि होने के अतिरिक्त वे सुन्दर गद्यकार भी थे। सन् १९११ ई० और १९४२ ई० के बीच उन्होंने अथक रूप में साहित्य-सेवा की। मौलिक कवि के रूप में त्रिपाठी जी ने खड़ीबोली का काव्य पुष्ट किया और उन्होंने इतिवृत्तात्मक-खण्ड काव्यों और मुक्तक कविताओं का सर्जन कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। खण्डकाव्यों में ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यान ग्रहण कर केवल अपनी साहित्यिक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का ही परिचय नहीं दिया, वरन् देश-काल के अनुसार राष्ट्र-प्रेम और देश-सेवा की भावनाओं का भी प्रचार एवं प्रसार किया। 'मानसी' में संगृहीत मुक्तक रचनाओं में नवीन और प्राचीन का समन्वय है। विषयों की दृष्टि से भी उन्होंने प्राचीन विषयों के साथ-साथ नवीन विषय ग्रहण किए और मन की गंभीर एवं सूक्ष्म वृत्तियों के चित्रण के साथ-साथ सरल-साधारण विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। सेवा-व्रत और आदर्श उनके लक्ष्य रहे। उनके गद्य-साहित्य से उनकी आलोचनात्मक और चिन्तन-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पं० रामनरेश त्रिपाठी का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत था। साहित्य और देश दोनों का ही ध्यान उन्हें सदैव बना रहता था और दोनों ही क्षेत्रों में उनकी सर्जनात्मक क्षमता एवं कर्मठता व्यक्त हुए बिना न रह सकी।

ऊपर इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि आचार्य द्विवेदी जी द्वारा निर्मित मण्डल से बाहर भी ऐसे अनेक कवि थे जिन्होंने अपने मौलिक ढंग से सरस और प्रभावपूर्ण काव्य-रचना की और ऐसे ही कवियों में पं० रामनरेश त्रिपाठी थे। उन्होने खड़ीबोली के बढ़ते हुए प्रचार के साथ-साथ नवीन काव्य-भूमि प्रस्तुत की। जिस समय उन्होंने काव्य-रचना की उस समय भारतीय नवोत्थान का द्वितीय चरण था और राजनीतिक एवं सामाजिक प्रगति में अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हो चुका था। देश में इस भावना का प्रचार हो गया था कि सामाजिक और धार्मिक सुधारों की प्रगति के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता अत्यन्त आवश्यक है, शासन की

बागडोर भारतवासियों के हाथ में आने की जरूरत है। उस समय प्रत्येक राजनीतिक सुधार के साथ सामाजिक आन्दोलनों में भी तीव्रता उत्पन्न हो जाती थी। किन्तु दुर्भाग्यवश अंगरेजों की नीति के कारण उस तीव्रता का वह परिणाम दृष्टिगोचर न हो सका जो होना चाहिए था। वे पृथक् निर्वाचनपद्धति द्वारा, विशेषाधिकारों द्वारा, विष-वृक्ष का वीजारोपण कर चुके थे। मिंटो-मौर्ले सुधारों ने कौंसिलों में भारतवासियों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया, किन्तु पृथक् निर्वाचन-पद्धति के साथ। मौंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों ने चुनाव की प्रथा जारी की, तो विशेषाधिकार प्रदान कर जातिगत और धर्मगत पार्थक्य वढ़ाया। फलतः जो राष्ट्रीय शक्ति रचनात्मक कार्यों में लगाई जा सकती थी वह भेद-नीतियों का विरोध करने में क्षीण हुई। इस समय सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों ने भी राष्ट्रीय चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। आर्यसमाज का आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसकी प्रतिक्रिया एक ऐसी विचारधारा के रूप में हुई जिसने धर्म के विविध सिद्धान्तों और अनुष्ठानों का वैज्ञानिक दृष्टि से समर्थन करना प्रारम्भ किया। अनेक प्राचीन प्रथाओं और पौराणिक कथाओं को तर्कपूर्ण और न्यायसंगत वताया गया। इस प्रवृत्ति के पीछे नवीन वैज्ञानिक शिक्षा का हाथ तो था ही, किन्तु राष्ट्रीय भावना का भी इसमें कम योग न था। इससे समाज में आत्मविश्वास और आत्माभिमान का उदय हुआ। पं० रामनरेश त्रिपाठी का आविर्भाव-काल ऐसा ही काल था। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा शांत करने की दृष्टि से विवेक का प्रयोग करना चाहता था। इसीलिए पं० रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य में हमें हेतुवादी दृष्टिकोण मिलता है। यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और आर्यसमाज के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर और लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी ने जो संदेश दिया था उसमें उपनिषदों और गीता का नीर-क्षीर-विवेक था। राष्ट्रीय जीवन का प्रत्येक पक्ष हेतुवाद की कसौटी पर कसा जाने लगा था। इस हेतुवाद से संबंधित त्रिपाठी जी का मानववाद था जिसने राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में जनवादी रूप धारण किया, तो सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में दार्शनिक और आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया। दोनों रूप नवीन चेतना के प्रतीक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आधार बने। जनवाद में जनसाधारण के जीवन को सुखमय बनाना मूल उद्देश्य था, तो मानववाद ने सब धर्मों एवं वर्णों की समानता, स्त्री-पुरुष के समानाधिकार, अछूतोद्धार आदि को प्रश्रय दिया। उन्होंने भारतवर्ष का सनातन आदर्श—विश्व-वन्धुत्व—फिर से लोगों के सामने रखा।

पं० रामनरेश त्रिपाठी के समय की हेतुवादी और मानववादी प्रवृत्तियों के साथ आदर्शवाद का घनिष्ठ संबंध है। इसीलिए उन्होंने अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट और उदात्त रूप की स्थापना कर जीवन को एक नैतिक धरातल प्रदान करने की पुनीत चेष्टा की। जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना उनकी वाणी को अनुरंजित किए हुए है। पराधीन भारत के जीवनगत अभाव, उनके सामने स्पष्ट थे। उसकी लघुता और कुरूपता उनका हृदय-स्पर्श कर चुकी थी। इन्होंने लघुत्व के भीतर भी महत्व देखा और विश्व के अविचलित नियमों की खोज कर भारतीय आत्मा की खोज की। युग की वास्तविकता के अनुभव और दिग्दर्शन के साथ

विशालता की अनुभूति के आधार पर उन्होंने जिस पूर्णता का सर्जन करना चाहा उसके मूल में नवोदित आदर्शवाद ही था। उनका आदर्शवाद भारतीय संस्कृति के गुणों पर मोहित था। आदर्श की स्वाभाविक गति—सीमा का अतिक्रमण—तो उनके साहित्य में है, किन्तु उसमें आत्म-प्रकाश और विश्व-प्रकाश के समन्वय द्वारा जीवन के विराटत्व को देखने की चेष्टा भी है।

त्रिपाठी जी के हेतुवाद, मानववाद और आदर्शवाद का प्रत्यक्ष संबंध उनके राष्ट्रवाद से है जो राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों रूपों में प्रस्फुटित हुआ। सांस्कृतिक एकता तो देश में प्राचीन काल से चली आ रही थी। त्रिपाठी जी के साहित्य में भी सांस्कृतिक प्रेम अपने बहुमुखी विकास के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। भौगोलिक और राजनीतिक इकाई के रूप में भी राष्ट्रीयता ने उनके साहित्य में प्रबल वेग धारण किया। उन्होंने राष्ट्र-हित और कल्याण की भावना प्रकट की है। उनके खण्डकाव्यों में देश के प्रति मंगल-भावना ओतप्रोत है। देश के प्रति उनमें एक भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण है। उन्होंने भारत के प्राचीन-अर्वाचीन निवासियों का, सामान्य जन का, साधु-महात्माओं का, सत्याग्रही वीरों आदि का यशगान किया है और प्रेम तथा श्रद्धा के भाव-पुष्प भारतमाता के चरणों पर चढ़ाए हैं। उस समय स्वदेश-संगीत की जो लहर देश के कोने-कोने में व्याप्त हो गई थी उसने त्रिपाठी जी के मानस का कोना-कोना स्पर्श किया। अपने उच्चतम रूप में वह मानवता का पोषक है।

वास्तव में त्रिपाठी-साहित्य में हमें जीवन की मौलिक उद्भावना नव-निर्माण की व्यापक प्रक्रिया के रूप में मिलती है। जीवन की प्रत्येक गति वे इसी प्रक्रिया द्वारा निर्धारित करना चाहते थे। अतः उन्होंने नूतन, मौलिक और स्वतंत्र परीक्षण को प्रश्रय दिया। नव-निर्माण का उनमें उत्साह था। यही उत्साह, साहित्यिक दृष्टि से, उनका स्वच्छन्दतावाद है। विषयगत और शैलीगत रूढ़ियों के बन्धन में बँधा हिन्दी साहित्य मौलिक उद्भावनाओं से विहीन हो रहा था। त्रिपाठी जी ने यह बन्धन स्वीकार नहीं किया। वे स्वयं मुक्त रह कर साहित्य को भी मुक्त करना चाहते थे। मात्र परंपरा का उन्होंने विरोध किया। अपने समकालीन जीवन की परिस्थितियों से प्रेरित होकर उन्होंने साहित्य को भी शास्त्र और परंपरा से मुक्त कर स्वच्छन्द गति प्रदान करने की बलवती आकांक्षा ही प्रकट नहीं की, वरन् उसे कार्य रूप में परिणत भी किया। साहित्य के द्वारा जीवन को एक नवीन एवं उच्च स्तर प्रदान करने की स्वतंत्र अनुभूति का उनमें जन्म हुआ था। अन्ततोगत्वा इस स्वच्छन्दावादी भाव-धारा का संबंध उनके हेतुवाद और मानववाद से ही था। उन्होंने अपनी भावधारा में चिरपरिचित पशु-पक्षियों, वृक्षों, लताओं, वन-खण्डों, पर्वतों आदि को समेट कर सामान्य जीवन को आधार बनाया और अपनी भावनागत सजीवता एवं चेतनता का प्रसार किया। उनकी यह भावधारा देश के तत्कालीन स्वरूप के साथ सम्बद्ध है। त्रिपाठी जी ने उसकी अन्तर्भूमियों को परख कर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना चाहा, और वह भी सामंजस्य के रूप में।

सच बात तो यह है कि त्रिपाठी जी ने नवनिर्माण के महासमारोह में भरपूर भाग लिया। उन्होंने व्यक्ति, समाज और देश के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझा और इन तीनों को अपनी

साहित्यिक परिधि में प्रतिष्ठित किया। उनकी रचनाओं ने जीवन के प्रत्येक पार्श्व को स्पर्श किया। उनमें नव-जागरण का स्वर है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान, शिक्षा, नीति-अनीति, ईश-प्रार्थना, शील, सदाचार, आज्ञा-पालन, कर्मठता आदि विषय इस नव जागरण की भूमिका में आवश्यक और स्वाभाविक थे। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था—'नर हो न निराश करो मन को' अथवा 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।' ऐसे ही प्रेरणादायक और उद्बोधक वाक्य त्रिपाठी जी के साहित्य में मिलते हैं जिनके माध्यम से जीवन के पुन:संस्कार की बात सोची गई और वे उस आदर्श की ओर बढ़े जो राष्ट्र को पूर्ण सुख, कल्याण और समृद्धि की ओर ले जाने वाला था। ग्रामगीतों और जीवन के प्रति उनका प्रेम राष्ट्र के सामान्य जन के जीवन के प्रति प्रेम का ही प्रतीक था। व्यक्तिगत प्रेम, देश-प्रेम, लोक-सेवा, समाज हित आदि सभी के लिए त्रिपाठी जी ने आदर्शपूर्ण दृष्टिकोण ग्रहण किया और युग तथा समाज की बुद्धिगत चेतना से प्रेरित हो समाज, धर्म, राजनीति, आर्थिक जीवन, नैतिक जीवन आदि के वाह्याडंबरों, अनाचारों एवं अत्याचारों, कुरीतियों एवं कुप्रथाओं और पर-दलन को अपना लक्ष्य बना कर आशा और उन्नति का संदेश दिया। स्त्रीशिक्षा से लेकर कृषक-जीवन तक के संबंध में सभी प्रगतिशील तत्व उनके कवि-कर्म बने। उनका साहित्य-धर्म जीवन-धर्म से विच्छिन्न नहीं था। उनकी कृतियों में कुछ स्थलों पर उपदेशात्मकता तथा विरसता और भाषा में स्थूलता होते हुए भी युग-धर्म का पालन भली भाँति किया गया है। उनका अन्तिम साध्य मानसिक भूमि पर अनन्त जीवन की लीला अभिव्यक्त करना था।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार त्रिपाठी जी के समय में कविता नवीन भावों की अभिव्यक्ति कर अपने आन्तरिक सौन्दर्य-प्रसाधन का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत कर रही थी। स्थूलतः यह कविता धार्मिक एवं पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक एवं राजनीतिक प्रकार की थी। जीवन के इन पार्श्वों से संबंधित भावों का प्रकटीकरण अधिकतर वर्णनात्मक-आख्यानात्मक रचनाओं में हुआ। नवीन बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक युग में प्राचीन भावों का संस्कार हुए बिना न रह सका। उनमें भी लोक-कल्याणकारी दृष्टिकोण स्थापित किया गया। त्रिपाठी जी की रचनाओं में भी यही दृष्टिकोण मिलता है। सामयिक समाज की दयनीय दशा से आर्द्र-हृदय हो, करुणा-विगलित-कण्ठ से उन्होंने देश की बौद्धिक-सांस्कृतिक चेतना में भरपूर योग दिया और कुलीन वर्ग के ऐश्वर्य-मंडित जीवन की मनोरम कल्पनाओं से हट कर समाज के उपेक्षितों की ओर ध्यान दिया। उन्होंने नारी को मुक्त किया। गाँवों को आदर्श रूप में चित्रित कर नगर-दूषणों की ओर उन्होंने संकेत किया। उनमें बुद्धि की प्रखरता और हृदय की पूर्ण संवेदना पाई जाती है। वे आलस्य के स्थान पर कर्मयोग का सन्देश देते हैं। जातीय महायज्ञ के समय कर्मयोग द्वारा शांति और विश्व-प्रेम की वीणा झंकृत हो सकती थी। त्रिपाठी जी ने देश के अतीत को भी याद किया तो वह भी राष्ट्र-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर, न कि अतीत की गोद में मुँह छिपाने के लिए। धीरता, वीरता, परोपकारिता, न्याय-प्रियता, शील आदि गुणों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही उनका ध्यान भारतीय इतिहास की ओर जाता था। ऐतिहासिक आख्यानकों

में भी उन्होंने राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, लोक-सेवा, लोक-नायकत्व आदि लोक-प्रेरक तत्त्व देखे। उन्होंने आत्म-बल पर ज़ोर दिया।

मानव-जीवन की मूल वृत्ति प्रेम का तो अत्यन्त उदात्त रूप त्रिपाठी जी की रचनाओं में मिलता है—विशेषतः 'मिलन' और 'पथिक' में। 'प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम रूप भगवान।' उनका यह प्रेम सांसारिक और मानवी तो है, किन्तु वह वासनाजन्य नहीं है। वह व्यक्ति की संकुचित परिधि से निकल कर विश्व को अपनी भुजाओं में भरे हुए है। वह विश्व-प्रेम का प्रथम सोपान है, उसमें जीवनोन्मुखता है और वह मानव में ही ईश्वर के दर्शन कराता है। उसकी चरम परिणति चिरन्तन, शाश्वत, शुद्ध-पवित्र और निष्काम लोक-सापेक्ष प्रेम में होती है। यद्यपि त्रिपाठी जी ने विवाह की पवित्र परिधि में ही प्रेम का चित्रण किया है, तो भी वह व्यापकत्व धारण करता है। 'मिलन' का आनन्दकुमार और 'पथिक' का नायक पथिक दोनों ही वैवाहिक प्रेम की अतिशयता को प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम और अन्त में, विश्व-प्रेम तक प्रसारित करते हैं। यह प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व को असीमत्व प्रदान करने वाला है।

त्रिपाठी जी के प्रकृति-चित्रण-संबंधी दृष्टिकोण में भी नवीनता है। उन्होंने प्रकृति के विविध रूपों का नवीन दृष्टिकोण से निरीक्षण कर विविध प्रकार से उनका वर्णन किया है। उनके साहित्य में एक ओर तो वह स्वयं आलंबन बनी, और दूसरी ओर अपने रमणीय रूपों और व्यापारों से कवि के हृदय का अनुरंजन किया और अनेक प्रकार के नवीन भाव उत्पन्न किए। कवि ने भी उसका मानवीकरण किया। इसके अतिरिक्त मानवीय क्रिया-कलापों, भावनाओं आदि की पीठिका के रूप में भी उन्होंने प्रकृति को स्थान दिया। इस प्रकार के वर्णन से उनकी काव्य-रचनाओं में एक सुन्दर वातावरण उत्पन्न हो जाता है। उन्होंने प्रकृति के अक्षय भंडार से अनेक उत्कृष्ट कवि-कल्पनाएँ भी चुनीं, उससे अनेक प्रकार के संकेत उत्पन्न किए। 'पथिक' और 'स्वप्न' के प्रकृति-चित्रण उनकी संश्लिष्ट चित्रण-शक्ति का परिचय देते हैं।

त्रिपाठी जी का साहित्य निस्सन्देह राष्ट्र की नवोदित आकांक्षाओं का अनुसंधान करता है। उनकी दृष्टि में समग्र जीवन-पथ आ चुका था। उनके साहित्य के विविध रूप और शैलियाँ भी देश की व्यापक चेतना की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही थीं। उनके 'मिलन' और 'पथिक' का कथानक-वैचित्र्य और नाटकीय चरित्र-चित्रण काव्य-शैली की दृष्टि से नवीनता प्रस्तुत करते हैं। कथोपकथनों के उक्ति-वैचित्र्य-पूर्ण गांभीर्य से उनकी इन रचनाओं में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। 'स्वप्न' की रचना उस समय हुई थी जब कि 'छायावाद' का चलन हो चुका था। इससे उस पर कहीं-कहीं छायावाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अस्तु, शैलियों की दृष्टि से उन पर अपने युग का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी भारतीय जागरण युग के एक वरेण्य दूत थे। रमणीय और आकर्षक कल्पना के साथ-साथ उनमें कर्मठता थी, देश-भक्ति थी, व्यावहारिकता थी और थी इन सबको रसात्मक रूप में प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में निस्सन्देह उनका स्थान अमर रहेगा।

श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

त्रिपाठी जी के अन्तिम तीन चार दिन

१६ जनवरी १९६२ मंगलवार को प्रातःकाल लगभग ६॥ बजे खड़ीबोली हिन्दी के यशस्वी कवि और आलोचक एवं लोकगीतों के आदिम आचार्य पं० रामनरेश त्रिपाठी जी का ७२ वर्ष की आयु में अकस्मात् देहावसान हो गया। मृत्यु के एक क्षण पूर्व तक वह पूर्ण चेतनावस्था में थे और १५ जनवरी को रात ९॥ बजे तक जिन लोगों से उनकी बातचीत और हँसी मजाक हुआ था, उन्हें यह सुन कर सहसा विश्वास ही नहीं होता था कि त्रिपाठी जी के साथ उनकी यह अन्तिम मुलाकात है।

त्रिपाठी जी इधर अपनी जन्मभूमि कोइरीपुर (जिला सुल्तानपुर) ग्राम में रहते थे। वहां से वह ११ जनवरी को चल कर १२ जनवरी को होने वाले 'सरस्वती हीरक जयन्ती समारोह' में भाग लेने के लिए प्रयाग आए थे। प्रयाग त्रिपाठी जी की कर्मभूमि थी। इसी पुण्यभूमि में उन्होंने अपनी आरम्भिक शिक्षा-समाप्ति के अनन्तर एक महत्वाकांक्षी नवयुवक के रूप में पदार्पण किया था और यहीं सरस्वती तथा लक्ष्मी के सहज विरोधी सम्मान को प्राप्त कर इधर लगभग २०, २१ वर्षों से उन्होंने अपने स्वास्थ्य के कारण प्रयाग को छोड़ भी दिया था। यहां उनके मित्रों, प्रशंसकों एवं प्रेमियों की विपुल संख्या थी किन्तु इधर लगभग सात-आठ वर्षों से इन पंक्तियों के लेखक के साथ उनका जो आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसके निर्वाहार्थ वह प्रायः हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अतिथि भवन 'सत्यनारायण कुटीर' में ठहरा करते थे और जब तक प्रयाग रहते थे सम्मेलन-कार्यालय में और लेखक के घर पर उनकी गोष्ठी जमा करती थी। उनका प्रयाग का आना जाना प्रायः लगा ही रहता था, फलतः सम्मेलन के अतिथि-भवन सत्यनारायण कुटीर के ऊपरी भाग का एक कक्ष उनके अवस्थान के लिए निश्चित-सा हो गया था और सम्मेलन के लोग उस कक्ष को "त्रिपाठी जी का कक्ष" के नाम से भी पुकारने लगे थे। त्रिपाठी जी ने सरस्वती हीरक जयन्ती समारोह में भाग लेने की स्वीकृति वहुत पहले से दे रखी थी और अपने प्रयाग आने की पूर्व सूचना भी कई पत्रों द्वारा उक्त समारोह के आयोजक पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के साथ मुझे भी दी थी। किन्तु इस बार के उनके पत्रों में एक ऐसी विचित्र बात थी जिससे लगता है कि नियति ने उनके अन्तराल में इस भावी संयोग की कल्पना रख दी थी। त्रिपाठी जी ने अपने इस बार के प्रयाग आगमन के प्रोग्राम को तीन बार बदला। पहले वह दस जनवरी को आने वाले थे, फिर ग्यारह को और सब से बाद में बारह को सबेरे। किन्तु अपने सभी पत्रों में उन्होंने मुझे यही आदेश दिया था कि "आप प्रयाग स्टेशन पर ही पहुंच कर मुझे ले लें" वह सदैव इलाहाबाद के बड़े

स्टेशन पर ही उतरते थे और बिना किसी सहायता के ही सत्यनारायण कुटीर में अपना सामान रख कर मेरे निवास-स्थान प्रकाश निकेतन (कृष्ण नगर) पर मिठाइयों का दोना हाथों में लिए आ पहुंचते थे, किन्तु इस बार प्रयाग स्टेशन पर ही उन्होंने मुझे बुलाया था—यह बात मेरी समझ में नहीं आ सकी। उन्होंने अन्तिम पत्र में ११ जनवरी को संध्या की ट्रेन से, जो लगभग ६ बजे प्रयाग स्टेशन पर पहुंचती थी, मुझे मिलने का आदेश किया था किन्तु ११ जनवरी को जब मैं कार्यालय के अपने कमरे में कार्यव्यस्त था, लगभग १।। बजे त्रिपाठी जी अपने मंझले पुत्र वसन्त कुमार तथा अपने भानजे रामनेवाज के साथ मेरे सामने मुस्कराते हुए पहुंच गए। इधर वह दो ढाई महीने से प्रयाग नहीं आए थे। फलतः उन्हें इस प्रकार सामने उपस्थित देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। प्रणाम के अनन्तर मैंने जब उनसे पूछा कि आप अपने प्रोग्राम से पहले ही क्यों चले आए तो बोले—प्रयाग की इस भयंकर सर्दी में आकर मैं अपने मित्रों को कष्ट नहीं देना चाहता था। इसी से दिन की ट्रेन से चला आया। इसके बाद तो उनकी सहज सहृदयता और आत्मीयता से भरी चुटकियों और हँसी का अबाध क्रम शुरू हो गया। मेरे कमरे में ही उन्होंने जलपान किया और पान मँगाकर खाया तथा बड़ी देर तक हिन्दी जगत के लिए अनुकरणीय सरस्वती समारोह की प्रशंसा करते हुए उसके आयोजक पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी की व्यावहारिकता एवं कार्यकुशलता की चर्चा करते रहे।

बारह जनवरी को सन्ध्या के समय आयोजित सरस्वती समारोह में सम्मेलन से इंडियन प्रेस तक जाने के लिए त्रिपाठी जी को आशा थी कि उन्हें लेने के लिए कोई न कोई सवारी या सज्जन अवश्य आवेंगे किन्तु जब कार्यक्रम के आरम्भ होने में आधा घण्टा से भी कम समय शेष रह गया तो मैंने कहा—'पंडित जी! चतुर्वेदी जी इस समय बड़ी भीर में होंगे, संभव है उन्हें आपके लाने और ले जाने की सुध न रह गयी हो, अतः अच्छा होगा कि आप हमारे साथ चले चलें अन्यथा समय पर नहीं पहुंच सकेंगे।' किन्तु त्रिपाठी जी बड़े मनस्वी पुरुष थे। स्वाभिमान उनकी नस नस में भरा था। बोले—'नहीं, चलूंगा तो मैं आपके साथ किन्तु जब तक मुझे कोई लेने के लिए नहीं आएगा तब तक नहीं चलूंगा।' मैं चुप हो गया और थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करता रहा। किन्तु जब केवल १५ मिनट समय रह गया तो मुझसे रहा नहीं गया। मैंने सम्मेलन-मुद्रणालय के मैनेजर श्री सीताराम गुण्ठे जी से निवेदन किया कि आप अपनी कार से त्रिपाठी जी को इण्डियन प्रेस तक पहुंचा दें। वे सहर्ष सहमत हो गए और मैंने आकर त्रिपाठी जी से निवेदन किया कि अब चलिए। समय बहुत कम रह गया है और गाड़ी तैयार है। त्रिपाठी जी फिर भी अन्यमनस्क से ही बने रहे। उन्हें यह व्यवस्था अच्छी नहीं लगी कि वृद्ध साहित्यकारों को इस पूस-माघ की ठिठुरन में अभिनन्दनार्थ बुलाया जाय और उनकी खोज खबर भी न ली जाय। किन्तु मेरे अनेक अनुरोध से वह तैयार हो गए और मैं उन्हें लेकर श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल जी के साथ गुण्ठे जी की कार से समय से कुछ मिनट पहले ही इण्डियन प्रेस पहुंच गया, जहां सरस्वती समारोह में भाग लेने के लिए देश के विभिन्न अंचलों से चोटी के साहित्यकार पधारे हुए थे। इण्डियन प्रेस के प्रवेश द्वार पर बड़ी भीड़ थी और भीतर जाने वालों पर थोड़ा सा प्रतिबन्ध भी था।

किसी प्रकार भीड़ भाड़ को चीरता हुआ मैं त्रिपाठी जी को लेकर इंडियन प्रेस के उस विशाल कक्ष में पहुंचा जिसमें मुख्य समारोह था किन्तु वहां भी अपार भीड़ थी। मुख्य मंच पर पहुंचना सरल काम नहीं था। किन्तु मैंने साहस से काम लिया और त्रिपाठी जी को बड़ी कठिनाइयों से मुख्य मंच पर बिठा कर स्वयं पीछे लौट आया और एक जगह बैठ गया।

सरस्वती समारोह अपने ढंग का अनूठा समारोह था। संभवतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों को छोड़ कर इतने उच्चकोटि के साहित्यकार किसी अन्य समारोह में कभी उपस्थित नहीं हुए थे। मंच पर मुख्यतः वही लोग बैठे भी थे। त्रिपाठी जी एक कोने में थे किन्तु ऐसे स्थान पर थे, जहां सबकी दृष्टि उन तक जा सकती थी। साहित्यकारों को सम्मानित करने का जो क्रम आयोजकों ने निश्चित किया था उसमें उनका नम्बर जब आया तो वह उठ कर बड़ी कठिनाई से उस स्थान पर पहुंच सके जहां चतुर्वेदी जी थे। उन्हें जब सत्कृत किया गया तो स्वभावतः प्रत्येक साहित्यकार की भांति उस बार भी तालियां पिटीं, किन्तु जब उसी क्षण दूसरा नाम पुकारा गया तो वे कुछ विमना होकर अपने स्थान पर वापस लौट आए और बैठ गए। उन्हें आशा थी कि इस समारोह में उन्हें भी कुछ बोलने का अवसर मिलेगा किन्तु जब देखा कि अब दूसरे सज्जन अपने स्थान से उठ कर सम्मान-प्राप्ति के हेतु चले आ रहे हैं तो उन्हें थोड़ा सा खेद हुआ। और अन्त में जब समारोह सफलता पूर्वक समाप्त हुआ तो अपनी सहज सहृदयता से उन्होंने अपने मन का खेद निकाल दिया और कुल मिला कर इस आयोजन की सफलता स्वीकार की।

किन्तु आयोजन की समाप्ति के बाद जो धींगागर्दी इंडियन प्रेस के उस कक्ष में मची, उसका सामना करने के लिए वह तैयार नहीं थे। उनके हाथों में लकड़ी का बना एक डेस्क था जिसमें सरस्वती के हीरक जयन्ती समारोह की प्रति के साथ नारियल, पगड़ी, कलम आदि थी। मैंने देखा कि उसे लिए हुए वह भीड़ में धक्का खाने लगे और इधर उधर डगमगाने से लगे। फिर तो बड़ी कठिनाई में मैं उनके समीप पहुंचा और उनके हाथों से डेस्क लेकर उन्हें एक ओर खड़ा किया। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की कि अच्छा हुआ शास्त्री जी आप आ गए नहीं तो मैं गिर पड़ा होता।

भीड़ कम होने पर मैं उन्हें लेकर इंडियन प्रेस के फाटक पर जब किसी सवारी की तलाश में आया तो देखा कि वहां भी विचित्र दृश्य है। वहां रिक्शे तो १०-५ ही खड़े थे किन्तु एक एक रिक्शे वाले से बातें करने वालों की संख्या अनेक थी। परिणामतः दूना तिगुना किराया लेने पर भी जब कोई रिक्शा नहीं मिला तो त्रिपाठी जी ने पुनः इस अव्यवस्था के प्रति बड़ा रोष प्रकट किया और कहा—'शास्त्री जी ! मैं तो अब बहुत थक गया हूं, यहीं बैठता हूं, आप जाइये कहीं से रिक्शा तांगा ठीक करके ले आइये।' मैंने देखा, उनकी वाणी में विषाद और थकावट के साथ भारीपन भी है और वे एक पग चलने में भी बाधा का अनुभव कर रहे हैं। मैंने उन्हें इंडियन प्रेस के डाकखाने के बरामदे में बैठा दिया और जब पन्द्रह बीस मिनट के कठिन परिश्रम के बाद कर्नलगंज से एक रुपया पर एक रिक्शा लेकर उनके समीप पहुँचा तो देखा कि इण्डियन प्रेस की भीड़ समाप्ति पर है और त्रिपाठी जी थकावट के कारण दीवाल के सहारे उंठगे हुए हैं।

मैंने उन्हें रिक्शे पर सहेजकर बैठाया और लगभग १० बजे रात्रि में सत्यनारायण कुटीर लेकर पहुंचा। प्रयाग में उस दिन सर्दी अत्यधिक थी। त्रिपाठी जी जाड़े के कारण कांप से रहे थे। फिर भी उनका मन बहलाने के लिए मैंने समारोह की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कहा—'प्रयाग में अपने ढंग का यह अनूठा समारोह था।' त्रिपाठी जी बोले—'समारोह तो बहुत अच्छा था किन्तु वहां साहित्यकारों की सारसम्हाल करनेवाला कोई नहीं था—यह एक बड़ी त्रुटि थी। उन्हें चाहिए था कि वृद्ध लोगों की खोज-खबर रखते और उन्हें लाने-ले जाने की सुविधा देते।' मैंने कहा—'चूंकि आप सम्मेलन के अतिथि भवन में थे अतः शायद चतुर्वेदी जी ने समझा हो कि आपके लिए कोई व्यवस्था हो ही जायगी।' त्रिपाठी जी को यह प्रसंग पसन्द नहीं आया और उन्होंने अपनी पुस्तकों, विशेषकर हिन्दी मंदिर की चर्चा चलाते हुए अकस्मात् मुझसे कहा कि—'शास्त्री जी! अब मैं अधिक दिनों तक नहीं चल सकूंगा, अतः आप हिन्दी मन्दिर को मेरे बाद भी चलाते रहने की कोई योजना तैयार करें और उसकी लिखा पढ़ी कल परसों में कर लें। इसके बाद वे उसके व्योरे में गए और यह भी कहा कि—आप शर्तों को लेखबद्ध कर लें। आज मैं बसन्तकुमार से भी बातें कर लूंगा। इस जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है। मेरे सामने आप लोग लिखा पढ़ी करा लें, अन्यथा बाद में पछतायेंगे।' मैंने उन्हें इस प्रकार अपने जीवन से निराशा प्रकट करते हुए कभी नहीं पाया था। निवेदन किया—'पंडित जी! आप ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं। मैं तो समझता हूं आप अभी दस पन्द्रह वर्षों तक हमारे बीच में रहेंगे।' वे बोले—'शास्त्री जी! अब जीवन भार सा हो गया है। पारिवारिक अशान्ति ने मेरे जीवन की अभिलाषा को तोड़ दिया है। अब आगे जी कर अधिकाधिक कष्ट और अशान्ति उठाना नहीं चाहता।' आदि-आदि।

किसी प्रकार रिक्शा पर इस प्रकार की बातें करते करते हम लोग सत्यनारायण कुटीर में जब पहुंच गए तो देखा कि त्रिपाठी जी अब भी कांप रहे हैं। मैंने उनके शीत-निवारण के लिए बिजली का चूल्हा जला कर तापने की प्रार्थना की। वे रजाई ओढ़ कर अपने पलंग पर बैठ कर जब तापने लगे तो मैं उनकी आज्ञा लेकर अपने घर आया। किन्तु रात्रि में अनेक बार उनके सम्बन्ध में ही स्वप्न देखता रहा। दूसरे दिन सवेरे मुझे भी लगा कि त्रिपाठी जी की यह निराशा निरर्थक नहीं जायगी। सचमुच वह बहुत थक गए हैं और जीवन से निराश तथा खिन्न हैं। किन्तु जब मैं कार्यालय गया तो वह भले चंगे मिले और रात्रि के विषाद का कोई चिन्ह उनके मुख पर या वाणी में नहीं था। मैंने मान लिया कि सरस्वती समारोह की थकावट और परेशानियों के कारण ही वह कल रात्रि में इतने उदास और निराश थे। दूसरे दिन १३ जनवरी को त्रिपाठी जी को नगर महापालिका द्वारा आयोजित जलपान गोष्ठी में बुलाया गया था, मुझे भी निमन्त्रण था किन्तु ठीक इसी अवसर पर स्व० राजर्षि टण्डन जी के सान्निध्य में हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग की कार्य समिति की बैठक में मुझे अनिवार्यतः भाग लेना था अतः मैं उनके साथ नहीं जा सकता था। मेरी इस विवशता पर त्रिपाठी जी ने कहा कि आप जब न जाएंगे तो मैं भी नहीं जाऊंगा। चायवाय का यहीं कुछ प्रबंध कीजिए। मैंने उनके लिए उनकी इच्छा पर सम्मेलन में ही काफी बनवायी और उन्हें पिलाया। काफी पीने के बाद बड़ी देर तक वह गपशप करते रहे और विविध

मित्रों को मेरा मरना मंजूर नहीं। मित्रों के सहारे ही मैं जीता रहा हूं और भविष्य में भी जीऊंगा आदि आदि।

जब मैं विनयपूर्वक त्रिपाठी जी से कम बोलने या बिल्कुल न बोलने की डाक्टरी निर्देश की याद दिलाता था तो वे कुछ रुष्ट से होकर कहते थे—शास्त्री जी ! क्या आप चाहते हैं कि मैं अब अन्तिम समय में अपनी आदत बदल डालूँ। डाक्टर लोग तो लकीर के फकीर होते हैं। जो कुछ उनकी किताब में लिखा रहता है उसी को ब्रह्मवाक्य समझते हैं। आप डक्टरों को बुलाकर कहिए कि वे देखें तो उन्हें ज्ञात होगा कि इस बोलने चालने से तथा मित्रों से मिलने में मेरी तबीयत में कितना सुधार हुआ है। डाक्टर तो केवल रक्तचाप देखते हैं। किन्तु उन्हें रक्तचाप के केन्द्र हृदय की प्रसन्नता का ध्यान नहीं रहता। इसी सन्दर्भ में उन्होंने महामना मालवीय जी का एक संस्मरण भी कह सुनाया कि किस प्रकार उन्होंने डाक्टरों के निर्देशों की अवज्ञा करके यह दिखला दिया था कि मित्रों से बातचीत करते हुए मनोरंजन से रक्तचाप में अत्यधिक सुधार हो जाता है। मैं चुप हो गया और उनकी इच्छा के अनुसार आने जाने वाले मित्रों को उनसे मिलाता रहा।

लगभग दो बजे त्रिपाठी जी को याद पड़ी कि मैं सवेरे से लेकर अभी तक उन्हीं के पास हूं। घर नहीं गया और न तो कुछ खाया पिया ही। उन्होंने मुझसे कहा—शास्त्री जी ! आप ने तो भोजन वगैरह भी नहीं किया। बराबर मेरी सेवा में ही बने हुए हैं। आप अपनी तत्परता तथा प्रेम से यमराज की दाढ़ों में से मुझे खींच कर बचा लिया है, यद्यपि मैं बचना नहीं चाहता था। अतः कृपा करके अब कुछ खा पी तो लीजिए तब मुझे सुख मिलेगा। उन्होंने मुझसे वहीं कुछ खाने पीने का अनुरोध किया और अपने भानजे रामनिवाज से कहा कि झट से शास्त्री जी के लिए कुछ भोजन का प्रबन्ध करो। तब मैंने उन्हें याद दिलाया कि—पंडित जी ! आज मकर-संक्रान्ति है। अभी मैंने स्नान नहीं किया है यद्यपि चाय पी चुका हूं। आपकी आज्ञा हो तो गंगा-स्नान करके घर से कुछ खा आऊं। क्योंकि मेरे घर से कई बार मेरे भाई आ चुके हैं। आपके स्वास्थ्य की चिन्ता मेरे घरवालों को भी उसी तरह है। मैं यहां से जाकर उन्हें कुछ आश्वस्त कर सकूंगा। त्रिपाठी जी को यह जान कर बड़ा खेद हुआ कि मैंने अभी तक न तो स्नान किया है और न कुछ खाया है। उन्होंने मुझे घर जाने की आज्ञा दे दी और लगभग ढाई बजे उनके पास से ज्यों ही चलने को हुआ, डाक्टर कपूर तथा डाक्टर मिश्रा सामने से आते दिखायी पड़े। मैं पुनः रुक गया क्योंकि यह जानने की बड़ी उत्कंठा थी कि त्रिपाठी जी के रक्तचाप की क्या स्थिति है ?

लगभग आधा घंटा तक विधिवत परीक्षण के अनन्तर डाक्टरों ने बताया कि अब स्थिति उतनी चिन्ताजनक नहीं है किन्तु बड़ी एहतियात की जरूरत है क्योंकि रक्तचाप की गति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। यदि त्रिपाठी जी कृपा कर अपना मुंह बन्द रखें तो इसमें भी सुधार हो सकता है। बस इतना कहना था कि त्रिपाठी जी खिन्न हो गये। उन्होंने डाक्टरों से भी वही बातें दुहराते हुए कहा कि आप लोग शरीर के रोगों के डाक्टर हैं, मन तथा हृदय की भावनाओं के नहीं। आपको नहीं मालूम कि अपने मित्रों से बातचीत करने में मुझे कितना सुख मिलता है और उसकी कितनी अनुकूल प्रतिक्रिया मेरे रक्तचाप पर होती है। डाक्टर कपूर ने त्रिपाठी जी को समझाने

की असफल प्रार्थना करते हुए कहा--पंडित जी ! आप यदि कुछ कम बोलेंगे तो और अधिक लाभ होगा।

डाक्टरों के चले जाने के बाद मैं जब अपने घर चलने लगा तो त्रिपाठी जी के छोटे पुत्र वसन्तकुमार से बुलाकर कहा कि भई त्रिपाठी जी की बीमारी साधारण नहीं है। डाक्टर लोग अब भी चिन्तित हैं, अतः आप त्रिपाठी जी से पूछिए और यदि वे आज्ञा दें तो तार देकर श्री आनन्द-कुमार (त्रिपाठी जी के बड़े पुत्र) तथा आपकी माता जी को भी इनकी कठिन बीमारी की सूचना दे दी जाय। वसन्तकुमार ने बताया कि पिता जी इस पर सहमत नहीं होंगे। मैं चुप रहा और स्नान-भोजन से निवृत्त होकर सीधे आकाशवाणी प्रयाग के स्टेशन पर एक वार्ता के लिए चला गया। किन्तु मेरे मन में यह बात बराबर उठती रही कि जैसे भी हो श्री आनन्दकुमार तथा त्रिपाठी जी की पत्नी को उनकी चिन्ताजनक स्थिति की सूचना तो मिलनी ही चाहिए। मैंने आकाशवाणी केन्द्र से ही 'भारत' के (प्रयाग के हिन्दी दैनिक) सम्पादकीय विभाग को फोन किया और उनसे प्रार्थना की कि आज के ही अंक में त्रिपाठी जी की असाधारण बीमारी की सूचना वे प्रकाशित कर दें। मेरा अनुमान था कि 'भारत' द्वारा सुलतानपुर में श्री आनन्दकुमार तथा उनकी माता जी को त्रिपाठी जी की चिन्ताजनक बीमारी की सूचना अवश्य मिल जायगी। किन्तु 'भारत' के सम्पादकीय विभाग ने स्पष्ट कहा कि यदि आप अपने नाम के साथ यह सूचना दें तो हम प्रकाशित कर सकते हैं अन्यथा नहीं। मैं थोड़ी देर तक त्रिपाठी जी की अप्रसन्नता की आशंका से सोचता रहा किन्तु जब देखा कि सूचना के लिए नाम देने के सिवा कोई अन्य उपाय नहीं है तो मैंने उक्त सूचना में अपना नाम दे दिया।

चौदह तारीख की रात्रि में लगभग ९-१० बजे तक त्रिपाठी जी के साथ मैं सत्यनारायण कुटीर में रहा। उनकी दशा में उत्तरोत्तर सुधार के लक्षण दिखायी पड़े, चेतना और स्फूर्ति के साथ उनमें जीवन के प्रति लालसा भी देखने को मिली। क्योंकि बातचीत के सन्दर्भ में उन्होंने अपने भविष्य के सम्बन्ध में कुछ कार्यक्रम भी निश्चित किए और हिन्दी मन्दिर तथा अपनी सम्पत्ति के विनियोग की रूपरेखा बतायी।

पन्द्रह जनवरी को सवेरे जब मैं उनके पास गया तो सुधार का क्रम सन्तोषजनक मिला। वे पलंग पर बैठे काफी पी रहे थे और मुझसे भी एक प्याला काफी पीने का उन्होंने अनुरोध किया। बड़ी देर तक गपशप चलती रही। दोनों डाक्टर फिर आए, उन्होंने प्रगति को संतोषजनक बताया किन्तु मुझसे कहा कि इनका बोलना यदि कम नहीं हुआ तो सुधार में मन्दगति रहेगी। उस तारीख को भी उन्हें कई इन्जेक्शन दिए गए किन्तु डाक्टरों के अनुरोध पर उन्होंने न तो आक्सी-जन लिया और न बातचीत में ही कोई कमी की। किन्तु आज के 'भारत' में मेरे नाम से दी गयी अपनी असाधारण बीमारी की सूचना पढ़ कर वे मुझ पर अप्रसन्न इसलिए थे कि उसमें मैंने आक्सीजन दिए जाने की चर्चा क्यों कर दी। मैं चुप था। क्योंकि जानता था कि उनसे बहस करना उस स्थिति में उचित नहीं था। फिर बात आई गई हो गयी। फिर दो तीन घंटे उनके साथ रह कर चला आया। उस दिन त्रिपाठी जी को अपने हाईकोर्ट के मुकदमें की बड़ी चिन्ता थी। उन्हें सुल्तान-

पुर-स्थित अपने मकान तथा भूमि के मुआवजे का जो रुपया रेलवे बोर्ड से मिलने वाला था उसमें बाधा पड़ गयी थी। अतः उन्होंने अपने वकील को अपनी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में एक पत्र लिखवाया तथा डाक्टरी सर्टीफिकेट के साथ नत्थी करके उसे वसन्तकुमार को दिया।

तीसरे पहर संध्या के समय जब मैं पुनः त्रिपाठी जी के पास गया तो यह देखकर मुझे परम सन्तोष हुआ कि मेरी 'भारत' में दी गयी सूचना के अनुसार उनके ज्येष्ठ पुत्र आनन्दकुमार जी प्रयाग में उन्हें देखने के लिए आ गए थे और त्रिपाठी जी के समीप बैठे हुए उनसे विविध प्रसंगों पर बड़ी स्वाभाविकता से बातचीत कर रहे थे। मैंने देखा आनन्दकुमार के इस अप्रत्याशित आगमन से त्रिपाठी जी को बड़ी खुशी हुई थी और वे बड़ी प्रसन्नता तथा प्रेम के साथ उनसे कुछ खाने पीने का और रात में अपने साथ ही रहने का अनुरोध कर रहे थे। मुझे अपने कौशल पर भीतर भीतर बड़ी खुशी हो रही थी कि आगे चल कर इसी आधार पर मैं पिता-पुत्र के पुराने विवाद को मिटाने की पृष्ठभूमि तैयार करूंगा। मैं भी आनन्दकुमार जी तथा त्रिपाठी जी की बातों में बड़ी देर तक शामिल रहा। यद्यपि पूर्वबद्ध धारणाओं से अप्रसन्न आनन्दकुमार जी ने मुझसे प्रत्यक्ष कोई बातचीत नहीं की किन्तु मैंने अपनी ओर से उनका चित्त शुद्ध रखने का भरसक प्रयास किया और यह भी अनुरोध किया कि आप त्रिपाठी जी के साथ यहीं रहिए। आपके रहने से त्रिपाठी जी को सुख मिलेगा। किन्तु आनन्दकुमार जी रहने के लिए राजी नहीं हुए।

इसी बीच डाक्टर कपूर आ गए और मैं नित्य नियम के अनुसार त्रिपाठी जी से आज्ञा प्राप्त कर राजर्षि टण्डन जी के दर्शनार्थ अतरसुइया चला गया। वहां आज पुनः हिन्दी विद्यापीठ की बैठक थी। उसमें टण्डन जी के समीप बैठने में मुझे रात्रि के नौ बज गए। राजर्षि को त्रिपाठी जी के स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता थी ; उनका आदेश था कि मुझे सवेरे, दोपहर और सन्ध्या तीनों समय त्रिपाठी जी के स्वास्थ्य की स्थिति से अवगत कराते रहिए और यदि उनकी औषधि में रुपये पैसे की या अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो मुझसे ले जाइये। मैंने उन्हें सब हाल बताया और यह भी कहा कि त्रिपाठी जी यदि चुप रहते तो डाक्टरों का कहना है कि शीघ्र अच्छे हो जाते किन्तु वे मानते ही नहीं हैं। राजर्षि ने कहा––आप जाकर उनसे मेरी ओर से निवेदन कीजिए कि––बाबू जी ने कहा है कि आप डाक्टरों की आज्ञा का पालन करें। यही नहीं टण्डन जी ने मुझसे यह भी कहा कि आप उनके पास किसी को भी मत जाने दीजिए, जब कोई जायगा ही नहीं तो वे विवश होकर चुप रहेंगे।

मैं जब राजर्षि के यहां से लौट कर सत्यनारायण कुटीर आया तो दबे पांव उनके कक्ष के समीप गया। क्योंकि मुझे लगा कि कमरा निःशब्द है। शायद त्रिपाठी जी सो गए हैं। कुछ देर तक कान लगा कर मैंने सुना तो ज्ञात हुआ कि कोई जाग नहीं रहा है। बत्ती भी बुझा दी गयी है, तो उल्टे पांव अपने निवास पर वापस चला आया और मन में यही सोचता रहा कि जब इतने सवेरे नींद आ गयी तो निश्चय ही अब त्रिपाठी जी अच्छे हो जायेंगे।

रात्रि में देर तक जागते रहने तथा दो तीन दिनों के व्यतिक्रम के कारण मैं सोलह जनवरी को उठ तो पांच बजे सवेरे ही गया किन्तु यह सोचकर कि त्रिपाठी जी के पास तक यदि पैदल चला जाऊंगा

तो टहलने के लिए कहीं अन्यत्र जाना बेकार है। बाहर टहलने नहीं गया और नित्य क्रियाओं से निवृत्त हो कर रजाई के नीचे से कुछ और सवेरा होने की सुखद प्रतीक्षा करने लगा। लगभग ६। बजे सम्मेलन का चौकीदार बद्री पुनः हड़बड़ाहट में मेरे कमरे के समीप पहुंचा और अत्यधिक करुण स्वर में जगाते हुए बोला——बाबू जी! त्रिपाठी जी की हालत बहुत खराब है। उन्होंने आपको तुरन्त बुलाया है। मुझ पर जैसे व्रजपात हो गया हो। इतना तो जानता ही था कि हृदयरोग का दूसरा दौरा यदि तीन दिन के भीतर आता है तो भयंकर होता है। तुरन्त उठकर चल पड़ा। अपने घर से सम्मेलन तक पहुँचने में पांच मिनट ही लगे होंगे किन्तु इतना ही समय और लगभग एक मील का मार्ग मेरे लिए अपार सा हो गया। बड़ी कठिनाई से कटा। जब सत्यनारायण कुटीर के ऊपर उनके कक्ष में पहुंचा तो देखा कि उनके भानजे रामनेवाज जमीन पर बिलख-बिलख कर रो रहे हैं और त्रिपाठी जी के द्वितीय पुत्र वसन्तकुमार त्रिपाठी जी को अपनी गोद में लिए करुण स्वर में आंसू बहा रहे हैं। मैंने देखा त्रिपाठी जी की आंखें मुंद गयी हैं। हाथ की नाड़ी और हृदय की गति बन्द हो चुकी है किन्तु शरीर अब भी गरम है।

तुरन्त दौड़ कर डाक्टरों को फोन किया और उनकी स्थिति की सूचना दी तो उन्होंने कहा कि अब उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी है। फिर तो हृदय में हाहाकार मच गया। अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर मेरे जीवन में यह सबसे बड़ी दुःखदायिनी घटना घटी थी। पिछले २०-२२ वर्षों से मेरा त्रिपाठी जी से परिचय हुआ था किन्तु इधर के सात-आठ वर्षों में उन्होंने मुझे अपना अमोघ विश्वास और सहज स्नेह दिया था। मेरे प्रति उनकी सहज शुभेच्छा थी। मेरे परिवार को अपना वे कुटुम्बी मानते थे और मेरी अनुपस्थिति में भी मेरी पत्नी तथा बच्चों को आकर देख जाते थे। मेरी सलाहों की कदर करते थे और अपने मित्रों में भी मेरी प्रशंसापूर्ण चर्चा करते थे। अपने दर्जनों पत्रों में उन्होंने मेरी तुच्छ सेवाओं की ऐसी सराहना की थी जैसे विरले लोगों की वे करते थे। मेरा भी धैर्य टूट गया और बड़ी देर तक मैं भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा होकर उनके निर्जीव किन्तु अब भी यथापूर्वक तेजस्वी शरीर के समीप बैठा रो रहा था। किन्तु फिर अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हुआ और वहां से उठकर मैंने प्रयाग के साहित्यकारों को त्रिपाठी जी के निधन की दुःखदायी सूचना दी। इसी बीच उनके ज्येष्ठ पुत्र आनन्दकुमार जी भी कहीं से आ गए। वे भी इस अप्रत्याशित दुर्घटना से मर्माहत होकर विचलित हो उठे। किन्तु अब क्या वश था। मैंने उन्हें समझाया और आगे के सांसारिक क्रिया-कलापों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि आप या तो सुल्तानपुर जाकर अपनी माता जी तथा छोटे भाई जयन्तकुमार को बुला लाइये या फोन से सुलतानपुर के किसी सज्जन को खबर देकर उन्हें यहां बुला लीजिए। अन्तिम दर्शन के बिना शव-दहन करना उचित न होगा। उनको भी मेरी राय ठीक जान पड़ी। फिर सुल्तानपुर के अन्तरिम जिला परिषद के अध्यक्ष पण्डित देवकलीदीन शर्मा को टेलीफोन से सूचना देते हुए यह भी प्रार्थना की गई कि वे त्रिपाठी जी की पत्नी तथा छोटे पुत्र जयन्तकुमार को यथाशीघ्र प्रयाग भेजने का प्रबन्ध कर दें।

इधर प्रयाग में भी त्रिपाठी जी की शवयात्रा का विधिवत प्रबन्ध किया गया। त्रिपाठी जी के मित्रों ने आनन्दकुमार तथा वसन्तकुमार से पृथक् पृथक् परामर्श करके यह तय किया कि

मरणोत्तर क्रिया त्रिपाठी जी के ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते आनन्दकुमार करेंगे। दोनों भाई सहमत हो गए। किन्तु उधर सुलतानपुर से त्रिपाठी जी की पत्नी तथा छोटे पुत्र जयन्तकुमार के आने की प्रतीक्षा की जाने लगी। उस दिन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय की विचित्र स्थिति थी। संभवतः सम्मेलन के पचास वर्षीय जीवनकाल में यह प्रथम दुःखदायी अवसर था जब उसके अतिथि-भवन में हिन्दी के एक मूर्धन्य कवि और साहित्यकार का निधन हुआ था। प्रयाग के छोटे बड़े सभी कोटि के सहित्यकार उपस्थित थे और त्रिपाठी जी की अन्तिम यात्रा में भाग लेने के लिए उत्सुक थे किन्तु जब दो बज गया और सुल्तानपुर से कोई खबर नहीं मिली तो पुनः फोन किया गया। ज्ञात हुआ कि वे लोग कुछ देर पहले प्रयाग के लिए प्रस्थान कर चुके हैं और आशा की जाती है कि साढ़े तीन बजे तक प्रयाग पहुंच जायेंगे।

हुआ भी वैसा ही। सवा तीन बजे के लगभग त्रिपाठी जी की पत्नी, छोटे पुत्र जयन्तकुमार तथा आनन्दकुमार जी के मित्र एक वकील तथा अन्य एक सज्जन कार द्वारा जब सत्यनारायण कुटीर के सामने उतरे तो हाहाकार मच गया। त्रिपाठी जी की पत्नी का करुण क्रन्दन सुन कर सभी उपस्थित लोग विचलित हो गए। कुछ लोग तो आंसू बहाते हुए इधर उधर चले गए। बड़ी देर तक यह करुणा का वातावरण छाया रहा। किसी में साहस नहीं था जो उन्हें धैर्य बँधा सके किन्तु वह अप्रिय कर्म तो अनिवार्य ही था। बड़ी कठिनाई तथा धैर्य के साथ पुनः सबको संभालना पड़ा और लगभग सवाचार बजे नगर महापालिका की एम्बुलेन्स पर त्रिपाठी जी की अर्थी रखी गयी। साथ में उनके परिजन तथा मित्रजन रहे। अन्य अनेक कारों पर, रिक्शों पर तथा पैदल चलने वालों की संख्या भी हजारों थी। गंगा का तट दारागंज से सुदूर झूंसी की ओर था। अर्थी का प्रबन्ध पहले ही से किया जा चुका था। सूर्यास्त की अरुण-लालिमा के संग चिता की अरुण लपटों ने जब त्रिपाठी जी के पार्थिव शरीर को अपने में समेट लिया तो अनेक नेत्र आसुओं से आर्द्र हो गए।

यह कैसा विचित्र संयोग था कि उत्तरायण सूर्य में मकर संक्रान्ति के अनन्तर एकादशी तिथि को तीर्थराज प्रयाग में त्रिपाठी जी ने अपना शरीर त्याग किया और दुर्लभ त्रिवेणी के पावन तट पर उनके तीनों पुत्रों तथा सहस्राधिक मित्रों तथा शुभैषियों की उपस्थिति में उनका शवदहन संस्कार सम्पन्न हुआ। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार ये सभी दुर्लभ संयोग हैं जो किसी भाग्यवान् को ही मिलते हैं। सचमुच त्रिपाठी जी सभी दृष्टियों से भाग्यवान् थे। उत्तमकुल, उत्तम प्रतिभा, उत्तम शरीर, उत्तम कीर्त्ति एवं सर्वोत्तम मृत्यु यह सभी दुर्लभ वस्तुएं उन्हें सुलभ हुई थीं। क्लेश केवल यही था कि अन्त समय में उनके परिवार में कलह मच गया था जिसके कारण वह भी दुःखी और निराश थे। अभी पिछले ही वर्ष उनकी कन्या का जल जाने के कारण जब देहान्त हो गया था तो उन्होंने एक बड़ा मार्मिक पत्र मुझे लिखा था और कहा था कि लगता है अब हमारे अच्छे दिन बीत गए हैं और बुरे दिन को देखने के लिए मैं बचा हुआ हूँ।

त्रिपाठी जी की मृत्यु अकस्मात् हुई। उनके डाक्टरों को भी पन्द्रह जनवरी की रात्रि तक यही विश्वास था कि वह अब खतरे से बाहर हैं क्योंकि रक्तचाप में सुधार का क्रम जारी था और

त्रिपाठी जी को स्वयं अपने स्वास्थ्य में सुधार का क्रम मालूम पड़ रहा था। वे सुप्रसन्न ही नहीं थे वरन् स्फूर्ति का भी अनुभव कर रहे थे और पन्द्रह की रात्रि में जब मैं उनसे अलग हुआ था तो बातचीत के प्रसंग में उन्होंने यह इच्छा भी प्रकट की थी कि तीन-चार दिनों में वे अपने गांव कोइरीपुर वापस चले जायंगे। किन्तु विधाता की रचना विचित्र होती है। बाद में मुझे त्रिपाठी जी के सुपुत्र वसन्तकुमार जी तथा भानजे रामनेवाज जी से ज्ञात हुआ कि त्रिपाठी जी पन्द्रह की रात्रि में लगभग साढ़े नौ बजे ही सो गए। सोने के पहले उन्होंने एकाध सेव तथा दूध लिया था। आरंभ में उनकी निद्रा अच्छी रही और लगभग तीन बजे उनकी नींद जब टूटी तो वे अपनी चारपाई से उठकर शौचालय की ओर चुपचाप चल पड़े। उनके भानजे रामनेवाज ने, जो जाग रहे थे, मना किया कि आप यहीं पर शौच हो लें किन्तु वे नहीं माने और शौचालय तक बिना किसी की सहायता के चले गए। उस दिन भी प्रयाग में अत्यत्त ठंढक पड़ रही थी। शौचालय जाने के लिए उन्हें पचीस तीस कदम खुले बरामदे में से जाना पड़ा। वह बड़ी देर तक शौचालय में रहे। किन्तु जब वापस लौटे तो भयंकर रूप में हृदरोग से आक्रन्त थे, क्योंकि चारपाई पर पड़ते ही वह जोरों से कराहने लगे और जीवन से निराशा प्रकट करने लगे। इसी बीच उनके चिरंजीव वसन्तकुमार भी जाग चुके थे किन्तु रात्रि का समय था। बाहर कड़ी सर्दी थी। किसी को बुलाने या सलाह लेने की बात उन्हें या रामनेवाज जी को नहीं सुझायी पड़ी और स्वयं उनके सार-संभाल में वे लोग लगे रहे।

बताते हैं कि जब सवा पांच बजा तो त्रिपाठी जी की बीमारी उत्तरोत्तर उग्र होने लगी। उनका स्वास-कष्ट बहुत बढ़ गया तथा चेतना धीरे धीरे विलुप्त होने लगी और उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि अब मेरा अन्तिम समय आ गया है। उन्होंने अपने भान्जे रामनेवाज से कहा कि जाकर शास्त्री जी को (मुझे) बुला लाओ। किन्तु अभी रात्रि थी, अतः रामनेवाज ने कहा कि थोड़ी देर बाद जाता हूं। अभी बड़ा अंधेरा है।

वसन्तकुमार ने कहा––बाबू ! आप किसी की बात तो मानते ही नहीं हैं। डाक्टरों ने उठने बैठने की मनाही की थी तब आप बाहर शौचालय में क्यों चले गए ? मुझे क्यों नहीं जगाया या रामनेवाज तो जाग ही रहे थे उनकी सहायता क्यों नहीं ली ? त्रिपाठी जी आन्तरिक पीड़ा से विह्वल हो रहे थे। दोनों हाथ जोड़ कर वसन्तकुमार से उन्होंने कहा––'भैया जो कुछ मैंने किया उसे भूल जाओ। मुझे क्षमा करो अब मैं जा रहा हूं।' इसी बीच इलाहाबाद कोआपरेटिव डेयरी के दूध बांटने वाले की सीटी सुनाई पड़ी जिससे त्रिपाठी जी प्रयाग में रहने पर प्रतिदिन दूध लिया करते थे। त्रिपाठी जी को अब भी व्यावहारिक चेतना थी। उन्होंने रामनेवाज जी से सेर भर दूध लेने को कहा क्योंकि दिन भर काफी और चाय के लिए उसकी जरूरत थी। रामनेवाज जब दूध ला चुके तो त्रिपाठी जी ने उनसे काफी बनाने के लिए कहा। काफी तैयार हो गयी तो वसन्तकुमार ने उन्हें एक प्याला काफी पिलायी। काफी के बाद उन्हें कुछ आराम मालूम पड़ा। किन्तु यही आराम आखिरी था जो कठिनाई से १०-१५ मिनट तक रहा। इस अवधि में त्रिपाठी जी ने वसन्तकुमार और रामनेवाज से कहा कि आज इतने दिनों बाद हमारा साथ छूट रहा है। किन्तु इन लोगों को यह विश्वास नहीं आया कि सचमुच यही उनकी अन्तिम वाणी है।

इसके थोड़ी ही देर बाद लगभग पौने छः बजे त्रिपाठी जी को जब अन्तिम रूप से पीड़ा उठी तो उन्होंने रामनेवाज से पुनः कहा---शास्त्री जी से अब लगता है भेंट नहीं होगी। किसी को भेजकर उन्हें जल्दी से बुलवा लो, अब अधिक देर तक उनकी प्रतीक्षा नहीं करूंगा।

रामनेवाज जी तुरन्त सम्मेलन के चौकीदार बद्री के पास गए और उसने मुझे मेरे घर जाकर उक्त खबर दी। किन्तु रामनेवाज ज्यों ही बद्री चौकीदार के क्वार्टर से लौटकर सत्यनारायण कुटीर के उस कक्ष में आए त्यों ही उन्होंने देखा कि त्रिपाठी जी की अन्तिम साँसें चल रही हैं, आंखें अधमुँदी हो गयी हैं और नाड़ी की गति अति क्षीण होती जा रही है। वसन्तकुमार ने दौड़कर आक्सीजन लगाने की कोशिश की किन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। इस दशा में दो मिनट भी नहीं बीते होंगे कि त्रिपाठी जी का मस्तक बसन्तकुमार जी की गोद में ही निष्प्राण होने के कारण झूल गया और उनकी अविनश्वर आत्मा उस नश्वर शरीर और संसार का संग छोड़ कर उड़ गया।

उनकी दिवंगत आत्मा की पुण्य-स्मृति में सहस्रशः प्रणाम !

० ० ०

आँसू

आंखों के रतन विरही के मूलधन सुखशांति के सहायक सखा हैं प्रेममय के।
करुणा के कोमल कुमार हैं ये पीड़ितों की नीरव पुकार हैं वकील हैं विनय के।।
दीनों के सहारे शिशुओं के प्राणप्यारे ऐसे साथी नहीं कोई जग में हैं कुसमय के।
छेड़ो मत, निकल पड़ेंगे, कह देंगे, इन आंसुओं के पास इतिहास हैं हृदय के।।

स्वतंत्रता का दीपक

अत्याचार पीड़ितों की आशा-लता आंसुओं से सींचते हैं वीर दुख याद कर रोते हैं।
पंथी के पदों की धूल सम देहगेह का विचार झाड़ चित्त से प्रवृत्त तब होते हैं।।
बोते रणखेत में हैं शीश वे सहर्ष जिसे देश है रखाता जागता वे पड़े सोते हैं।।
जग में उजाला करने का निज शोणित से दीपक स्वतंत्रता का सूरमा सँजोते हैं।

---रामनरेश त्रिपाठी

('मानसी' कविता-संग्रह से)

डॉक्टर मोहन अवस्थी

युगद्रष्टा कवि पं० रामनरेश त्रिपाठी

घटना १६ जनवरी सन् १९५५ की है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 'सत्यनारायण कुटीर' में सद्यः स्थापित 'लोक भारती' संस्था की बैठक थी। प्रयाग के अनेक गण्यमान्य साहित्यिक एकत्र हुए थे। साहित्यकारों के दर्शन-लाभ का अपूर्व अवसर समझकर मैं भी समय पर पहुँच गया। पंडित रामनरेश त्रिपाठी सभापति थे। कार्यवाही प्रारंभ होने से पहले दो-तीन लोगों ने कविताएँ सुनाईं। मेरे एक मित्र ने मेरा नाम भी दे दिया। त्रिपाठी जी ने मेरा नाम पुकारा; मैंने 'अपना खोया गान' शीर्षक कविता प्रारंभ की :——

> **करता है जो पाप या कि जो पाप कराता**
> **अपराधी है कौन बताना बड़ा कठिन है,**
> **पापी की उपाधि देकर निष्पाप पुरुष को**
> **क्यों समाज है मौन बताना बड़ा कठिन है ? . . .**

कविता लगभग सौ पंक्तियों की थी—पर्याप्त लम्बी ! लेकिन रस-मर्मज्ञ सहृदय श्रोता उसे शांति एवं उत्सुकतापूर्वक सुनते रहे। जैसे ही मैंने कविता-पाठ खत्म किया त्रिपाठी जी बोले, "अभी थोड़े दिन हुए मैं श्री भगवतीचरण वर्मा से बातें कर रहा था कि हिंदी कविता समाप्त हो रही है, किन्तु यह कविता सुनकर मुझे पुनः विश्वास हो रहा है कि कविता अभी जीवित रहेगी। सम्पादकों को ऐसी कविताएँ अवश्य छापनी चाहिए।" मैं साधारण वेशभूषा-परिहित त्रिपाठी जी के असाधारण व्यक्तित्व के समक्ष श्रद्धानत था, क्योंकि मुझे किसी अपरिचित साहित्यकार से सहसा इस प्रकार का निश्चल, सरल, मृदुल और अकृत्रिम व्यवहार इससे पूर्व नहीं मिला था। प्रभाव की छाप अमिट हो गई।

त्रिपाठी जी का आदेश था कि मैं उनसे सभा-विसर्जन के पश्चात् मिलूं और मेरा यह सौभाग्य था। कार्यवाही समाप्त होने के बाद त्रिपाठी जी ने मेरा परिचय प्राप्त कर बहुत प्रेम से बताया कि कवि को देश की समस्याएँ दृष्टि में रखकर काव्य-रचना में संलग्न होना चाहिए। उनका विचार था कि पौराणिक विषयों का पर्याप्त पिष्टपेषण हो चुका है। अतः उत्पाद्य कथावस्तु अधिक उचित रहती है, क्योंकि न उसमें तथ्य को असत्य बनाने की आशंका है, न कालक्रमविपर्यय का डर। दूसरी बात उन्होंने यह कही कि साहित्य-सेवा एक निस्वार्थ साधना समझनी चाहिए।

उस दिन के बाद आदरणीय त्रिपाठीजी से सम्पर्क बढ़ता गया। मैंने जैसे-जैसे उनका साहित्य गहराई से पढ़ा उस कर्मठ, निस्पृह साहित्य-तपस्वी का स्वरूप और भी निखरता गया।

जो लोग पं० रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य के अध्येता हैं वे भलीभाँति अवगत हैं कि त्रिपाठी जी ने साहित्य के अछूते क्षेत्रों में शोधकार्य किया है। आज हिन्दी में लोक-साहित्य की बाढ़-सी आगई, है, लेकिन कितने लोग जानते हैं कि आज से तीस वर्ष पूर्व पं० रामनरेश त्रिपाठी ने गांव-गाँव में जाकर, खेतों के किनारे खड़े होकर बरसात के महीनों में धान रोपनेवाली स्त्रियों के गीत छुपकर नोट किए हैं, जाड़े में बहुत सबेरे उठकर घरों के पिछवाड़े गलियों में खड़े-खड़े चक्की पीसनेवाली महिलाओं की वाणी लिपिबद्ध की है; 'घाघ' की कहावतें संकलित करने के लिए वह कहाँ-कहाँ भटके हैं? उन्होंने तुलसीदास-विषयक प्रचलित मतभेदों को सत्यता की कसौटी पर कसा, तथ्योद्घाटनार्थ पर्याप्त छानबीन की, 'कविता कौमुदी' में कवियों की चुनी हुई कविताओं का प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत किया, और 'बाल कथा कहानी' लिखकर बाल-साहित्य प्रभूत मात्रा में सुलभ कर दिया। उनमें न केवल प्रतिभा ही थी, प्रत्युत वह अनेकमुखी क्षमता से भी आढ्य थे।

त्रिपाठी जी किसी भी वाद से बँधे न रहकर स्वच्छंदतया अपना पथ-निर्माण करनेवाले सत्कवि थे। उनके काव्य में प्रकृति के अत्यन्त रमणीय चित्र उपलब्ध हैं। प्रकृति-चित्रण में उनकी अपनी विचारधारा है, उनकी अपनी कल्पना है। उनके तीनों काव्य ('पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न') प्रकृति-वधू के मोहक श्रृंगार से सुशोभित हैं। लेकिन यह प्रकृति-उपासना छायावादियों की भांति मानवीय मनोभावारोपण का साधन अथवा पलायित कवि का आश्रयस्थल नहीं है। त्रिपाठी जी ने प्रकृति का चित्रण करते समय तथ्य को हमारे सामने से ओझल नहीं होने दिया। प्रकृति के उद्दीपन-रूप की उपेक्षा उन्होंने नहीं की, क्योंकि उसका यह रूप अपने प्रभाव में अतर्क्य है, लेकिन इस बात का भी उन्होंने अनुभव किया कि—

तृण संकुलित हरित वसुमति गिरि लहर उदधि नभ घन को।
देख हुआ कौतूहल, अति आश्चर्य तुम्हारे मन को।
देख रहे निस्पंद जिन्हें तुम त्याग कर्म संगर को।
हुये तुम्हारे लिये कभी थिर वे भी क्या पलभर को?

यही कारण है कि उनका 'पथिक' प्रकृति के प्रति अपने एकपक्षीय प्रेम का त्यागकर देश-सेवार्थ सन्नद्ध हो जाता है। 'पथिक' के द्वारा कवि ने अहिंसात्मक युद्ध का जो संदेश दिया था वह भारतीय जीवन में घटित हुआ। इससे त्रिपाठी जी की सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति और उनकी तत्कालीन परिस्थिति आत्मसात् करने की सामर्थ्य का आभास होता है, लेकिन 'पथिक' और 'मिलन' के बाद 'स्वप्न' में उनकी अनन्य क्रान्तदर्शिता से दर्शन होते हैं जो कविप्रतिभा की सच्ची कसौटी है।

'स्वप्न' न केवल कवि की मनोविज्ञान-भेदी दृष्टि का उदाहरण है, अपितु उसकी दूरदर्शी कल्पना के ऊपर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। मानव-मनभावना वैविध्य की अक्षय मंजूषा है।

कवि उसमें से स्वमनोदशानुकूल भाव-चयन करता है। हिन्दी-काव्य देखने से ज्ञात होता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में दो प्रकार की रचनायें प्रधानता प्राप्त कर रहीं थी (१) शृंगारिक (२) राष्ट्रीय। दोनों प्रकार के भाव अपने-अपने स्थान पर निर्विवादेन सत्य थे। लेकिन जीवन भावों का सम्पृक्त रूप है, उनका विविक्त चित्र नहीं। इस युग का युवक एक ओर तो यौवन की प्रकृति-मांग के वशीभूत था, दूसरी ओर देश की दुरवस्था उसे खींचती थी। त्रिपाठी जी ने सच्चे अर्थों में तत्कालीन युवक के अन्तस् में प्रवेश कर उसके अन्तःसंघर्ष का पर्यवेक्षण किया। उनके 'स्वप्न' काव्य के नायक 'वसन्त' के दोलायमान हृदय का निरीक्षण कीजिये। वह मन की दुरूह पहेली सुलझा रहा है——

हरित तलहटी में गिरिवर की
समतल निर्झर-ध्वनित धरा पर।
छाया में अति सघन द्रुमों की
बैठ विशद हरिताभ शिला पर।
जाता हूँ मैं भूल जगत को
बार बार अनिमेष देख कर।
रूपगर्विता प्राणप्रिया के
यौवन-मद-विह्वल दृग सुन्दर।
किन्तु उसी क्षण क्षुधा-निपीड़ित
शिशुओं के क्रन्दन से कातर।
कहीं जीविका की तलाश में
गये हुये प्रियतम के पथ पर।
लगे हुये निज दीन देश के
अगणित नेत्र आँसुओं से तर।
आजाते हैं दौड़ सामने
ले जाते हैं सब उमंग हर।

त्रिपाठी जी ने जीवन को समग्र रूप में देखने का प्रयास किया है। शंका, सन्देह कुतूहल, जिज्ञासा——अनेक संचारी मनुष्य को कभी-कभी इतना व्यग्र बनाते हैं कि ज्ञान उसे अभिशाप-सा मालूम होता है। ऐसी ही चिताधारा में मग्न 'वसन्त' का मन जब कहता है कि——

सकल सुखों की नारी है निधि——

तभी उसे आर्ष-वचनों का ध्यान आता है——

किन्तु वहीं कोई कहता है,
नारी है इस जग का बंधन।

चित्र की इस आधारहीन भ्रान्त अवस्था में मृत्यु-चिंतन स्वाभाविक है। मृत्यु, जीवन का एक ऐसा महत्तम समापवर्तक है, जिससे कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। 'स्वप्न' का नायक भी इसी परिणाम पर पहुँचता है कि—

यद्यपि तनधारी समस्त है
जग में भिन्न प्रकृति-आकृतिमय।
पर सब में सर्वत्र व्याप्त है
एकसमान अपार मृत्यु-भय।

लेकिन वह यह भी देखता है कि इस मृत्यु-भाव के सामानान्तर ही सुखाभिलाषा भी सभी में समान रूप से व्याप्त है और जगत् के अणु-परिमाणु सभी इसी सुख-लक्ष्य की ओर गतिशील हैं। मनुष्य जीवन को तुलनात्मक धरातल पर रख कर उसे दिग्भ्रान्ति हो जाती है। स्वलक्ष्य-निश्चय-विफल उसका अन्तःकरण अनेक प्रकार की प्रतिध्वनियों से पूर्ण हो रहा है।

उसकी सहधर्मिणी 'सुमना' पति के मनोभावों से अभिज्ञ इस अनेकमार्गी जीवन में से मानव का उचित मार्ग चुनकर सामने रखती है। 'सुमना' 'वसंत' का आलम्बन है। यदि समस्या के मूल पर दृष्टिपात करें तो तथ्य भी यही है। उपेक्षित निराश मानव, रमणी के सौन्दर्य-सरोवर में अपने को निमज्जित कर वाह्य संघर्ष से दूर रखना चाहता है, संघर्षशील मानव उसके दुर्गारूप का स्मरण कर जीवन-संग्राम में जूझता है। 'सुमना' 'वसंत' के सम्मुख सारभूत तर्क उपस्थित करती हुई कहती है—

कहती है यह प्रकृति सदा तुम
प्रेम करो केवल अपने पर।
गृह-शिक्षा कहती है--अपने
कुल पर रक्खो प्रीति शक्ति भर।
जनता कहती है--स्वदेश पर
कर दो निज सर्वस्व निछावर।
और धर्म कहता है--रक्खो
जीव मात्र पर प्रेम निरन्तर।

इसलिए कल्पना के रंगीन शून्य-लोक में हवाई किले बनाने से तेज का निदान असंभव है। चिन्ता का दुरंत जाल काटने के लिए कर्म की तेज तलवार चाहिए। छोटा-सा कर्म भी बड़े से बड़े निष्क्रिय विचार से महत्तर है—

सेवा है महिमा मनुष्य की
न कि अति उच्च विचार द्रव्य-बल।

महत्कार्य करने की फिक्र करते-करते सारा जीवन बीत जाता है। अतः इस 'आयु के तस्कर' को दूर करके जीवन को क्रियात्मक रूप देना चाहिए, क्योंकि—

छोटा ही सत्कर्म क्यों न हो
करने लगो हृदय से लगकर,
होगा स्वयं उपस्थित आकर
महत्कर्म करने का अवसर।

इसी समय देश पर शत्रु का आक्रमण हुआ। जय के दृढ़ विश्वास से युक्त, शत्रुमर्दन को विह्वल, माताओं के विजयतिलक से विभूषित युवक संग्राम के लिये निकल पड़े। त्रिपाठी जी के 'स्वप्न' काव्य में इस समय के भारत की सच्ची तस्वीर है। उत्साह के साथ देश की माताएँ, बहिनें, वधुएं, सेवा और बलिदान करने को उत्कंठित हैं, जिस साहस से युवक उत्सर्ग-हेतु व्याकुल हैं, उसका जीताजागता चित्र हमारे सामने खींचा गया है। मैं आग्रह करूंगा कि इस विषम घड़ी में पाठक गण 'स्वप्न' एक बार फिर पढ़ें। ग्राम-ग्राम नगर-नगर में वीर सैनिकों का कीर्तिमान सुनकर कौन ऐसा होगा जिस के हृदय में यह लालसा न उत्पन्न होती हो कि मेरा भी कोई रण में होता, जिसकी वार्ता सुनकर मुझे भी सुख और गर्व का अनुभव होता। विवेकमयी 'सुमना' के लिये तो यह और भी स्वाभाविक था।

इस स्थान पर कवि ने एक मार्मिक घटना के मोड़ से 'सुमना' की ललक को तड़प में बदलने का जो कौशल दिखाया है वह काव्य-प्रतिभा का भास्वर उदाहरण है। एक वृद्धा ने, जो मात्र एक पुत्रवती थी और जो राष्ट्रधर्म को सर्वधर्मोपरि समझती थी, स्वपुत्र के लिये—

खोल दिया था जन्म-भूमि की
सेवा का पथ देह-त्याग कर।

यह घटना 'सुमना' के भीतर सुलग रही आग को इस तीव्रता से प्रज्वलित करती है कि उसे ऊर्णनाभ की भांति स्वविचारतंतु में उलझे अपने पति के जीवन को देखकर वितृष्णा-मिश्रित पीड़ा होती है। वह पति से प्रश्न करती है कि :—

शक्ति प्रदर्शन को जब कोई
गर्वित शत्रु प्रबल दल सजकर।
आकर धन जन पर पड़ता है
निर्भय रण दुंदुभी बजाकर।
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर?

जब स्वतंत्रता की वेदी उत्सर्ग की मांग करती है —

तब नवयुवक स्वतंत्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर?

जब देश की पीड़ित जनता कातर स्वर से त्राहि-त्राहि पुकार उठती है—

तब नवयुवक स्वतंत्र देश के
क्या बैठे रहते हैं घर पर ?

'सुमना' की यह कान्ता-सम्मत भर्त्सना सारे राष्ट्र के लिए उद्‌बोधन-रूप है। 'सुमना' का चरित्र एक सच्ची सती अर्द्धांगिनी का चरित्र है। उसके कड़खे से प्रेरित 'वसंत' जिस वेग से शत्रु-संहार में प्रवृत्त हुआ, वह आदर्श भी देश के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। इस स्वातंत्र्य-समर में 'सुमना' ने भी शस्त्र धारण किए। त्रिपाठी जी के 'पथिक', 'मिलन' जिस प्रकार युग-प्रदर्शक काव्य रहे हैं, उसी प्रकार यह 'स्वप्न' भी युग के लिए वरदान सिद्ध होगा। कवि ने १९२८ में ईश्वर से अपना 'स्वप्न' सत्य होने की विनय की थी और अब उसकी दिवंगत आत्मा स्वतंत्रता के लिए प्राणाहुति देने को प्रस्तुत सहस्रों 'वसंत'—'सुमनाओं' को देखकर निश्चित ही परितृप्त हो जाएगी।

० ० ०

कवि और शब्द-ज्ञान

कवि के पास शब्दों का एक वृहत् भंडार होना चाहिए, जिससे आंतरिक भावों के प्रगट करने में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। जिस कवि के पास नाना प्रकार के शब्दों की प्रचुरता होती है, वह अत्यन्त शीघ्रता और सुगमता से अपने विचारों को तत्काल प्रगट कर सकेगा। इसलिये शब्दों की बहुज्ञता महोपयोगी है। एक ही अर्थ के द्योतक बहुत से शब्दों को तथा अनेकार्थवाची शब्दों को कंठस्थ रखने से बड़ी सहायता मिलती है और उनके उचित प्रयोग से कविता में रोचकता बढ़ती है। हर एक शब्द के आंतरिक भावों को समझना चाहिए कि इसमें क्या विशेषता है। एक ही अर्थ के द्योतक बहुत से शब्दों में से जहाँ जिस शब्द की अधिक आवश्यकता समझ पड़े और जहां जिसके होने से कविता में अनूठापन आ जाता हो, वहाँ उसी शब्द को स्थान देने की चेष्टा करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि शब्दों के उपयोग का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

—रामनरेश त्रिपाठी
('कवि-कौमुदी' के एक लेख से)

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

त्रिपाठी जी की काव्य-प्रेरणा

पंडित रामनरेश त्रिपाठी की छः कविता-पुस्तकें—कविता विनोद, मिलन, क्या होम रूल लोगे ? पथिक, मानसी और स्वप्न देखने में आती हैं, जिनका प्रकाशन क्रमशः सं० १९७१ वि०, १९७४ वि०, १९७५ वि०, १९७७ वि०, १९८४ वि० तथा १९८५ वि० में हुआ था। पाँचवीं पुस्तक "कुछ कविताओं का संग्रह" है जिसके संग्रहकर्त्ता हैं श्री श्रीगोपाल नेवटिया। इनमें की तीन रचनाएँ—मिलन, पथिक और स्वप्न—खण्डकाव्य हैं। कवि रूप में त्रिपाठी जी की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उन्हें दूसरों से भिन्न रूप में प्रकट करती हैं। उनमें से एक यह है कि उनका ईश्वर घट-घट व्यापी है। इसलिए जीवधारी मनुष्य ही उसकी क्रिया-लीला का माध्यम बन जाता है। उनके भगवान को धर्म की स्थापना अथवा भक्तजन के निस्तार के निमित्त अवतार धारण नहीं करना पड़ता। फलस्वरूप आस्तिक होकर भी त्रिपाठी जी मानव-बल पर ही भरोसा रखते पाये जाते हैं, चाहे वह बल कितना ही क्षीण क्यों न हो[1]। यह विशिष्ट अन्तर उन्हें उनके पूर्ववर्ती अथवा पार्श्ववर्ती कवियों से पृथक् कर देता है। इसे उनकी मौलिक देन के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

त्रिपाठी जी की पहली रचना "मिलन" का प्रथम संस्करण उस समय निकला था जब कि महायुद्ध (१९१४-१८ ईसवी) की विभीषिका के कारण सभी त्रस्त थे। प्रबुद्ध कवि के सामने दासता की श्रृंखला में जकड़ा स्वदेश छटपटा रहा था। उसके हजारों जवान युद्ध के मोर्चे पर इस लिये डटे रहने को बाध्य थे कि वे गुलाम थे। देश की ओर से अपना स्वतंत्र निर्णय लेने की न तो कोई छूट थी, न उसका कोई मूल्य अथवा महत्व था। अपना हित भाग्य-विधायक अंग्रेजों के स्वार्थ-साधन से जुड़ा हुआ था। कवि के लिए विवशता की यह स्थिति असह्य थी। ऐसी अवस्था में स्वभावतः कवि का ध्यान या तो अपने पूर्ववर्ती कवियों की भांति अपने गौरवमय अतीत की ओर जाता अथवा अपनी जैसी स्थिति में पड़े देशों के उद्धारकर्ता राष्ट्र-नायकों की ओर मुड़ता। अपने अतीत की ओर झाँकने में उनके सामने कुछ विचित्र असमंजस की दशा थी। इटली की स्वाधी-

---

१. अस्थि चर्ममय-कंकालों में जो कुछ बल है शेष।
संचय कर रिपु-रहित करूँगा अपना प्यारा देश॥
—मिलन, १।२८

नता (१८४८ ई०) के बाद राष्ट्र का जो रूप उभरने लगा था उसका सम्बन्ध अपने अतीत से सहज ही जुड़ नहीं पाता था। अतएव मेजिनी जैसे चरित्र का आदर्श उनकी आंखों के सन्मुख बार-बार नाच उठता था। फलस्वरूप कवि ने वहीं से प्रेरणा ग्रहण कर एक खण्डकाव्य की रचना कर डाली। उस युग की धारणा के अनुसार राष्ट्रीय स्वाधीनता द्वारा ही "मनुष्यता" की रक्षा संभव थी। पराधीन राष्ट्र के लिए "मनुष्यता" कोरे नारेबाजी के अतिरिक्त और अधिक महत्व की न थी।

कवि की धारणा के अनुसार "मनुष्यता" नरलोक की ही अनुभूति है। इसलिये उसका मूल्यांकन भी वहीं किया जा सकता है।[२] उनकी दृष्टि में लोकसेवा ही वास्तव में भगवान की भक्ति है। इस भक्ति का कर्मक्षेत्र मानव-समाज ही हो सकता है। इससे भिन्न स्थिति उन्हें व्यर्थ-सी जान पड़ती है, जहां "मनुजोचित" कार्य सम्पन्न होना संभव प्रतीत नहीं होता[३] परन्तु स्वदेश-भक्ति हो अथवा मनुष्यता का आदर्श, सबके मूल में कवि का प्रेम पुलक स्वर मुखर है। उनकी दृष्टि में एक देशभक्त ही सच्चे प्रेम की परिभाषा देने का उपयुक्त अधिकारी है।[४] प्रेम का यह स्वरूप उसकी सामान्य स्थिति से भिन्न कोटि का है।

वास्तव में "प्रेम" के सम्बन्ध में जितना कहा सुना गया है, उतना अधिक शायद अन्य किसी एक विषय में नहीं। इसका मूल कारण कदाचित् इसके सहज होने में ढूंढ़ा जा सकता है। किन्तु सहज भूख और प्यास भी है। फिर भी उनकी वैसी चर्चा नहीं चलती, जैसी प्रेम की। प्रवृत्तिमार्गी से लेकर निवृत्तिमार्गी तक को इसका उल्लेख करना पड़ा है। अपढ़ गँवार से लेकर शिक्षित नागर तक इसके वशीभूत पाये जाते हैं। कोमल एवं कमनीय नारी से लेकर क्रूर तथा हिंस्र प्राणी तक के हृदय के किसी न किसी कोने में प्रेम-भाव का स्फुरण और स्पन्दन हुआ करता है।

फिर भी यह विलक्षण बात है कि आज तक इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन पायी। इस सम्बन्ध में जो कुछ वतलाया जा सका है वह अधिकतर इसके कतिपय अन्तर तथा

---

२. जग ही में जाना जा सकता मनुष्यता का मोल।
—मिलन, १।२७

३. ईश्वर भक्ति लोकसेवा है एक अर्थ दो नाम।
वन में बस कैसे हो सकता है मनुजोचित काम।
जगती में सुख शान्ति बढ़ाना देकर निज श्रम-शक्ति।
मनुष्यता का अर्थ यही है और यही हरिभक्ति ।।
—मिलन, १।२८

४. है स्वदेश हित साधन में रत जो जन ममता भूल।
भाई! उससे सुनो प्रेम की परिभाषा सुख-मूल ।।
—मिलन, २।२३

वाह्य लक्षणों अथवा विशेषताओं के परिचय तक ही सीमित है। इस कठिनाई का प्रधान कारण, संभवतः इसकी अनुभूति की तीव्रता और गहराई है। निस्संदेह इसके विभिन्न पक्षों पर विचार करने वालों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अपने-अपने मत स्थिर किये हैं, किन्तु वे मत प्रायः किसी एक ही पक्ष पर अधिक वल देने के परिणामस्वरूप एकांगी वन कर रह गए हैं। इस विषय में जीवविज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक की अपनी-अपनी स्थापनाएं हैं। कामशास्त्र से लेकर धर्मशास्त्र तक की अपनी-अपनी धारणाएं हैं। धर्म तथा दर्शन की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। समाजशास्त्र तथा आचारशास्त्र की अपनी-अपनी व्याख्याएं हैं। सी प्रकार रीति-नीति-मार्गियों की अपनी अपनी उद्भावनाएं हैं। इन सबकी अभिव्यक्ति का निदर्शन काव्य तथा कला के माध्यम से भी होता आया है।

भूख या प्यास सामान्य रूप से हो अथवा काम या प्रेम की तृष्णा अथवा बुभुक्षा के रूप में इन सबकी तृप्ति की आकुलता समान है। यह सच है कि प्रेम की सीमा काम के लिए वर्जित क्षेत्र नहीं है, किन्तु साथ ही वह उसकी अनिवार्य शर्त भी नहीं है। फिर भी प्रेम की एक ऐसी विशेषता है जो उसे दूसरों से भिन्नकोटि की सूचित करती है। प्रेम की तृप्ति प्रेमपात्र के मिलन द्वारा ही संभव होती है, जवकि अन्य स्थिति में विकल्प से भी काम लिया जा सकता है। प्रेमानुभूति के मूल में प्रेरणास्वरूप विरह हो या मिलन, इसका एक प्रभाव अहंभाव के क्रमशः तिरोहित होने तथा आत्मभाव के उर्जस्वित होने में देखा जाता है। आत्मीयता आत्मभाव को लेकर है, अहंभाव का आश्रित होकर नहीं। अहंभाव की विशेषता यह है कि वह वाह्य को अन्तर की ओर घसीटता है, जबकि आत्मभाव परमात्मतत्त्व (विश्वात्मा) की ओर विस्तृत होता है। अहंभाव का व्यक्ति एक सफल शासक हो सकता है, किन्तु सार्थक प्रेमी नहीं। प्रेमी का पथ शासन का राजमार्ग नहीं होता, सेवा की रपटीली पगडंडी होती है जिस पर चलना दुःख या ग्लानि का कारण न होकर सुख या आह्लाद का विषय वन जाता है। वह जीवन-यात्रा का भार न होकर पथ का पाथेय बन जाता है।[५] परन्तु उसके कार्यक्षेत्र का विस्तार देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वह अपने प्रेमपात्र से विमुख हो गया है।[६] वास्तव में वह घड़ी की सुई की भांति विश्व-प्रपंच में

---

५. **जिसने अनुभव किया प्रेम की पीड़ा का आनन्द।**
उससे बढ़कर कौन जगत में सुखी और स्वच्छन्द॥
—मिलन, २।१५

६. **दया नहीं, कर्त्तव्य नहीं, वह है न किसी का दास।**
वह केवल देखना चाहता प्रियतम रूप-विकास॥
रूप कहां है? आर्त मुखों पर प्रकृत हर्ष का हास।
जब खिलता है लखो उसी में प्रियतम रूप-विकास॥
—मिलन, २।२२

चक्कर काट कर भी अपने केन्द्र-विन्दु-प्रेमपात्र से निरन्तर जुड़ा रहता है। उसकी गति नहीं, प्रगति उसके केन्द्र पर ही निर्भर रहा करती है।

कुछ लोगों को इसमें मध्यकालीन संस्कार या मनोवृत्ति की छाप दिखायी दे सकती है। जो लोग प्रेम को व्यापार मानते हैं वे इस भाव के "स्पिरिट" को हृदयंगम करने में असमर्थ ही रहते हैं। उनके लिए प्रेम सौदेबाजी की चीज़ है—एक हाथ से लिया और दूसरे हाथ से दिया। वास्तव में प्रेम भोगजन्य आसक्ति नहीं, त्यागमूलक आत्मोत्सर्ग है। वह व्यक्तिमूलक होकर भी विश्वव्यापी है। प्रेम की यह स्थिति प्रेमी को सामान्य जन की कोटि से भिन्न स्तर पर ला देती है और उसका अभीष्ट "प्रियतम" के रूप का सार्वदेशिक विकास बन जाता है। उसकी समस्त क्रियाओं की संचालन-शक्ति का वह केन्द्र बन जाता है। फिर उसे किसी अन्य प्रेरणा-श्रोत का आश्रित नहीं रहना पड़ता। एक केन्द्र से ही उसकी सारी क्रियाएँ संचालित होने लगती हैं और वह शांति अनुभव करने लगता है।[७]

"पथिक" का प्रकाशन उस समय हुआ जब कि "महायुद्ध" की समाप्ति के बाद भारत ब्रिटिश सरकार के झूठे वादे से निराश होकर स्वातंत्र्य-संग्राम की भूमिका तैयार करने में तल्लीन था। कवि ने ऐसे अवसर को पहचाना और जातीय गौरव की भावना को उद्‌बुद्ध करने का मंत्र फूंका।[८] उसने मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को उभार कर उसे उद्देश्यपूर्ति में लगाने का आवाहन किया।[९] फिर भी कवि का मूलस्वर वही-प्रेम का-बना रहा। उसका यह दृढ़ विश्वास रहा है कि प्रेम द्वारा ही सभी प्रकार के भेद-भाव का निराकरण संभव हो सकता है।[१०] यदि उसके लिए दुख भी झेलना पड़े तो कोई गिला नहीं।[११] उसके लिए विरह जागृति की और मिलन सुषुप्ति की अवस्था है।

---

७. जन जन में दिखती प्रेमी को प्रियतम की प्रिय कांति।
इससे उसे लोकसेवा में मिलती है अति शांति।।
—मिलन, २।२०

८. मस्तक ऊँचा हुआ तुम्हारा कभी जाति-गौरव से।
अगर नहीं तो देह तुम्हारी तुच्छ अधम है शव से।।
—पथिक, २।३२

९. तुम मनुष्य हो अमित बुद्धि बल विलसित जन्म तुम्हारा।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा।।
—पथिक, २।१९

१०. गौर-स्याम, उत्तम-जघन्य, कुत्सित-कुरूप सुन्दर का।
होता नहीं विचार प्रेम के शासन में निज पर का।।
—पथिक, २।४२

११. प्रेम पंथ है कठिन यहां दुख ही प्रेमी का सुख है।
—पथिक, २।५३

कवि-मानस यद्यपि जन-जीवन में ही अधिक रमा है, तथापि वह प्रकृति-प्रेम का भी पुजारी है। परन्तु वह इस तथ्य से भी भलीभांति अवगत जान पड़ता है कि प्रकृति-सौन्दर्य पर भले ही उसका मन ललक उठे, किन्तु स्वयं प्रकृति तटस्थ वृत्ति ही रखती है। किसी भी दान का वह प्रति-दान देना नहीं जानती।[१२] फिर भी वह प्रकृति-प्रणय की अमर लालसा अपने मन में संजोये है और एक अवसर पर वह उस प्रणय की भीख तक माँग बैठता है।[१३]

कभी-कभी एक नियतिवादी के स्वर में भी कवि बोल उठता है।[१४] परन्तु वह भाग्य-वादियों की कोटि का नहीं है। उसका इस सम्बन्ध का उद्‌गार एक भक्त जैसा है जो अपने को प्रभु की इच्छा पर छोड़ देता है।[१५] उसे प्रभु की "इच्छा का अनुगामी" बनना है। यह भाव अपने आप में नया नहीं है, किन्तु उसका सन्दर्भ नवीन है। ऐसा लगता है कि कवि की वाणी में गांधी-युग का प्रधान स्वर मुखरित हो उठा है।

त्रिपाठी जी से सात साल पहले श्री जयशंकर प्रसाद ने भी सं० १९७० वि० में अपनी रचना "प्रेम-पथिक" का प्रकाशन कराया था। किन्तु उनका पथिक आत्मनिष्ठ होने के कारण "प्रेम की अनोखी राह" पर भूल-भूल कर चलने में विश्वास रखता है। यद्यपि उसे अपनी "सीमा" पर पहुँचने की चेतना है। वह "सीमा" उस परकाष्ठा तक पहुँच जाती है "जिसके आगे राह नहीं है।" फिर उनका यह भी विश्वास नहीं है कि "स्वर्ग-विहारी होने का फल" पाने के लिए "प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।" उनकी समझ के अनुसार प्रेम-पथ पर चलने वाला यदि "सोच-समझ" कर चलता है तो वह "पूरा व्यापारी" है। परन्तु त्रिपाठी जी के पथिक की सीमा निर्धारित है। उसे न तो भूल-भूल कर चलना है, न स्वर्ग-विहारी होने का फल भोगना है, अपितु संसार में "प्रेम की ज्योति" जगाते हुए भ्रम में भूले-भटके लोगों को सुख की राह लगाना मात्र है। एक दिन अमिताभ ने भी अपने अनुयायियों को दुखमय जगत के संतप्त प्राणियों के लिए निर्वाण का मार्ग दिखलाने का सुझाव दिया था।

---

१२. प्रकृति रूप पर उछल पड़ा है मन में प्रेम तुम्हारे।
किन्तु स्वयं वह प्रेम न तुमसे करती है हे प्यारे।।
—पथिक १।३२

१३. यदि तुम मुझे प्यार करती हो कोमल करुण हृदय से।
करो न मुझको देवि दयामपि वंचित प्रकृति-प्रणय से।।
—पथिक, १।४६

१४. जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म निरत हैं।
धुन है एक न एक सभी को सबके निश्चित व्रत हैं।
—पथिक, २।१६

१५. मैं कर चुका समर्पण सब कुछ इच्छा पर ईश्वर की।
ईर्ष्या नहीं निरादर की है, प्रीति नहीं आदर की।
—पथिक, २।५१

डॉक्टर उदयनारायण तिवारी

पंडित रामनरेश त्रिपाठी : एक श्रद्धांजलि

स्वर्गीय पं० रामनरेश त्रिपाठी का सर्वप्रथम दर्शन करने का सौभाग्य मुझे सन् १९२४ में मिला था। मैं अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली जा रहा था। संयोग से इलाहाबाद स्टेशन पर दिल्ली जाने वाली गाड़ी के मैं उसी डिब्बे में बैठा जिसमें राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन, दिल्ली-अधिवेशन के सभापति पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं० रामनरेश त्रिपाठी, अध्यापक रामरत्न जी, पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' तथा पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल, ये सभी साहित्यिक अधिवेशन में भाग लेने के लिये दिल्ली जा रहे थे। मैंने देखा कि इन सभी लोगों को राजर्षि टंडन जी संग्रहालय भवन का नक्शा दिखा रहे हैं। उस समय सम्मेलन के वर्तमान भवन नहीं थे और उसका कार्यालय एक खपरैल के मकान में था। पं० रामनरेश त्रिपाठी जी के दो खण्डकाव्य 'मिलन' तथा 'पथिक' मैं पढ़ चुका था और 'हरिऔध' कृत 'प्रियप्रवास' से भी मैं परिचित था। अतएव उन सभी लोगों के समवेत दर्शन से मुझे सुख मिला, वहीं मुझे पहली बार यह ज्ञात हुआ कि त्रिपाठी जी राजर्षि टंडन जी के मित्र एवं सहयोगी हैं और एक सफल कवि के साथ साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थक एवं प्रचारक भी।

सम्मेलन के अधिवेशन से लौटने के बाद त्रिपाठी जी से प्रयाग में मेरी यदाकदा भेंट हो जाती थी। चूँकि मैं उनका सगोत्रिय था अतएव वह छोटे भाई के समान मुझसे स्नेह करने लगे। मैं उनके खण्डकाव्यों से तो पहले ही से परिचित हो चुका था, अब मैंने उनके द्वारा सम्पादित 'कविता कौमुदी' के विविध भागों, उनके नाटकों तथा अन्य कृतियों को भी पढ़ा। धीरे धीरे मुझे अनुभव हुआ कि त्रिपाठी जी अद्भुत प्रतिभा के व्यक्ति हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय में मुझे एम० ए० में जब एक विशेष प्रश्नपत्र के रूप में लोक-साहित्य के अध्यापन का अवसर मिला, तो मुझे देश विदेश के लोकसाहित्य के अनेक पण्डितों की वहुमूल्य कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन का सुअवसर मिला, मुझे यह आश्चर्य हुआ कि विदेशी ग्रन्थों एवं पण्डितों के नाम तक से अनभिज्ञ त्रिपाठी जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से लोकसाहित्य के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातें अपनी कृति में में दी हैं जिनकी इन विद्वानों ने केवल अस्पष्ट रूप से चर्चा मात्र की है।

इसी समय मैंने इस बात का भी अनुभव किया कि भारतीय संस्कृति एवं इसके वातावरण से प्रभावित यहाँ लोकसाहित्य की जो रचना हुई है उसके अन्तस्थल तक में पहुँचने वाले त्रिपाठी जी पहले व्यक्ति हैं। बंगला और गुजराती के लोकसाहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् तो मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई।

त्रिपाठी जी अत्यधिक भाव-प्रवण व्यक्ति थे। काव्य के क्षेत्र में वह आरम्भिक खड़ी-बोली तथा छायावाद के बीच की एक कड़ी थे। 'मिलन' 'पथिक' एवं 'स्वप्न' के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने अपने नवीन प्रयोगों द्वारा खड़ीबोली की भाषा को कितना मधुर बना दिया था। उर्दू को त्रिपाठी जी ने मुसलमानी हिन्दी के नाम से अभिहित किया था, उनके इस नामकरण पर प्रसिद्ध भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तो इतने मुग्ध थे कि अपने अनेक व्याख्यानों में उन्होंने इसका उल्लेख किया है। डा० चटर्जी का यह विचार है कि उर्दू का यह नाम बहुत ही उपयुक्त है।

महाकवि निराला के निधन के पश्चात् सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर में त्रिपाठी जी से मेरी भेंट होती रही। सम्भवतः मुझसे तथा मेरे दारागंज के मित्रों से निराला जी की जितनी घनिष्टता थी उतनी त्रिपाठी जी से नहीं किन्तु उस दिन उन्होंने अत्यन्त वेदना से कातर होकर कहा था—निराला जी तो चले गये, मैं क्यों बैठा हुआ हूँ। इधर उधर की बातें करके उनका ध्यान बदलना चाहा किन्तु मैंने देखा कि त्रिपाठी जी इधर उधर की बातें पसन्द नहीं कर रहे हैं और इसी बात पर जोर दे रहे हैं कि अब मुझे भी चलना चाहिये। त्रिपाठी जी ने अपने जीवन में पर्याप्त सम्पत्ति एवं कीर्ति अर्जित की। गाँधी जी द्वारा परिचालित सन् १९२१ के राष्ट्रीय आन्दोलन में वे स्वर्गीय पं० मोतीलाल जी नेहरू तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन के साथ जेल भी गये थे किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि सम्मेलन से अतिनिकट होते हुए भी न तो वे उसके कभी सभापति बन सके और न उन्हें किसी पुरस्कार से ही पुरस्कृत किया जा सका। इसका एकमात्र कारण यह है कि स्वाभिमानी होने के साथ साथ वे निर्भीक व्यक्ति थे और उनकी निर्भीकता उस सीमा तक पहुँची हुई थी कि कई बातों में वे किसी से समन्वय एवं समझौता नहीं कर पाये। जिस बात पर वे अड़ जाते थे, उससे उनके प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी हटाने में अपने को असमर्थ पाते थे। यह भी एक विचित्र संयोग की बात है कि सम्मेलन तथा राष्ट्रभाषा के ऐसे सेवक का निधन सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर में हुआ। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर आज इस संसार में नहीं है तथापि यशःशरीर से हिन्दी साहित्य के इतिहास में वे सदैव वर्तमान रहेंगे। मैं उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि प्रदान करता हूँ।



डॉक्टर कैलाशचन्द्र भाटिया

लोकसाहित्य में रामनरेश त्रिपाठी की अमूल्य देन

'लोकसाहित्य' के व्यापक क्षेत्र में कार्य करने वाले साहित्यकारों में श्री रामनरेश त्रिपाठी जी का नाम हमेशा अग्रणी रहेगा। त्रिपाठी जी से पूर्व इस क्षेत्र में विशेषकर हिन्दी में कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य[१] नहीं हुआ। केवल स्व० मन्नन द्विवेदी की 'सरवरिया' नामक पुस्तिका ही उपलब्ध थी जिससे कोई 'उल्लेख योग्य' सहायता आपको प्राप्त नहीं हुई। इस क्षेत्र में किये गये प्रथम वैज्ञानिक शोध-प्रबन्ध 'ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन' के प्रारम्भिक परिचय[२] में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने स्पष्टतः लिखा है—

'हिन्दी भाषियों का ध्यान अपने लोक-साहित्य विशेषतया ग्राम-गीतों की ओर श्री रामनरेश त्रिपाठी ने पहले-पहल आकर्षित किया था। हिन्दी जनता ने 'कविता कौमुदी' के पांचवें भाग का हृदय से स्वागत किया[३] और अपने साहित्य के इस नये अक्षय-भण्डार को इस मात्रा में संकलित देखकर उसे आश्चर्य हुआ।'

१· त्रिपाठी जी के स्वयं विचार इस प्रकार हैं, 'मेरे काम का कोई पथ-प्रदर्शक नहीं था, जहाँ तक मैं जानता था हिन्दी में सबसे पहला व्यक्ति मैं ही था, जिसने इस काम में हाथ लगाया था। रास्ता अन्धकार का था पर मेरी लगन सच्ची थी इससे मैं तो यही कहूँगा कि भगवान् लालटेन लेकर आगे आगे चल रहे थे।'

२· डा० सत्येन्द्र— ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन: प्रारम्भ में परिचय, प्रथम पृष्ठ।

३· 'ग्रामगीत' के प्रथम प्रकाशन पर कुछ उल्लेखनीय टिप्पणियाँ तथा सम्मतियाँ इस प्रकार हैं—

'इन गीतों के संग्रह का आपका परिश्रम अति प्रशंसनीय है। इस परिश्रम से आपने हिन्दी जगत को सदा के लिये उपकृत किया है। मुझे निश्चय है कि कविता के प्रेमी आपके इस संग्रह का प्रेम से स्वागत करेंगे।'

—महामना मदनमोहन मालवीय

'आपने साहित्य के इस अछूते अंश की पूर्ति करके बड़ा काम किया। बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरम्भ के कई सौ पृष्ठ तो अनमोल ही हैं। उनमें विषय की विवेचना और आपके साहित्य-ज्ञान की राशियाँ भरी मिलीं।'

—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

इस प्रकार निश्चित रूप से लोक-साहित्य के क्षेत्र में आपने जिन परिस्थितियों में जो भी कार्य किया है वह वस्तुतः सराहनीय है। आपके इस कार्य से आगे इस क्षेत्र में कार्य करने की नवयुवकों को विशेष प्रेरणा मिली। आज तो परिस्थितियाँ ही बदल गई हैं। फिर भी यह कार्य इतना सरल नहीं है जितना दूर से समझा जाता है। मुझको भी इस क्षेत्र में कुछ कार्य करने का अवसर मिला है। अब तो 'टेप रेकर्डर' की सुविधा प्राप्त है। हम लोग टेप-रेकर्डर के माध्यम से 'टेप' पर गीतों को ले लिया करते हैं और फिर 'टेप' से उन गीतों को लिपिबद्ध कर लेते हैं। आज हमको ये सब सुविधाएं जो प्राप्त हैं इनकी उन दिनों चर्चा भी नहीं थी। फिर भी मैं जानता हूँ कि कितना कार्य कहाँ कहाँ हो सका है। 'टेप' पर से भी गीतों को लिखना सरल नहीं, फिर उन कठिन परिस्थितियों की केवल कल्पना ही की जा सकती है जिनमें त्रिपाठी जी ने कार्य किया। गाँव गाँव डोलना, स्त्री-पुरुष सभी के गीतों को बटोरना कोई सहज कार्य नहीं था। इस संबंध में त्रिपाठी जी ने जो अपने अनुभव लिपिबद्ध किये हैं वे आज भी पाठक को रोमांचित कर देते हैं। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि जब अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मण्डल के हाथरस अधिवेशन की निबन्ध गोष्ठी में आपने उन संस्मरणों को सुनाया था तो श्रोताओं पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा था। सब तो नहीं उनके अनुभवों के कुछ अंश यहां रुचिकर रहेंगे—

'एक कठिनाई स्त्रियों से गीत लेने में पड़ती थी, स्त्रियाँ बोलकर गीत लिखा ही नहीं सकतीं। बोलकर लिखाते समय उनको गीत याद ही नहीं आते।'

'ज़रा ध्यान से यह दृश्य देखिये तो—सावन का महीना है। घटा घिरी हुई है। . . .धान के खेत में घुटने तक पानी में खड़ी चमारिनें खेत में उगे हुये घास-पात को खोंटकर-नोंचकर निकाल रही हैं। शरीर तो उनका धान के खेत में काम कर रहा है और मन गीत की दुनियाँ में है। मैं धान के मेड़ पर बैठा गीत सुनता जाता हूँ और लिखता जाता हूँ। जिन्होंने धान के मेंड़ देखे होंगे वे समझ सकते हैं कि धान के मेंड़ पर बैठना तलवार की धार पर बैठने के समान है। . . .जरा सी दृष्टि चूकी या ध्यान बंटा कि धड़ाम से पानी और कीचड़ के अन्दर।'

'ध्यान में देखिये—गाँव से बिल्कुल बाहर चमार का घर है, जिसकी दीवारें लोनी से गल गई हैं। दीवारों के अन्दर के कंकड़ खीस काढ़े हैं। दीवारों में सैकड़ों दरारें, छेद, बिल और गुफायें हैं। छिपकलियों, मकड़ियों, चींटियों, चूहों और झींगुरों के सैकड़ों परिवार निवास कर रहे हैं। दीवारें बीसों स्थान से फटी हुई, उस पर सहस्रों नेत्रोंवाला एक सड़ा-गला छप्पर रखा है। . . .एक किनारे चूल्हे पर मरी हुई गाय का मांस पक रहा है, मैं उसी झोपड़े के द्वार पर दीवार से पीठ टेके, रूमाल पर बैठा हुआ, एक साठ बरस की बुड्ढी चमारिन से गीत लिख रहा हूँ।'

इन परिस्थितियों में गीतों का संग्रह करना वस्तुतः साहस का कार्य है। हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास के सोलहवें भाग 'हिन्दी का लोकसाहित्य' के सम्पादक ने इस प्रकार अपनी श्रद्धांजलि भेंट की है—

'त्रिपाठी जी हिन्दी लोकगीतों के संग्रहकर्त्ताओं के सेनानी एवं अग्रणी हैं।'

लोक-साहित्य के क्षेत्र में आपने सन् १९२४ से कार्य करना प्रारम्भ किया और फिर कुछ न कुछ जीवन-पर्यन्त[१] करते ही रहे। यह समस्त कार्य इस प्रकार हैं—

१. कविता कौमुदी-पांचवा भाग[२]—ग्रामगीत, पहला संस्करण, सन् १९२८।
२. हमारा ग्राम साहित्य--भाग-१, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग, सन् १९५१।
३. हमारा ग्राम साहित्य--भाग २, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग।
४. हमारा ग्राम साहित्य—भाग ३, सन् १९५२, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली।
५. घाघ तथा भड्डरी की कहावतों का संकलन--हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सन् १९३१।
६. राजस्थानी भीलों के लोकगीत, उदयपुर।
७. मारवाड़ के मनोहर खाती, प्रयाग।
८. काश्मीरी ग्रामगीत, हिन्दुस्तानी, प्रयाग।
९. भगवती देवी 'लोक गाथा' के तीन चार पाठों का संकलन।
१०. मुहावरों में जनजीवन, त्रिपथगा, मार्च १९५६ ई०।

उपर्युक्त सम्पूर्ण साहित्य में 'लोक साहित्य' के सभी पक्षों पर कार्य किया गया है। 'फ़ोक लोर' शब्द का प्रथम-प्रथम प्रयोग सन् १८४६ में लव्ल्यू० जे० थामस महोदय ने किया है। हिन्दी में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसके लिए 'लोकवार्त्ता' शब्द प्रचलित किया। डॉ० सत्येन्द्र लोक-साहित्य को लोकवार्त्ता का अंग मानते हैं। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आरम्भ में अंग्रेजी के इस शब्द के लिए 'लोकवार्त्ता', 'लोकसाहित्य', 'लोकगीत', 'ग्रामगीत' कई शब्द मिलते हैं जिनमें से त्रिपाठी जी को 'ग्रामगीत' शब्द ही अधिक पसन्द आया। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य व्यक्तियों द्वारा इस शब्द को प्रश्रय नहीं मिल सका। त्रिपाठी जी ने 'ग्रामगीत' के संबंध में अपने विचार भी स्थान स्थान पर प्रकट किये हैं—

'ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस हैं, छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं, केवल माधुर्य्य है।'

'ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत में रस है, महाकाव्य में अलंकार। रस स्वाभाविक है, अलंकार मनुष्य निर्मित।'

'ग्रामगीतों का जन्मस्थान गांव है। जिनकी वाणी में मस्तिष्क नहीं, हृदय है, जिनके विनय के परदे में छल नहीं, पश्चात्ताप है, जिनकी मैत्री के फूल में स्वार्थ का कीट नहीं, प्रेम का परिमल है, जिनके मानव-जगत् में आनन्द है, सुख है, शान्ति है, प्रेम है, करुणा है, संतोष है, त्याग है,

---

१. वृहद् इतिहास की भूमिका में सम्पादक महोदय ने एक स्थान पर त्रिपाठी जी पर विचार प्रगट करते हुए लिखा है कि आप इस क्षेत्र में अग्रणी होते हुये भी आगे चलकर 'तटस्थ' ही नहीं 'तट' से बहुत दूर हो गये। मैं इसको स्वीकार नहीं करता। आपका कहावतों का संग्रह तो सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ और लेख सन् १९५६-५७ तक प्रकाशित होते रहे।

२. यही दूसरे संस्करण में सन् १९५५ में तीसरा भाग हो गया है।

क्षमा है, विश्वास है, उन्हीं ग्रामीण मनुष्यों के स्त्री-पुरुषों के बीच में हृदय नामक आसन पर बैठ-कर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्राम-गीत हैं।'

आगे चलकर ग्रामगीत की भूमिका के पृष्ठ ६७ पर त्रिपाठी जी ग्राम-गीत या लोक-गीत के संबंध लिखते हैं--

"ग्राम-गीत के स्थान पर लोक-गीत शब्द का भी प्रयोग किया जा रहा है, पर यह उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ग्राम-गीत ग्रामीणों की पैतृक सम्पत्ति है, उनका गौरव उन्हीं के पास सुरक्षित रहने देने ही में सभ्य समाज का गौरव है। लोक-गीत कहने से नगर-निवासियों के सामा-जिक जीवन के गीत भी सम्मिलित हो जाते हैं पर नगर-निवासियों के गीत हैं ही क्या?"

यह भी एक संयोग ही है कि डा० सत्येन्द्र ने भी अपनी थीसिस के पृष्ठ ६७ पर ग्रामगीत और लोकगीत के अन्तर्गत इस प्रकार विचार प्रकट किये हैं, "ग्रामगीत छोटा ही नहीं बड़ा भी हो सकता है। जिकड़ी के भजन ग्राम्य-गीत हैं, बहुत लम्बे होते हैं। ये आधुनिक बने हुये हैं और नई-नई मण्डलियाँ नये-नये गीत बनाती हैं, ये परलोक-गाथा से भिन्न हैं। लोकगाथाकार बड़े से बड़े कथानक को अपने ग्राम की सहज भूमि के अनुकूल बना डालता है। वे उसके जैसे हो जाते हैं और ग्रामगीत का निर्माता अपने ज्ञान के आधार पर उनका व्यक्तित्व और उनका वही प्रसिद्ध रूप रखता है।"

इस प्रकार त्रिपाठी जी 'ग्रामगीत' शब्द ही रखने के पक्ष में थे जिसका थोड़ा बहुत प्रयोग आगे भी किया गया है। इसी आधार पर वृहद् इतिहास के १६वें भाग के सम्पादक ने अपना मत स्थापित किया है "त्रिपाठी जी का 'फोक' शब्द के लिये 'ग्राम' शब्द पर अत्यधिक आग्रह है।"

हम इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलित शब्द 'लोक साहित्य' को ले सकते हैं। साधारणतः इस साहित्य के तीन रूप हो सकते हैं--(१) कथा, (२) गीत, (३) कहावतें। पहले क्षेत्र में त्रिपाठी जी ने कोई विशेष कार्य नहीं किया।

गीतों के क्षेत्र में त्रिपाठी जी की बहुमूल्य देन 'कविता कौमुदी' का पाँचवाँ भाग है। सन् १९५१ में प्रकाशित 'ग्राम साहित्य का पहला और दूसरा भाग' भी यही है केवल भूमिका में अन्तर है और सोहर का अन्तिम ८०वां गीत इसमें नहीं है। १७० पृष्ठों की एक विस्तृत भूमिका कविता कौमुदी के पांचवें भाग के प्रारम्भ में है जिसमें पहली बार ग्रामगीत की परिभाषा और वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। इस संग्रह में ४८४ गीत हैं। गीत हिन्दी प्रदेश के ही नहीं वरन् नमूने के तौर पर भारत की सभी प्रधान भाषाओं के भी हैं।

संकलित गीतों का विवरण इस प्रकार है--

	गीत संख्या	विवरण
१. सोहर —पुत्र जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीत। इनको मंगलगीत भी कहते हैं। सोहर छन्द भी है।	८०	इन गीतों में 'राम-सीता' 'दशरथ-कौशल्या', 'ननद-भावज' 'सास-ननद' तथा सामान्यतः

	गीत संख्या	विवरण
		'कोई स्त्री पुरुष' के नाम से विख्यात गीतों की प्रधानता है, भाई के लिए बहिन के हृदय की वेदना है।
२. अन्नप्राशन	१	
३. मुण्डन के गीत	३	
४. जनेऊ के गीत	२०	
५. नहछू	१	
६. विवाह–प्रारम्भ में विवाह की विधि	७९	इन गीतों में ससुराल में 'बहू', 'सास-ननद', 'राम-सीता' आदि पर आधारित अधिक गीत हैं।
७. जांत–आटा पीसने की चक्की से सम्बद्ध	३५	कोमल वहुत मधुर और चिर-स्थायी प्रभाव छोड़ने वाले गीत हैं।
८. वर्षा ऋतु –निरवही	१३	
हिंडोले	३७	
कजली	१०	
९. कोल्हू के गीत	९	
१०. वसंत ऋतु के गीत–चौताल	२	
होली	१	
चैती	३	
११. ग्राम-कथाएँ–प्रायः लम्बे गीत	४	चक्की पीसते समय, खेत नितेरा समय गाये जाते हैं।
१२. ग्राम-गाथाएँ–आल्हा	१	
शीतला माता के गीत	२	
वारहमासा	७	
१३. मेले के गीत	३६	
१४. कौमुदी कुंज–जातीय गीत		
अहीरों के गीत-विरहे	३२	
कहारों के गीत	६	
तेलियों के गीत	२	
गड़रियों के गीत-सिउरिया	१	
विरहे	२	
धोवियों के गीत	१३	
चमारों के गीत	७	

प्रान्तीय भाषाओं के गीत—काश्मीरी २, पहाड़ी ५, नेपाली २, पठानों ५, पंजाबी १, सिंधी १।

राजस्थानी—दोहे-सोरठे ३३, गीत २, मालवी १, भीली १, मराठी १, गुजराती २, कन्नड़ १, मालयाली २, तमिल २, तेलुगु १, ओड़िया १, बुंदेलखंड़ी २, मुंडा १, संथाली १, बंगला १, असमिया ४, मैथिली ३, भोजपुरी १, ब्रज १।

इस प्रकार कुल ४४८ गीत हैं।

उपर्युक्त गीत मुरादाबाद, इटावा, बदायूँ, फैजाबाद, बिजनौर, बाराबंकी, सुलतानपुर, गाजीपुर, बस्ती, बनारस, गोरखपुर, लखनऊ, अलीगढ़, गोंडा, बलिया, फतहपुर, प्रतावगढ़, फतहगढ़, जौनपुर, रायबरेली, पीलीभीत, मुजफ्फरनगर, मेरठ, आगरा, आजमगढ़, सीतापुर, झांसी आदि स्थानों से संकलित किये गये हैं।

इस संग्रह के प्रकाशन पर राष्ट्रपिता गांधी जी ने भी अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये थे—

"आपके ग्रामीगीतों के संग्रह का जो कुछ परिचय कर सका हूँ उससे आपके परिश्रम का और राष्ट्रभाषा-प्रेम का कुछ नाप मुझको मिलता है। संग्रह उत्तम लगा। मैं तो चाहता हूँ प्रत्येक हिन्दी- भाषा-प्रेमी आपके संग्रह का अध्ययन करे।"

इस क्षेत्र में अन्य उल्लेखनीय सामग्री में काश्मीरी लोकगीत तथा राजस्थानी भीलों के लोकगीत भी हैं।

तीसरे क्षेत्र में आपके कार्य का ऐतिहासिक महत्व है। यह क्षेत्र है—कहावतों का। 'कहावतें' तो ग्राम-साहित्य के रत्न हैं। वे गांववालों ही के लिये नहीं मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी हैं और जो गांववालों को समझना चाहे उनके लिये तो अंधेरे रास्ते के दिये जैसे हैं।

कहावतों के क्षेत्र में 'ग्राम साहित्य' का तीसरा भाग महत्वपूर्ण है जिसमें २०९५ कहावतें, पहेलियां, मुकरियां, सखुने तथा ढ़कोसले संगृहीत हैं जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है। इससे पूर्व आप घाघ और भड्डरी की कहावतों का संकलन कर चुके थे जिसे हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने सन् १९३१ में प्रकाशित किया था।

किसानों का वर्षा-विज्ञान—कार्तिक से क्वार तक १३१, नक्षत्रों और राशियों ८०, चन्द्र परीक्षा ८, वायु ३०, वृष्टि ६२, अनावृष्टि २०, कालनिर्णय ३२, कुल =३६३।

खेती की कहावतें—उत्तम खेती ५, सुखी किसान १२, दुखी किसान १३, फसल २०, बैल ६०,जोताई ४५, खाद २१, बीज १, बोआई ७६, निराई ४, सिचाई १५, कटाई ५, ओसाई ३, फुटकर १८, फसल के रोग १६, कुल =३१४।

सामाजिक कहावतें—सामान्य ३९७, यात्रा विचार ७,शुभाशुभ विचार ९, छींक १, छिपकली और गिरगिट ४, कुल =४१८।

स्वास्थ्य संबंधी—४८, घाघ, लाल बुझक्कड, माधौदास, तुलसीदास, कबीर, गिरधर कविराय, बन्द तथा फुटकर १३६, साहित्यिक कहावतें ४७५। कुल १७५४ गीत।

इसके अतिरिक्त पहेलियों आदि का भी साहित्य आपने संकलित किया है जिसका विवरण इस प्रकार है :--

आकाश १२, पानी-आग ३६, पशु-पक्षी १७, अन्नादि ३२, शरीर १३, कुटुम्ब ३, व्यवसाय १३, आहार १२, घरगृहस्थी ३६, गणित ४०, विविध ९२, घासीराम १२, खुसरो २५, इस प्रकार कुल ३१६ हैं।

इसके अतिरिक्त मुकरियाँ १०, सखुने ६ तथा ढकोसले ९ भी इसी भाग में संकलित हैं।

यह है संक्षेप में श्री रामनरेश त्रिपाठी जी का योगदान जो लोकसाहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। त्रिपाठी का यह कार्य आगे आने वाली पीढ़ी तथा लोकसाहित्य में शोधकाय करने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भांति देदीप्यमान रहेगा।



श्री श्रीगोपाल नेवटिया

पूज्य त्रिपाठी जी और मेरा परिवार

स्वर्गीय पण्डित रामनरेश त्रिपाठी हमारे परिवार के पूज्यपादों में से एक पूरी अर्द्धशताब्दि तक रहे हैं। मेरे बड़े भाईजी स्वर्गीय रामकुमार जी के और मेरे तो वे अभिन्न हृदय रहे हैं। पचास वर्ष तक सुख-दुःख में हमारा और उनका समान भाग रहा। कहाँ वे अवध के एक गाँव में जन्में और कहाँ हम राजपूताना के रेगिस्तान में ! हमारा यह स्वजन-पन विधि-विधान ही माना जाना चाहिए।

विल्कुल औपन्यासिक घटना की भाँति यह सम्मिलन हुआ। काम की तलाश में घर से भाग कर वे कलकत्ता पहुंचे, वहां अपनी लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति के कारण एक आर्यसमाजी, सद्हृदयी महानुभाव के सम्पर्क में आये, बैठक में उनके सात सौ रुपये के भूले हुये बटुये को ज्यों का त्यों लौटा देने से उनका विश्वास-सम्पादन कर उनके ट्रेवलिंग सेलसमैन बने, सरयूपारीण स्वपाकी होने के कारण यात्रा में अच्छे भोजन की जगह अपाच्य खाद्य के कारण बीमार हो कर मृत-प्राय हुये और तब कलकत्ता-निवासी एक मारवाड़ी सज्जन की वाणी में विधि-विधान प्रकट हुआ। उन्होंने उन्हें अपने देश मारवाड़ (फतेहपुर) जाने की सलाह दी, जहाँ का जलवायु और खाद्य उन्हें दवा का काम देगा।

अपने जीवन के उदयकाल में वे अनजाने रास्ते लाँघते और अंत में ऊंट की पीठ पर सवार होकर २० मील का रेतीला मार्ग पार कर फतेहपुर पहुंचे जो जयपुर के अन्तर्गत तत्कालीन सीकर रियासत का एक कस्वा था और आज भी है। चारों ओर बालू के टीलों से आवृत, सेठ साहूकारों के प्रयास से लगाये गये वृक्षों के कुछ झुरमुट, कुछेक वाटिकायें, कस्बे के बाहर दो-तीन पक्के तड़ाग, यत्रतत्र १००-१०० फुट गहरे कुएं, जिनके मरुअे[१] उनकी स्थिति दूर से वता रहे हैं। बड़ी हवेलियां, तंग वाजार और निर्जन गलियों का वह फतेहपुर आज भी १००-५० वर्ष बाद भी करीब-करीब वैसा ही विद्यमान है। हमारी हवेली भी आज वैसी की वैसी मौजूद है, और वह समीपस्थ शीतलादेवी के मन्दिर का स्थान भी, जहाँ उस विशेष-मानव का मृतप्राय शरीर ऊँटवाला पौ फटने की घड़ी में रख गया था।

"शरीर रख गया था" इसलिये लिख रहा हूँ कि वास्तव में हुआ भी ऐसा ही था। उन्हें भान भी नहीं था कि मैं कहाँ हूँ क्यों हूँ और ऊँटवाला भी परेशान था कि क्या करे उनका। हमारा परिवार, हमारी हवेली, नामी-गरामी थे। ऊँटवाले ने मन्दिर की धर्मशाला को ही ऐसे असहाय प्राणी के लिए ठीक समझा।

---

१. कुएँ पर बने २५-३० फुट ऊँचे स्तम्भ।

यह भी विधि-विधान था। प्रातःकाल ही, एक परदेशी के इस हालत में वहाँ पहुँचने का समाचार सुनकर मेरे पितामह ने अपना कर्त्तव्योचित व्यवहार किया। एक मनीम के जिम्मे उनकी देखभाल सौंपी गयी, नियमित रूप से मट्ठा और बाजरे की रोटी और सांगरी[1] का साग जाने लगा। संग्रहणी से जर्जरित वह शरीर स्वस्थ होने लगा। पण्डितजी स्वयं कहा करते थे कि वे द्विज हुये मारवाड़ की हवा और सेठ रामबल्लभजी के मट्ठे से।

मैं तो बहुत छोटा बालक था उन दिनों, पर मेरे बड़े भाई रामकुमारजी वय प्राप्त थे, रोज घुड़सवारी करते और उसी डेरे में से होकर गुजरते जिसमें पण्डितजी टिके थे। रोज-रोज की देखा-देखी अभिन्न-हृदयता में परिणत हुई।

मेरे प्रपितामह पूज्य श्री सेठ रामदयालजी उस युग के एक अद्वितीय पुरुष थे। व्यवसाय में दक्ष, तो विद्या में भी पारंगत। ऊंट की पीठ पर सैकड़ों कोसों की सवारी करके धनार्जन के लिये दक्षिण जाते और ९-९ वर्ष का प्रवास करते तो पूना, काशी, पुष्कर और हमारे फतेहपुर में ही पण्डितों के संसर्ग में आकर साहित्य और अध्यात्म के पठन-पाठन में लवलीन रहते। भागवत के तो वे स्वयं पण्डित थे, हिन्दी में कविता करते, बम्बई से गुजराती दैनिक मंगाकर नियमित रूप से पढ़ते। चालीस-पचास वर्ष पुराना उनका हजारों पुस्तकों का संग्रह आज भी हमारे फतेहपुर में विद्यमान है।

श्री रामनरेशजी को अपने स्वाभाविक विकास का सहारा मिला। मेरे प्रपितामह की संगति ने उन्हें साहित्य की ओर प्रवृत्त किया, तो मेरे पितामह ने जन-मंगल की ओर तो मेरे चाचा स्वर्गीय पूज्य केशवदेवजी ने आधुनिकता की ओर। चाचाजी प्रायः बम्बई रहकर हमारे पारिवारिक व्यवसाय को संभालते, बम्बई का शहरी वातावरण सदा 'आधुनिकता' की ओर, 'सुधार' की ओर, गतिशील रहता। उसकी हवा चाचाजी फतेहपुर भी लाते। अर्थात् बच्चों को पढ़ाना चाहिये, स्कूल होना चाहिये, पुस्तकालय होना चाहिये, अस्पताल भी होना चाहिये, राजा से इतना दबना नहीं चाहिये। पूज्य जाचाजी और पण्डितजी की विचारधाराओं ने खूब मेल खाया।

एक प्रकार से पण्डितजी फतेहपुर के वासी बन गये। हमारे पूर्वज सेठ मनसारामजी की स्मृति में एक 'छत्री' बनी हुई है, एक विशाल गोल गुम्बद के नीचे एक कमरा, आजूबाजू और छोटे कमरे तथा बरामदा। उस छत्री में रहनेवाले 'मास्टरजी'[2] का और उनके शासन में पढ़नेवाले हम भाइयों का पचास वर्ष पुराना दृश्य, आज भी मेरी आंखों के आगे ज्यों का त्यों विद्यमान है।

वह जमाना ही और था। पचास वर्ष में तो दुनिया बदल गयी। पियक्कड़ राजा को अन्नदाता माननेवाली प्रजा, दस्तावेजों पर एक निशान-मात्र बना सकते जितना राजा का अक्षर-ज्ञान, थाने जहां नीलाम होते और अपराधी निरपराधी से जुर्माना वसूल कर थानेदार रकम पूरी करता, स्कूल, किताब, अखबार, अस्पताल, शहर-सफाई जहाँ बिल्कुल नदारद, रुढ़िवादी ब्राह्मणों के वे गढ़-

---

१. संग्रहणी की यह रामबाण औषधि मानी जाती थी।
२. नहीं मालूम यह संज्ञा कैसे जुड़ी, पर चली वर्षों तक।

जमघट, जहाँ धर्म के नाम पर दो-तीन हजार ब्राह्मणों को रेतीली गंदी गलियों में बैठाकर लड्डू खिलाये जाते, मृतक की स्वर्गप्राप्ति के लिये ऊंट और चींटी को भी रुपैये-रुपैये की दक्षिणा[1] दी जाती, ऐसे में पहुँचे युवक, समाजी,[2] (सुधारक) 'मास्टरजी'—रामनरेशजी।

सेठों का समर्थन होने पर भी, उनके विरुद्ध बवण्डर उठ खड़ा हुआ। वे सार्वजनिक पुस्तकालय स्थापित करना चाहते, उसके सामने ब्राह्मण 'धरणा' देते, उन्होंने अस्पताल चलाने की बात चलायी, लोगों ने कहा——मास्टर सब का धर्म भ्रष्ट करेगा, उन्होंने हमें कोट पतलून पहनाया, लोगों ने कहा——छोरों को क्रिस्टान बनाया जायगा।

ऐसे वातावरण के बीच भी वे निर्भीक आगे बढ़ते गये। उनका स्थापित किया हुआ फतेहपुर का सरस्वती पुस्तकालय पिछले पचास वर्ष से वहां की ही नहीं, आसपास की भी बड़ी सेवा कर रहा है, विद्या का भी वहाँ प्रचार हुआ, जन-सेवा का भी। राजपूताना के धनी मारवाड़ियों के समूह शेखावटी का फतेहपुर उन दिनों प्रमुख केन्द्र था और उसकी गतिविधियों का दूर तक अनुकरण होता और पूज्य रामनरेशजी ने उन गतिविधियों को बहुत कुछ संचालित किया।

पर उनकी, स्वाभाविक प्रवृत्ति थी साहित्य की ओर। हम बालक समझते नहीं थे कि 'मास्टर जी' छत्री में अकेले सुबह चार बजे उठ कर क्या लिखते हैं, क्यों लिखते हैं? इतना याद है, उन्होंने हमें "हे जगदीश, देव अविनाशी, दिव्य दयामय मंगलराशी———"रटाया था और "टिक टिक करती घड़ी रात दिन हमको यही सिखाती———"सुनाया था। रामायण और महाभारत की कहानियाँ तो वे बहुत ही मनोमोहक ढंग से सुनाते और बच्चों की कहानियों के तो वे खजाने थे। पर थे वे बड़े कड़े 'मास्टरजी' जरा सी चूक पर खूब डाटते-पीटते। आज भी याद है, एक शाम को एक कुतिया को ढेलों से मारने के अपराध में दूसरे दिन मेरे भाइयों ने उनके बेंत खाये थे। वे अनुशासन-पसंद थे, तो प्रेमालु भी इतने कि हम सबको बांट कर तब खुद खाते, प्यार इतना करते कि उनकी घड़ी भर पहले की कठोरता तिरोहित हो जाती।

उस रेगिस्तान में, परदेश में, पिछड़े लोगों और हम बच्चों के बीच, हमारे परिवार के बड़ों की सहायता से पण्डितजी ने अपने भविष्य का मार्ग प्रशस्त बनाया। उनकी लेखन-प्रवृत्ति को उत्साहित किया गया। वे उसमें लवलीन हो गये। पांच सात वर्ष फतेहपुर में बिता कर वे 'स्वदेश' लौटे। पर उनसे फतेहपुर नहीं छूटा, नेवटिया-परिवार नहीं छूटा। वह सम्बन्ध चिरस्थायी रहा।

"मारवाड़ी-मनोरंजन"[3] से लेकर 'स्वप्न' की रचना तक मेरा और उनका सम्बन्ध रहा। जैसे जैसे वे साहित्य-जगत में प्रख्यात होते गये हम उनका सुखानुभव करते रहे और वे भी हमारे परिवार

---

१. यह एक बड़ी हीन और अपव्ययी प्रथा थी जिसे 'हेड़ा' कहते थे। द्वादश के दिन एक बड़े बाड़े में एकत्रित प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह मानव हो, पशु हो, पक्षी हो, कीट हो, दक्षिणा दी जाती थी।

२. "समाजी" अर्थात् आर्यसमाजी, उन दिनों इसे एक गाली माना जाता था।

३. शायद उनकी सबसे पहली पद्य-रचना।

का सौजन्य पाकर अपने आपको बहुत कुछ सुखी बना सके। उसी प्रकार एक का दुःख दूसरे का दुःख होता रहा, दो दूरस्थों की ऐसी समीपता अवश्य ही अनोखी बात रही।

राजपूताने से इलाहाबाद लौट आने के बाद, लेखन-प्रकाशन के काम में नाम कमाने, साहित्य-सम्मेलन के द्वारा हिन्दी सेवा में संलग्न होने, गांधी-जवाहरलाल की संगति में जेल जाने, सार्वजनिक जीवन में प्रमुखता प्राप्त करने, सब कुछ समटे-सिमटा कर शांति पूर्वक ग्राम-वास करने के लिये आतुर होने, जीवन के संध्याकाल में रेलवे द्वारा उनके निवास के लिए जाने और तज्जन्य पारिवारिक विग्रह से उनके दुःखी होने की बातें सर्वविदित हैं।

अपने जीवन के ७० वर्ष में उन्होंने बहुत कुछ पाया, बहुत कुछ खोया। सुख-दुःख उनकी जीवन-चादर के ताने-बाने के समान थे। हम दोनों अभिन्न हृदय रहे हैं--शरीर से प्रायः सैकड़ों मील दूर रहने पर भी पत्र-व्यवहार के द्वारा एक दूसरे के प्रति दिन के जीवन से परिचित रहते। उसकी गाथा कहने का यह स्थान नहीं, और न उसकी आवश्यकता ही है। मैं जानता हूँ उनके कितने अरमान पूरे हुये, कितने अधूरे रहे। किसके ऐसे नहीं होते? एक और नया काव्य लिखने, कविता कौमदी के १६ हों भाग पूर्ण करने, सुल्तानपुर में नीलगिरि का चंदनवृक्ष लगाने, चाय पर भांग की कलम चढ़ाने, मोटर पर चढ़ कर नव-भारत-दर्शन करने के उनके अरमान अधूरे रह गये पर उन्होंने जो किया, जो पाया क्या कम था? कौन इतना कर पाता है, कौन इतनी ख्याति बटोर पाता है?

उन्होंने मारवाड़ में बैठकर मारवाड़ी मनोरंजन लिखा, तो रामेश्वर में समुद्रतट पर प्रारंभ किया 'पथिक' काव्य, तो काश्मीर में लिखा 'स्वप्न'। उन्होंने मेड़-मेड़ चल कर, झड़ी में भींग कर, शीत में ठिठुर कर ग्रामगीत एकत्रित किये तो ग्राम-ग्राम घूम कर जनता को चेतन बनाया। उन्होंने कोष की रचना की तो बाल-कथा कहानियां भी लिखीं, उन्होंने आंखों देखी सजीव वार्तायें लिखीं तो अपूर्व नाटक भी लिखे। उन्होंने हम सबको अक्षर-ज्ञान कराया तो गांधी जी, जवाहरलालजी को रामायण का ज्ञान। वे सेठ साहूकारों-जमीदारों के मित्र हुये तो गरीबों अमीरों के भी। वे मित्रों के प्रासादों में रहे तो अपनी कुटिया में भी उसी प्रकार सुखी।

अब वे नहीं रहे, उनकी ख्याति रह जायगी, "कीर्तिर्यस्य स जीवति।" उनकी हिन्दी-सेवा, उनकी रचनायें अमर रहेंगी। मेरे जैसों ने उन्हें खो दिया, पर हिन्दी ने उन्हें नहीं खोया। सहस्रों पाठशालाओं में प्रतिदिन का विद्यारंभ आज भी होता है और आगे भी होता रहेगा, उनकी कवि-वाणी-"हे प्रभो आनन्द-दाता-" के द्वारा। उनकी कवितायें प्रगतिशील रुक्ष युग में भी रस बरसाती रहेंगी, जीवन में उत्साह प्रदान करती रहेंगी।

दिवंगत सदात्मा को यह श्रद्धांजलि, उसको सहस्र नमस्कार!

डाक्टर बैजनाथ सिंह

पंडित रामनरेश त्रिपाठी : एक व्यक्तित्व

साहित्य के क्षेत्र से जिनका घनिष्ठ संपर्क नहीं है, वे प्रायः यह समझते हैं कि कवि, लेखक, नाटककार या कलाकार यथार्थ जीवन से दूर कल्पना-लोक में विचरण करते हैं। अनेक कवियों या लेखकों के सम्वन्ध में यह धारणा चरितार्थ भी हो सकती है, पर स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी जी इसके पूर्ण अपवाद थे। वे जीवन के वास्तविक संघर्षों में विजय प्राप्त करते हुए आगे बढ़े थे और जीवन-कक्ष का कोना-कोना उनकी प्रतिभा के प्रकाश से पूर्णतः आलोकित था। वे सच्चे रूप में भक्ति, ज्ञान और कर्म के समन्वय के मानवीय प्रतीक थे। जीवन के समस्त सौंदर्य और उसकी विकट कुरूपता के वे प्रत्यक्षदर्शी थे। उनकी अनुभूति, कल्पना, भावना और अनुभव के विविध स्तरों से छन कर काव्य के आदर्श साधारणीकरण की भूमिका वनी थी।

श्रद्धेय त्रिपाठी जी का जन्मस्थान कोइरीपुर नामक ग्राम (या छोटा कस्बा) है। यह जौनपुर और सुल्तानपुर मार्ग पर स्थित है, पर दोनों जिला-केन्द्रों से इसकी दूरी लगभग ३५-३६ मील है। इन दोनों के बीच उन दिनों केवल कच्ची सड़क थी, रेलवे लाइन तो सन् ३० के लगभग वनी थी, पर युद्ध-काल में (सन् ४० में) टूट भी गई थी। कोइरीपुर सिंगरामऊ राज्य के अन्तर्गत था। इसके आसपास रामगंज और अमरगढ़ की छोटी रियासतें भी थीं। इस क्षेत्र में नागरिक शासन का वहुत कम प्रभाव था। गरीब जनता का जीवन बहुत कुछ अर्द्धशिक्षित स्वेच्छाचारी सामंतों, राजाओं या राजकुमारों की कृपा पर निर्भर था। ये राजा या जमींदार तथा उनके कारिन्दे मनमाना अत्याचार करते थे। गांव के धनी बनिये समय समय पर विवश भामाशाह वनते थे। गांव के किसानों या मज़दूरों के कच्चे मकानों पर जमींदारों की दृष्टि रहती। अपने जानवरों के लिये खूंटा गाड़ने या नादें बनाने के लिये भी उन्हें नजराना देना पड़ता था, इसके अतिरिक्त जब राजा साहबों को घोड़े, हाथी या मोटर खरीदने का मन होता था, तो उसके लिए वह विशेष कर लगाते थे जिन्हें 'हथियौना', 'घोड़ौना' या 'मोटरौना' कहा जाता था।

कोइरीपुर में उन दिनों 'वर्नाक्यूलर मिडिल' या सातवीं कक्षा तक के अध्यापन की ही सुविधा थी। त्रिपाठी जी ने औपचारिक रूप से यहीं तक शिक्षा प्राप्त की। कुलीन ब्राह्मण परिवार में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परंपरा थी, त्रिपाठी जी के चाचा जी संस्कृत के विद्वान् और स्थानीय संस्कृत पाठशाला के अध्यापक थे। परिवार की परंपरा के अनुसार त्रिपाठीजी ने निजी रूप में संस्कृत-साहित्य और व्याकरण का भी अध्ययन किया। भारत की इस देशभाषा के प्रति उनका यह प्रेम अक्षुण्ण बना रहा। रामचरितमानस की अपनी विस्तृत भूमिका के "मानस मधु

है" प्रकरण में तथा 'नीति-रत्न-माला' नामक संस्कृत के सुभाषित रत्नों के संकलन में उन्होंने अपने इसी संस्कृत-प्रेम का परिचय दिया। प्रस्तुत लेखक ने जब नवीं कक्षा में वैकल्पिक विषय के रूप में संस्कृत भाषा के चुनाव की बात पंडित जी को लिखी तो उन्होंने इसका समर्थन करते हुए लिखा, "संस्कृत के ज्ञान के बिना भारतीय विद्यार्थी बिना पतवार की नौका बन जाता है, इससे उसके व्यक्तित्व को दिशा नहीं मिलती और उसके चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया कुण्ठित हो जाती है।"

अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद वे स्थानीय मिडिल स्कूल में अध्यापक हुए। पर उन दिनों आज की तरह ही आरंभिक पाठशालाओं के अध्यापकों की स्थिति बहुत शोचनीय थी। इन लोगों का निरीक्षण-नियंत्रण ज़िला बोर्डों के आधीन होता था और ज़िला बोर्ड छोटे राजाओं की संकीर्ण राजनीतिक गुटबंदी के शिकार होते थे। अध्यापक का पद त्रिपाठी जी जैसे सबल व्यक्तित्व के प्रतिभाशाली पुरुष को बांध नहीं सकता था। तत्कालीन अध्यापकों की दयनीय स्थिति पर दुःख प्रकट करते हुए वे प्रायः कहते थे—

"ऐसा अध्यापन भी क्या जिसमें एक संकीर्ण अनुभव और ज्ञानवाला व्यक्ति अनेक मूर्खों को पाठ पढ़ाता है और स्वयं आजीवन अभाव और अपमान का शिकार बना रहता है।" वे व्यापक जीवन के संघर्ष में भाग लेने के लिये लोगों को प्रेरणा दिया करते थे।

त्रिपाठी जी ने अध्यापन का कार्य छोड़ दिया, पर अध्ययन का नहीं। कलकत्ते और राजस्थान के प्रवास में उन्होंने अंग्रेज़ी, बंगला और संस्कृत का गहन अध्ययन किया। उर्दू का अध्ययन उन्होंने बाल्यावस्था में ही किया था। मराठी और गुजराती का भी उन्हें ज्ञान था। इस लिए हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों की अपेक्षा इनकी दृष्टि अधिक व्यापक थी और तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा वे अपनी रचनाओं में पाण्डित्य-पूर्णता के साथ अद्भुत सरलता ला पाते थे, क्योंकि अपनी विस्तृत जानकारी को उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। त्रिपाठी जी अधिकतर प्रयाग में रहते थे पर बीच-बीच में जब कभी वह कोइरीपुर आते तो स्थानीय सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं के समाधान में पूरा भाग लेते। इन समस्याओं के समाधान में अनिवार्य रूप से वे स्थानीय राजाओं के साथ संघर्ष में आ जाते थे। उन दिनों किसानों का लगाया हुआ हर पेड़ ज़मींदार या राजा का माना जाता था और बेचारे ग़रीब किसान अपने मकान के लिए उसे काट नहीं सकते थे। त्रिपाठी जी इस बात को सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए एक बार अपने परिवार द्वारा लगाये हुए पेड़ को काटने की आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं इस काम में जुट गये। राजा के कारिन्दों ने बहुत डराया-धमकाया पर त्रिपाठी जी विचलित नहीं हुए। राष्ट्र का एक प्रख्यात कवि और साहित्यकार कटे हुए पेड़ के पटरे चीर रहा था और राजा की निरंकुशता को चुनौती दे रहा था। उसके द्वारा चलाया जाने वाला आरा सामंतवाद पर चलाया जा रहा था। यह कवि कल्पना के सहारे अत्याचार के विरुद्ध केवल गीत नहीं लिख रहा था वरन् उसका डट कर मुकाबला कर रहा था।

इस प्रकार के विरोध की अनेक परिस्थितियों ने त्रिपाठी जी को हठीला बना दिया। उनके स्वभाव का यह तीव्र हठ कभी कभी उनके लिए बहुत हानिकर भी सिद्ध हुआ, परन्तु परिणाम

की परवाह करना वे जानते ही नहीं थे। यदि उनकी दृष्टि में उनका मार्ग उचित था, वे न्यायपथ पर थे, तो चाहे बड़े से बड़े अधिकारी या महाराजा, पूंजीपति या प्रतिद्वन्दी किसान भी उनका विरोध करता हो तो वे मुड़ कर नहीं देखते थे। अपने स्वभाव की इसी दृढ़ता से उन्होंने जीवन की अनेक कठिनाइयों में विजय प्राप्त की थी। इसी से वे सम्पन्न प्रकाशक, सफल साहित्यकार, प्रख्यात राष्ट्रसेवी और कुशल किसान हो सके थे। हठ ही उनके स्वभाव की सब से बड़ी शक्ति और सब से बड़ी निर्बलता थी। उन्होंने लड़ना तो सीखा था पर समझौता करना नहीं सीखा था।

खेती-किसानी उनके परिवार का विशेष उद्योग था। त्रिपाठी जी कृषक-जीवन से बाहर तो गये पर घूम-घूमकर वे उधर ही आते रहे। अंग्रेज़ी की कहावत कि "आप जॉन को गांव से बाहर ले जा सकते हैं पर जॉन के हृदय से गांव को नहीं निकाल सकते", त्रिपाठी जी के विषय में पूर्णतः लागू होती है। पंडित जी हिन्दी साहित्य के विलियम वर्न्स थे जिन्होंने सरल भाषा में ग्रामीण जीवन पर कविता, कहानी तथा नाटक लिखने के साथ साथ ग्राम-गीतों का अद्भुत संकलन किया जिनमें भारतीय ग्रामीण जीवन की मार्मिकता पूरी तरह व्यक्त हुई है।

वसंत-निवास में वाड़ी के साथ खेती की भी व्यवस्था थी। जहां उनका दो खण्ड (आंगन) का अत्यन्त सुन्दर भवन था, पुस्तकालय तथा उनका छोटा दुमंज़िला अध्ययन-कक्ष था, वहीं हलवाहे और मज़दूरों के रहने के लिये पीछे मिट्टी का आदर्श मकान था, बैलों के रहने की व्यवस्था थी। हल, पाटा, चरसा और खेती के दूसरे औजारों के रखने का भी स्थान था। इस रम्योद्यान के वाहर कोइरीपुर में भी खेती का इनका काम चलता था, जयसिंहपुर में भी एक फ़ार्म था जिस पर इनके भाई व भांजे प्रवन्ध करते थे। इन्होंने इस स्थान पर जंगल कटवा कर एक फ़ार्म चलाया —इसकी भूमि उसरीली निकल गई, और इस पर लगा हुआ धन वापस न आ सका। पर त्रिपाठी जी इसे सफल वनाने के लिए सत्तर वर्ष की अवस्था में भी अथक परिश्रम करते रहे, मिट्टी से जूझते रहे। इस प्रयोग में उन्होंने लगभग दस हजार रुपया व्यय किया। इस फ़ार्म (खेत) पर भी मकान बनाया और हल-बैल खरीदे। 'मिट्टी के सुखदायक घर' नामक उनकी पुस्तक उनके निज के प्रयोगों और अनुभवों पर आधारित है।

उनकी बातचीत करने की कुशलता तो बहुत ही अनोखी थी। राजनीति, साहित्य, धर्म और उद्योग किसी विषय पर चर्चा कीजिये, उनकी सरल मुहावरेदार बातें सुनते ही बनती थी। श्रोता मंत्रमुग्ध होकर घंटों उनकी बात सुनते रहते थे। अपने व्यंग्य तथा परिहास, सूझबूझ और अन्योक्तियों तथा अपनी स्पष्टवादिता और संलाप-कुशलता से वे अनेकों गण्यमान्य लोगों को अपना घनिष्ठतम मित्र या विकटतम शत्रु बना लेते थे। और फिर तो उनके साथ हुए अपने अनुभवों की चर्चा में उन्हें सुख मिलता था। बालकों की सी सरलता से वे उन मनोरंजक बातों को दुहराते थे। एक बार सब से मीठी वस्तु का नाम देने के लिए उन्होंने पुरस्कार घोषित किया था और 'परनिन्दा' नामक उत्तर देने पर व्यक्तिविशेष को पुरस्कृत किया था। वस्तुतः यह पुरस्कार लोगों की इस प्रवृत्ति पर तीखा व्यंग था।

दियरा राज्य (सुलतानपुर) से उनका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस राज्य के तत्कालीन मैनेजर (और राजा के अनुज) पंडित जी के प्रशंसकों में थे। बाद में कुछ दिनों तक इनके सुपुत्र राजकुमार के प्राइवेट सेक्रेटरी भी थे। राज-माता भी त्रिपाठी जी का बहुत सम्मान करती थीं। इस राज्य ने पंडित जी को जयसिंहपुर तथा सुलतानपुर की भूमि गुण-ग्राहकता के रूप में प्रदान की थी। पर इस घनिष्ठ सम्पर्क के होते हुए भी त्रिपाठी जी अपने विचारों में पूर्णतः स्वतंत्र रहे। इन्होंने राजावाद का कभी भी समर्थन नहीं किया। समय आने पर उन्होंने राजा दियरा का पूरा विरोध किया। इनके द्वारा निर्मित साहित्य में भी चाहे वह 'पथिक' नामक मौलिक खंड काव्य हो या 'जयंत' नामक नाटक, राजावाद का विरोध स्पष्ट है। त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व की यह निर्भीकता आसाधारण थी। 'पैसा परमेश्वर' नामक बाद के प्रहसनात्मक नाटक में इन्होंने पूंजीपतियों के 'पैसावाद' के विरुद्ध तीव्र व्यंग्य किया। व्यक्तिगत मित्रता के कारण उन्होंने अपने प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों को कभी नहीं ठुकराया। आदरणीय जमनालाल बज़ाज़, नेवटिया या बिड़ला-बंधु जैसे प्रख्यात प्रगतिशील व्यवसायी या दियरा राज्य जैसे अवध के ज़मींदारों से उनकी मित्रता बनी रही और वे निरंतर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रतीक भी बने रहे।

तुच्छ बुद्धि या महत्वाकांक्षाहीन व्यक्ति को वे सहन नहीं कर सकते थे। अपेक्षाकृत प्रतिभाशाली युवक भी जब पिटे-पिटाये मार्ग पर चलते थे तो उन्हें आश्चर्य और दुःख होता था। प्रस्तुत लेखक जब एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ तो त्रिपाठी जी उसे व्यवसाय में लगाना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि पहले किसी व्यवसायी के सेक्रेटरी के रूप में काम किया जाय और व्यवसाय की रीति-नीति को समझा जाय, फिर स्वतंत्र रूप से व्यवसाय संगठित किया जाय। अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रसिद्ध कवि और लेखक श्री आनन्दकुमार को भी वे सफल व्यवसायी के रूप में देखना चाहते थे। पर जब उनके आभिभावकत्व में शिक्षित प्रस्तुत लेखक ने एक डिग्री कालेज में सहायक प्राध्यापक होना स्वीकार कर लिया तो त्रिपाठी जी ने मर्माहत होकर लिखा—

"आखिर तुम भी उसी मोरी में जा घुसे। सच है "श्रेयांस्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनिष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोमयावहः।" व्यवसाय को भयंकर परधर्म मान कर आजीवन अपेक्षाकृत विपन्न रहने की मेरी योजना को पंडित जी समझ नहीं सकते थे। कालान्तर में मेरी बात से वे संतुष्ट हो गये थे।

विचार और कर्म की दृढ़ता के बावजूद उनके व्यक्तित्व में पूर्ण निरभिमानता थी। गीता के कर्म के सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने आदमी की निमित्त मात्र होने की बात अपनी अनुपम ग्रामीण उपमा के साथ अपने एक पत्र की निम्न पंक्तियों में व्यक्त की थी—

"आदमी तो भगवान के हाथ का चिमटा है, वह उससे चाहे पूरियां निकाले चाहे भौरी सेंके। चिमटे को क्या अभिमान ? कोई शक्ति मनुष्य के पीछे है जो टार्च दिखाकर उसका मार्ग निर्दिष्ट करती है। दिन भी गोरे रंग का अंधकार ही है, जैसे काले रंग के हब्शी और गोरे रंग के

अंग्रेज़ दोनों ही आदमी हैं वैसे ही रात और दिन दोनों अंधकार ही है। दोनों समयों में प्रकाश की जरूरत है। जिस पर भगवान कृपालु होते हैं उसे वे दिन में भी प्रकाश दिखा देते हैं।"

३ मार्च ५७ को पंडित जी ने यह प्रेरक पत्र प्रस्तुत लेखक को न्यूयार्क (अमरीका) भेजा था। इस पत्र में उनका स्वयं का जीवन-दर्शन व्यक्त है। भगवान ने राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव में पंडित जी के माध्यम से हिन्दी भाषी जनता में राष्ट्रीयता, त्याग और उद्योग की भावना भरी। कितने ही नवयुवक जो उनके या उनके साहित्य के निकट संपर्क में आये, इस चेतना से प्रभावित हुए।

उनकी सद्भावना या उनका आशीर्वचन भविष्यवाणी बन जाता था। जब मैंने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की तो उन्होंने लिखा—

"तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है।" उनका यह आशीर्वाद मेरे लिये आजीवन प्रेरक बना रहा और बाद में तो इस प्रेरणा को और सबल और स्नेहपूर्ण शब्दों में उन्होंने लिखा "तुम पर भगवान की कृपा है, वे तुमसे अभी बहुत काम लेंगे, तुमको तैयार कर रहे हैं।" उनके ये शब्द किसी भी नवयुवक या नवयुवती में धर्म और कर्तव्य की भावना भरने के लिए पर्याप्त हैं।

राजनीति पर उनके विचार बहुत निर्भीक और मौलिक थे, उनकी उपमायें तो अद्भुत थीं—

"यह चुनाव रोचक कार्य है। जनता सूप लेकर सबको पछोर डालती है। पहला चुनाव हँसी मजाक का था। इस बार चुनाव गहराई में उतर गया है और जनता सोचने लगी है कि यह उसी के लाभ का काम है।"

पर इतने सफल लेखक, कवि, व्यवसायी और नेता के जीवन के अंतिम दिन अपेक्षाकृत दुखद रहे। यद्यपि वे इनसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने प्रस्तुत लेखक से भी यह मनोभाव व्यक्त किया था—

"अब इलाहाबाद रहने लगा हूं। वसन्त-निवास बाग और बंगला रेलवे में चला गया है। मुआविजे का रुपया मिले तो विचार है कि गंगा-तट पर कुटी बना कर उसी में शेष आयु बिता दूँ।"

उनकी कुटी बनाने की इच्छा तो पूरी न हो सकी, पर प्रयाग पहुंच कर ही उन्होंने अंतिम सांस ली। प्रयाग ही उनकी लीलाभूमि रही थी और यद्यपि इन्होंने बहुत पहले साहित्य से वाण-प्रस्थ लेकर इलाहाबाद छोड़ दिया था पर यहां पहुंच कर ही वे लीलाधाम को पधारे।

हो सकता है कि साहित्य-क्षेत्र में वे उच्चतम माध्यमिक श्रेणी तक ही पहुंचे, पर जीवन की समग्रता में त्रिपाठी जी के समान तत्कालीन साहित्यिकों में से शायद ही कोई पहुंच सका हो।

उनका यह आशीर्वाद जो उन्होंने लेखक को उसके प्रवास के अध्ययन-काल में दिया था देश के अनेक नवयुवकों के लिए प्रकाशस्तंभ का काम करेगा—"खूब मनोयोग से ज्ञानार्जन करो, यशस्वी होकर स्वदेश लौटो। समाज-सेवा करो और जीवन सफल बनाओ।"

डॉक्टर कृष्णदेव उपाध्याय

पंडित रामनरेश त्रिपाठी : एक संस्मरण

१५ अगस्त सन् १९५७! उत्तर प्रदेशीय सरकार ने उन दिनों सूचना विभाग के अन्तर्गत एक लोक-साहित्य-समिति की स्थापना कर रखी थी जिसका उद्देश्य था इस प्रदेश के विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं का संग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन। इस समिति के मन्त्री थे पं० विद्यानिवास मिश्र। मिश्र जी के उद्योग से उपर्युक्त तिथि को उत्तर प्रदेश के लोकसाहित्य-शास्त्रियों की एक सभा अथवा गोष्ठी आयोजित की गई थी जिसमें एक विनम्र लोकसाहित्य-सेवी होने के नाते मुझे भी निमंत्रित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस गोष्ठी में अनेक सुप्रसिद्ध विद्वान् उपस्थित थे जिनमें डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, समिति के अध्यक्ष पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी आदि के नाम मुख्य हैं। इसी अवसर पर मुझे पं० रामनरेश त्रिपाठी के प्रथम परन्तु साथ ही अन्तिम दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

अपने जीवन के यौवन काल में, अपनी लोकसाहित्य संबंधी सेवा के उषाकाल में, त्रिपाठी जी का नाम बहुत सुन रखा था। इनकी 'कविता कौमुदी' (ग्राम-गीत) को भी पढ़ने का अवसर मिला था जिसमें उन्होंने अपनी लोक-गीत-संग्रह संबंधी यात्राओं की असुविधाओं तथा कठिनाइयों का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में किया है। उस वर्णन को पढ़ कर मन में उस व्यक्ति के दर्शन करने की इच्छा जाग पड़ी जिसने जनता के उपेक्षित साहित्य की रक्षा के लिए इतनी घोर तपस्या की है। बार बार जी में यह बात आती थी कि इस महान् लोकसाहित्य-सेवी के दर्शन कर अपने जीवन को सफल बनाऊँ।

मेरे सौभाग्य से यह सुवर्ण अवसर उक्त गोष्ठी में प्राप्त हो गया। वहाँ मैंने देखा कि एक वृद्ध व्यक्ति खद्दर के श्वेत तथा स्वच्छ वस्त्रों को धारण किये हुए गंभीर मुद्रा में बैठे हुए हैं। "यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति।" उस भव्य आकृति को देख कर मैंने अनुमान किया कि निश्चय ही यह त्रिपाठी जी ही होंगे। परन्तु उस महान् साहित्य-सेवी के पास जाकर अपना परिचय देने की हिम्मत नहीं हुई। मेरा स्वभाव यों ही संकोची है फिर सभा-समितियों में जाकर, दूसरे विद्वानों से हाथ मिला कर अपना परिचय देने अथवा आत्म-विज्ञापन करने की मेरी आदत ही नहीं है। अतः मैं चुपचाप बैठा हुआ था। परन्तु चाहता अवश्य था कि त्रिपाठी जी से बातें करने का कोई अवसर मिल जाये। त्रिपाठी जी के सामने पान की तश्तरी रखी हुई थी जो उनके स्वागत के लिए प्रस्तुत की गई थी। उस पान की तश्तरी को धीरे से उठा कर पूज्य त्रिपाठी जी ने बड़े मधुर

स्वर में कहा "उपाध्याय जी, पान लीजिए।" मैं इन शब्दों को सुन कर अवाक् रह गया। जिस महान् व्यक्ति से बातें करने के लिए मैं लालायित था वह स्वयं पान की तश्तरी उठा कर मुझसे लेने के लिए कहे इससे अधिक सौभाग्य की बात क्या हो सकती थी? नैषधीय चरित के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष ने इस बात को बड़े गर्व के साथ लिखा है कि उन्हें महाराजा जयचन्द्र के दरबार में आसन और दो बीड़ा पान मिला करता था—

"ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते,
यः कान्यकुब्जेश्वरात् ।।"

त्रिपाठी जी के हाथों से दो बीड़ा पान को प्राप्त कर मुझे भी कुछ कुछ ऐसे ही गर्व तथा सम्मान का अनुभव हुआ। यों बनारसी पान को छोड़ कर मुझे दूसरे पान को खाने की इच्छा नहीं होती परन्तु त्रिपाठी जी के हाथों से दिया हुआ ताम्बूल पान नहीं बल्कि प्रसाद था। अतः मैंने उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा कि, "आपने इतना कष्ट क्यों किया।" फिर त्रिपाठी जी ने समाचार पूछा और लोक-गीतों के संग्रह के संबंध में चर्चा करने लगे। वे इस तरह से प्रेम तथा घनिष्ठता से बातें कर रहे थे मानो वे मुझे बहुत दिनों से जानते हों। बातचीत के सिलसिले में आशीर्वादात्मक रूप से उन्होंने कहा कि अब आप लोग लोकसाहित्य के कार्य को आगे बढ़ाइए यही मेरी इच्छा है। त्रिपाठी जी की भव्य आकृति, सरल व्यक्तित्व, सहज स्नेह तथा मधुर वार्तालाप से मैं बड़ा ही प्रभावित हुआ। यद्यपि इस अवसर पर अनेक धुँआधार भाषण हुए परन्तु उनका मेरे हृदय पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि लोकसाहित्य के इस अग्रणी विद्वान् का। त्रिपाठी जी ने इस गोष्ठी में उस हृदयस्पर्शी घटना का वर्णन किया जिसके कारण वे लोक-गीतों के संग्रह की ओर आकृष्ट हुए थे और उस मार्मिक गीत "रेलिया सवतिया मोर पिया लेके भागी" को भी सुनाने की कृपा की जिसकी चारुता से वे चमत्कृत हो उठे थे।

* * *

अक्टूबर सन् १९५८ ई० में कुछ मित्रों की सहायता से प्रयाग में अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन को आयोजित करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इस अवसर पर लोक-साहित्य-सेवियों के सेनानी, पं० रामनरेश त्रिपाठी को भी मैंने उस सम्मेलन में उपस्थित होने के लिये निमंत्रित किया और उन्हें लिखा कि आपकी उपस्थिति से सम्मेलन अपने को धन्य समझेगा। त्रिपाठी जी ने इस पत्र का जो उत्तर दिया उसकी प्रत्येक पंक्ति से लोक-साहित्य के प्रति उनका अटूट अनुराग और अविचल आस्था दिखाई पड़ती है। वह अपने पत्र में लिखते हैं—

कोइरीपुर
२०-७-५८

प्रिय उपाध्याय जी,

सप्रेम नमस्कार।

आपका १५-७-५८ का पत्र प्राप्त हुआ। धन्यवाद। यह जान कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप प्रयाग में आगामी अक्टूबर मास में 'लोक-संस्कृति सम्मेलन' का आयोजन करने जा

रहे हैं जिसका उद्देश्य ग्राम-साहित्य की रक्षा करना तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करना है। मैं इस सम्मेलन में, यदि मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहा तो, अवश्य ही सम्मिलित हूँगा। ग्राम-गीतों तथा कथाओं का संकलन संगठित रूप से होना चाहिए। मेरी बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि ऐसी किसी संस्था की स्थापना की जाय जो ग्राम-साहित्य के संकलन तथा संरक्षण के कार्य को सुचारु रूप से कर सके। यह प्रसन्नता का विषय है कि आप लोक-संस्कृति सम्मेलन के द्वारा मेरे स्वप्न को साकार रूप प्रदान कर रहे हैं। सम्मेलन का विस्तृत कार्यक्रम यथाशीघ्र भेजने की कृपा करेंगे।

भवदीय
रामनरेश त्रिपाठी

इस पत्र से स्पष्ट पता चलता है कि त्रिपाठी जी को लोकसाहित्य के संरक्षण का कार्य कितना प्रिय था। उनके जीवन की यह इच्छा थी कि कोई ऐसी संस्था स्थापित की जाय जो इस कार्य को सुचारु रूप से संचालित कर सके। लोकसाहित्य-सम्मेलन द्वारा उनकी इच्छा की पूर्ति होते देख कर वे बहुत प्रसन्न हुए थे।

लोकसाहित्य के विद्वान् होने के अतिरिक्त त्रिपाठी जी हिन्दी के कट्टर पक्षपाती थे। जिस व्यक्ति ने हिन्दी की ही सेवा में अपना जीवन खपा दिया हो उसके लिए यह स्वाभाविक ही है। सभी सार्वजनिक कार्यों में वे हिन्दी के पूर्णतया प्रचार तथा प्रयोग के समर्थक थे और इस विषय में किसी भी शर्त पर समझौता करना नहीं जानते थे। लोक-संस्कृति सम्मेलन का रूप अखिल भारतीय होने के कारण विद्वानों के लिए निमंत्रण पत्र हिन्दी तथा अंग्रेज़ी दोनों ही भाषाओं में छापे गये थे जिससे अहिन्दी प्रान्त के विद्वानों को किसी प्रकार की असुविधा या आपत्ति न होने पाये। सम्मेलन के कार्यालय की गलती से त्रिपाठी जी के पास जल्दी में, अंग्रेज़ी में छपा हुआ निमन्त्रण-पत्र चला गया। उन्होंने इसे हिन्दी का अपमान समझा और सम्मेलन के प्रबंधकों पर बहुत क्रुद्ध हो गये। संभवतः उनको यह ज्ञात नहीं था कि निमन्त्रण-पत्र हिन्दी में भी छापे गये हैं। वे सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए जौनपुर से इलाहाबाद आये। प्रयाग में तीन दिनों तक ठहरे भी रहे परन्तु अपनी उपस्थिति से सम्मेलन को कृतार्थ करने की कृपा नहीं की। यह हमारा दुर्भाग्य था और कुछ नहीं। वे बड़े ही दृढ़ निश्चय के व्यक्ति थे। जब एक बार उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि सम्मेलन में नहीं जाऊँगा तब हम लोगों के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आये। यह था उनका दृढ़ निश्चय और यह थी उनकी अविचल हिन्दी निष्ठा ! !

इन्हीं दिनों में एक घटना और घटी जिससे त्रिपाठी जी का हिन्दी के प्रति कट्टर पक्षपात तथा अटूट आस्था का पता चलता है। अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन का अधिवेशन जब समाप्त हो गया तब सम्मेलन के मंत्री की हैसियत से मैंने उसकी रिपोर्ट लिखी। यह समझ कर कि इस रिपोर्ट को भारत के तथा विदेश के भी लोक-साहित्य के विद्वानों के पास भेजना है और सम्मेलन का विवरण मैंने अंग्रेज़ी में लिख कर प्रकाशित किया। सम्मेलन की गतिविधि

से त्रिपाठी जी को परिचित कराने के लिए मैंने उसकी एक प्रति उनकी सेवा में भी भेज दी। अंग्रेज़ी में लिखी इस रिपोर्ट को देख कर त्रिपाठी जी बहुत ही नाराज़ हुए और उन्होंने अपने पत्र में मुझे लिखा कि "मैंने आपकी रिपोर्ट को बिना पढ़े ही रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। आपको हिन्दी में रिपोर्ट लिखनी चाहिए थी। अंग्रेजी की दासता से अब हमें मुक्त होना चाहिए। यदि संविधान में स्वीकृत चौदह भाषाओं में भी यह रिपोर्ट लिखी जाती तो भी मैं उसका स्वागत करता परन्तु अंग्रेज़ी में लिखी होने के कारण यह मुझे स्वीकार नहीं है। आदि।" लोक संस्कृति सम्मेलन के अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित करने के कारण तथा इस रिपोर्ट को विदेशों में भी भेजने के लिए इसका प्रकाशन हिन्दी में उचित नहीं होता और आर्थिक कठिनाइयों के कारण भारत की प्रधान १४ भाषाओं में इसका प्रकाशन संभव नहीं था, इन बातों को मैंने त्रिपाठी जी की सेवा में निवेदन किया परन्तु उन्होंने मेरी दलीलों को उचित नहीं समझा और बार बार हिन्दी पर ही जोर देते रहे।

यह घटना तो बहुत छोटी है परन्तु त्रिपाठी जी के हृदय में हिन्दी के प्रति कितना अनुराग, कितनी निष्ठा थी इससे इसका स्पष्ट पता चलता है। आज कितने हिन्दी के कवि और लेखक हैं जिनके अन्तःस्तल में राष्ट्रभाषा के प्रति इतना स्नेह है, इतना मोह है। इसके बाद बम्बई तथा उज्जैन में आयोजित अखिल भारतीय लोक-संस्कृति सम्मेलन की रिपोर्ट उनकी सेवा में भेजने की मेरी हिम्मत ही नहीं हुई।

मेरी यह बड़ी अभिलाषा थी कि पं० रामनरेश त्रिपाठी को लोक-संस्कृति सम्मेलन का सभापति बनाया जाय। इससे सम्मेलन की ही प्रतिष्ठा बढ़ती परन्तु कई कारणों से इस इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकी। जब उस दिन अचानक मैंने सुना कि इलाहाबाद में हृदय की गति रुक जाने से त्रिपाठी जी––जो 'सरस्वती' पत्रिका के हीरक-जयन्ती में सम्मिलित होने के लिए प्रयाग पधारे हुए थे––का देहावसान हो गया तो आँखों में आँसू आ गये। हृदय मसोस कर रह गया। जब सोचता हूँ कि हम लोगों ने इस मनीषी का कुछ सम्मान नहीं किया तो हृदय को बड़ा कष्ट होता है। उनके निधन से वास्तव में लोकसाहित्य तथा हिन्दी साहित्य की बड़ी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होनी संभव नहीं है। लोकसाहित्य के क्षेत्र में जो कार्य गुजरात में श्री झवेरचन्द्र मेघाणी ने तथा बंगाल में डा० दिनेशचन्द्र सेन ने किया, उत्तर प्रदेश में पंडित रामनरेश त्रिपाठी का कार्य उनसे कम महत्वपूर्ण नहीं है।



डॉक्टर सत्या गुप्त

आधुनिक हिन्दी में लोक-साहित्य के निर्माता

लोक-साहित्य की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय पंडित रामनरेश त्रिपाठी को ही प्राप्त है। निरंतर पांच वर्षों (१९२५-१९३०) तक अथक परिश्रम करने के पश्चात् लोकसाहित्य का जितना संकलन उन्होंने किया वह अद्वितीय है। उत्तर-प्रदेश के लोक-साहित्य का तो उन्होंने संग्रह किया ही साथ ही काश्मीरी, पठानी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, मालवी, भीलों से संबंधित, मराठी, कन्नड़, मलियाली, तमिल, तेलगु, उड़िया, संथाली, बंगाली, आसामी आदि के लोकगीतों का भी उसी लगन के साथ संकलन किया। इस अनुष्ठान के लिये उन्हें प्रत्येक प्रदेश के ग्राम-ग्राम की परिक्रमा करनी पड़ी। १९५५ में जब मैं उनसे अपने शोधकार्य के संबंध में मिली तो उन्होंने संकलन-काल में आने वाली कठिनाइयों के प्रति मुझे पहले से ही सचेत कर दिया। उनके अनुभव से मुझे ज्ञात हुआ कि कई बार उनको ऐसी स्थितियों का सामना भी करना पड़ा जब कि ग्रामीण लोग उनकी छुप छुप कर लिखने की चेष्टा से रुष्ट हो गये और उनको उचक्का और बदमाश तक समझ बैठे। इन व्यावहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त उन्हें भिन्न भिन्न लोक-साहित्य सम्बन्धी भाषा भी सीखनी पड़ी। कहीं कहीं अपने साथ दुभाषिया भी रखना पड़ता था। इस सब में आर्थिक समस्या भी उठ खड़ी होती थी। परन्तु पंडित जी के सन्मुख सदैव "उतिष्ठत् जाग्रतप्राप्य वरान्निबोधत्" का ध्येय रहा। इस सब से वास्तविक हानि यह हुई कि पाँच वर्षों में उनका स्वास्थ्य इतना अधिक खराब हो गया कि अंत तक मधुमेह ने उनका पीछा नहीं छोड़ा।

उनके इस अथक परिश्रम की पृष्ठभूमि में चार प्रधान कारण थे। इन कारणों ने उन्हें हर मूल्य पर इस यज्ञ में निरंतर व्यस्त रखा—

(१) अपने देशवासियों की शिथिल ज्ञान-पिपासा के प्रति विद्रोह। उन्होंने स्वय लिखा है कि "यूरोप के लोग अफ्रीका के मनुष्य-भक्षकों तक के बीच में पहुँच कर उनके रीति-रस्म की खोज में लगे हैं. . . .और हम? हम अपने ही देशवासियों से अपरिचित हैं।"[1]

(२) बढ़ते हुए औद्योगीकरण के कारण मनुष्य के दिमाग में यांत्रिकता आती तथा लोक-संस्कृति और परम्पराओं के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही है। इससे लोकसाहित्य का ह्रास हो रहा है। त्रिपाठी का कथन है—"आटा पीसने वाली चक्की हमारे जाँत के गीतों को भी पीसती जा

---

१. कविता-कौमुदी–(ग्राम-गीत)—रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ १

रही हैं। मदरसे, किसानों, अहीरों, धोबियों और चमारों के गीतों को चुपचाप चाटते जा रहे हैं...और हम चुपचाप बैठे टुकर टुकर ताक रहे हैं।"[२]

(३) लोकसाहित्य की निधि से अनभिज्ञ जनसाधारण आजकल के तथाकथित अश्लील फिल्मी गानों, कव्वालियों की ओर दौड़ रहे हैं। लोक-संस्कृति की महत्ता तथा श्रेष्ठता के प्रति अबोध जनता को सजग करना भी उनका अभीष्ट ध्येय था। उन्होंने एक स्थान पर स्वयं अनुरोध किया है "....लौटो, अपने अन्तःपुरों को लौटो। कस्तूरी-मृग की तरह सुगन्ध-स्रोत की तलाश में कहां फिर रहे हो! स्वर का सच्चा सुख तुम्हारे अन्तःपुर में है।"[३]

(४) लोकगीतों के माधुर्य, मार्मिकता तथा जादू से वे अभिभूत हो उठे थे। लोकोक्तियों, गाथाओं, मुहावरों से उनका ममत्व हो गया था। इसलिये यदि वे चाहते तो भी उनके पग उस ओर बढ़ने से रुक न पाते।

इतने बड़े कार्य को करके उन्होंने नई पीढ़ी को प्रकाश और दिशा दोनों ही दिखाया। वस्तुतः एक नये पथ पर बढ़ने वाले वह प्रथम पुरुष थे इसलिये "पथ-प्रदर्शक" का भार भी उन्हें ही वहन करना पड़ा। आज अनेकों लोग लोकसाहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं।

पंडित जी ने यद्यपि पूरे लोकसाहित्य पर ही कार्य किया है परन्तु उनके ध्यान को विशेषरूप से लोकगीतों ने आकर्षित किया जिसे उन्होंने ग्राम-गीत की संज्ञा दी है। 'ग्राम-गीत' शब्द यद्यपि बहुत ही उपयुक्त लगता है परंतु इनके लिये प्रचलित संज्ञा 'लोकगीत' ही है। इसका कारण यह कहा जा सकता है कि भारत का 'ग्राम' और ग्रामीण भारत का 'लोक' समाज है। 'लोक' शब्द हमारी दृष्टि विस्तृत कर देता है क्योंकि प्रायः दिखाई देता है कि शहरों के बीच रहने वाला कुछ वर्ग ग्रामीण ही है जिसमें अधिक लोकतत्व देखने को मिलता है।

इन ग्राम-गीतों की ओर उनका ध्यान आकर्षित होने का कारण निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) वे ग्राम-गीतों को प्रकृति के उद्गार समझते हैं। उनका विचार है कि प्रकृति जब तरंग में आती है तो गान करती है। वस्तुतः लोकमानव भी औद्योगीकरण का सजातीय न होकर प्रकृति का ही पुत्र है। उसका अभिकार्य प्रकृति का ही अभिकार्य है, दोनों एक दूसरे के माध्यम हैं।

(२) "इनमें अलंकार नहीं, केवल रस हैं। छन्द नहीं, केवल लय है, लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है।"[४] अर्थात् वह बंधन-मुक्त है। प्रकृति की तरह ही मुक्त और शुद्ध है। इसे कविता का उन्मुक्त रूप कहा जाये तो अधिक ठीक होगा। इन गीतों में मैदानी-सरिता के पुलिन नहीं, अपितु पहाड़ से गिरने वाले झरनों की उन्मुक्तता तथा कलकलमय अभिव्यक्ति है। हर 'अनुभूति' बन्धन-मुक्त होकर अपने ही रूप में व्यक्त हो गयी है।

---

२. कविता-कौमुदी—(ग्राम-गीत)—रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ २।
३. कविता-कौमुदी—(ग्राम-गीत)—रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ३।
४. कविता-कौमुदी—(ग्रामगीत)—रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ६९।

(३) लोकगीतकारों के पास वाल्मीकि का हृदय है जिससे लोकगीतकार किसी भी प्रभावमयी घटना से इसी प्रकार मर्माहत हो उठता है जिस तरह वाल्मीकि बोल उठे थे। न वहां मस्तिष्क है और न तर्क। बस एक स्रोत है जो अनायास फट कर बह निकलता है।

(४) किसी भी गीतकार ने कवि बनने के विचार से इनकी रचना नहीं की, जब वह क्षुब्ध हुआ तो उसने भावनाओं को उस रूप में व्यक्त कर दिया और सुखी हुआ तो नाच उठा और तन की थिरकन के साथ शब्द भी निकलते गये। श्रोताओं ने गीतों को कंठस्थ कर एक छोर से दूसरे छोर तक फैला दिया। एक गीतकार का गीत पूरे लोकसमाज की निधि हो गया। कोई रचना किसी की संपत्ति न बन सकी। सब रत्न लोक-समाज के भंडार में सुरक्षित हो गये।

(५) लोकसाहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा लोकगीतों में ही लोक-शब्दों की सबसे अधिक प्रचुरता है। पंडित जी ने लोकगीतों को 'शब्दों की टकसाल' का नाम दिया है। इसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द ध्वन्यात्मकता के अधिक निकट हैं। इनमें प्रबल से प्रबल भावना को अभिव्यक्ति देने की अद्‌भुत शक्ति है। उदाहरण के लिये 'धोख' शब्द का अर्थ पशु-पक्षियों को भगाने के लिये खेतों में बनाई गयी मनुष्य की आकृति से है। यह शब्द 'धोखा' के बहुत निकट है और इसका कार्य भी पशु-पक्षियों के मन में मनुष्य होने का भ्रम उत्पन्न कराना ही है। लोकसाहित्य में ऐसे बहुत से शब्द सुरक्षित हैं जिनका प्रचलन पहले था लेकिन अब नहीं रहा।

इस संबंध में पंडित जी का कथन है "आज हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा का जो रूप हमें दिखाई पड़ता है, वह गाँव की टकसाल का ढला हुआ है। हिन्दी के आदि जन्मदाता गाँव वाले ही हैं। उन्होंने संस्कृत शब्दों को हिन्दी का रूप दिया है, विद्वानों और पंडितों ने नहीं।"[५]

स्थूल रूप से यदि लोकसाहित्य के सब अंगों पर विचार किया जाये तो मानना पड़ेगा कि लोकसमाज का प्रत्येक प्राणी गीतों, कहावतों, मुहावरों तथा नीतिसूक्तों द्वारा एक दूसरे को ज्ञानदान करता है। पंडित जी ने लोक-साहित्य को 'मौखिक विश्व-विद्यालय' की संज्ञा दी तथा उसके प्रत्येक अंग को अपने में पूर्ण इकाई बताया है। परन्तु 'ग्राम-गीतों' के संबंध में पंडित जी का मत है कि अन्य इकाइयों की ही भांति इनमें भी लोक-जीवन सर्वांग रूप में चित्रित हुआ है। प्रत्येक युग की सामाजिक उथल-पुथल, न्याय-व्यवस्था, नैतिक तथा आर्थिक पक्ष, जीवनयापन करने की कला, साधन सहयोगिता, विद्रोह और प्रतिशोध की भावना, रीति-रिवाज, व्यवहारिकता तथा अन्य भावात्मक पक्ष, सुरुचि तथा मार्मिक ढंग से व्यक्त होते हैं।

लोकसाहित्य (विशेषतः लोकगीत) के इन सब पक्षों के स्पष्टीकरण करने के बाद पंडित जी ने लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों की व्यावहारिक कठिनाइयों को भी अपने अनुभव के आधार पर इस रूप में प्रस्तुत किया है—

(१) योरोप की भांति भारत में ग्राम-गीतों के संग्रह के लिये समितियाँ नहीं बन पाई हैं। इस कारण जनसाधारण (उत्तरदाता) इनका महत्त्व नहीं समझ पाते तथा इक्का-दुक्का

---

५. कविता-कौमुदी—(ग्राम-गीत)—रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ५२-५३।

व्यक्ति जो संकलन के लिये जाता है उसे आवश्यक और समुचित सामग्री प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनाई होती है।

(२) संकलन के लिये पूर्ण सुविधा प्राप्त नहीं है जैसे टेपरेकार्डिंग, कैमरा, दुभाषिया आदि। भारत जैसी सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों के गीत पुरुषों को मिलने में असुविधा होती है तथा स्त्रियों को पुरुषों के गीत कठिनाई से मिलते हैं। इसलिये दोनों को ही एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता अपेक्षित है परन्तु यह सब प्रबंध आर्थिक कठिनाइयों के कारण नहीं हो पाता।

इन्हीं सब कारणों से संकलन के जटिल कार्य को वह व्यक्तिगत स्तर पर करने की अपेक्षा सरकार द्वारा किये जाने के पक्ष में थे। उनकी इस धारणा का आधार उनका व्यक्तिगत अनुभव ही कहा जा सकता है। इसका स्पष्टीकरण उनके निम्नलिखित शब्दों में मिलता है—"अब अनुभव हो रहा है कि संग्रह का काम किसी एक व्यक्ति के बूते का नहीं, बल्कि सरकार या अच्छी शक्तिशालिनी किसी संस्था के करने का है।"

उनकी इच्छानुसार इस कार्य को न तो सरकार ने ही अपने हाथ में लिया और न कोई शक्तिशालिनी संस्था का ही निर्माण हो सका परन्तु कुछ उत्साही तथा उसके प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति इस कार्य में लगे हैं। इन सब के लिये पंडित जी प्रेरणा-श्रोत तथा आशीर्वाद देने वाले वयोवृद्ध के रूप में सदैव बने रहेंगे।

° ° °

सूरदास का बाल-चित्रण

हिन्दी साहित्य में बाल-चरित्र के चित्रण में सूरदास की समता का कोई कवि नहीं। तुलसीदास ने भी राम का बाल चरित्र वर्णन किया है, पर सूरदास की सरसता को वे नहीं ला सके। बाल-स्वभाव का हूबहू चित्र खींच देने में सूरदास ने कमाल कर दिया है। बाल-स्वभाव का उन्होंने ऐसा बारीक निरीक्षण किया है कि श्रीकृष्ण की बाल-लीला पढ़ते-पढ़ते संतान वाले माता-पिता उसे अपने ही अनुभव का वर्णन समझ कर उसी में लीन हो जाते हैं। पढ़ते समय स्मृति-पट पर बाल-चरित्र का चित्र देखते हुए यह भूल जाते हैं कि वे सूरदास की कविता पढ़ रहे हैं। यही सूरदास का महाकवित्व है। सूरदास ने इस प्रसंग की भाषा भी बड़ी ही सादी और महावरेदार रखी है।

—रामनरेश त्रिपाठी

('कवि कौमुदी' के एक लेख से)

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी

स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी के कुछ पत्र

यथासम्भव मैं अपने पास आई हुई चिट्ठियों को नष्ट नहीं करता। इसका परिणाम यह हुआ है कि मेरे पास सहस्रों पत्र इकट्ठे हो गये हैं, जिनको छाँट कर व्यवस्थित ढंग पर रख देना मेरे लिये सम्भव नहीं रहा। काफी परिश्रम करने के बाद स्वर्गीय त्रिपाठी जी के ये थोड़े से पत्र मिल पाये हैं। मेरा अनुमान है कि शायद कुछ और भी होंगे।

इन पत्रों से त्रिपाठी जी के स्वभाव, मनोवृत्ति और दृष्टिकोण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनका महत्व इसलिये और भी ज्यादा है कि ये छपाये जाने के ख्याल से नहीं लिखे गये थे। इसी वजह से इनमें सादगी, सरलता और स्वाभाविकता है।

इन पत्रों में कहीं कहीं त्रिपाठी जी ने अच्छी चुटकियाँ ली हैं। अपनी ८।४।५२ की चिट्ठी में उन्होंने (हाथरस में होने वाले ब्रज-साहित्य-मंडल के अधिवेशन में सम्मिलत होने के बाद लौटने पर) मुझे लिखा था—

"हाथरस से मैं तो यह अनुभव लेकर आया हूँ कि चतुवदियों को स्वागत-सत्कार के प्रबन्ध का काम सौंपा ही नहीं जाना चाहिये। यह तो खानेवाली जाति है, खिलाना जानती ही नहीं। स्वागताध्यक्ष के घर में जहाँ मिठाइयाँ रक्खी रही होंगी, सब चतुर्वेदी उसी के आसपास मँडराते रहे होंगे"

जहाँ तक हम जानते हैं उस समय प्रबन्ध समिति में केवल एक ही चतुर्वेदी थे—श्री सुदामा प्रसाद चतुर्वेदी—और बाकी हम लोग तो त्रिपाठी जी की तरह बाहर से आये हुए अतिथि ही थे।

पर यह प्रश्न अब वादविवाद का रहा ही नहीं और हम लोग त्रिपाठी जी के मधुर व्यंग का बड़े मज़े से आनन्द ले सकते हैं।

नीचे हम त्रिपाठी जी के कुछ पत्र दे रहे हैं, इनसे उस महान् साहित्यकार और कवि के व्यक्तित्व, भाषा, सहृदयता और हिन्दी के असीम सेवा-भाव के संबंध में बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

(१)

बम्बई
२६-१-१९४६

प्रिय चतुर्वेदी जी, नमस्कार।

बड़े इंतज़ार के बाद आपका समाचार मिला। आपका भाषण पत्रों में पढ़ा था। रोचक और उपयोगी लगा। आप तो जिधर घूम जाते हैं, उधर ही कस कर चोट करते हैं।

मैं नये चरखे को लेकर बैठा हूँ। ३–४ दिन में अहमदाबाद प्रस देखने जाऊँगा। फिर लौटकर फरवरी के पहले सप्ताह में सुलतानपुर। १५ दिन रहकर फिर यहीं।

यहां सरदी का तो नाम नहीं है। पूस माघ के जाड़े के लिये तरस रहा हूँ। ऊनी कपड़े वेकार पड़े हैं।

अब तो आप जमकर वहीं रहेंगे? या और कोई प्रोग्राम है?

श्री यशपाल जी को और चतुर्वेदी जी को नमस्कार।

भोजपुरी लोकगीत में मेरा ज़िक्र कहीं होगा। हिन्दी वालों में अभी किसी के परिश्रम को स्वीकार करने का साहस नहीं है। गुजराती और मराठी में यह साहस दिखाई पड़ने लगा है।

आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे ही।

मेरी सुभद्रा को मेरा प्यार और आशीर्वाद कहियेगा।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(२)

प्रिय यशपाल जी,

आप और चतुर्वेदी जी हिन्दी ज्ञान मंदिर का कोई काम चुन लें तो मुझे अन्य लेखकों से बात करने में सहूलियत होगी।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(३)

वसंत-निवास, सुलतानपुर
१८-१-४२

प्रिय यशपाल जी,

कार्ड मिला। आप बड़ी अच्छी जगह पहुँच गये। मेरा अनिद्रा रोग अब नहीं रहा। मालवीय जी महाराज का वचन लग गया और चाय से घृणा हो गई। चाय ही तो उस रोग की जननी थी।

सुरती पसन्द आई। हर्ष की बात है। चतुर्वेदी जी को नमस्कार कहियेगा।

मैं अब साहित्यिक न रहकर गृहस्थ हो गया हूँ। मेरा कल आज स्वप्न हो गया है। हिन्दी मन्दिर से अलग हो जाने का स्वागत मेरे शरीर की प्रत्येक नस ने किया है।

आप प्रसन्न होंगे। कभी वहीं मिलेंगे। 'मधुकर' यहीं के पते पर भेजिये।

आपका
रा० न० त्रिपाठी

(४)

प्रयाग
१८-८-३६

प्रिय चतुर्वेदी जी,

अगस्त के 'विशाल भारत' में 'मानस' की जो समालोचना छपी है, उसका उत्तर मैं सितम्बर के अंक में छपाना चाहता हूँ। कृपया उसके लिये कम से कम आठ कालम का स्थान खाली रखिये, आपका उत्तर आते ही लेख भेज दूंगा। लिखा रखा है। कापी हो रही है। आशा है आप अवश्य स्थान देंगे।

आपका
रा० न० त्रिपाठी

(५)

सुलतानपुर
१३-८-३६

प्रिय चतुर्वेदी जी,

एक मित्र के पास 'विशाल भारत' में 'रामचरित मानस' पर श्री वाजपेयी जी की समालोचना पढ़ी, उनकी लेख-शैली पर उतना आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि वे पुराने ढर्रे के समालोचक हैं, जो समालोच्य विषय के आसपास बहुत ही अनावश्यक, अप्रामाणिक और कांटेदार चीज़ें जमा कर देने के अभ्यस्त होते हैं, आश्चर्य हुआ आप पर, कि आप जैसे सावधान संपादक ने एक बेसिर-पैर की समालोचना कैसे छपने दी। आपको श्री वाजपेयी जी के किये हुये संशोधनों के प्रमाण तो मांग ही लेने चाहिये थे। मूल पाठों और अर्थों के जो संशोधन किये हैं, उनके प्रमाण क्या हैं? यह उन्होंने नहीं बताया। खैर, मैं उत्तर प्रयाग पहुँचकर भेजूंगा। आप उसे अगले ही अंक में दीजियेगा।

आपका
रा० न० त्रिपाठी

(६)

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग
१०-१-३४

प्रिय बनारसीदास जी, प्रणाम।

आपके दो पत्र मिले। मेरे यात्रा-वर्णन से अनावश्यक अंश निकाल देने की सम्मति देकर आपने मेरे प्रति जो प्रेमभाव प्रकट किया है, उससे मैं बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ। आपको काटछाँट की पूरी स्वतंत्रता मैं देता हूँ। काटछाँट के बाद, छपने से पहले का प्रूफ यदि आप मुझे दिखला लें तो अच्छा; शायद कोई बात छूट गई हो, या कुछ और घटाना हो तो मैं आपको सूचित कर

सकूं। आपको मैंने लिखा था कि सारा यात्रा-वर्णन चलती ट्रेन की घरघराहट में लिखा गया था, इससे 'मोटी मारवाड़िनों की-सी शिथिलता' तो उसमें सचमुच आ गई होगी। खैर, प्रसन्नता है कि 'मोटी मारवाड़िन' एक योग्य डाक्टर के हाथ लग गई है।

हिप्पोरानी को आप निकाल देना चाहते हैं। आपकी इच्छा, पर उसे कैसे मालूम होगा कि उसका अमुक काम लोकदृष्टि से अनुचित समझा जा रहा है? क्या आप इस तरह क्षमा कर देने में किसी के हित की उपेक्षा नहीं अनुभव करते? मेरे वाक्य आप बदल दीजिये, जिससे यह ध्वनित होता हो कि मैं बदला लेने की नीयत से उसकी निन्दा छपवा रहा हूं। बदला लेने की मेरी निजी नीयत तो नहीं हुई, उसे केवल यह बतलाने की इच्छा है कि उतनी शिक्षा प्राप्त स्त्री में सेवा-भाव भी होना चाहिये और यदि कबीर के और आपके सिद्धान्तानुसार उसने भी मेरे लिये आंगन में कुटी छवा ली तो उसका स्वभाव तो निर्मल हो ही जायगा। फिर भी आपको उसे रखने या न रखने की पूरी स्वतंत्रता है। आप ही मेरे एक विधर मित्र हैं। वसन्त में... . . .. ।

कुमारी पद्मावती के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक प्रशंसा न रखिये। सभाओं में जब आप 'बहनों और भाइयों' कहकर भाषण शरू करते हैं तब तो आपको हज़ारों चचा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। पर मैं वैसा चचा नहीं हूं। सचमुच मैंने कुछ अंश तक पिता का धर्म पालन किया है, जो कभी आपको कु० पद्मावती ही कहेगी या लिखेगी। हृदय में उत्पन्न हुये वात्सल्य को मैंने व्यर्थ नहीं जाने दिया। यों तो मैं भी सब स्त्रियों को बहनें और माताएं कह लिया करता हूं, पर कन्या कहने का साहस मैंने यह पहला ही किया है।

बापू के वाक्य का संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन आप यथेच्छ कर लीजिये।

लाठी और उसके बाद का बड़ा लम्बा चौड़ा वृत्तान्त हो गया है उसे अलग लेख में दूंगा। इसमें से निकाल दीजिये।

काट-छांट कर कुर्ग वाली कविता पर ही लेख को समाप्त हो जाने दीजिये।

बसंत व्याख्यान-माला से मैं पूर्ण सहमत हूं। पर मैं अभी ३ सप्ताह की लंबी यात्रा से लौट रहा हूँ। दूर तक दौड़ने की हिम्मत तो नहीं है। फिर आपका प्रेम तो बहुत बोझ उठा सकता है। वह खींच ही लेगा। प्रोग्राम लिखिये तब मैं ठीक उत्तर दे सकूंगा कि ग्रामगीतों पर भाषण देने आ सकूंगा या नहीं।

आपने लिखा—अगली बसंत पंचमी के बाद—अनेक वर्ष तक इन पंक्तियों के लेखक को किसी पबलिक मीटिंग में न पायेंगे। यह पढ़कर दुःख हुआ। आप बहुत जल्दी प्रभावित हो जाते हैं। संसार की टीका-टिप्पणी तो कभी रोकी ही नहीं जा सकती। ज़ौक का एक शेर मुझे भी याद आ रहा है—

तू भला है तो बुरा हो नहीं सकता ऐ ज़ौक।
है बुरा वह ही कि जो तुझको बुरा जानता है।
और अगर तू ही बुरा है तो वह सच कहता है,
क्यों बुरा कहने से तू उसके बुरा मानता है।

यह शायद मरहम का कुछ का करे। बसन्तोत्सव का लेटर पेपर हज़ार या बारह सौ छपा कर मैं दो महीने में खर्च नहीं कर सकता। अतएव १०० पेपर आप भेज दीजिये। लागत मैं दे दूंगा। बसन्त भर उसी पर मित्रों को पत्र लिखता रहूंगा। डिज़ाइन तो आकर्षक है। भीतर-भीतर आप तो बड़े ही मधुर जान पड़ते हैं।

स्नेही
रामनरेश त्रिपाठी

(७)

प्रिय चतुर्वेदी जी, १५-११-३४

श्री दुलारेलाल जी अभी आये थे। उनसे यह ज्ञात हुआ कि उनकी 'दुलारे दोहावली' के सम्बन्ध में आपने अपने वे विचार जो अक्तूबर के 'विशाल भारत' में निकले हैं बदल दिये और अब नवम्बर के अंक में आप उसकी प्रशंसा छापेंगे। इस अभिप्राय के आपने चार पत्र भी श्री दुलारेलाल जी को लिखे हैं, ऐसा वे कहते हैं।

क्या सचमुच आपके विचार बदल गये ?

आप स्वस्थ और सुखी होंगे। मैं तो ज्वर, खांसी और जुकाम के साथ खाट पर हूं।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(८)

वसंत-निवास, सुलतानपुर
१०-१२-४२

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार।

२०-२५ दिनों से बिछौने पर हूं। पैर के घुटने पर फोड़ा निकला है। बहुत दुःख भोगा। अब तो फोड़ा रास्ते पर है। पड़े-पड़े पुस्तकें पढ़ा करता हूं। फारसी कवि सादी की कुछ सूक्तियां पसंद आईं और साथ ही कुछ और भी याद आईं, उन्हें लिख-लिखवाकर भेजता हूं। 'मधुकर' के पाठकों के लिये उपयोगी हों तो दे दीजिये।

आपके व्यक्तिगत अनुभवों के वर्णन मुझे बहुत प्रिय लगते हैं। जी में आता है कि मैं भी कुछ लिखा करूं। मेरा और आपका रोना करीब-करीब एक-सा है।

आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे ही। 'होंगे' के आगे 'ही' इसलिये लिखता हूं कि जिसे अपना अन्तर्जगत् सूझने लगता है, वह प्रायः सुखी ही रहता है।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(९)

बसंत-निवास, सुलतानपुर
१२-३-४२

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार।

'मधुकर' के शुरू के २४ अंक आपने कृपा करके भिजवाये थे, आजकल उन्हीं में लगा हूं। आपके लेख और शिवसहाय जी की कहानियाँ तो चुन-चुन कर पढ़ रहा हूं। आपके लेखों में प्राय: पोषकतत्व बहुत रहता है। आप तो जो काम हाथ में लेते हैं, उसी में कुछ न कुछ नवीनता, आपकी सुरुचि और पाठकों के कल्याण की भावना निहित रहती है। 'मधुकर' अपने ढंग का हिन्दी में एक ही पत्र है। ग्रामगीतों और ग्रामीण शब्दों के संग्रह का आपका प्रयत्न बहुत ही स्तुत्य है। मैं समझता हूं, इस विषय में भी आप हमें एक नया मार्ग सुझायेंगे।

'मधुकर' के अंक फिर नहीं मिले। मेरा नाम मुफ्तखोरों की सूची से निकाल दिया गया हो तो कृपया वी० पी० से भेजवा दीजियेगा।

कल काशी से लौटा हूं। एक नया विषय लाया हूं। है तो अश्लील पर शोकजनक भी है। लिखकर भेजता हूं। आपके पाठकों के लिये लाभदायक जान पड़े तो 'मधुकर' में दे दीजियेगा।

आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(१०)

बसंत-निवास, सुलतानपुर
२४-४-५२

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार।

ता० २२ का कार्ड मिला। मेरे अपमान की तो बात ही छोड़िये, पंडित हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे सम्मान्य विद्वानों को, जो विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित स्थान से आये थे, मांगने पर रात में पानी तक न मिला और वे बिस्तर बांधकर भाग खड़े हुये, पर फाटक पर पुलिस ने उन्हें निकलने नहीं दिया, क्योंकि वह राष्ट्रपति का फाटक था। यह अपमान साधारण नहीं। मैं हाथरस केवल आपसे मिलने गया था। सोचा था, आपके साथ एक दो दिन रहकर नार्वे में आधी रात के सूर्य की तरह जीवन की रात्रि में साहित्य का कुछ प्रकाश देखूंगा। पर आप तो तीरघाट, मैं मीरघाट। शरीर को साधारण सुविधाओं के न मिलने, बल्कि असुविधाओं ही के अधिक मिलने, का दुःख तो आया और गया,

पर साहित्य-संस्था में साहित्यकारों के प्रति उपेक्षा-भाव देखकर मन को जो दुःख हुआ है, वह चिरायु जान पड़ता है।

आपको मैंने कड़ा पत्र लिखा, जो छटपटा सकता है, उसीको चौंकने में भी तो मज़ा आता है। सत्यार्थी जी का सम्मान अवश्य होना चाहिये। उन्होंने बहुत बड़ा काम किया है। मेरे जीवन की राह में तो लड़कपन में याद किया हुआ एक श्लोक दीपक की तरह आगे आगे चल रहा है। वह यह है—"प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम्। मानं चैव सुरापानं नामं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥" आप सुख से होंगे।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(११)

हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद
२२-२-३४

प्रिय चतुर्वेदी जी,

'विशाल भारत' मिला। मेरा वर्णन कट-छंट कर काफी छोटा हो गया। संशोधन आपने अच्छे किये। धन्यवाद।

यदि सम्पादकीय नियम के विरुद्ध न हो तो मेरा पूरा वर्णन वापस कर दीजिये, उसमें पश्चिम-यात्रा का वर्णन भी है। मैं उसके आधार पर कुछ मसाला और तैयार कर दूंगा। मेरे पास उसकी प्रतिलिपि नहीं है।

क्षमा कीजियेगा, आपके मुंह से अब सत्यनारायण जी का वर्णन सुनते सुनते जी ऊब गया। एक ही विषय को आप कितनी बार अपने पाठकों के दिमाग में ठोंसेंगे ? 'विशाल भारत' के पाठक रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक कहानी के तोता तो हैं नहीं, जिसे शास्त्र की किताबें फाड़ फाड़ कर गोलियां बनाकर खिलाई जाती थीं। सत्यनारायण जी के लिये आपने जो किया और करना चाहते हैं, वह आदर्श है। पर एक ही के पीछे आप इस तरह जूझेंगे तो आप आदर्श नहीं रह जाएंगे। ब्रजभाषा का मरसिया आप अपने सिर क्यों लेते हैं ? न वह कभी जीवित थी, न अब मरेगी। तुलसीदास की अवधी के लिये तो कोई कुछ हल्ला नहीं मचा रहा है। उसी तरह ब्रजभाषा भी जैसी चलती आई है वैसी चलती रहेगी।

मैं कुछ लिख रहा हूं उसके लिये क्षमा कीजियेगा। ऐसी बातें लिखी उसी को जाती हैं, जिससे हम आशा रखते हैं। उपयुक्त पात्र के लिये इस प्रकार की शिकायत उसकी महत्ता की ही द्योतक है।

अगले अंक के लिये एक तुकबंदी भेजता हूं।

. . . .

आपका
रा० न० त्रिपाठी

(१२)

वसंत-निवास, सुलतानपुर
२-२-५२

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार।

आपका २७-१ का कार्ड मिला। लेख पहले ही मिल चुका था। पूरा पढ़ गया हूं। बहुत ही सामयिक और उपयोगी लगा। हम लोगों को मुख द्वारा कुछ कहने की सुविधा तो मिल ही नहीं रही है। अतएव कलम से जो कुछ हो सके, करते रहकर उऋण तो होना ही है। पंडित श्रीराम शर्मा जी को भी कांग्रेस टिकट नहीं मिला, आश्चर्य की बात नहीं। वही कीड़ा वहां जाने पायेगा, जो बड़े कीड़ों को कांग्रेस की लाश में खाने की और जगहें बताता रहे। कांग्रेस के नेताओं की तो बिलकुल मति मारी गई है। चुनाव से उनकी आंखें खुल जानी चाहिएं, पर देखियेगा, खुलेंगी नहीं। एक कांग्रेसी उम्मीदवार को यदि १०० वोट मिल रहे हैं तो उसके विरोधी १० पार्टियों को ९००; इस तरह १०० को ९०० पर विजय दिखाई जा रही है। ऐसी दशा में १०० की रक्षा के लिये पुलिस और फौज की सहायता लेनी पड़ेगी। तब यह सरकार कै दिन टिकेगी? आज कोई नेहरू जी को किसी प्रकार भारत से अलग कर दे तो देखिये, अधिकार के लिये पार्टियां कितना ऊधम मचाती हैं, और कोई बाहरी शक्ति शान्ति-रक्षा के नाम पर देश पर अधिकार कर ले तो बहुत-सी पार्टियां उसके साथ हो जायेंगी। मेरे अनुमान से देश में वर्षों के अंदर एक भयंकर क्रांति होगी।

नेहरू जी को कांग्रेस में नहीं फंसना चाहिये था। पर देहाती मसला है—उतावला स्वभाव, डूबती नाव। यही दिखाई पड़ रहा है।

मैं कृमि-महोत्सव नाम का एक छोटा-सा नाटक लिखने वाला हूं। जिसमें पार्लियामेन्ट का नाम कृमिमंडल और उसकी बैठकों का नाम कृमि-महोत्सव होगा।

मतदान पर अभी-अभी मैंने एक कवित्त लिखा है। आपको सुनाता हूं।—

धर्म के स्वराज में था भूमिदान, गजदान,
हेमदान, गृहदान, प्राणदान, मानदान।
आई बादशाही तो कलमदान, पीकदान,
और कई दान थे कटोरदान, पानदान॥
आये अंगरेज तब दानी गोंददानी रही,
उजड़ रहा था दान-दानियों का खानदान।
आया मतदान अब आंखहीन, हाथहीन,
देते हैं निरक्षर भी पंडितों को ज्ञानदान॥

दान की यह परम्परा आपको प्रिय लगेगी। दान के इस विकृतीकरण का प्रभाव चौबे

लोगों की तोंद पर भी पड़ेगा। सन्त विनोबा का भूमिदान-यज्ञ मुझे प्रिय लगा। यह एक रचनात्मक काम है, इससे देश की ज्वाला शांत होगी।

"पृथिवीपुत्र' का अंग्रेज़ी अनुवाद शायद शेरिफ साहब ने विलायत में किया है। दो पृष्ठ उसके आये थे। हिन्दी का तो मैंने नहीं पढ़ा। मिलेगी तो पढ़ लूंगा।

एक लेख अपनी टिकट-यात्रा सम्बन्धी और लिखना है। उसमें दिल्ली और लखनऊ में जो कहानियां सुनने को मिलीं, उन्हें एकत्र कर दूंगा। उन कहानियों से कम से कम उपन्यासकारों की पूंजी तो बढ़ ही जायगी।

आपने अन्तर्जनपदीय परिषद् स्थगित कर दी, ठीक है। कृष्ण कन्हैया का अब वह ब्रज नहीं रहा। अब मालवीय-पुरी का ही भरोसा रखना होगा।

आप क्या अब फिर टीकमगढ़ चले गये? सुना था फीरोज़ाबाद चले आये थे? सुख से होंगे।

आपका

रा० न० त्रिपाठी

(१३)

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

ता० २२-८-३६

प्रियवर चतुर्वेदी जी,

आपका कार्ड मिला। आप अपने छोटे भाई की बीमारी के कारण छुट्टी पर थे, और आपकी अनुपस्थिति में 'विशाल भारत' का अगस्त का अंक निकल गया। इसे पढ़कर बहुत संतोष हुआ क्योंकि आपके संबंध की मेरी भावना फिर पूर्ववत् हो गई। इतना तो आप स्वीकार कर ही लेंगे कि एक ज़िम्मेदार सम्पादक की अनुपस्थिति में उसके कौतूहल-प्रिय सहकारी संपादक कहां तक खतरनाक हो सकते हैं।

वाजपेयी जी की समालोचना का उत्तर मैंने आज 'भारत-सम्पादक' को प्रकाशित करने के लिये दे दिया है। वह मंगलवार के अंक में संभवतः निकल जायगा। मैं उसे आप ही को प्रकाशित करने के लिये देता, पर एक तो बहुत बड़ा है, दूसरे 'विशाल भारत' को तू तू मैं मैं का क्षेत्र नहीं बनाना चाहता। वह जनता की अच्छी सेवा कर रहा है। उतने स्थान में आप कोई अधिक उपयोगी लेख दे देंगे, जिससे मुझे अधिक संतोष होगा। केवल अपने लिये मैं उसका स्थान रोकना नहीं चाहता। आप चाहें तो मेरे उत्तर का प्रत्युत्तर प्रकाशित कर सकते हैं।

उत्तर छापने में मैंने जल्दी क्यों की? इसका उत्तर तो आप पूछ ही सकते हैं। वह यह है कि वाजपेयी जी की समालोचना अभी अपूर्ण है। पता नहीं, सितम्बर के अंक में वे और क्या क्या दे रहे हैं। अतएव साहित्यिक जनता को वे गुमराह न कर सकें और वह मेरे सम्बन्ध में कोई गलत राय न कायम कर लें, इससे जल्द से जल्द उत्तर देना मेरे लिये अनिवार्य हो गया। आपका कार्ड पाकर मैंने अपने उत्तर का कुछ अंश काट डाला, जिससे आपका संबंध था। फ़िर भी सम्पादक

'विशाल-भारत' के लिये उसमें कुछ अप्रिय बातें रह गई हैं, जो यदि उचित हो तो उसका विक्षोभ आपको अपने स्टाफ पर उतारना चाहिये जो आपके और 'विशाल भारत' के गौरव की रक्षा नहीं कर सका।

आशा है, आपके छोटे भाई अब स्वस्थ होंगे और आप सुख से होंगे।

आपका

रा० न० त्रिपाठी

(१४)

बसंत-निवास, सुलतानपुर

२०-७-४२

प्रिय चतुर्वेदी जी,

आपके १५-३-४२ के पत्र की पहुंच और उत्तर आज जा रहा है। चकित न होइयेगा। कुछ तो आपने बाली द्वीप के निवासियों के किसी वर्णन का हिन्दी अनुवाद भेजने को लिखा था, उसकी प्रतीक्षा थी और कुछ मैं टालता भी था कि लिखने का कोई काम जितनी ही देर में आवे, उतना ही अच्छा है। आजकल कुदाल, कैंची, आरी, छुरी, और खुरपी की मिठास कलम की मिठास से बढ़ गई है। बचा हुआ समय सिर्फ पढ़ने में लगाता हूं। लिखने का काम सिर्फ़ ज़रूरी चिट्ठियों के उत्तर देने तक सीमित कर रक्खा है। मैंने तो सच्ची करवट बदल ली है और अब अनुभव करने लगा हूं कि उद्यान साहित्य के बिलकुल बग़ल का क्षेत्र है। अब बहुत से पौधों, पुष्पों और लताओं के जीवन से परिचय हो गया है और यह देखकर दुःख होता है कि हमारे हिन्दी के कवि कमरे के अन्दर बैठकर उनके सम्बन्ध में बहुत ग़लत-सलत लिख गये हैं। जैसे, एक कवि ने लिखा है—

फूलन दे अब टेसू कदंबन अंबन बौरन आवन दे री
आवत ही बनिहै घर कंतहि बीर बसंतहि आवन दे री।

बसंत में कदंब नहीं फूलता। छायावादी कवियों ने तो और भी उपहासास्पद प्रयोग किये हैं। एक प्रसिद्ध कवि ने अपनी नायिका के गले में एक माला पहनाई है, जिसमें एक फूल चैत्र में फूलने वाला लगा है, एक सावन का और एक कातिक का। एक दूसरे कवि ने अनेक फूलों के साथ मधूक की माला भी एक युवती को पहना दी है। मैंने उनसे मधूक का परिचय पूछा तो उन्होंने कहा—एक बहुत सुन्दर और सुगंधित फूल होता है। अमरकोष में (पुष्पविशेष) लिखा है, वही उनकी पूंजी थी। मैंने जब उनको बताया कि मधूक तो महुवे को कहते हैं, तब वे बहुत ही अप्रतिभ हुये। हमारे कवियों को प्रकृति का वास्तविक ज्ञान बहुत कम है। संस्कृत कवियों को हमसे बहुत अधिक ज्ञान था। कालिदास ने मेघदूत में स्थान-स्थान पर लिखा है कि अमुक पुष्प में कलियां आई होंगी, अमुक फूल में पूरा विकास हुआ होगा। उनका कथन बिलकुल सच दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है, पुष्पों और लताओं के जीवन से वे पूर्ण परिचित थे।

कल श्री यशपाल जी का पत्र मिला। इसी ऊपर के विषय पर मैं 'दूसरी करवट' शीर्षक एक लेख 'मधुकर' के लिये लिखने की बात सोच रहा था, पर आज एक बंडल खोलने पर देवीदास के कवित्त मिल गये, मैंने देवीदास ही को प्रकाश में लाना ज़रूरी समझ लिया और वही लिख कर भेजता हूं। हिन्दी के इतिहासकारों ने देवीदास का तो शायद ज़िक्र तक नहीं किया है। मुझे तो ये एक सिद्ध कवि जान पड़े। आपको कैसे लगे, लिखियेगा।

अभी दो कन्याओं के विवाह की चिंता में ग्रस्त हूं। अगले माघ, फागुन तक उनसे निवृत्ति मिल जाने पर फिर तो यात्रा ही यात्रा की बात मेरे मन में है।

इसी महीने के अन्त तक बम्बई जाने का विचार है। वहां दो सप्ताह तक रहने का विचार है। टीकमगढ़ रास्ते में पड़ सकता तो वापसी में उधर होकर आता। वर्धा भी जाना है।

आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

आपका
रा० न० त्रिपाठी

(१५)

हिन्दी-मन्दिर, इलाहाबाद
१४-४-३४

प्रिय चतुर्वेदी जी,

सादर प्रणाम।

कृपा पत्र के लिये धन्यवाद। 'विशाल भारत' में आपकी ज़ोरदार टिप्पणी आपका पत्र आने के पहले ही मैंने पढ़ ली थी। आपने बहुत अच्छा लिखा है। दृढ़ विचारों को संयत भाषा में प्रकट करने की आपकी क्षमता और शैली मुझे बहुत ही प्रिय लगती है।

आपकी सम्मति का मूल्य मैं ठीक आंकना जानता हूँ। आपने मेरे पहले नाटक के सम्बन्ध में जो लिखा है वह, सचमुच 'पथिक' के रचियता के उपयुक्त है। पर मनुष्य-स्वभाव इतने भिन्न-भिन्न रसों का मिश्रण है कि सब स्वभावों को एक ही आदर्श की ओर हांक ले चलना या खींच लेना असंभव है। आदर्श तो सब प्रकार के रसों में उपस्थित किया जा सकता है और किया जाना चाहिये भी। मेरी राय में लेखक और कवि को प्रत्येक रस के प्रदेश में अपने विचारों की धारा बहानी चाहिये, ताकि सब रसों के लोग उसमें आनंद लाभ करें और जीवन को आदर्श की तरफ ले जायें।

सत्यार्थी जी तो मेरे हृदय-प्रदेश के निवासी हैं। उनकी मनोहर और प्रेम से सजीव मूर्ति का दर्शन मुझे देहरादून में अभी पिछले ही महीने हुआ था। वे आपके पास ही हैं, यह जानकर आपसे रश्क हो रहा है। वे ब्रज के गीत जमा करने वाले हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई। प्रेम की धारा जो गीतों में प्रवाहित है, उसका अधिकांश ब्रज ही से फूट निकला है।

आपको ग्रामगीतों की ओर झुकने का अवकाश तो मिला। इतना ही धन्यवाद के लिये काफी है। आप जो कुछ लिखेंगे उसका तो कहना ही क्या ?

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(१६)

हिन्दी-मन्दिर, इलाहाबाद
२१-४-३४

प्रिय चतुर्वेदी जी,

'अभ्युदय' में किसी 'दाक्षिणात्य' की दुष्ट-बुद्धि का चमत्कार आपने देखा होगा। आप पर भी काफी छींटे हैं। अपने सम्बन्ध में तो मैं कह सकता हूँ कि मुझे मदरास में सूर, कबीर और तुलसी के सम्बन्ध में कुछ कहने सुनने का समय ही न मिला। समय मिलता भी तो मैं वैसे विचार उनके सम्बन्ध में रखता ही नहीं, जैसा 'अभ्युदय' में छपा है और न सुदूर-दक्षिण प्रान्त में वैसे विचारों के प्रकट करने की मैं आवश्यकता ही समझता हूँ। मुझ पर यह भी आक्षेप किया गया है कि मैंने अपने वर्तमान हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में भी कुछ कहा है। यह बिल्कुल गलत है। जिन कवियों के सम्बन्ध में अपनी कविता-कौमुदी के दूसरे भाग में मैं अच्छे विचार लिख चुका हूँ, उनके सम्बन्ध में मैं ज़बानी कुछ और कहता फिरूँ, यह एक अत्यन्त घृणित बात है। यदि ऐसा ही रहा तो, उत्तर भारत से दक्षिण जाने वाले हर एक व्यक्ति का सम्मान खतरे में हैं। क्योंकि वहाँ के 'दाक्षिणात्य' न जाने क्या क्या लिख लिख कर भेज दें और 'अभ्युदय' ऐसे पत्र, जो गाली देने ही में अपना गौरव समझते हैं, छाप दें।

दो बातें बड़े ही खेद की हैं। पहली बात तो यह कि द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में उनके जीवन-काल ही में ऐसे लेख छपने लगे जो 'सरस्वती' के मान को घटाने वाले हैं। इंडियन प्रेस के स्वामी यदि हिन्दी के आदरणीय कवियों और लेखकों के सम्मान से पैसे को अधिक महत्व देते थे तो उनको एक अलग पत्र निकालना चाहिये था और 'सरस्वती' को शिष्टता ही से अलंकृत रहने दिया जाता। दूसरी बात यह कि महान् मालवीय जी का परिवार अब इस हद तक उतर आया है कि अब वह गाली की कमाई खाने लगा। क्या यह कम परिताप की बात है? मैंने एक दिन सोचा कि पूज्य मालवीय जी को पत्र लिखूं, पर फिर यह सोचकर कि उनके मन को क्यों व्यथा पहुँचाऊँ, मैंने उचित यही समझा कि अपने पर कीचड़ फेंकने से यदि किसी भाई का पेट चलता है तो बदले में उस पर कीचड़ फेंकने के बजाय एक छाता खरीद देना अच्छा है। पर अन्य साहित्यिक बन्धुओं का अपमान नहीं सहा जाता। मैं चाहता हूँ कि आप इस विषय में आगे आयें और साहित्यिक समाज में शिष्टाचार की रक्षा करें।

मदरासी दल आपके यहां जा रहा है। उन लोगों का कर्तव्य है कि दक्षिण भारत में जाने वालों के प्रति फैलाये जाने वाले अपमानजनक मिथ्या समाचारों का खंडन प्रकाशित करें और करावें।

शेष प्रसन्नता है।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(१७)

इम्पीरियल बैंक
बैंकस्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई
२६-५-५३

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार।

आज स्थानीय 'नवभारत टाइम्स' में आपका एक लेख 'संसद् में हिं० सा० सेवियों का एक वर्ष' पढ़ा। मुझे बहुत पसन्द आया। आपकी लेखनी में तो विद्युत-प्रवाह है। इसी प्रकार नई दिल्ली में होने वाली भाषा-सम्बन्धी हलचलों को आप अपने विचारों के सांचों में ढ़ाल-ढ़ाल कर बाहर फेंकने चलते तो हमारी काल्पनिक आशंकायें निर्मूल होती रहतीं और हम, जो बैठे हैं, चल खड़े होते।

एक बात मुझे खटकी, आपने लिखा कि उर्दू को हम किसी भी हालत में नहीं छोड़ सकते। आगे आप लिखते हैं—"वह तो हमारे देश की ही भाषा है, हिन्दी की दूसरी शैली।" मेरे विचार में उर्दू कोई भाषा ही नहीं है। उसकी जो रूपरेखा है, मैं तो उसे भी हिन्दी ही मानता हूँ। कुछ विभेद प्रकट करना आवश्यक हो तो उसे मुलसमानी हिन्दी कह सकते हैं। पाकिस्तान बनाने में उर्दू भी एक कारण थी। हमें अब उन तमाम अप्रिय स्मृति-चिन्हों को छोड़ ही देना चाहिये, जिनसे दुःख ही दुःख उत्पन्न हुआ है। उर्दू का तो अब नाम भी न लेना चाहिये। आन्दोलन इस बात का होना चाहिय कि अरबी-फारसी के तमाम प्रचलित शब्द हिन्दी मान लिये जायं। कुछ विदेशी शब्दों के कारण एक व्यापक भाषा के दो टुकड़े क्यों किये जायं? मेरे विचार में हिन्दी के उन्नायकों को हिन्दी-उर्दू का प्रसंग अब सामने लाना ही नहीं चाहिये।

गत नवम्बर या दिसम्बर में मैं दिल्ली गया था और मौलाना आजाद से मिलकर उनके सामने ग्राम-साहित्य के संग्रह का विषय रक्खा था। उन्होंने ध्यान से मेरी बात सुनीं और सहानुभूति भी प्रकट की थी। उनकी सलाह से मैंने संग्रह की एक योजना बनाकर उनके पास भेजी थी। वह हिन्दी में थी, संभव है, वह उनके आफिस में पढ़ी ही न गई हो, क्योंकि उसकी पहुँच भी मझे नहीं मिली।

आप कभी समय निकालकर उस योजना की खोज करा लें और उसे काट-छांट करके, जैसा उचित जान पड़े, चालू करने योग्य बना लें। उससे भाषा और विषय-विषयक एक देशव्यापी आन्दोलन होगा और राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिये बहुत से नये शब्द भी मिल जायेंगे। प्रयत्न करके यदि आप मौलाना आज़ाद से यह काम करा लेने में सफल हुये तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा, जो हिन्दी वालों में विष की तरह फैल रहा है, आपसे आप अदृश्य हो जायगा, क्योंकि हिन्दीवालों को एक नई धारा मिल जायेगी, जिसके प्रवल प्रवाह में वे उर्दू को भूल जायेंगे।

ता० २४ को मैं जबलपुर में सेठ गोविन्ददास जी से मिला था। उनके पास राष्ट्रपति राजेन्द्र बाब का एक पत्र देखा, उसमें एक वाक्य मुझे बिलकुल नया और प्रत्येक साक्षर के जीवन के लिये

अति उपयोगी मिला। वह पत्र है—इस संसार की बनावट ऐसी है, जिसमें स्मरण से ज्यादा मूल्यवान् विस्मरण है। यह वाक्य मुझे तो जीवन का मार्ग-दीपक जैसा लगता है।

मैं १०–१२ दिनों के लिये यहाँ आया हूँ। १० जून तक वापस जाऊँगा। आपका कार्ड मिला था। अभी उसका उपयोग नहीं किया। वापसी में रीवां जाकर संभव होगा तो करूँगा। उसके लिये आपका बहुत कृतज्ञ हूँ, आप सुख से होंगे।

आपका

रामनरेश त्रिपाठी

(१८)

बसंत-निवास, सुलतानपुर

८-४-५२

प्रिय चतुर्वेदी जी,

नमस्कार।

हाथरस (व्रज-साहित्य-मंडल का अधिवेशन) से चतुर्वेदियों का जो अनुभव लेकर मैं आया हूँ, उसे पचा सकता तो शायद बहुत अच्छा होता, पर पच नहीं रहा है, क्योंकि औरों को भी अपच से बचाने का खयाल उठ रहा है। इसलिये आपको लिख देना ही उचित समझता हूँ।

हाथरस में मुझे आपकी हालत देखकर बड़ा तरस आया। आपको मैं पहले पत्र में लिख चुका था कि आपसे मिलने ही मैं अधिवेशन में आऊंगा। पर हाथरस में तो मैंने आपको एक बिल्कुल बुझा हुआ चिराग सा पाया। मैं तो निमंत्रित भी था और आग्रहपूर्वक निमंत्रित था,यहां तक कि श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी जी ने मार्ग-व्यय भेजने तक का प्रलोभन भी लिख भेजा था और उसे भेजा भी नहीं था, फिर भी मैं गया था। तार भी दिया था। तार श्री जगदीशप्रसाद को मिल भी गया था, फिर भी एक व्यक्ति भी हाथरस-स्टेशन पर नहीं मिला, जो बताता कि कहां जाना है। अपनी ही सूझ-बूझ से हम लोग ठहरने की जगह में पहुंच गये। वहां एक धर्मशाले जैसे बरामदे में बैठा दिये गये। कोई पूछने भी नहीं आया कि किसको किस चीज की आवश्यकता है। किसी को पाखाना जाना हो तो जंगल में जाकर झाड़ा फिरो, धक्का खाना किसी के स्वास्थ्य के अनुकूल न पड़ता हो तो भी खाओ। मानों सब चतुर्वेदी ही चतुर्वेदी जमा थे। निमंत्रितों से मिलने स्वागताध्यक्ष को आना चाहिये था, पर उनके गुरु तो चतुर्वेदी ही थे, जो इस शिष्टाचार को जानते ही नहीं। आपका कहीं पता ही नहीं था। ऐसा लगता था कि मानों आपसे प्रबन्ध का काम छीन लिया गया हो, इससे आप बचे-बचे फिरते थे। खाना खाने के बाद विश्राम के लिये न कोई खाट न खटोला। प्यास लगे तो उठकर जाओ और टोंटीदार गंगासागर से चिल्लूभर पानी में डूब मरो। शाम को राष्ट्रपति के फाटक पर श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल और श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि का जैसा अपमान हुआ है, उसमें तो हिन्दी साहित्य के सम्मान की परीक्षा ही हो गई। हाथरस से मैं तो यह अनुभव लेकर आया हूँ कि चतुर्वेदियों को स्वागत-सत्कार के प्रबन्ध का काम सौंपा ही नहीं जाना चाहिये। यह तो खानेवाली ज़ाति है, खिलाना जानती ही नहीं। स्वागताध्यक्ष के घर में जहां

मिठाइयां रक्खी रही होंगी सब चतुर्वेदी उसी के आसपास मंडराते रहे होंगे। नहीं तो वे कम से कम निमंत्रित व्यक्तियों को पहले ही से पास या बैज भेज दिये होते तो, यह अपमानजनक घटना न घटती। पांच तारीख की शाम की सभा के बाद तो मेरी किसी ने भी खबर नहीं ली कि मैं क्या खाऊंगा और कहां सोऊंगा ? मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता। शाम को शौच आदि जाकर नहाता हूँ, और दलिया आदि हलका खाना खाता हूँ, तब नींद आती है। पर वहां तो न पाखाने का प्रबन्ध न नहाने का और खाने के लिये रात में ९ बजे श्री ज० प्र० चतुर्वेदी जी डिनर का कार्ड देने आये, डिनर का समय रक्खा गया था ८ बजे। मुझे उनका यह कार्ड मेरे ऊपर. . . . . .जैसा लगा। इससे मैंने इन्कार कर दिया। नहाये धोये विना मेरी तबीयत भी बेचैन थी और मैं जल्द से जल्द स्टेशन के वेटिंग रूम में जाना चाहता था। पंडित रामाज्ञा द्विवेदी को रिक्शा के लिये भेजा था, वे लौटे ही नहीं। संयोग से एक अपरिचित युवक मुझे श्री सुबोधचंद बागला के यहां ले गये, जहां मैं सुख से सोया। अगले दिन भी उन्हीं के यहां रहा। किसी चतुर्वेदी ने पूछा भी नहीं कि मैं सुख से हूँ या कोई कष्ट है ? ता० ६ की शाम को भाषण देकर मैं सभापति जी से विदा लेकर चला आया। किसी चतुर्वेदी की समझ में यह शिष्टाचार नहीं आया कि मैं निमंत्रित हूँ, मुझे सम्मानपूर्वक विदा भी करना चाहिये।

मुझे इस बात का दुःख तो नहीं है कि मेरी पूछताछ नहीं की गई, क्योंकि पूछताछ के लिये तो अकल चाहिये थी। दुःख हिन्दी-साहित्यकारों की अवमानना देखकर होता है। साहित्यकारों ने साहित्य की सेवा की है, कोई अपराध तो किया नहीं, फिर इतनी दूर बुलाकर ऐसे नीरस व्यवहार का दंड क्यों दिया जाना चाहिये ? साहित्यकारों के स्वागत सत्कार में आपने हाथ नहीं लगाया इसका कारण तो मैंने यह समझा कि इमर्सन ने शायद ऐसा ही करने को लिखा होगा।

मुझे भी उचित था कि चलते समय मैं स्वागताध्यक्ष से विदा लेने जाता। पर जब स्वागताध्यक्ष स्वयं नहीं आये, तव मैं किसके पास जाता ? मैं पेशेवर व्याख्याता तो हूँ नहीं कि विदाई लेने जाता। यदि वे आये होते तो मैं निश्चय ही जाता और उनका सत्कार भी ग्रहण करता।

ब्रज-साहित्य-मंडल तो मुझे एक कमंडल-सा लग रहा है, जो चतुर्वेदियों को थमा दिया गया है। भगवान् उसे भरा-पूरा रक्खे। पत्र की पहुंच तो आप जरूर ही देंगे।

आपका

रामनरेश त्रिपाठी

(१९)

(सम्भवतः इस पत्र का प्रारम्भिक अंश कहीं खो गया है—बनारसीदास चतुर्वेदी)

मैंने अपने विचार से एक साधारण स्वस्थ मनुष्य की आयु ८० वर्ष आंक रखी है। उसको मैंने चार भागों में बांटा है। पहला भाग २५ वर्ष का है, जिसमें जीवन का घर बनाने के लिये ईंटा, चूना और लोहा लक्कड़ जमा करना चाहिये। दूसरा भाग भी २५ वर्ष का है। इसमें घर बना लेना चाहिये। तीसरा भाग २० वर्ष का है इसमें जो बनाया है, जो कुछ किया धरा है, उसका उपभोग

करना चाहिये। चौथा भाग १० वर्ष का है, जो पराधीनता का है, और जिसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता कि वह कैसे विताया जाय। अब मैं अपने प्रोग्राम से चल रहा हूँ।

अतएव मैं तो अब अपने नये रास्ते पर लग गया हूँ। कल का साहित्यिक जगत् आज स्वप्न-सा लगने लगा है। अब अन्य विद्वानों का लिखा हुआ पढ़ूंगा और देने के बजाय स्वयं अपने लिये कुछ लूंगा।

साहित्य छोड़कर मैने स्वेच्छा से बाग का काम पसन्द किया है। सुलतानपुर रेलवे स्टेशन पर ही मेरा ५ एकड़ का बाग है। उसमें मैंने एक छोटा-सा घर बनवा लिया है। बाग की उम्र अभी ५ वर्ष की है। कविता में पल्लवित, पुष्पित और सुरभित वृक्षों की जो मैं कल्पना किया करता था, अब वे वृक्ष मेरे सहजीवी हैं, मैं उनकी सेवा करता हूँ और उनसे सुख ले-लेकर अपने दैनिक जीवन में चुपड़ लिया करता हूँ।

पचास वर्ष की आयु के बाद बाग का जीवन मुझे सबसे सुन्दर लगा। अब बाग में चाहे सम्राट ही क्यों न आवें, मैं उसे कुछ दे ही सकता हूँ, ले नहीं सकता। और सबसे बड़ा लाभ बाग से यह है कि मैं इससे किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। साहित्यिकों के लिये इससे अधिक पवित्र कार्य मुझे दूसरा नहीं दिखाई पड़ता।

हिन्दी मन्दिर के प्रकाशनों को बेच देने के सम्बन्ध में आपकी आशंका सहृदयता पूर्ण है। पर प्रकाशन का अधिकार मैंने कुछ ही वर्षों के लिये दिया है। उसके बाद मेरा ही अधिकार रहेगा। पुत्र-पौत्र अदि प्रकाशन का भार न उठा सकेंगे तो किसी संस्था को दान तो मैं कर ही सकूंगा।

मैंने भी तो आपका मजाक उड़ाया है। आपने उसे क्षमा करके ही तो यह पत्र लिखा है। आपकी यह सज्जनोचित उदारता हम सबके लिये अनुकरणीय है। आपके किसी व्यवहार से मुझे कभी कुछ कष्ट पहुँचा भी होगा तो अब तो उसकी याद भी नहीं है, क्षमा किस बात की करूं। मेरे और आपके बीच में तो करोड़ों आदमी बस रहे हैं, सबसे तो मेरा परिचय नहीं है। पूर्वजन्म के पुण्य-फल से करोड़ों का उल्लंघन कर आपसे मेरा परिचय हुआ तो इस पुण्य-पदार्थ की मधुरता ही का लाभ हम न लें तो हमारे दुर्भाग्य ही की बात होती। कभी कभी कुछ कटुता अनुभव करते हुये भी मैं आपके कार्यों और धन का सदा प्रशंसक रहा हूँ। हिन्दी साहित्य में आपने तो नये नये केन्द्र जगाये और उनमें जीवन डाला और साहित्यिकों के तो आप एकमात्र बंधु है। आपके प्रति मैं सदा सद्भाव रखता था, और अब तो किसी प्रकार की कटुता के लिये स्थान ही नहीं है। दूरस्थ मित्रों को तो मैं करोड़ों में से एक गिनता हूँ।

इमर्सन को साहित्य और खेती को साथ रखने में सफलता नहीं मिली, पर बाग और साहित्य को साथ रखने में शायद मिल जाती। यह सब प्रयोग करने की बातें हैं। यदि बाग के अन्दर से साहित्य का जन्म हो सकेगा तो वह मेरे अनुभव की बात होगी और तब सुनने के लिये आगे आप खड़े ही मिलेंगे।

'मधुकर' को मैं बड़े प्रेम से पढ़ा करता हूँ, खासकर बुंदेलखंडी कहानियाँ और ग्रामगीत। यह बड़ा सुन्दर कार्य आप कर रहे हैं। बुंदेलखंडी गीतों का एक स्वतंत्र संग्रह आप अलग प्रकाशित

करा दें और कहानियों का भी। ग्राम-गीतों के संग्रह में काफी परिश्रम और लगन की आवश्यकता है। आप यही कार्य केवल पांच वर्षों तक हाथ में ले लेते तो संग्राहकों का एक बड़ा दल तैयार हो जाता और ग्रामगीतों का बड़ा प्रभाव हमारी वर्तमान कविता पर पड़ता, जिसके लिये हममें हाय-हाय मची हुई है।

आप जब सीधी सड़क पर थे, तब तो प्रयाग आने का मौका वर्ष में दो-एक बार मिल जाता था, अब आप भी टेढ़े रास्ते पर हैं और मैं भी। फिर भी कभी प्रयाग आने का अवसर मिले तो मेरी प्रार्थना है कि सुलतानपुर के लिये भी समय रखिये। प्रयाग से दो ढ़ाई घण्टे के रास्ते पर हूँ। सबेरे और शाम दोनों वक्त ट्रेन जाती आती है। आने से एक सप्ताह पहले मुझे सूचना दे दें, ताकि मैं कहीं बाहर रहूँ तो घर आ जाऊं।

आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

आपका
रामनरेश त्रिपाठी

(२०)

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग

प्रियवर,

किसी दिन प्रातःकाल चार बजे की[१] . . . . बैठकर आपने मुझे दो कार्ड लिखने की . . . . की, उसके लिये बहुत ही कृतज्ञ हुआ हूँ। मैं कल रात में . . . . से आया हूँ। कल या परसों फिर लौट जाऊंगा। अब मैं लगभग दो वर्षों से गांव ही में अधिक रहने लगा हूँ। गत दो वर्षों में, गांव के शांत वातावरण में रहकर मैंने तुलसीदास के रामचरितमानस की एक नई टीका लिख डाली है। इस सम्बन्ध में एक पत्र छपा हुआ है। उसे मैं इस पत्र के साथ भेजता हूँ। उसे पढ़-कर आप मेरे दो वर्ष के परिश्रम का मूल्य अनुमान कर सकेंगे। आजकल मैं मानस की भूमिका लिखने के लिये अनेक पुस्तकों का अध्ययन करने में लगा हूँ। मैं देखता हूँ, हिन्दी मंदिर का सम्बन्ध मेरे स्वरूप को भ्रमात्मक बना देने में काफी सफल हुआ है। इसका कुछ आभास आपके कुछ पत्रों में भी है और हृदय में तो इससे अधिक होगा ही। आपने लिखा—आप संभवतः अपने कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं—इत्यादि, ऐसा ही मेरे अन्य परिचित अपरिचित मित्र भी सोचते होंगे। मुझे आश्चर्य है कि बात ऐसी नहीं है। हिन्दी मंदिर मेरे रहने के स्थान से ४०-५० ही कदम की दूरी पर होगा, पर प्रत्येक दिन एक बार का तो प्रश्न ही नहीं, प्रत्येक सप्ताह भी एक बार वहां जाने का औसत नहीं पड़ता। कभी गया भी तो पढ़ने के लिये कोई पुस्तक लेने या कोई पुस्तक देखने। अधिक से अधिक १५ मिनट में यह कार्य हो जाता है। जब से गांव में रहने लगा हूँ, तब से महीने में एक बार का औसत पड़ता होगा। व्यापार में इतना अल्प समय देने पर भी मैं व्यापारी

---

१. पत्रों की प्रतिलिपि करते समय इस पत्र में रिक्त स्थानों के अक्षर स्पष्ट नहीं पढ़े जा सके—संपादक।

ही प्रसिद्ध रहा, यह मेरा पूर्वजन्म का कोई पाप-परिणाम जान पड़ता है। एक वर्ष से रामचरितमानस पर मैं बहुत ही परिश्रम कर रहा हूँ। उसमें आये हुये प्रत्येक विवादग्रस्त शब्द के लिये मैं यथासंभव खोज करता हूँ और कवि तुलसीदास के भावों को अधिक स्पष्ट करके प्रकट करने में, अपनी समझ से, मानस पर मैं अंतिम परिश्रम कर रहा हूँ। यहां तक तो आप मेरा शुद्ध साहित्यिक रूप मानेंगे। पर अब व्यापारिक रूप जनता के आगे आने वाला है। मानस छपेगा, हिन्दी मंदिर वाले उसका विज्ञापन करेंगे। विज्ञापन करने का अपराध मेरे सिर आयेगा, मानस बिकेगा, पैसे कुछ न कुछ बच ही रहेंगे, वह मुझे मिलेंगे ही। पर मैं अपना शुद्ध साहित्यिक रूप ही रखना चाहूँ तो इस व्यापारिक रूप को रोक कैसे सकता हूँ। साहित्य-सेवा करते-करते यदि मैं भूखों मरता तो शायद इस भिक्षुक प्रधान देश में मुझे अधिक ख्याति मिलती और चाहे तब मैं इतनी अधिक सेवा कर भी न सकता।

यकायक कलम से 'ख्याति' शब्द निकल आया। इसका अर्थ यह न लगाइयेगा कि मैंने ख्याति के लोभ ही से सब कुछ किया है। ख्याति के लोभ को यद्यपि मैं बुरा भी नहीं मानता पर मैं उसको प्रधानता नहीं देता, ख्याति तो प्रत्येक परिश्रम से किये हुये अच्छे कार्य की सहचरी है। कोई भी कार्य सफलतापूर्वक किया जाय तो उसकी ख्याति को कोई रोक नहीं सकता। इससे मैं काम को मुख्य मानता हूँ, ख्याति को गौण। मैंने अब तक साहित्य के जितने काम किये हैं, सबके साथ मेरा शक्ति भर परिश्रम लगा हुआ है। किसी कार्य में मैंने अपने को धोखा नहीं दिया है।

हिन्दी वालों में अभी परस्पर सहयोग नहीं, सहृदयता नहीं, एक दूसरे के प्रति सम्मान का भाव नहीं। यही कारण है कि हमारा साहित्यिक विकास रुका हुआ है। कुछ समय हुआ, 'विशाल भारत' में आपने मेरे 'ग्रामगीत' पर एक लेख लिखा था। हिन्दी के अन्य सम्पादकों से आप में कुछ विशेषता है, उक्त लेख उस विशेषता का एक प्रमाण है। आपने तो उतना भी लिखा, पर हिन्दी के अन्य संपादकों ने कभी इस विषय पर ध्यान भी नहीं दिया। समालोचनार्थ एक या दो पुस्तक पाकर साधारण कर्तव्य का पालन करते हुये उन्होंने दो चार पंक्तियां लिखकर मेरी प्रशंसा कर दी, यह मुझे लाभदायक हो सका होगा, मेरे विषय को नहीं। पर योरप में इसका उलटा है। मेरे एक अंग्रेज मित्र ने मेरे द्वारा संपादित 'ग्रामगीत' पर एक लंबा सा निबन्ध 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' को दिया। सोसाइटी ने उसे स्वीकार कर लिया। अभी से उस लेख को लेकर फ़्रांस, जर्मनी, इंग्लैड आदि अनेक देशों के प्रमुख साहित्यिकों में चर्चा चल पड़ी है। एक दिन उक्त अंग्रेज मित्र ने 'ग्रामगीत' की फाइल मुझे दिखलाई, मैं देखकर अवाक् रह गया कि उसमें भिन्न भिन्न देशों से आये हुये मेरे कार्य की प्रसंसा के अनेकों पत्र थे। उक्त अंग्रेज़ सज्जन मेरे जन्म-ग्राम को गये, मेरे स्थान में रहे, खाये पिये, दो दिनों में मेरे घर का चित्र बनाया और शायद उसे विलायत भेज भी चुके होंगे। गुण-ग्राहकता इसे कहते हैं। यद्यपि किसी लोभ से मैने ग्रामीगीतों का कार्य नहीं किया था, पर कोई उसकी प्रशंसा करता है तो मुझे इतना विश्वास तो हो ही जाता है कि मैं कोई व्यर्थ कार्य नहीं कर रहा हूँ। जब योरप की तुलना अपने देश से करता हूँ, तब जी में एक प्रकार की तकलीफ सी होती है।

अब आप ही बताइये, मैं क्या करूँ, जिससे लोग मुझे शुद्ध साहित्यिक ही समझें, व्यापारी नहीं। खैर, जाने दीजिये, भाग्य की बात है।

अब आइये अपने बाल-साहित्य पर। हिन्दी में बाल-साहित्य का अभाव मुझे बहुत दिनों से खटक रहा था। कविता और इतिहास की ओर मेरी स्वाभाविक रुचि होने के कारण बाल-साहित्य के निर्माण पर तो मेरा ध्यान ही नहीं जाता था। 'कविता कौमुदी' का पहला भाग मेरे पांच वर्षों के अविराम परिश्रम का फल है। उसे पूर्ण करने पर मुझे कुछ दिमागी आराम की आवश्यकता हुई, उस दशा में मैंने बाल-कथा-कहानी का पहला भाग लिख डाला। कहां तो हिन्दी भाषा का इतिहास-लेखन और कविता का संकलन और कहां बच्चों के लिए कहानियां लिखना, दोनों की श्रृंखला नहीं मिलती, पर मैंने देखा कि कहानियां लिख डालने पर दिमाग बहुत ताज़ा हो गया और मैं आगे के लिए किसी बड़े कार्य को पूरा कर डालने में समर्थ हो गया। तब से आज तक मेरा यही क्रम रहा कि कोई बड़ा साहित्यिक कार्य समाप्त करने पर मैं तब तक छोटे बच्चों के लिए कहानियां लिखता रहता हूं, जब तक दिमाग़ बिल्कुल स्वस्थ नहीं हो जाता। मैंने इसका आश्चर्यजनक परिणाम देखा है। बच्चों के लिए कहानियां लिखने में मुझे बच्चों के साथ खेलने का-सा आनंद आता है। थकावट मिटाने के लिए यह कार्य मुझे एक पौष्टिक-पेय की तरह जान पड़ा। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि मैं थककर लिखता हूं, इससे कहानियां अच्छी न होंगी। बल्कि इसका उलटा होता है। मैं साहित्यिक काम से थककर उन्हें न लिखता तो शायद इतना रोचक न लिख पाता।

मैंने बच्चों के लिये कहानियां लिखकर काफ़ी सफलता पाई है। इसका इससे जोरदार प्रमाण और क्या हो सकता है कि मेरी कहानियों की पुस्तकों के कई संस्करण हो गये और अब भी वरसों से कई पुस्तकें चुकी हुई हैं और नये संस्करण की राह देख रही हैं। 'बाल-कथा-कहानी' की अब तक ९०,००० के लगभग प्रतियां बिक चुकी हैं। किसी किसी भाग का तो दसवां संस्करण चल रहा है।

ग्रामगीतों की अपनी लंबी यात्रा में मैंने गीतों के सिवा और भी कई उपयोगी चीज़ें संग्रह कीं, उनमें एक तो पेशेवरों के शब्दों का संग्रह था, दूसरे युगों से चली आती हुई बच्चों की कहानियां। शब्दों के संग्रह में से कुछ शब्द तो मैंने अपने 'हिन्दुस्तानी कोष' में रख दिये, कुछ मेरे पास अलग रखे हैं। कहानियों में से कुछ कहानियां मैंने बाल-कथा-कहानी सीरीज़ में प्रकाशित करा दीं, और कुछ शेष हैं। मुझे अपने देश की कहानियां योरप से आई हुई कहानियों से अधिक उपयोगी मालूम हुईं। योरप की कहानियों में चालाकी, छल, दूसरे को ठग लेने या धोखा देने का भाव कूट कूट कर भरा रहता है। पर हिन्दुस्तानी कहानियों में साहस, कष्ट, सहिष्णुता, नेकी और त्याग के भाव अधिक होते हैं। कोई राजा किसी कठिन कार्य को पूरा करने वाले को आधा राज्य या राजकुमारी देने की घोषणा करता है। बच्चे घर से निकलते हैं। हर एक अलग अलग रास्ते से जाता है। रास्ते में उन्हें अनेकों तकलीफें झेलनी पड़ती हैं। प्रायः सब से छोटा बच्चा ही सफल होता है। वही आधा राज्य या राजकुमारी पाता है। इस प्रकार की

कहानियां बच्चे बड़ी तत्परता से सुनते हैं। इसका उनके जीवन पर अच्छा प्रभाव भी पड़ता है। वे घर से बाहर जाने में घबराते नहीं। कहानी तो मार्ग-प्रदर्शक की तरह उनके साथ रहती ही है। देहात में इस प्रकार की तथा परियों और देवों की असंख्य कहानियां अभी तक जीवित हैं।

मेरी आंतरिक इच्छा रहती है कि मैं प्रत्येक घर की कहानियां संग्रह कर लूं। पर 'चहिय अमिय जग जुरै न छाछी' वाली बात है। देश में उत्साह देने वालों की कमी है। काम करने वालों की कमी है नहीं तो कोई एक संस्था कायम होती और वह प्रत्येक ज़िले की कहानियों, गीतों, कहावतों, पेशेवरों के शब्दों और महावरों के संग्रह का प्रबन्ध करती तो आज हम कहां से कहां होते। मैं देहात घूम चुका हूं। इससे देहात की प्राचीन सम्पत्ति से थोड़ा बहुत परिचय रखता हूं और उसे प्राप्त न कर सकने के कारण उसके ज्ञान का दंड भोगता रहता हूं।

खैर, मैं विषय से बाहर हो रहा हूं। बच्चों के लिये हिन्दी में अच्छे लेखक अभी नहीं आये। बच्चों के लिये कहानी लिखना कठिन काम है भी। बच्चों की दुनियां ही न्यारी होती है। हर एक लेखक वहां प्रवेश नहीं पा सकता। अभी तक मेरी जानकारी में एक ठाकुर श्रीनाथ सिंह ही ऐसे लेखक हैं जो बच्चों की भाषा जानते हैं और गद्य-पद्य दोनों में सफलतापूर्वक लिख सकते हैं। पर लाखों बच्चों के लिए अकेला एक लेखक कहां तक आहार जमा करे?

केवल एक ही लेखक का नाम लेने से संभव है, बच्चों के लिए अन्य साहित्योत्पादक अप्रसन्न हों, पर अप्रसन्न होने की बात मैं नहीं करता, मैं तो अपने अनुभव की बात लिखता हूं। जो मेरे अनुभव से लाभ उठाना चाहते हों, मैं उनके लिये लिखता हूं।

बाल-साहित्य के निर्माण में किन-किन बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर में मैं अपनी राय यहां लिखता हूं।

भाषा—बाल-साहित्य में मैं भाषा को सबसे अधिक प्रधानता देता हूं। बच्चों के लिए जो कुछ लिखा जाय, उसकी भाषा सरल से सरल होनी चाहिए। बच्चों के लिए इस समय बाजार में जो पुस्तकें मिलती हैं, उनमें से कुछ वाक्य लेकर मैं अपने कथन को और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं—

१. बन्दरवाली घटना के दिन जब . . . . . समय नियमानुसार राजकुमार रूपी मंत्रीपुत्र महलों में आया तो उसके आचरणों से रानी को कुछ संदेह हुआ।

इसमें कठिन शब्द तो हैं, कुछ ऐसी ढके परदेवाली बातें भी हैं, जहां बच्चों की पहुंच नहीं होती। जैसे 'आचरणों से'। बड़े भी नहीं समझ सकते कि मंत्रीपुत्र ने क्या आचरण कर दिखाया जिससे रानी को संदेह हुआ? तो भला बच्चे क्या समझेंगे? बच्चों को सरल भाषा में स्पष्ट बता देना चाहिये कि मंत्रीपुत्र ने क्या किया था।

२. अभीष्ट वर देना भी सम्पूर्ण निष्फल होगा।

बच्चे इस वाक्य को कभी समझ न सकेंगे। और जो समझ लेंगे, वे बच्चे न होंगे।

३. गरजते हुए सिकंदर ने कहा—महान बली सिकंदर के बल, पौरुष, वीरता, शान्ति उत्पादक, सुख-समृद्धि प्रसारक जीवन को तू आज तक नहीं जान पाया।

इसे पढ़ कर तो कहना पड़ता है कि लेखक ने बच्चों के जीवन को आज तक नहीं जान पाया।

इतने उदाहरण काफी हैं।

भाषा व्याकरण से शुद्ध और छोटे-छोटे वाक्यों वाली होनी चाहिए। एक उदाहरण लीजिये--

"जब कुसुमकुमारी ने राक्षस को देखा तो वह उसको मारने के लिए एक चाल चली।"

यह वाक्य व्याकरण से अशुद्ध है।

वर्णन-शैली--भाषा के बाद वर्णन-शैली का नम्बर आता है। वर्णन-शैली भाषा का अलंकार है। भाषा सरल हो, शुद्ध हो, पर वर्णन-शैली रोचक न हो तो बच्चों को वह प्रिय नहीं लगती।

उदाहरण लीजिये--

१. किसी समय वैशाली नामक एक नगर में एक बड़े प्रतापी राजा राज करते थे।

मैं इसे ऐसा लिखना पसंद करूंगा--बहुत दिन की बात है। एक नगर था। उसका नाम था वैशाली। वहां एक राजा राज करता था, वह बड़ा प्रतापी था।

देहात में प्रचलित कहानियां ऐसे ही छोटे-छोटे वाक्यों में कही जाती हैं। लेखकों को उसका अनुकरण करना चाहिये।

२. एक दिन एक गांव के मनुष्यों में भीषण हलचल पैदा हो गई।

मनुष्यों में भीषण हलचल पैदा होने की बात बच्चा क्या समझेगा ? एक तो 'भीषण' ही उसके लिए भीषण है, दूसरे किसी हलचल का स्वरूप वह देखे हुए नहीं होता। बच्चों के सामने उतनी ही बातें रखनी चाहिएं, जो उनकी सीमा के अंदर हों।

वर्णनों में लम्बे-लम्बे पैराग्राफ कभी न देने चाहिए। पैराग्राफ यथासंभव छोटे हों। एक पैराग्राफ में दो विषयों का वर्णन कदापि न रखना चाहिये, चाहे पैराग्राफ एक ही दो पंक्तियों का क्यों न हो।

विषय--बच्चों के लिये विषय वही चुनना चाहिये, जिसे वे आसानी से समझ सकें। यदि कोई लेखक यह लिखे कि अमुक वक्ता जब पार्लमेंट, कांग्रेस, एसेम्बली या कौंसिल में बोलने खड़े हुए, अथवा यह लिखे कि बन्दरों ने वोट द्वारा अपना सभापति चुना, तब यह देख लेना होगा कि बच्चा कहां तक संस्थाओं के प्रकार से परिचित है। मेरी राय में बच्चों के लिए सबसे रोचक विषय जानवरों की कहानियां, कौतूहल बढ़ाने वाले भ्रमण-वृत्तांत और दूसरों को सहायता पहुंचाने वाले कार्यों का वर्णन है। बच्चों के कोमल हृदयों पर करुणा और प्रेम के वर्णनों का प्रभाव बड़ी जल्दी पड़ता है।

चित्र--बच्चों की कोई पुस्तक चित्र से खाली होनी ही नहीं चाहिये। चित्र जहां तक हो, अच्छे चित्रकार से बनवाये जायं। इस समय इस देश में मुझे एक भी चित्रकार ऐसा नहीं मिला, जो बच्चों के लिए चित्र बना सकता हो। रंग-बिरंगे भड़कीले चित्र बनाकर आंखों को

ललचा लेना दूसरी बात है, पर मन पर प्रभाव डालने वाले चित्र बनाना बड़े ही कुशल चित्रकार का काम है। हमारे चित्रकार चेहरे पर भाव लाना तो जानते ही नहीं। अंग्रेज चित्रकार लोमड़ी, कुत्ता, बत्तक आदि पशु-पक्षियों के चेहरों पर हास्य, चिंता, आश्चर्य और शांति के भाव उतार देते हैं, पर हमारे यहां के चित्रकार तो अभी मनुष्यों के चेहरों पर भी भाव लाने में कोसों दूर हैं। अतएव जहां तक हो सके वहां तक बच्चों की पुस्तकों में अच्छे चित्रकार से चित्र बनवा कर दिये जायं।

सजधज---बच्चों के लिए जो पुस्तकें तैयार की या कराई जायं, उनकी बाहरी सजधज बड़ी ही आकर्षक होनी चाहिए। कवर तो रंग बिरंगा होना ही चाहिए। भीतर की छपाई भी बहुत साफ सुथरी और नये टाइप में होनी चाहिये। अक्षर मोटे हों, कागज़ मोटा और चिकना हो, स्याही रंग-बिरंगी हो, छपाई साफ़ हो, और यदि हो सके तो टाइप और चित्र भिन्न भिन्न स्याहियों में छपे हों। बच्चों की पुस्तकों में बार्डर भी हो तो बच्चे पसंद करते हैं। बच्चों की पुस्तकों का आकार डबल क्राउन सोलह पेजी से छोटा और फुलस्केप अठपेजी से बड़ा न होना चाहिए। पृष्ठ संख्या ६४ से अधिक न हो तो अच्छा।

मूल्य---बच्चों की पुस्तकों के मूल्य, जहां तक कम हो सके, वहां तक कम ही रखना चाहिए। एक तो गरीब मुल्क है, दूसरे अभी माता-पिता भी बच्चों पर अधिक खर्च करने का लाभ नहीं समझते, इससे महंगी पुस्तकों का प्रचार कम होता है। इसमें प्रकाशक ही की हानि नहीं, बच्चों की ज्ञान-वृद्धि में भी बाधा पहुंचती है। बाज़ार में मिलने वाली पुस्तकों को मैं उठाकर देखता हूं तो ५६ पृष्ठों की पुस्तक का दाम आठ आने और ३६ पृष्ठों की पुस्तक का दाम छः आने देखकर प्रकाशकों की अनभिज्ञता पर तरस आता है। महंगी पुस्तक की अपेक्षा सस्ती पुस्तक प्रकाशक के लिये अधिक पैसा कमा कर देती है। यह रहस्य सब प्रकाशक नहीं समझते।

अब अंत में अपने अनुभव से मुझे यह बतलाना है कि इस समय बच्चों के लिए किन किन विषयों की पुस्तकों की शीघ्र आवश्यकता है। नोट कीजिये---

१. कहानियां। अपने देश में प्रचलित पुरानी कहानियों का संग्रह सबसे पहले होना चाहिए।

२. जानवरों के विषय की सचित्र पुस्तकें।

३. कपड़े पर छपी हुई सचित्र वर्णमाला की पुस्तकें।

४. भ्रमण-वृत्तांत।

५. पक्षियों के सचित्र वर्णन।

६. फूलों के सचित्र वर्णन।

७. तितली, पतिंगे आदि कीड़े-मकोड़ों के सचित्र वर्णन।

८. वृक्षों के सचित्र वर्णन।

९. भिन्न-भिन्न देशों के मनुष्यों का रहन-सहन सचित्र।

१०. अनेक प्रकार की सवारियों के सचित्र वर्णन।

११. गोरख-धंधे की पुस्तकें।

१२. अक्षर-ज्ञान न रखनेवाले बच्चों के लिए केवल चित्र से प्रकट होने वाली कहानियों की पुस्तकें।

१३. जल-जंतुओं पर सचित्र पुस्तकें।

१४. आदर्श व्यक्तियों के जीवन की सरल कथायें।

१५. खेलकूद की सचित्र पुस्तकें।

१६. तरह तरह के खिलौने बनाने की पुस्तकें।

१७. बालकों के खेलने योग्य छोटे छोटे नाटक, संवाद या प्रहसन।

१८. बहुत छोटे-छोटे चरणों वाले पद्य, तुकबंदियां इत्यादि।

प्रिय चतुर्वेदी जी, ऊपर मैंने बाल-साहित्य पर जल्दी में अपने विचार लिख दिये हैं। आप इसमें से जितना चाहें, 'विशाल-भारत' में दे सकते हैं। आजकल मेरा सारा समय और मस्तिष्क मानस की भूमिका में लग रहा है। इससे बाल-साहित्य पर कोई सुश्रृंखलित लेख मैं नहीं लिख सकता।

'बानर' के विषय में आपने ठीक ही समझा है कि मैं बेचारे 'बानर' को भरपेट भोजन भी नहीं दे सकता। इस सम्बन्ध में मेरी इतनी ही सेवा स्वीकार कीजिये कि प्रति मास घाटा उठा कर मैं उसे चलाये चल रहा हूं।

श्लोक के सम्बन्ध में मैं आपसे सचमुच सहमत नहीं हूं। मैं कोरा सिद्धान्तवादी नहीं हूं। व्यवहार कुशलता को मैं अधिक महत्व देता हूं। 'कण्टकेनेव कंटकम्' की सचाई तो हम प्रत्येक दिन अनुभव करते रहते हैं। प्लेग और हैजे के लिये उन्हीं के कीटाणुओं का सिरम 'कण्टकेनेव कंटकम्' नहीं है?

आपने किसी मदरासी सज्जन के वाक्य उद्धृत किये हैं, पर वही श्लोक आप लार्ड विलिंगडन को सुनाते तो वे क्या कहते? या तिलक महाराज जीवित होते और आप उनको सुनाते तो वे क्या कहते? व्यक्ति विशेष की सम्मतियों पर सामयिक परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ा करता है। आप यदि आज इंगलैंड के प्रधानमंत्री बना दिये जायं तो मैं विश्वास करता हूं कि आप उक्त श्लोक को अपने कमरे की दीवारों ही पर नहीं, अपने पहनने के कपड़ों पर भी छपा लेंगे। मैं तो समझता हूं, संसार में यदि विजयी होकर रहना है तो सुग्रीव और विभीषण की भी आवश्यकता पड़ेगी। जब तक प्रसंग नहीं पड़ता तब तक सतोगुणी सिद्धान्तों का प्रवचन मनोरंजन के लिये अच्छी चीज़ है, पर प्रसंग पड़ने पर वही उपाय सिद्धान्त हो जाता है, जिससे सद्गणों की रक्षा में सफलता प्राप्त हो। गांधी जी के सात्विक प्रयोग तब सफल होते जब विरोधी में भी सतोगुण की प्रधानता होती। अब गांधी जी परास्त हैं, निराश हैं और अपने को उस सीमा में पहुंचाकर निश्चिन्त हैं जहां वे समझते हैं कि निष्फलता का विक्षोभ उन्हें सता नहीं सकता और न उन पर कायरता का आरोप हो सकता है। पर यदि वे उक्त श्लोक का कुछ भी आधार रखते तो आज का इतिहास कुछ और होता। उक्त श्लोक से अवश्य ही कोई लड़का हो

सकता है, पर वह बुद्धू तो नहीं होगा। बुद्धू होने से कनिंग होना मैं तो बुरा नहीं मानता।

आपने 'बानर' के लिए जो सत्परामर्श दिया है, उसके लिये मैं हृदय से कृतज्ञ हूं। ऐसे ही कभी कभी दया किया कीजिये। संभव है, किसी दिन 'बानर' आपको अधिक प्रिय लगने लगेगा।

मेरा विचार दो एक हफ्ते बाद कलकत्ते आने का है। संभवतः तब तक तो आप उधर ही रहेंगे। दशहरे में आप किधर जायेंगे ?

बालकों के लिए मैंने जो पुस्तकें अब तक लिखी हैं, उनकी एक एक प्रति अलग डाक या रेल-पार्सल से जा रही हैं। कृपया पहुंच लिखियेगा। आप कुछ लिखना चाहें, तो उन पुस्तकों को देख कर लिखिये। मेरे इस पत्र के बदले में संपादकीय नोट लिखने की याचना मैं कभी न करूंगा।

आपका

रा० न० त्रिपाठी



पंडित रामनरेश त्रिपाठी

मेरा कवित्व

[स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने दिवंगत होने के कुछ वर्ष पूर्व से अपने जीवन की 'आत्मकथा' लिखनी प्रारंभ की थी, किंतु वह उसे पूरा नहीं कर सके। 'मेरा कवित्व' उसी आत्मकथा का एक अंश है। इस आत्मकथा में त्रिपाठी जी ने अपनी कविता तथा स्वरचित काव्यों के संबंध में सुंदर प्रकाश डाला है। हिन्दी साहित्य के अन्वेषण तथा शोध-कर्ताओं को त्रिपाठी जी के काव्यों पर अन्वेषण करने में यह लेख निःसंदेह सहायक सिद्ध होगा——संपादक]

तुलसीदास ने कविता के संबंध में लिखा है कि:——

कीरति भनित भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

अर्थात्, कीर्ति, कविता और सम्पदा वही सराहनीय कही जायगी, जो गंगा जी की तरह सबके लिए हितकारी हो। मैंने सदा इसी भाव से प्रेरित होकर कविता लिखी है। उसे चाहे स्वांतः सुखाय कहिये चाहे बहुजन हिताय।

चौदह-पंद्रह वर्ष की उम्र में, जब मैं गांव के मदरसे में पढ़ता था, मेरे प्रधान अध्यापक ब्रजभाषा के कवि थे। वे संध्या समय कविता-प्रेमियों के बीच में बैठकर बड़े उल्लास से अपनी कविता सुनाया करते थे। छुट्टी होने पर भी मैं घर न जाकर उनकी कविता सुनने में लग जाता था। सुनते सुनते मुझमें कविता सुनने की लालसा आपसे आप उमड़ आयी और मैं भी लुक-छिप कर छन्द बनाने लगा।

भिखारीदास ने कहा है कि जिसके जन्म-नक्षत्र में कवि होना लिखा होता है, वह कवि होता है। मेरे पूर्व जन्म के संस्कार में भी कुछ ऐसा ही रहा होगा।

उन दिनों कविता की भाषा प्रायः ब्रजभाषा थी और समाज में वह ऐसी व्याप्त हो गयी थी कि कविता बनाने वालों को बिना सीखे ही, बिना ब्रज में गये ही आ जाती थी। प्रधान अध्यापक के पास रसिकप्रिया, कवीन्द्र-वाटिका आदि समस्यापूर्ति के कई मासिक पत्र आया करते थे। मैं भी चुपके चुपके समस्याओं की पूर्तियां करके भेजने लगा। सभी ब्रजभाषा में होती थीं। मेरी मातृभाषा अवधी है। ब्रजभाषा और अवधी का निकट का संबंध में। इससे नये कवि के लिये दूसरे कवियों के भावों को काट-छांट कर नया भाव प्रस्तुत कर देना बहुत सहज था। मुझे याद आता है कि एक बार समस्या आयी थी—'पेटी न दिखाओ कोऊ पेट परि भरि है।' इसकी पूर्ति

मैंने अपनी पाठ्य पुस्तक 'हिन्दी शिक्षावली' के अंतिम पृष्ठ पर, जो सादा था, की थी। पढ़ते समय प्रधानाध्यापक की दृष्टि में वह पड़ गयी, और मुझ पर काफी मार पड़ी थी। यद्यपि उस समय तक न मैं यह जानता था कि पेटी क्या होती है और न पेट पार कर भरा कैसे जाता है, यही जानता था।

उन्हीं दिनों 'सरस्वती' का प्रकाशन शुरू हुआ। प्रधान अध्यापक उसके भी ग्राहक थे। मैं 'सरस्वती' भी कभी-कभी पढ़ने के लिए पा जाता था। उसमें व्रजभाषा के सिवा खड़ीबोली हिन्दी की भी कविता निकला करती थी। खास कर मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' की रचना, जो उसमें खंडशः निकलती थी, मुझे वहुत पसन्द आने लगी। उनसे मुझे भाषा का एक नया रास्ता मिला और मैंने उसे ही पकड़ लिया। मैं भी खड़ीबोली में रचना करने लगा। मेरी पहली रचना 'हिन्दुओं की हीनता' जो सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, उसमें पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने शब्दों का कुछ हेर-फेर कर दिया था, तब मुझे वड़ी प्रसन्नता हुई थी और इससे मेरा उत्साह बढ़ा था।

सबसे पहले इलाहाबाद में रहकर मैंने 'मिलन' नाम का एक खण्डकाव्य लिखा, जिसका पहला सर्ग 'मर्यादा' नाम की पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। साहित्यिक मित्रों में उसकी प्रशंसा हुई थी और तब मैंने चार सर्ग और बढ़ाकर उसे पूरा एक खंडकाव्य कर दिया था। उन दिनों देश में अंग्रेजी राज्य तप रहा था और राष्ट्रीय कविता लिखना एक जुर्म माना जाता था। इससे शब्दों की आड़ में लुक छिपकर राष्ट्रीय भाव आने दिये जाते थे।

मेरा स्मृतिमय जीवन उस समय से शुरू होता है, जब देश से बाहर रूस और जापान का युद्ध हो रहा था और देश में बंग-भंग का आन्दोलन जोरों पर था। "वंग-वासी" में देशभक्ति के जो लेख निकलते थे, उसका मेरे बाल-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। इससे देशप्रेम और दीनदुखियों की सेवा के भाव मेरे हृदय में सबसे अधिक समाये, जो पद्य-बद्ध होकर निरंतर निकलते रहे।

प्रारंभ में हिन्दी के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध कवियों की रचनाएं मैंने पढ़ डाली थीं। उनमें ज्यादातर प्रेम और विरह के वर्णन, नख-शिख नायिका-भेद और ऋतुओं के नुस्खे थे। भक्ति का एक ही काव्य तुलसीदास का रामचरितमानस था और कुछ संतों की बानियां थीं, जो ज्यादातर दुर्बोध थीं। गांधी जी देश में आ चुके थे और उनके सत्याग्रह और असहयोग की चर्चा सर्वत्र हवा में गूंज उठी थी। १९२० में मैं रामेश्वरम् की यात्रा पर गया। वहां पहले पहल मैंने समुद्र देखा। उस समय मुझे इतना हर्ष हुआ कि मैं समुद्र के तट में दोनों पैर डालकर एक शिला पर विमुग्ध-सा होकर देर तक बैठा रहा। उसी अवस्था में मेरे मुंह से एक पद्य आप से आप निकला था, जिसे मैंने पथिक के पहले सर्ग में, आरंभ ही में स्थान दे दिया है। वहां से उठने के बाद मेरे सिर में इस बात का एक नशा-सा सवार हुआ कि गांधी जी के सत्याग्रह और असहयोग आंदोलन से देश को स्वतंत्रता कैसे मिल सकती है? इस पर मैं एक खण्डकाव्य लिखूं। रामेश्वरम् के बाद मैंने पूर्वीघाट के और भी कई तीर्थस्थान देखे और सर्वत्र प्राकृतिक दृश्यों का आनंद मेरे मन में समाता

रहा। सवसे अधिक आंतरिक सुख मुझे तिरुपतिबाला जी और उसी के समीप के झरने (नाम शायद पापनाशिनी) को देखकर हुआ। मैं इलाहावाद आया, तव सवसे पहले मैं अपना वह नशा उतारने में लग गया और २१ दिनों तक मकान की छत पर टिन के एक छप्पर के नीचे बैठकर और वहीं खा-पीकर और सोकर भी मैंने 'पथिक' लिख डाला। 'पथिक' के पद्यों में मैंने प्राकृतिक दृश्यों को, जिसे देखा था, जगह-जगह टांक दिया है। पथिक की वड़ी प्रसंशा हुई, देश के वड़े-वड़े नेताओं और हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवियों ने उसका आदर किया। तव मुझे कवीर के निम्नलिखित दोहे का अर्थ मालूम हुआ—

कबिरा का घर सिखर पर, जहां सिलहली गैल।
पांव न टिके पिपीलिका, पंडित लादे बैल।।

अर्थात् कवीर का घर एक शिखर पर है जहां पहुंचने का रास्ता वहुत फिसलन वाला है। उस पर चींटी का पांव नहीं टिक सकता, पंडित जी वैल के वोझ वरावर पोथियों का ज्ञान लादकर वहां पहुंचना चाहते हैं।

मैंने समझा कि कवीर का शिखर ही कवि का शिखर है। मस्तिष्क में कोई ऐसा स्थान है, जहां कवि ध्यानावस्थित होकर पहुंच जाता है और शिखर पर स्थिर होकर वह जो कुछ कहता है, वह कविता ही होती है। फिसलने वाली वात भी समझ में आयी, क्योंकि मन तो वार वार इधर-उधर वहक जाता था, और उसे पकड़ कर रास्ते पर लाना पड़ता है। जब मन शिखर पर स्थिर रहता है, तव पंक्ति पर पंक्ति वनती चली जाती थी, सिर्फ लिखने का परिश्रम करना पड़ता था। मन जव इधर उधर का रस लेने में लग जाता था, तव एक पंक्ति भी पहाड़ हो जाता था। उसकी रचना में कभी कभी घंटों ही नहीं, एक दो दिन भी लग जाते थे। मेरा अनुमान है हिन्दी के प्रत्येक कवि को इसका अनुभव होगा।

'पथिक' को महात्मा गांधी ने पढ़ा और आशीर्वाद दिया। १९२८-२९ में मैं काश्मीर गया। काश्मीर तो पृथ्वी का स्वर्ग ही है। वहां के प्राकृतिक दृश्यों पर तो मन लहालोट ही हो गया था। वहीं मेरे स्नेह-भाजन श्री श्रीगोपाल नेवटिया ने 'पथिक' की तरह का एक खंडकाव्य और लिख देने का अनुरोध किया। मैंने 'स्वप्न' नाम का खंडकाव्य वहीं बैठकर लिखना शुरू किया था, जिसे काश्मीर से लौटने के वाद पूरा किया। उसे पूरा करने में तीन महीने लगे क्योंकि इलाहावाद के संघर्षमय जीवन में मन का शिखर पर पहुंचना और वहां देर तक टिकना युग-काव्य ही था।

ब्रजभाषा के कवियों ने तो कविता को श्रृंगार रस से सरावोर ही करके छोड़ा है। मैंने भी 'पथिक' में कहीं कहीं उसके छींटे डाले हैं। पर 'स्वप्न' में तो मैंने खुलकर श्रृंगार रस का स्रोत वहाया है, पर उसके साथ-साथ करुण रस की धारा भी वहने दी है। राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते रहने के कारण मुझे श्रृंगार रस खासकर रीतिकाल की कविता से स्वभावतः विरक्ति हो गयी थी।

१९२५ से १९३५ तक मैं ग्रामगीतों के संग्रह में लगा रहा और तीन वार समूचे भारतवर्ष में, प्रान्त-प्रान्त में, गांव-गांव में भ्रमण करके भिन्न-भिन्न भाषाओं और बोलियों के ग्रामगीतों का मैंने अध्ययन और संग्रह किया। ग्रामगीतों का मेरी विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा। मैं यह मानने लगा कि ग्रामगीत ही प्राकृतिक कविता है। ग्रामगीत की रचनाएं प्राय: स्त्रियां और गांव के अशिक्षित पुरुष ही करते हैं, जिन पर किसी शिक्षित पुरुष-स्त्री के उपदेशों और पुस्तकों का प्रभाव नहीं पड़ा होता। उनमें मुझे हिन्दी कविता से अधिक मिठास भी मालूम हुई, और मैंने कविता लिखना एक प्रकार से वन्द ही कर दिया।

तीनों खंडकाव्यों के अलावा मैंने जो फुटकर कविताएं समय-समय पर लिखी थीं, श्री श्रीगोपाल नेवटिया ने 'मानसी' नाम की पुस्तक में उन्हें संग्रहीत कर दिया है और उसकी एक गवेषणात्मक भूमिका भी लिख दी है।

जव हरिऔध का 'प्रियप्रवास' निकला था, तव मेरे मन में भी उसी तरह का संस्कृत छन्दों में एक काव्य लिखने की तरंग उठी थी, और मैंने 'हनुमानचरित' नाम का एक काव्य लिखना आरंभ भी किया था। उसके प्रारंभ के दो सर्ग मैंने लिखे भी थे, पर उसकी कृत्रिम हिन्दी मुझे पसन्द नहीं आयी और वह आगे नहीं वढ़ सका। प्रियप्रवास की कविता वहुत उच्चकोटि की है। हरिऔध जी ने कवि का हृदय पाया था। जो कुछ उन्होंने कहा, वह कवि ही कह सकता है, पर भाषा उसकी एक कृत्रिम हिन्दी है, जो सर्वसाधारण के लिए दुरूह है। इससे मैंने भाषा के संबंध में तुलसीदास का अनगमन किया।

मात्रा से अधिक होकर कहीं समाज को तेजहीन, स्त्रैण, निकम्मा न वना दे, इससे स्त्रियों के घोर निंदक संत और भक्ति का नया और आकर्षक विषय लेकर भक्त कवि उत्पन्न हुए। तुलसीदास आदि भक्त कवियों की राम और कृष्ण-भक्ति की धारा विविध छंदों, भजनों, वानियों द्वारा वड़े वेग से प्रवाहित हुई। यह भारतीय स्वाधीनता की पृष्ठभूमि थी। देश जव इस स्थिति में आ गया कि उसे स्वाधीनता मिलनी चाहिए, तव देश की हर एक भाषा में स्वतंत्रता, देशप्रेम और जातीय गौरव का गान करने वाले कवियों का तांता लग गया। समुद्र की लहरों की तरह हर एक भाषा में कवियों का समूह ऊपर निकल आया। फिर तो कविता के लिए देशभक्ति के सिवा दूसरा विषय ही न रहा और अन्य रसों की कविता से समाज को घृणा हो गयी।

यदि कविता पर प्रकृति का ही नियंत्रण चलता है तो वह आगे भी चलेगा। और जो यह कहा जाता है कि कवि युग का प्रतिनिधि या प्रतीक होता है, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध होगा।

मेरे तीन खण्डकाव्यों की कथाएं नवनिर्मित हैं। पुराणों में वहुत सी ललित कथाएं हैं, कइयों पर संस्कृत में काव्य और नाटक लिखे गये हैं। पर मैं पुरानी कथा पर नई कलई चढ़ाने के विरुद्ध हूं। इससे कथा की ऐतिहासिकता नष्ट हो जाती है और मैं इसे साहित्यिक अपराध मानता हूं। इससे मैंने नई कहानियों की कल्पना की जिसमें मैं पूर्ण स्वतंत्रता से वर्तमान काल को पिरो सका।

मेरे तीनों खंडकाव्यों का अंग्रेजी में अनुवाद करके उन पर अंग्रेज सरकार ने रिपोर्ट मांगी थी। रिपोर्ट स्वर्गीय लाला सीताराम ने दी थी और उन्होंने तीनों को सरकारी पंजे में जाने से बचा लिया था। यह बात लाला सीताराम जी ने स्वयं मुझे बतायी थी। उस समय वे ही सरकारी रिपोर्टर थे। इससे प्रकट है कि उस समय राष्ट्रीय कविता पर राज-दंड का कैसा भयंकर अंकुश था, और राष्ट्रीय कविता लिखना कितने बड़े साहस का काम था।

भाषा के बारे में भी मैं कुछ कहना चाहता हूं। भाषा ही कवि को समाज में दूर तक ले जाती है। इसके सबसे सच्चे प्रमाण तुलसीदास हैं। तुलसीदास को अवधी भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने संस्कृत शब्दों की मधुरता में सानकर अवधी के ठेठ देहाती शब्दों और अरबी-फारसी के शब्दों को भी ऐसा लोकप्रिय बना दिया कि उनकी कविता विद्वानों और पंडितों में ही नहीं, निरक्षर जनता के घरों में भी, अक्षरों की दीवार को पार करके जा पहुंची और विवाह आदि उत्सवों में गाई जाने लगी। जायसी ने मीठी अवधी में पदमावत की प्रेम कथा लिखी, पर भाषा का रूखापन वे नहीं मिटा सके। यह काम तुलसीदास ने किया।

तुलसीदास की भाषा में एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपनी कविता में कारकों का प्रयोग बहुत कम किया है पर अर्थ में कहीं त्रुटि नहीं हुई है। यह उनकी एक आश्चर्यजनक सफलता थी। मैंने भी क्रियायें कम देने का भरसक प्रयत्न किया है, पर जैसा मैं चाहता था, वैसी सफलता नहीं मिली।

इसी तरह तुलसीदास में एक विशेषता यह भी पायी जाती है कि उन्होंने लघु वर्ण वाले शब्दों का प्रयोग बहुत किया है। ट-वर्ग वाले शब्दों से वे बचते-जैसे रहे हैं।

मैंने 'कविता कौमुदी' के लिये हिन्दी के प्राचीन कवियों का जब अध्ययन किया, तब मुझे यह देखकर बड़ा कौतूहल हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी तक कविता का विषय मुख्यतः श्रृंगार और भक्ति था, श्रृंगारी कवियों की संख्या भी अन्य कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। श्रृंगारी कवियों के मुख्य विषय थे——नख-शिख, नायिका-भेद और ऋतु-वर्णन। जिस कवि ने इन तीनों विषयों में कुछ कर लिया, वह आचार्य गिना गया। नखशिख में स्त्री के प्रत्येक अंग की उपमा खोजी गयी। जिस कवि ने भी उपादानों की अधिक संख्या खोज ली, वह कविश्रेष्ठ गिना गया। नायिका-भेद ने तो स्त्री-चरित्र के सब लक्षण खोल दिये।

भक्त कवि दो प्रकार के थे। एक ने विशुद्ध भक्ति पर कविता की, जैसे कबीर तथा अन्य संत कवि, और तुलसीदास आदि रामोपासक कवि। दूसरे श्रृंगार-मिश्रित भक्ति का प्रचार करने वाले कवि, जैसे सूरदास, नंददास आदि अष्टछाप वाले। उस समय के राजनीतिक इतिहास को लेकर विचार करने पर एक नयी ही बात दिखायी पड़ी, जो कौतूहलजनक ही नहीं, मन को आनंदित करने वाली भी थी। मुझे समझ पड़ा कि कोई एक अदृश्य शक्ति है जो जातियों का नियंत्रण और संचालन करती है। जातियां और राष्ट्र उसी के इच्छानुसार गिरते और उठते हैं। यूनान और मिस्र बहुत ऊंचे उठकर भी फिर गिर गये। पर हिन्दू जाति सबसे पुरानी होकर भी, अनेक भयंकर हमलों से जर्जर होने पर भी अभी तक जीवित है। मुसलमानों के राज्यकाल में हिन्दूमात्र को,

खासकर क्षत्रिय राजाओं को कदम-कदम पर अपमानित होना पड़ा था। उससे उनमें जो विक्षोभ उत्पन्न होता था, वह सारी जाति को विनष्ट कर देता। उस अदृश्य शक्ति की इच्छा हिन्दू जाति को जीवित रखने की थी। ऋषि-मुनियों द्वारा निर्मित उस जाति को सुरक्षित रखकर उसके सद्-गुणों से संसार के उद्धार का काम लेना था, इससे उसने समाज में ऐसे श्रृंगारी कवि उत्पन्न किये, जो राजाओं के मन को दूसरे विषय की ओर आकर्षित करके उनके विक्षोभ को शांत करते रहे। इससे पिछले चार-पांच सौ वर्षों में एक से एक बढ़कर श्रृंगारी कवि ऊपर उठ आये और वे राज-दरबारों में सम्मानित होकर रहने लगे। उन्होंने श्रृंगार रस की ऐसी धारा बहाई कि राजा महा-राजा उसी में डूबते-उतराते रहकर अपमान की ग्लानि को पचाते रहे। प्रायः उन सब के मन स्त्री-सौंदर्य पर केन्द्रित हो गये थे। वीर रस का प्रभाव बहुत ही क्षीण हो गया था।

उमड़ते हुए श्रृंगार रस से साधारण जनता में भोग-विलास की लिप्सा और निकम्मापन भी बढ़ रहा था। उससे कहीं जाति का अंतर्बल क्षीण न हो जाय, इससे स्त्री-विरोधी संत कवि समाज में पहरेदार की तरह जगह-जगह खड़े दिखायी पड़ते हैं। उनके साथ ही भक्त कवियों का भी प्रादुर्भाव होता है। स्त्री से मन हटे तो उसे किधर लगायें, यह वे बताते हैं।

यह सारी व्यवस्था प्रकृति की प्रेरणा से हुई है। विलासिता का स्रोत बनने में न श्रृंगारी कवियों का दोष है, न स्त्री-विरोधी होने में संत या भक्त कवियों का; दोनों ही उसी अदृश्य शक्ति के सैनिक थे, जो अपने अपने समय पर आ गये। दोनों में से किसी एक ही का उद्भव हुआ होता तो हिन्दू जाति की भी वही दशा होती, जो यूनानियों और मिस्त्रियों की हुई।

मेरे कविता काल में हिन्दी कविता में एक नई लहर छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के नाम से आयी। ये वाद हिन्दी में विश्ववंद्य कवि रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि की प्रसिद्धि के बाद आये। यद्यपि इन पर हिन्दी के संत कवियों की बानियों की छाप स्पष्ट पड़ी हुई है, पर हमें तो अपने घर में रत्नों का पता तब चला जब बाहर वालों ने उसे उठाकर बाजार में रक्खा। गीतां-जलि के बाद तो हिन्दी में छायावादी और रहस्यवादी कवियों का तांता-सा लग गया। एक से एक बढ़कर कवि वर्षाऋतु के मेघों की तरह गगन-मंडल में घिर आये और अपनी अद्भुत कल्प-नाओं का रस बरसाने लगे। रीतिकाल के कवियों की नायिकाएं तो सशरीर होती थीं, उनका नखशिख भी और उनकी उपमाएं भी दृष्टिगोचर होती थीं, पर छायावादी और रहस्यवादी कवियों की प्रेयसियों का न कोई रंग रूप था और न उनका कोई दृश्यमान हावभाव। कवि ही नायक जान पड़ता है और उसका विरह-वर्णन ही उसका विषय। कहने का उनका ढंग भी नया। मैंने भी इस बात को ध्यान में तो रखा, पर हिन्दी भाषा ही ऐसी है जिसमें दीर्घ वर्ण वाले ही शब्द अधिक हैं। लघु वर्ण वाले शब्दों की सुविधा तो संस्कृत, ब्रजभाषा और अवधी में मिलती है, जिनमें क्रियायें भी लघुवर्णवाली हैं और बना भी ली जाती हैं।

विश्वकवि रवींद्रनाथ की गीतांजलि के बाद हिन्दी कवियों में एक लहर और आई, जिसे रहस्यवाद नाम दिया गया। यद्यपि रहस्यवाद कबीर आदि संत कवियों की कविता में पहले से ही मौजूद था, और सिद्ध कवि रवींद्रनाथ ने उसको नया रूप दे दिया था, पर हिन्दी में उसका नामकरण

नहीं हुआ था। गीतांजलि की छाया लेकर तो हिन्दी में अनंत कवि निकल आये, और उन्होंने अपनी अपनी कल्पना का अद्भुत चमत्कार दिखाया। पर रहस्यवाद तो अत्मानुभूति का विषय है, केवल कल्पना का नहीं, इससे कविगण विलास और निराशा की कल्पना के आगे नहीं जा सके। उसे हम विरहवाद या निराशावाद भी कह सकते हैं।

मुझ पर भी इसका प्रभाव पड़ा, पर टिका नहीं, क्योंकि मेरे मन में तो यह विचार बैठा हुआ था कि कविता बहुजनहिताय होनी चाहिए। रहस्यवाद सबकी समझ में आने वाला विषय नहीं, दूसरे प्रेम, विरह और निराशा पर ब्रजभाषा और अवधी के कवियों ने जैसी मनोहारिणी कविताएं दे रखी हैं उनके सामने उन्हीं विषयों पर खड़ीबोली की कविता ठहर नहीं सकती। छायावादी कवि अपने मनोयोग को बाहर निकालने के लिए जितना ही अधिक संस्कृत शब्दों का सहारा लेते हैं उतना ही अधिक वे अपनी परिधि कम करते हैं। लोकभाषा से वे बहुत दूर होते जाते हैं और कविता करने का उनका परिश्रम जितना वे समझते हैं, उतना लाभदायक नहीं होता।

बंगला के बाद अंग्रेज़ी कविता का प्रभाव हिन्दी पर पड़ता है। आधुनिक छायावादी कवि ज्यादातर अंग्रेजीदां हैं। वे पहले तो अतुकांत छन्दों की ओर अग्रसर हुए, फिर छन्दों को भी कविता की जकड़बन्दी मानकर उन्होंने उसका भी बहिष्कार कर दिया।



पं० रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी की 'आत्मकथा' : गांधीजी के संस्मरण

[स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने पिछले कुछ वर्षों से अपने साहित्यिक जीवन की कथा लिखनी प्रारंभ की थी। वह थोड़ा थोड़ा लिखते और उसकी एक प्रति अपने अभिन्न श्री श्रीगोपाल नेवटिया के पास भेजते जाते थे। यदि त्रिपाठी जी जीवित रहते तो वह अपनी 'आत्म-कथा' को अवश्य पूर्ण कर डालते जो हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि होती। किंतु उनके निधन से यह कार्य अपूर्ण रह गया। इस 'आत्म-कथा' में त्रिपाठी जी ने 'महात्मा गांधी' के संबंध में एक रोचक संस्मरण भी लिखा है, जिसे हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। यह संस्मरण हमें भाई श्री श्रीगोपाल जी नेवटिया से प्राप्त हुआ है। —संपादक]

[१]

मेरे जीवन के सुन्दरतम अंग वे हैं, जिनमें भारत के महान् नेताओं के सम्पर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं जब गांव के स्कूल में पढ़ता था, उन दिनों भारत को स्वाधीन करने की एक हलकी सी गूंज हवा में सुनाई पड़ती थी, जिसकी न कोई रूपरेखा थी, न यही बताया जाता था कि स्वाधीनता प्राप्त कैसे होगी? उन दिनों जौनपुर शहर में साल में एक बार आर्य-समाज का वार्षिकोत्सव हुआ करता था। उसका खूब विज्ञापन हुआ करता था। मैं भी किसी किसी साल उत्सव देखने जाया करता था। उत्सव में नाथासिंह के खड़ताली भजनों की धूम मची रहती थी। भजन बैलगाड़ियों पर बैठ कर और शहर की प्रायः सब सड़कों पर घूम घूम कर गाये जाते थे। आर्यसमाज के प्रमुख व्यक्तियों के व्याख्यान भी होते थे, पर भजन सुनने की लालसा श्रोताओं में अधिक होती थी और भजनों का प्रभाव भी पड़ता था। उन दिनों स्वदेशी का प्रचार जोरों से किया जाता था। उसी के साथ इन बातों की चर्चा भी रहती थी कि किस प्रकार अंग्रेजों ने स्वदेशी व्यापार को नष्टभ्रष्ट कर दिया, देश की स्वतंत्रता हरण कर ली, सब को कायर बना दिया और देश का धन चूस लिया, इत्यादि। पर किसी भजन में यह निर्देश नहीं होता था कि देश को पराधीनता के चंगुल से छुटकारा दिलाने का रास्ता क्या है? देश में कोई ऐसी ताकत भी है जो छुटकारा दिला सके? भजन गाने वाले न कोई रास्ता बताते थे न सुनने वाले स्वयं सोच सकते थे। अतएव मैं भी व्याख्यानों और भजनों से अपनी कमजोरियां ही ज्यादा जान सका था।

उन्हीं दिनों रूस और जापान की लड़ाई भी छिड़ी हुई थी। मेरे एक पड़ोसी महाजन

के पास 'बंगवासी' आया करता था। उसका चीनी का कारखाना मेरे घर के पास ही था। कारखाने पर अखबार में लड़ाई का हाल सुनने वालों की भीड़ लग जाती थी। मुहल्ले में मैं ही पढ़ा लिखा लड़का था। अतएव मुझे ही अखबार पढ़कर सुनाना पड़ता था। स्वतंत्र जापान की जीत का समाचार पढ़कर हम सब प्रसन्न हो जाते थे। जापान किस तरह स्वतंत्र हुआ और स्वतंत्र होकर उसने किस प्रकार उन्नति की, इन विषयों पर भी 'बंगवासी' में लेख निकला करते थे। मैं थोड़ा बहुत उन्हें भी पढ़ लेता था, इससे अपने देश की स्वतंत्रता भी प्यारी लगने लगी थी। वर्ष में एक बार जौनपुर जाकर स्वतंत्रता की चर्चा भी भजनों में सुन आता था। अतएव दिमाग का झुकाव आप से आप देश की ओर होता रहा।

उन दिनों अंग्रेजी राज का आतंक गांव वालों पर ऐसा छाया रहता था कि किसी हैटवाले को देखकर लड़के और बूढ़े भी घरों में छिप जाते थे। पुलिस का तो नाम सुनकर लोग कांप उठते थे। उन दिनों नागपुर से 'हिंदी केसरी' (साप्ताहिक) निकलता था। उसमें तिलक महाराज के मराठी 'केसरी' के लेखों के हिन्दी अनुवाद निकलते थे। लेख बड़े ही ओजस्वी होते थे। कई महाजन के लड़के उसके ग्राहक थे। मैं उनसे प्रत्येक सप्ताह मांग लाता था और कहीं पुलिस को पता न चल जाय, इससे भुसौले में बैठकर उसे पढ़ लेता था। फिर भी पुलिस का डर रात दिन लगा ही रहता था।

'बंगवासी' और 'हिन्दी केसरी' के ही द्वारा मैंने यह जान पाया कि भारत को भी अंग्रेजों के हाथ से निकलना चाहिए और उसके लिए महाराष्ट्र के एक बड़े विद्वान् और तेजस्वी नेता तिलक महाराज आंदोलन कर रहे हैं। उन्हीं दिनों कांग्रेस में गरमदल और नरमदल नाम के दो दल हो गये थे। इससे उनके मुख्य मुख्य नेताओं गोखले, मालवीय जी, लाला लाजपतराय, एनीबीसेन्ट, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, खापर्डे आदि के नाम भी मुझे मालूम हो गये थे। पर मैं यह न जान पाया था कि देश को स्वतंत्र बनाने के प्रयत्न क्या-क्या हो रहे हैं। देश की थोड़ी बहुत कमजोरियां, जैसे आपस की फूट, शिक्षा की कमी, गरीबी, जागृत हो गई। साथ ही साथ उन नेताओं के नाम भी याद होने लगे जो गांधीजी के पक्ष या विपक्ष में थे। उस समय गांधीजी के समान कोई नेता निर्भीक नहीं था, तिलक महाराज की प्रसिद्धि जरूर थी, किन्तु वे अंग्रेजी ढंग से ही भारत को स्वतंत्र करने की तरकीबें सोचते और बताते थे। गान्धीजी ने तो अपना स्वतंत्र रास्ता निकाला और देश की जनता के सामने रखा। हिन्दू विश्वविद्यालय में दिये गये अपने भाषण के दिन से ही देश ने गान्धी जी को अपना उद्धारक समझ लिया। मैं सन् १९१५ से इलाहाबाद में स्थायीरूप से रहने लगा। वहां ऐसा समाज मिला जिसमें गान्धीजी और उनके प्रयोगों की चर्चा प्रायः नित्य हुआ करती थी। इससे गान्धी जी के प्रति मेरी जानकारी भी बढ़ती जाती थी। नेताओं में मेरी सब से पहली मुलाकात बाबू पुरुषोत्तमदास टंडनजी से चौक में घंटाघर के सामने हुई थी, वहीं मेरे एक मित्र ने हम दोनों को एक दूसरे से परिचित कराया था।

१९१८ में मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई वाले अधिवेशन में प्रचार मंत्री चुना गया और मुझे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का काम देखना पड़ा जिसके सभापति गांधीजी थे।

सभा के कार्यों के लिए मुझे गांधी जी से मिलने की आवश्यकता प्रायः पड़ती ही रहती थी और उनसे सलाह लेने के लिए कभी साबरमती आश्रम में और कभी कानपुर, लखनऊ, प्रयाग और वनारस में जहां कहीं वे नजदीक होते थे मैं मिलता ही रहता था।

१९१७ में इलाहाबाद में श्रीमती एनीबीसेन्ट के होमरूल लीग की स्थापना हुई, जिसमें पंडित मोहनलाल नेहरू, कुल १३ मेम्बर हुए थे, जिनमें एक मैं भी था। पंडित मोतीलाल जी नेहरू, पंडित जवाहरलाल नेहरू, पंडित श्यामलाल नेहरू, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, पंडित इन्द्र-नारायण द्विवेदी, श्री कमालुद्दीन जाफरी आदि तत्कालीन स्वतंत्र विचारकों के सम्पर्क में आने का मौका मुझे होमरूल लीग का सदस्य होने के कारण विशेष रूप से मिला।

१९२१ में सत्याग्रह आंदोलन में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के ५५ मेम्बरों को डेढ़-डेढ़ वर्ष की जेल और १००-१०० रुपये जुर्माने की सजायें हुईं। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का मैं भी एक मेम्बर था। सभा की एक मीटिंग में सब के साथ मैं भी पकड़ा गया था। आगरा और लखनऊ जेलों में मैं गांधीजी के प्राइवेट सिकरेटरी महादेव भाई देसाई के साथ एक ही बैरक में एक ही कमरे में रहा था। इससे गांधीजी के सम्बन्ध की छोटी और बड़ी सभी बातें उनसे सुनने को मिलती रहीं, महादेव भाई मुझे सगे भाई जैसे लगे थे, हम दोनों में बहुत प्रेम था, महादेव भाई बड़े विद्वान् और संयमी पुरुष थे। वैसा प्राइवेट सिकरेटरी उस समय संसार के शायद ही किसी जन-नेता को प्राप्त रहा हो, गांधीजी और महादेव भाई दोनों एक दूसरे के पूरक थे।

इस तरह मेरा जीवन गांधीजी के जीवन की सुगंध से उसी तरह सुवासित होता रहा जिस तरह चन्दन के संसर्ग से नीम का वृक्ष भी सुगंधित हो जाता है। भर्तृहरि ने कहा है—

> **किं तेन हेमगिरिणा रजतारिणा वा,**
> **यत्राश्रितेन मलयमेरु यदाश्रयेण।**
> **कंकोल निम्ब कटुजा अपि चंदनस्यु।**

सन् १९२० में मैंने "गांधीजी कौन है," नाम का एक पैम्फलेट लिखकर छपवाया था और उसे लागत दाम पर या मुफ्त वितरित करा दिया था, इस समय याद नहीं है। उसमें गांधीजी के असहयोग और सत्याग्रह आदि प्रयोगों की चर्चा थी और उनके तपस्वी जीवन के अनेक संस्मरण भी थे, उसका पहला संस्करण पांच हजार प्रतियों का था वह शीघ्र ही समाप्त हो गया और उसकी मांग इतनी बढ़ी कि ५००० प्रतियों का उसका दूसरा संस्करण मुझे पहले ही वर्ष में कराना पड़ा।

१९१५ या १६ में गांधीजी भारत आये। अखबारों में उनकी अफ्रीका वाली विजय की बातें छपती ही रहती थीं। भारत में भी उनकी रहन सहन, कार्यप्रणाली और देश को स्वतंत्र बनाने के प्रयत्नों की चर्चा चल निकली थी। अखबारों में उनका जितना समाचार छपता था, लोग मानों उसे पीने से लगे थे।

१९२० ही में मैं रामेश्वरम् की यात्रा में, दक्षिण गया। उन दिनों गांधीजी भारत के जागरण में सर्वत्र व्याप्त हो गये थे। यात्रा से लौटने पर मुझे ऐसा लगा कि सत्य और अहिंसा

द्वारा भारत को स्वतंत्र करने के गांधीजी के प्रयोग का एक बोझ-सा मैं सिर पर लाद लाया हूं। उसे मैंने २१ दिनों तक एकाग्र मन से बैठकर 'पथिक' नामक खंडकाव्य में उतार डाला। 'पथिक' को बड़ी प्रतिष्ठा मिली। सबसे अद्भुत बात उसमें यह हुई कि पथिक के जीवन का भविष्य गांधीजी के लिए भविष्यवाणी सा हुआ। गांधीजी ही पथिक थे।

१९२६ में मैंने पंडित हरिहर शर्मा से गांधीजी का संदेश पाकर दिल्ली के अधिवेशन में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रचार मंत्री-पद फिर स्वीकार कर लिया।

इस तरह मैं १९१८ से गांधीजी के निधन होने तक बराबर उन्हीं की परिधि में रहा और मेरे जीवन पर उनके विचारों, प्रयोगों और उपदेशों का प्रभाव पड़ता रहा।

गांधीजी के कुछ संस्मरण, जो मस्तिष्क में स्थूलरूप धारण कर चुके हैं, अपनी याददाश्त के मुताबिक यहां दे रहा हूं। गांधीजी के और मेरे कहे हुए वाक्य शब्दश: तो अब याद नहीं हैं, इससे अपने शब्दों में उनके भाव ही दे रहा हूं।

[२]

पहली मुलाकात

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन

वि० सं० १९७४ (सन् १९१७) में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन था। महात्मा गांधी उसके सभापति थे। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों के भाषण हुए। मुझे भी बोलना था। मैं उठा, तब महात्माजी ने पूछा, कितना समय लेंगे? मैंने कहा—कम से कम डेढ़ घंटा। गांधीजी ने कहा—पैंतालीस मिनट। मैंने कहा—इतना समय तो भाषण की भूमिका ही में लग जायगा। गांधीजी ने कहा—इसी में तो परीक्षा होगी। मैंने भाषण शुरू किया। उन दिनों बोलने का मेरा अच्छा अभ्यास था। दो तीन घंटे लगातार बोल सकता था। समय की ऐसी पाबन्दी कहीं नहीं रहती थी। मैंने संक्षिप्त करना प्रारम्भ किया। जान पड़ता है, कंठ में सरस्वती बैठ गई थी। भाषण बहुत रोचक और प्रभावशाली हुआ। विषय बिलकुल नया था। इससे लोगों ने मंत्रमुग्ध की तरह सुना। मैं कलाई की घड़ी पर समय देखता चलता था। मैंने तैंतालीस मिनट में भाषण समाप्त किया और कहा—दो मिनट मैं महात्मा गांधी को भेंट करता हूं। श्रोता खिलखिलाकर हंस पड़े और महात्मा गांधी भी। मेरा ही भाषण अंतिम था। महात्मा जी ने उठ कर कहा—आज यह दो मिनटों का दान जो मुझे मिला है, यह सब दानों से श्रेष्ठ है। इस देश में मुझे मिनटों का दान किसी ने नहीं दिया था। मैं तो घंटी बजाता हूं, तब भी वक्ता दस पांच मिनट ले ही लेते हैं।

उस दिन से महात्मा गांधी की आंखों में मैं चढ़ा और जहां तक मुझे याद है उन्हीं की इच्छा से अगले अधिवेशन में जो बंबई में हुआ था, मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रचार मंत्री चुना गया था। दो मिनट के दान का यह मुझे आशातीत फल मिला।

१९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई के अधिवेशन में मैं उसका प्रचार मंत्री चुना गया और मेरे हाथ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का काम आया। सभा के सभापति गांधी जी थे। अतएव गांधीजी से मिलना मेरे लिए आवश्यक हो गया। मिलने के लिए मैं इलाहाबाद से बम्बई होकर साबरमती गया। साबरमती स्टेशन पर गाड़ी सवेरे शायद नौ या दस बजे पहुंचती थी। स्टेशन से सीधा मैं साबरमती आश्रम आया। आश्रम के फाटक से होकर मैं भीतर चला गया। एक स्वयंसेवक को, जो फाटक के सामने बने हुए कमरे के बरामदे के पास खड़ा था, मैंने अपना नाम बताकर गांधीजी से मिलने की अपनी इच्छा बता दी। उसने मुझे एक कुरसी पर, जो बरामदे में पड़ी थी, बैठने को कहा। अंदर जाकर थोड़ी देर में वापस आकर उसने कहा आप बैठिये, भोजन के बाद मुलाकात होगी।

कमरे के सामने से दाहिनी ओर कुछ हट कर एक छोटा सा खेत था, जिसमें क्यारियां बनी हुई थीं और उनमें तरकारी बोई हुई थी। कुछ आश्रमवासी उसमें काम कर रहे थे, जिनको मैंने उनके जांघियों से पहचाना।

थोड़ी देर बाद भोजन करने का घड़ियाल बजा। उन दिनों आश्रम में यह नियम था कि आश्रम में जो भोजन करते थे, उनको थाली, कटोरी और गिलास अपना निज का लेकर भोजनशाला में जाना पड़ता था। जो बाहर से आते और उनके पास अपना बरतन नहीं होता था, उनको कोई आश्रमवासी अपना बर्तन दे देता था और वह स्वयं दूसरी पंक्ति में भोजन करता था। खाने वाले को बर्तन स्वयं ही मांजने पड़ते थे। भोजनशाला से कुछ दूरी पर तिपाल टांग कर एक जगह बनाई गई थी, जिसके नीचे तीन कड़ाह पानी से भरे रक्खे गये थे। उन्हीं कड़ाहों में क्रम क्रम से तीन बार बर्तनों को धोना पड़ता था।

बिहार के रहने वाले एक आश्रमवासी युवक ने मुझे अपने बर्तन दिये और मुझे भोजनशाला तक पहुंचा भी दिया और आगे के नियम भी बता दिये।

एक बरामदे में सब आश्रमवासी एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करते थे। मैं भी उनमें जाकर बरतन आगे रखकर बैठ गया। दाल, चावल, रोटी और शाक बड़े बड़े बर्तनों में लाकर एक मेज पर रक्खे गये। कुछ लड़कियां, सफेद खादी के वस्त्र पहने खाने का सामान लाकर रख रही थीं। जब सामान आ गया, तब बा रसोई घर से बाहर आईं। बापू उनके पास जा खड़े हुए। दोनों ने कोई मंत्र या श्लोक पढ़ा, जो अब मुझे याद नहीं है। इसके बाद बा ने दाल का बर्तन हाथ में लिया और बापू ने कलछी। वे प्रत्येक व्यक्ति के सामने जाकर कटोरी में दाल परोसने लगे। इसी तरह चावल परोसा गया, फिर शाक और रोटियां दी गईं। परोसने में एक विशेषता यह थी कि जिसको जितना लेना हो, उतना ले लेने के बाद हाथ के इशारे से रोक दे। वह नहीं रोकेगा तो बापू परोसते ही जायंगे। भूख बाकी रह जाय तो दूसरी बार भी मांग सकता है। सब को परोस चुकने पर बा और बापू ने मेज के पास खड़े होकर कोई मंत्र या श्लोक पढ़ा जो मुझे इस समय याद नहीं है। इसके बाद सबने खाना शुरू किया।

मैं खा रहा था, तब बापू मेरे सामने आकर बैठ गये और बोले--आपके प्रांत में मिर्च खाने

का रिवाज है। आश्रम के खाने में मिर्चे नहीं डाले जाते। जरूरत हो तो सड़क के उस पार कुछ परिवार रहते हैं, जो मिर्चे खाते हैं, वहां से मंगा दूं। मैं तो आश्रम में जो भोजन किया जाता है वही खाना चाहता हूं। बापू उठकर खानेवालों की देखरेख करने लगे। जिसे जिस चीज की जरूरत होती और वह मांगता तो मेज पर से ले जाकर वे उसे देते थे। खाना समाप्त हुआ तो अपने अपने जूठे बरतन लेकर सब खानेवाले उठे और बाहर के तिरपाल के नीचे रक्खी हुई बालू से उन्हें साफ किया और क्रम से तीनों कड़ाहों के पानी में धोकर साफ किया। मैंने अपने बरतन साफ करके अपने दाता युवक को दे दिया।

आश्रम के पास ही साबरमती नदी बहती है। खा पीकर मैं उठा तो नदी देखने चला गया। तट पर पहुंचने के पहले ही बा मिलीं। वे नदी में कुछ बरतन धोकर सिर पर रक्खे आ रही थीं। देखते ही पूछा, बेटा कब आये ? खुश तो हो न ? बा का दर्शन मैंने इलाहाबाद में एक बार किया था। उनको मैं शायद ही याद रहा होऊं, पर बा के लिए तो सभी बेटे थे। बा के मुंह से बेटा शब्द सुनकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। मुझे मेरी मां याद आ गई।

आश्रमवासियों को मैंने मशीन के पुर्जों की तरह काम करते पाया। समय की पाबंदी, विनय व्यवहार, जरूरत भर के लिए बोलना और सुनने भर के लिए ही आवाज ऊंची या नीची निकालना, चारों तरफ सफाई, शांत वातावरण आदि देखकर मैं चकित हो गया। उसके पहले मैंने ऐसा जीवन कहीं नहीं देखा था। सभी स्त्री पुरुष काम में व्यस्त थे। थोड़ा विश्राम लेने के लिये मैं कमरे की फर्श पर बिछी हुई दरी पर लेट गया। शाम को ३ बजे से दो चार मिनट पहले एक आश्रम-वासी युवक ने आकर कहा—अब आप गांधीजी से मिलने चलिए।

मैं उठा और उसके पीछे हो लिया। मेरा जी धड़क रहा था। क्योंकि ऐसे प्रसिद्ध आदमी से इसके पहले मिलने का अवसर नहीं मिला था। मैं कमरे के दरवाजे तक पहुंचाया गया। दर-वाजा खुला हुआ था। मैं अन्दर गया। फर्श पर दरी बिछी थी। गांधीजी दरी पर, और अब याद नहीं उस पर उनकी छोटी सी गद्दी भी बिछी थी या नहीं, पलथी मारे बैठे थे। सामने एक छोटी सी चौकी, जो मेज का काम देती थी, रक्खी थी। चौकी पर कागज और कलम रक्खे थे।

मैं सामने बैठ गया। गांधीजी ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार की आवश्यकता बताई और उधर कैसे काम किया जाय, यह भी समझाया। मद्रास प्रांत में हिन्दी प्रचार की मैंने एक योज़ना बनाई थी। उसे मैंने गांधीजी को दिया और उसकी मुख्य मुख्य बातें उन्हें समझा दीं। योजना उन्होंने रख ली और विचार करके उत्तर देने को कहा।

करीब आधे घंटे मैं उनके पास बैठा। बात समाप्त हो चुकी थी और मैं उत्सुक था कि वे ही कुछ और कहें। उन्होंने कहा—मेरे सेक्रेटरी महादेव देसाई से मिल लीजिये, वे बड़े विद्वान् हैं। मैंने उठकर प्रणाम किया और कमरे से बाहर हुआ।

गांधीजी के पास जाने की जो झिझक थी, वह उनके सामने बैठने पर दो ही चार मिनटों में दूर हो गयी थी। उनका व्यवहार इतना सरल और हृदयस्पर्शी था कि मुझे मालूम पड़ने लगा,

जैसे उनसे मेरी पुरानी जान पहचान हो। उनकी वाणी में एक भी शब्द कर्कश नहीं था और न यह आभास मिलता था कि वे मुझे छोटा समझ कर हेय समझ रहे हैं।

कमरे से निकलकर मैं एक आश्रमवासी के साथ महादेव भाई के निवास-स्थान पर गया जो आश्रम के सामने वाली सड़क के उस पार रहते थे। आश्रम में रहने वालों को विवाहित होने पर भी स्त्री के साथ भाई बहन का-सा सम्बन्ध मानकर रहना पड़ता था। सड़क के उस पार रहने-वालों के लिये यह बंधन नहीं था। इसके सिवा खान-पान के नियमों में भी कुछ छूट थी, जैसे चाहें तो वे लाल मिर्चे और मसाले भी खा सकते थे।

महादेव भाई के पास मैं देर तक ठहरा। सचमुच वे अच्छे विद्वान् थे। अंग्रेजी में बी० ए०, एल० एल० बी० थे। संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी और अन्य प्रांतीय भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता, शरीर से सुन्दर, मृदुभाषी और विनोदी पुरुष थे। उन्होंने मुझे काका साहब कालेलकर से मिलने की सलाह दी और उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा, जिसमें से मुझे इतना ही याद है कि वे तो हम लोगों के इन्साइक्लोपीडिया (विश्व-कोष) हैं। किसी शब्द के बारे में जहां कोई संदेह होता है उन्हीं से पूछते हैं।

[३]

दिसम्बर १९३३ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के वार्षिक अधिवेशन में मैं दीक्षान्त भाषण देने गया था। गांधी जी सभापति थे। गोखले हाल में सभा का आयोजन था। बड़ी भीड़ थी। मैं अंदर जाने लगा तो, यद्यपि स्वयंसेवकों का प्रबंध था पर, कशमकश में मेरा कोट फट गया था।

हम दोनों एक ही मंच पर अगल बगल बैठे थे। सभा की रिपोर्ट पढ़ कर सुनाई जा रही थी। गांधीजी रिपोर्ट पहले ही पढ़ चुके थे। वे आंख मूंद कर बिलकुल शांत बैठे थे। मेरी दाहिनी तरफ गांधीजी थे, बाईं तरफ याद नहीं, पंडित हरिहर शर्मा थे या पंडित सत्यनारायण। मंच पर बैठने के चार ही पांच मिनट हुए होंगे कि बाईं तरफ वाले सज्जन ने मुझे उंगली से छूकर कहा—बापू सो रहे हैं। मैंने उधर ध्यान दिया तो गांधीजी की नाक से गाढ़ निद्रा में होने की हलकी सी पुट, एक ध्वनि सुनाई पड़ी। मैंने सुन तो रक्खा था कि गांधीजी में जल्द सो जाने की अद्भुत क्षमता थी। वे कहा भी करते थे कि नेपोलियन घोड़े पर सो सकता था, तो मैं ऊँट पर सो सकता हूँ।

इससे भी आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि वे जब चाहते थे, तभी जग जाते थे। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी और मेरे घनिष्ठ मित्र महादेव भाई बताते थे कि बापू दो मिनट के अंदर गहरी नींद में हो जाते हैं। प्रातःकाल पौने चार बजे प्रार्थना के लिए उठने का उनका नियम था। कोई भी ऋतु हो, कैसा भी मौसम हो, इस नियम में कोई भी बाधक नहीं होने पाता था। जब वे राउंड टेबुल कांफ्रेंस में इंग्लैड गये थे, तब वहां कभी कभी रात के दो तीन बजे तक बैठक चलती थी, गांधीजी पार्लमेंट-भवन से दस मील की दूरी पर ठहरे हुए थे। बैठक से उठकर वे दस मील चलकर अपने डेरे पर पहुँचते और सो जाते और पौने चार बजे उठकर पंद्रह निमट में हाथ मुंह धोने की क्रिया से निवृत्त होकर ठीक चार बजे, प्रार्थना पर बैठ जाते थे। नींद में जितने मिनटों की कमी होती थी, उसे वे

दिन में रात में जब मौका मिलता, कार में बैठे बठे ही मिनटों के हिसाब से पूरी कर लेते थे।

गांधीजी को दिल्ली में वायसराय से मिलने जाना था। वे हरिजन कालोनी में ठहरे हुए थे। वहां से निकल कर वे घनश्यामदास बिरला के मकान पर गये। वायसराय से मिलने का जो समय निश्चित था उससे पंद्रह मिनट की बचत थी। बापू ने सोने की एक जगह ढूंढ ली और लेट गये। साथ वालों को संदेह था कि कहीं नींद में वे सोते ही न रह जायं। पर बापू तो ठीक पंद्रह मिनट पर उठ खड़े हुए और वायसराय से मिलने चले गये। यह बात उनके साथ के एक सज्जन ने बताई थी।

गांधीजी ने वर्धा में सात दिन का उपवास किया था। मैं नागपुर गया था। वर्धा रास्ते में पड़ता था। गांधीजी को देखे बिना चुपचाप इलाहाबाद चले आना मेरे लिए असम्भव था। मैं वर्धा सेठ जमनालालजी के पास उतर गया और नहा धोकर गांधीजी से मिलने गया। वे बजाज-वाड़ी में ऊपर की मंजिल में ठहरे थे। ठक्कर बापा दरवाजे पर थे। कोई अंदर नहीं जा सकता था। मैंने ठक्कर बापा को अपना नाम बताया और कहा——मैं बापू को देखना चाहता हूँ। ठक्कर बापा अंदर गये और लौट कर उन्होंने कहा——बापू ने कहा है कि देखने के लिए एक मिनट काफी है। इसके पहले कई बार गांधीजी के पास बैठने और दूसरों से उनकी बातचीत के ढंग से मुझे पता था कि बापू शब्दार्थ लेते है, भावार्थ नहीं। हिन्दी के महावरे में देखने में बात करना भी शामिल होता है। अतएव मैं सावधान होकर कमरे में गया। गांधीजी पलंग पर लेटे हुए थे। निकट जाकर मैं चुपचाप खड़ा हो गया और उनको एकटक देखने लगा। मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं सिर्फ देखूंगा, बोलूंगा कुछ नहीं। मानों मेरे शब्द की परीक्षा हो रही थी। एक मिनट पूरा होते ही गांधीजी ही बोले——तुम तो चार बजे भी मिल सकते हो। मैं सिर्फ देखता ही रहा, बोला नहीं। परीक्षा में पास हो गया, उसका यह पुरस्कार था, प्रणाम करके मैं बाहर आ गया।

शाम को चार बजने में पांच मिनट बाकी थे। तभी मैं महादेव भाई के पास पहुँचा और कहा कि चार बजे मुझे बापू ने बुलाया है, आप मुझे ले चलिए। महादेव भाई मुझे लेकर बापू के कमरे में गये। बापू पलंग पर बैठे थे। चरखा चला रहे थे। फर्श पर करीब दो हाथ की दूरी पर आसन बिछा था। मैंने समझा कि बापू को याद था कि उन्होंने मुझे चार बजे का समय दिया है। हंसी तो बापू के ओठों पर खेलती ही रहती थी। हंसे और आसन पर बैठने का इशारा किया। मैं बैठ गया। बापू ने कहा तुलसीदास का कुछ सुनाओ। मैंने तुलसीदास का यह दोहा सुनाया——

तुलसी राम सनेह करु, त्यागि सकल उपचार।
जैसे घटत न अंक नौ, नौ के लिखत पहार।।

मैंने अर्थ बताया कि अन्य सब प्रकार के प्रयत्नों को छोड़कर अविचल भाव से राम से इस प्रकार स्नेह करना चाहिए, जैसे नौ का पहाड़ा लिखने पर नौ का अंक नहीं घटता। मैंने उदाहरण देकर कहा–नौ दूने अठारह, आठ एक नौ, नौ तियां सताईस, सात दो नौ। इसी तरह ३६, ४५,

६३, ७२, ८१ के अंकों को जोड़ने से नौ ही होता है। अर्थात् नौ अनेक रूपों में गया, पर उसका नौपन सब में एक सा कायम रहा। इसी तरह मनुष्य चाहे जिस अवस्था में रहे, राम के स्नेह में कमी नहीं होनी चाहिए।

सुनकर बापू कहने लगे—'मान लौ नौ एक आदमी है। अठारह का होने पर उसने अपने स्वभाव के गुणों और दोषों को अलग अलग करके देखा तो उसमें गुण एक और अवगुण आठ थे। उसने अवगुण को कम करने का प्रयोग शुरू किया। सत्ताईस तक पहुँचते-पहुँचते एक गुण हटा लिया और एक गुण बढ़ा दिया। इसी तरह नौ वर्षों की अवधि बांध कर प्रत्येक अवधि में एक गुण बढ़ाते और एक एक अवगुण घटाते जांय तो पैंतालीस, चौवन, तिरसठ, बहत्तर और एक्यासी की अवधि पूरी की और अंत में अवगुण खरच हो गया और नौ जैसे निर्दोष, निर्विकार रूप में संसार में आया था, वैसे ही निर्विकार नौ होकर दिखला दिया।'

गांधीजी ने नौ की जो व्याख्या की, वह तो मेरे ध्यान में भी नहीं थी। व्याख्या सुनकर मैं आनंदमुग्ध हो गया। तब मुझे याद आया था कि मालूम होता है नौ की तरह गांधीजी ने भी अपने जीवन में अवधि बांध रक्खी है और वह दस-दस वर्षों की है। सन् १९-२१-२२ में उन्होंने असहयोग आन्दोलन शुरू किया, सन् १९३१-३२ में वे राउंड-टेबुल कांफ्रेंस में विलायत गये और आगे भी सन् १९४२ में अंतिम प्रयोग 'भारत छोड़ो' का किया। सन् १९५२ तक अंतिम अवधि थी, पर स्वराज्य बीच ही में मिल गया। तुलसीदास के नौ ने जो कुछ किया, वह गांधीजी के जीवन का नित्य का विषय था। इससे नौ का मनोभाव समझने में उनको देर नहीं लगी। इससे यह भी प्रकट हुआ कि किसी विषय की व्याख्या में व्याख्याकार का निजी अनुभव भी सम्मिलित रहता है।

इसके बाद मैंने तुलसीदास के चार दोहे और सुनाये, वे ये हैं :—

१

तुलसी संत सुअंबु तरु, फूलि फलहिं पर हेत।
इतते ये पाहन हनै, उतते वे फल देत।।

२

तुलसी तृन जल कूल को, निर्बल निपट निकाज।
का राखै का संग चलै, बांह गहे की लाज।।

३

सत्रु सयानो सलिल ज्यों, रखत सीस रिपु नाव।
बूड़त लखि डगमगत लखि, चपरि चहूँ दिसि घाव।।

४

तुलसी अपने राम को, रीझि भजो कै खीझि।
उलटे सीधे जमत हैं, खेत पड़े कौ बीज।।

दोहे सुनकर गांधीजी बहुत प्रसन्न हुए। दोहों के भावों की व्याख्या वे अपने जीवन से मिलाकर मन ही मन कर लेते रहे होंगे।

इसके बाद मैंने पूछा, रामायण तो आप की गुजराती भाषा का नहीं है, फिर इसका पारायण आप इतने प्रेम से कैसे करने लगे ?

बापू के बताया–'मेरे पितामह एक राज्य के दीवान थे। राजकीय मामले से बहुत चिंतित रहा करते थे। मेरे मकान से थोड़ी ही दूर पर एक मंदिर था। उसका पुजारी रोज मेरे मकान के सामने से मंदिर में पूजा करने जाया और आया करता था। उसे रक्त-पित्त का रोग था और उसके शरीर पर फोड़े निकले थे। मंदिर से लौटते समय वह फोड़ों पर बेलपत्र चिपकाये रहता था। एक दिन मेरे पितामह ने उससे इसका कारण पूछा तो उसने कहा, शिवजी को चढ़ाये बेलपत्रों के चिपकाने से फोड़े अच्छे हो जाते हैं। मेरे पितामह ने पूछा, मुझे चिंता का रोग है इसका भी कोई इलाज है ? पुजारी ने कहा, नित्य तुलसीदास के रामायण का पाठ कीजिए। तब से मेरे घर में रायामण का प्रचार हुआ और पितामह नित्य रामायण का नियमित पाठ करने लगे और उनकी चिंता भी जाती रही। पितामह से पिता ने लिया और पिता से मैंने उसका परिचय पाया। दक्षिण अफ्रीका में मेरे साथ उत्तर प्रदेश के लोग बहुत थे। उनको मैं अक्सर देखता था कि दस पांच एक साथ बैठकर जोर जोर से अनेक रागों में रामायण गाते और सुख का अनुभव करते थे। तब से मैं ध्यानपूर्वक इसका पाठ करने लगा और यह तो अब मेरी प्रार्थना का एक अंग है।'

किसी एक दिन, जो मुझे याद नहीं है, प्रार्थना के समय में भी मैं गांधीजी के पास बैठा था। उस दिन गांधीजी के भतीजे कनु गांधी प्रार्थना में नहीं आये थे। किसी ने बताया कि उनकी तबीयत खराब है। प्रार्थना में कनु गांधी ही स्वर से गाकर रामायण सुनाते थे। गांधीजी रामायण की प्रति अपनी दोनों जांघों के बीच में रखकर पढ़ते जाते थे। कनु गांधी नहीं थे। इससे उस दिन रामायण का गान नहीं हुआ। प्रार्थना की समाप्ति पर मैंने गांधीजी से पूछा—'कनु गांधी से ही आप रामायण क्यों सुनते हैं ? रामायण तो कोई भी सुना सकता है। गांधीजी ने कहा--उसका कंठ-स्वर मेरे पिता के कंठ-स्वर से मिलता है। वह गाता है, तब मुझे ऐसा लगता है कि पिताजी सुना रहे हैं।'

मैंने लगातार पांच वर्षों तक खोज करके रामचरित मानस का पाठ शुद्ध किया था और उसकी टीका लिखी थी और उसे मोटे अक्षरों में छपवा भी दिया था। गांधीजी ने उसकी भूमिका बहुत पसंद की थी। उन्होंने उसे पढ़कर और मुझे पत्र लिखकर अपनी प्रसन्नता भी प्रकट की थी।

वर्धा में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था। मैं भी गया था। मैं गांधीजी से मिलने गया, तब मुझे देखते ही उन्होंने कहा–देखो, रामायण को पतले अक्षरों में छपाओ, मेरा पेट दुखता है। यह पेट दुखनेवाली बात वही समझ सकता है, जिसने उनको मसनद के सहारे बैठे हुए और दोनों जांघों और पेट पर रखकर रामायण को पढ़ते हुए देखा हो। रामायण का वजन चार सेर था। इतना बड़ा वजन गांधीजी के पेट में, जो उपवास करते करते थका-सा रहता ही था, दर्द तो पैदा करेगा ही।

कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन था। मैं भी गया था। मेरा खंडकाव्य 'पथिक' छप चुका था। एक प्रति मैंने गांधीजी को भेंट की और प्रार्थना की कि आप इसे पढ़ जायं और देखें कि मैंने आपको ठीक समझा है या नहीं। गांधीजी ने कहा, अच्छा पढ़ूंगा और महादेव भाई को देखकर कहा कि यह पुस्तक प्रतिदिन मेरे सामने रक्खी जाय। इसके बाद 'पथिक' के समाचार महादेव भाई के पत्रों से मिलते रहे।

एक पत्र में महादेव भाई ने मुझे लिखा कि एक दिन सवेरे के जरूरी कागजों के साथ 'पथिक' सामने नहीं रक्खा गया। गांधीजी ने पूछा 'पथिक' क्यों नहीं रक्खा गया ? और वह तत्काल सामने रख दिया गया।

एक पत्र में लिखा कि गुजरात विद्यापीठ के एक हिन्दी अध्यापक 'पथिक' का शब्दशः अर्थ समझाने के लिए नियुक्त किये गये हैं। इस तरह सात महीने में 'पथिक' को पढ़कर पूरा किया था।

एक पत्र में लिखा कि गांधीजी ने सर लल्लूभाई सांवलदास को, जो मिलने आये थे, 'पथिक' की पूरी कथा सुनाई।

अंत में मैंने महादेव भाई को लिखा कि 'पथिक' पर बापू की जो सम्मति हो, लिखवाकर भेज दीजिए। इस पर गांधीजी ने मुझे पत्र लिखा, जिसका सारांश यह है कि 'पथिक' को एक बार रसपूर्वक पढ़ गया हूँ। कब समय मिले कि दुबारा पढ़ूं। अभी तो यही लिखकर समाप्त करता हूँ कि तुम्हारे द्वारा हिन्दी की अच्छी सेवा होती रहे।

'पथिक' पर इतना ध्यान देने का एक कारण यह भी मैंने समझा था कि बापू एक शब्द भी असत्य भाषण नहीं करते थे। उन्होंने कानपुर में कहा था कि 'पथिक' को पढ़ूंगा, अतएव उन्होंने उसे अच्छी तरह पढ़कर ही अपने वचन का पालन किया।

गांधीजी की स्मरणशक्ति बड़ी प्रबल थी। जिसके साथ वे जैसा व्यवहार शुरू करते थे, उसे सदा याद रखते थे और आगे कभी उसमें भूल नहीं होने देते थे।

पत्रों में वे प्रायः सब को भाई कहकर संबोधन करते थे। प्रिय, प्रियवर श्रीमान् आदि शब्द उनके पत्रों में मेरे देखने में नहीं आये।

मेरे पास उनके दस बारह पत्र हैं। सभी सेठे की कलम से लिखे हुए हैं। टाइप किया और किसी सेक्रेटरी से लिखाया हुआ एक भी नहीं है। उनको प्रतिदिन सैकड़ों पत्र लिखाने पड़ते थे। उन में बहुत से टाइप भी किये जाते होंगे। पर अपने खास खास कृपापात्रों को वे स्वयं अपनी सेठे की कलम से लिखते थे और उसके लिए भी समय निकाल ही लेते थे।

नीचे अपना नाम मो० क० गांधी देते थे। मेरे पास एक ही कार्ड है, जिस पर बापू लिखा है। उसे पाकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ था। क्योंकि मैं जानता था कि यह नाम वे अपने अत्यंत निकटवर्ती विश्वासपात्र व्यक्ति ही को लिखते थे।

साबरमती आश्रम में बापू से मेरी पहली मुलाकात दोपहर के भोजन के उपरांत हुई थी। उसके बाद में जितनी बार मिलने गया हूँ, दोपहर के भोजन के समय ही मुझे समय मिला है। १९४६ के मई महीने में गांधीजी मसूरी आये थे और बिरला-हाउस में ठहरे थे। मैं भी मसूरी

गया था। मैंने गांधीजी के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री प्यारेलालजी से कहा कि बापू से मिलने का समय पूछ लें। बापू ने कहा--उनको तो खाने के समय पर ही समय दिया जाता है। शाम को सात बजे बुला लो। पहली मुलाकात शायद १९१८ या १९ में हुई थी। बीच में कई मुलाकातें इलाहाबाद में हुईं। अंतिम मुलाकात १९४६ में मसूरी में हुई। गांधीजी ने लगातार लगभग अठाईस वर्षों में मुझे वही समय दिया, जो पहली मुलाकात में दिया था। उनसे सम्पर्क स्थापित करने वालों की संख्या तो सारे देश में लाखों की होगी। सब के साथ वे अपने नियम रखते थे और उसे याद रखते और निभाते भी थे।

[४]

गांधीजी जब जब प्रयाग आये, करीब करीब सभी अवसरों पर मैं उनसे मिलने गया हूं। हमेशा उन्होंने मुझे खानां खाने ही का समय दिया, मानो वे हर एक मिलने वाले के लिए समय निर्धारित कर रखते थे और उसे स्वयं याद भी रखते थे।

एक बार वे इलाहाबाद आये थे, कांग्रेस वालों ने तहसील हंड़िया के सदर मुकाम पर एक सभा का आयोजन किया, जिसमें गांधीजी का भाषण होने वाला था।

गांधीजी की मोटर दारागंज के नीचे झूंसी के पुल तक पहुंच कर रुक गई, क्योंकि पुल की मरम्मत हो रही थी और मोटर के गुजरने के लिए रास्ता किया जा रहा था।

उनके पीछे मालवीय जी महाराज की मोटर थी, वे भी वहीं रुक गये थे। कालाकांकर के राजा अवधेश सिंह भी भाषण सुनने हंड़िया जा रहे थे। मैं भी उनकी कार में बैठा था। वह कार भी वहीं जाकर रुक गई। कार से उतरकर मैं गांधीजी के पास गया। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, देखो, तुमको डायबिटीज की बीमारी है, उसकी दवा मेरे पास है। मैंने हंस कर कहा, आपके पास तो उपवास ही दवा है। गांधी जी ने दृढ़ता प्रकट करते हुए कहा--हां, हां, तुम सात दिन उपवास कर लो तो मैं लिख कर दे सकता हूं कि तुम्हारी उम्र दस वर्ष बढ़ जायगी।

मालवीय जी महाराज पास ही खड़े थे। उन्होंने हंस कर कहा--रामनरेशजी इनकी बात नहीं मानना। नहीं तो हड्डियों का ढांचा ही रह जाओगे।

गांधीजी ने मुस्कुरा कर तत्काल कहा--तब तो तुम हीरे मोती का भस्म खाओ।

दो वृद्ध नेताओं का परस्पर यह विनोद बड़ा ही मधुर था।

इस संस्मरण में, सब से अधिक मर्मस्पर्शी बात यह है कि सन् १९२८ में जब ग्रामगीतों पर मेरी पुस्तक 'कविता कौमुदी ग्रामगीत' प्रकाशित हुई तब मैंने उसकी एक प्रति वर्धा के पते पर गांधीजी को भेजी। बाद को मालूम हुआ कि वह पुस्तक उन्हें मेरठ में मिली। उन दिनों वे उत्तर प्रदेश का दौरा कर रहे थे। लाखों की भीड़ में वे भाषण करते, हजारों से रोज बातें करते और 'हरिजन' और 'हरिजन सेवक' के लिए रोज लेख लिखते और सैकड़ों पत्रों को सुनते और उनके उत्तर लिखते लिखाते। फिर भी उन्होंने 'ग्रामगीत' की भूमिका में लिखा हुआ

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी की हस्त-लिपि

डा० कोइरीपुर
जि० जौनपुर
८.४.५८

अब तो चलने के दिन आये,
पता नहीं है जीवन का रथ किस मंज़िल तक जाये,
मन तो कहता ही रहता है, निपराये, निपराये,"
कर बोला जिह्वा भी बोली पाँव पेट भर खाये,
जीवन की अनन्त धारा में तैर तक बढ़ आये,,
चले कहाँ से कहाँ आ गये, क्या क्या किये कराये,
यह चलचित्र देखने ही को अब तो खाट बिछाये
जग देखो, पहचान लिये सब अपने और पराये,"
मित्रों का उपकृत हूँ जिनसे नेह निछावरि पाये,,
प्रिय निर्मल जी! पितरों पर अब कविता कौन बनाये?
मैं तो स्वयं पितर बनने को बैठा हूँ मुँह बाये,,
अब तो चलने के दिन आये।

रामनरेश त्रिपाठी

सन् १९५८ ई० में शिक्षा-मंत्रालय (भारत सरकार) की सहायता से प्रयाग में प्रौढ़-शिक्षा संबंधी कुछ रीडरें तैयार हो रही थीं। उससे हमारा भी संबंध था। हमने पंडित रामनरेश त्रिपाठी को एक पत्र लिख कर निवेदन किया कि वह उन रीडरों के लिये 'हमारे पूर्वज' शीर्षक से एक कविता लिख भेजें। उन दिनों त्रिपाठी जी अपने गाँव में अत्यन्त रुग्ण होकर कई मास से चारपाई पर पड़े थे। उनके बचने की कोई आशा नहीं थी। उसी समय त्रिपाठी जी ने हमारे पत्र के उत्तर में यह मर्मस्पर्शी तथा करुण रचना भेजी थी—सं० स० प०।

मेरा यह वाक्य याद रक्खो कि ग्रामगीतों के संग्रह में अधिक गुड़ खाने से मुझे डायबिटीज हो गई। जैसे किसी के हजारों पुत्र हों, और वह एक दयालु और पुत्रवत्सल पिता की तरह हर एक के दुख-सुख की याद रक्खे और उसे सामने देखते ही उसे इलाज भी बता दे। मैं तो चकित हो गया और गांधीजी को पिता की तरह श्रद्धा से देखने लगा। दो वृद्ध और परस्पर घनिष्ठ मित्र नेताओं का वाग्विनोद भी मुझे बहुत प्रिय लगा।

१९४६ में मुझे लकवा मार गया था, और मैं खाट पर पड़े रहने को विवश हो गया था। किसी ने गांधीजी को यह समाचार दिया होगा। इस पर गांधीजी ने मुझे एक कार्ड पर लिखा कि तुम्हारी बीमारी का हाल पाकर दुःख हुआ। तुम 'हरिजन सेवक' तो पढ़ते ही होगे। उसमें मेरे लेखों में महावरे की जो जो त्रुटियां हों, उन्हें लिख कर मेरे पास भेज दिया करना। इसे पढ़ कर मुझे बड़ी हंसी आई। मैंने समझा, गांधीजी मुझे जहां तक निचोड़ सकते थे, निचोड़ कर ही मरने देना चाहते हैं। खाट पर लेटे लेटे कुछ करने का मुझे उन्होंने काम सौंप दिया। वे किसी को बेकार मरने भी नहीं देना चाहते थे।

[५]

मई १९४६ में मैं अपने मित्रों के साथ मसूरी गया था। गांधीजी एक सप्ताह के लिए दिल्ली से मसूरी आये थे। प्रतिदिन शाम को एक मैदान में गांधीजी का उपदेश होता और मैं सुनने जाता था। यह कैसे हो सकता था कि इतने निकट पाकर मैं गांधीजी से न मिलता और मुंह छिपाकर बैठ रहता ? मैंने श्री प्यारेलाल जी को कहा कि वे बापू से मेरे मिलने का समय ले लें। श्री प्यारेलाल ने बापू से पूछ कर मुझे शाम के साढ़े छः बजे से सात तक का समय दिया। मैं ठीक समय पर मिलने गया। उनके कमरे में मैंने पैर रक्खा ही था कि उन्होंने मानो गद्‌गद् होकर कहा कि मैंने हरिहर शर्मा को फिर अपने साथ रख लिया है। यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई और मैं उनके सामने बैठ गया। उस समय वे एक कटोरी में लेकर कोई काली सी पिसी हुई चीज़ चिम्मच से खा रहे थे। मैंने समझा तिल था। आहार सम्बन्धी उनके प्रयोग तो चलते ही रहते थे।

उन्होंने पूछा—तुम कब आये। इस 'तुम' शब्द के लिए मैं गत बीस वर्षों में तरसता ही रहा था। उस दिन उनके मुख से अपने लिए तुम शब्द सुनकर मुझे इतना आनंद हुआ कि मैं उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता, जैसे मेरी साधना सफल हो गई हो। मैंने अपने आने का समय बता दिया। फिर पूछा—कहां ठहरे हो ? मैंने कहा—श्रीगोपाल नेवटिया के साथ। उन्होंने कहा हां, मैं श्रीगोपाल को जानता हूं। कोई कष्ट तो नहीं है ? मैंने हंस कर कहा—आपकी शिक्षा से दुःख की परिधि इतनी छोटी हो जाती है कि सेठ के घर का सुख ही दुःख समझ पड़ने लगता है। गांधीजी मुस्कुराये। इसके बाद मैंने कहा—हरिहर शर्मा को आपने अपने साथ फिर रख लिया, इससे तो यही प्रकट होता है कि पूर्वकाल में यह श्लोक किसी ने आपही के लिए बनाया था। मैंने श्लोक पढ़ा—

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।'

गांधीजी बोले--मैं मद्रास गया था, तब हरिहर शर्मा मुझे मिला था। उसके तो तीन चार बच्चे भी हैं। यह कह कर वे खिलखिला कर हंस पड़े।

इसके बाद मैंने उर्दू की चर्चा चलाई। उन दिनों गांधीजी ने यह नियम बनाया था कि हर एक कांग्रेसी को उर्दू भाषा और उर्दू लिपि दोनों सीखनी चाहिए। मैंने कहा--यह नियम हिन्दुस्तानी के प्रचार में सहायक न होगा। उर्दू लिपि स्वयं उर्दू के प्रचार में बाधक हुई है। यदि उर्दू की पुस्तक नागरी लिपि में छपती तो हिन्दी वाले भी पढ़ते और उर्दू के महावरों और अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों की जानकारी सहज में प्राप्त कर लेते और आज हिन्दुस्तानी के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है, उसकी जरूरत ही न पड़ती। होना यह चाहिए कि भारत की प्रत्येक लिपि में हिन्दुस्तानी की पुस्तक छपाई जायं। भारत के प्रान्तों के लोग जब मिलेंगे, तब हिन्दुस्तानी भाषा में बातचीत करेंगे, न कि उर्दू लिपि में।

बात गांधीजी को सारयुक्त मालूम हुई। उन्होंने कहा--इसे लिख कर दो। मैंने अगले दिन लिख कर दिया, तो 'हरिजन सेवक' में गांधीजी की एक टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ। और बाद में सुना कि मेरी मुलाकात के बाद ही गांधीजी ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को तार दिलाया कि दक्षिण भारत की प्रत्येक लिपि में हिन्दुस्तानी की पुस्तक छपाई जायें। यह सुन कर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि कोई बात ठीक समझ में आ जाने के बाद वे उसे कार्य रूप में परिणत करने में देरी नहीं लगाते थे।

इसके बाद मैंने कहा, सत्य के प्रयोग से इस देश को स्वतंत्रता मिल गई, इसका श्रेय आपको है। बापू ने कहा, अहिंसा के प्रयोग से। सत्य की एक किरन भी हमें मिल जाती, यह उन्होंने आह भर कर कहा। मैंने हंसकर कहा--यह तो अहिंसा पर आपका विशेष प्रेम है। जैसे कोई पिता पुत्र से अपनी पुत्री को ज्यादा प्यार करता है। आपके साथियों में कोई अहिंसक नहीं था। यह आपका प्रभाव था कि वे आपकी अहिंसा का समर्थन करते थे। मेरा तो ख्याल है कि आपके उपदेश से सारा देश अंग्रेज़ों से निर्भय होने पर सत्य कहने लगा कि तुम हमारा देश छोड़ कर अपने देश में जाओ। अंग्रेज़ों पर उसी का प्रभाव पड़ा है। आप अहिंसा की जो व्याख्या करते हैं, उसके अनुसार चलना सहज नहीं है, पर उसके मुकाबले में सत्य बोलना आसान पड़ता है। इसके बाद मैंने एक पौराणिक कथा सुनाई, जिसमें कई हजार मुनियों ने नैमिषारण्य में एकत्र होकर बहुत समय तक सत्य पर विचार किया था। अंत में उन्होंने निर्णय दिया था कि वे सत्य असत्य का निर्णय यह करते हैं कि जिससे दूसरों का हित हो, वही सत्य है। कथा जो मैंने सुनाई थी, वह यह है—

एक बार एक हिरन भाग कर एक मुनि की कुटी में घुस गया। मुनि कुटी के बाहर चबूतरे पर बैठे थे, हिरन के पीछे व्याध आया। उसने मुनि से पूछा, इधर कोई हिरन आया है, मुनि चुप रहे। व्याध ने समझा, मुनि ऊंचा सुनते हैं। उसने जोर से पूछा, मुनि फिर चुप रहे तब व्याध ने झुंझलाकर और जोर से पूछा। तब मुनि ने कहा—

पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति।
अहो व्याध स्वकार्यार्थिक किं पृच्छसि पुनः पुनः।

व्याध चला गया। मुनि ने हिरन की प्राण-रक्षा के लिए व्याध को गोलमोल उत्तर दिया, हिरन के प्राण तो बच गये, पर मुनि को यह चिंता हुई कि उन्होंने असत्य भाषण करके पाप किया है। अपनी शंका लेकर वह दूसरे मुनि के पास गये। सबने मिल कर यह निश्चय किया कि यह प्रश्न नैमिषारण्य में जहां हजारों तपस्वी और विद्वान् मुनि एकत्र होंगे, उठाया जाय और उनसे निर्णय मांगा जाय। ऐसा ही हुआ और मुनियों ने यह निर्णय दिया कि वे सत्य और असत्य का यही निर्णय करते हैं कि जिससे किसी का हित हो, वही सत्य है।

बापू ने कहा—इसमें भी तो अहिंसा की विजय हुई है। मुझे डर लग रहा था कि मैं अधिक समय ले रहा हूं। मैंने दो तीन बार कहा—मैं अधिक समय ले रहा हूं। बापू यही कहते रहे कि बात करो न? फिर बापू ने पूछा—कुछ कविता करते हो? मैंने कहा—मैंने कविता करना छोड़ दिया है। बापू ने कहा—मगर कविता ने तुम्हें नहीं छोड़ा होगा। मैंने हंसकर कहा—हां, नहीं छोड़ा है। कभी कभी तरंग आ ही जाती है। बापू ने कहा—कुछ बनाया हो तो सुनाओ।

मैंने सकुचाते हुए कहा—आप पर मैंने दो छंद लिखे हैं।

बापू को अपने विषय में कोई आलोचनात्मक बात सुनने में कुछ विशेष मजा आता था, ऐसा मेरा अनुमान है। क्योंकि आलोचना में उनको अपनी कोई त्रुटि मालूम हो जाती तो वे उसे दूर कर लेते थे।

मैंने दोनों छंद सुना दिये। एक का भाव यह था कि राम ने बानर भालुओं की सेना लेकर रावण को पराजित किया और लंका पर विजय प्राप्त की किन्तु विजय पाते ही उन्होंने बानर भालुओं की सेना तोड़ दी और उन्हें उनके घर भेज दिया। आपकी सेना भी मुख्यतः बानर या भालुओं ही की थी। जमींदार, सेठ, वकील, सरकारी कर्मचारी प्रायः सभी आपके विपक्ष में थे। ज्यादातर किसान और मजदूर वर्ग के लोग, जो बानर भालुओं ही की तरह अपढ़ और अशिक्षित थे, आपके साथ थे। उन्हीं की सहायता से आपने भी अंग्रेजों पर विजय प्राप्त की। पर राम ने जो बुद्धिमानी की, वह आपने नहीं की। आपने अपनी सेना बर्खास्त नहीं की, जिसने अंग्रेज़ी राज्य के उजाड़ने का अभ्यास किया था, वरन् उसे देश बसाने का काम सौंप दिया।

दूसरे छंद की अंतिम कड़ी थी—'हमको महंगी पड़ी लाल पगड़ी से टोपी।'

दोनों छंद सुन कर गांधीजी विचार-मग्न हो गये। मैं चिंतित हो गया कि शायद उनको यह प्रिय नहीं लगा।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि इसी भाव के कुछ पत्र उनको दक्षिण भारत से भी मिले थे। और बहुत सम्भव है कि जीवन के अंतिम दिनों में जो उन्होंने कांग्रेस को समाप्त कर के 'जन सेवक संघ' के निर्माण जो सम्मति दी, उसमें ऐसी ही आलोचनाओं का प्रभाव पड़ा होगा।

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।'

गांधीजी बोले——मैं मद्रास गया था, तब हरिहर शर्मा मुझे मिला था। उसके तो तीन चार बच्चे भी हैं। यह कह कर वे खिलखिला कर हंस पड़े।

इसके बाद मैंने उर्दू की चर्चा चलाई। उन दिनों गांधीजी ने यह नियम बनाया था कि हर एक कांग्रेसी को उर्दू भाषा और उर्दू लिपि दोनों सीखनी चाहिए। मैंने कहा——यह नियम हिन्दुस्तानी के प्रचार में सहायक न होगा। उर्दू लिपि स्वयं उर्दू के प्रचार में बाधक हुई है। यदि उर्दू की पुस्तक नागरी लिपि में छपती तो हिन्दी वाले भी पढ़ते और उर्दू के महावरों और अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों की जानकारी सहज में प्राप्त कर लेते और आज हिन्दुस्तानी के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है, उसकी जरूरत ही न पड़ती। होना यह चाहिए कि भारत की प्रत्येक लिपि में हिन्दुस्तानी की पुस्तक छपाई जायं। भारत के प्रान्तों के लोग जब मिलेंगे, तब हिन्दुस्तानी भाषा में बातचीत करेंगे, न कि उर्दू लिपि में।

बात गांधीजी को सारयुक्त मालूम हुई। उन्होंने कहा——इसे लिख कर दो। मैंने अगले दिन लिख कर दिया, तो 'हरिजन सेवक' में गांधीजी की एक टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ। और बाद में सुना कि मेरी मुलाकात के बाद ही गांधीजी ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को तार दिलाया कि दक्षिण भारत की प्रत्येक लिपि में हिन्दुस्तानी की पुस्तक छपाई जायें। यह सुन कर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि कोई बात ठीक समझ में आ जाने के बाद वे उसे कार्य रूप में परिणत करने में देरी नहीं लगाते थे।

इसके बाद मैंने कहा, सत्य के प्रयोग से इस देश को स्वतंत्रता मिल गई, इसका श्रेय आपको है। बापू ने कहा, अहिंसा के प्रयोग से। सत्य की एक किरन भी हमें मिल जाती, यह उन्होंने आह भर कर कहा। मैंने हंसकर कहा——यह तो अहिंसा पर आपका विशेष प्रेम है। जैसे कोई पिता पुत्र से अपनी पुत्री को ज्यादा प्यार करता है। आपके साथियों में कोई अहिंसक नहीं था। यह आपका प्रभाव था कि वे आपकी अहिंसा का समर्थन करते थे। मेरा तो ख्याल है कि आपके उपदेश से सारा देश अंग्रेज़ों से निर्भय होने पर सत्य कहने लगा कि तुम हमारा देश छोड़ कर अपने देश में जाओ। अंग्रेज़ों पर उसी का प्रभाव पड़ा है। आप अहिंसा की जो व्याख्या करते हैं, उसके अनुसार चलना सहज नहीं है, पर उसके मुकाबले में सत्य बोलना आसान पड़ता है। इसके बाद मैंने एक पौराणिक कथा सुनाई, जिसमें कई हजार मुनियों ने नैमिषारण्य में एकत्र होकर बहुत समय तक सत्य पर विचार किया था। अंत में उन्होंने निर्णय दिया था कि वे सत्य असत्य का निर्णय यह करते हैं कि जिससे दूसरों का हित हो, वही सत्य है। कथा जो मैंने सुनाई थी, वह यह है—

एक बार एक हिरन भाग कर एक मुनि की कुटी में घुस गया। मुनि कुटी के बाहर चबूतरे पर बैठे थे, हिरन के पीछे व्याध आया। उसने मुनि से पूछा, इधर कोई हिरन आया है, मुनि चुप रहे। व्याध ने समझा, मुनि ऊंचा सुनते हैं। उसने जोर से पूछा, मुनि फिर चुप रहे तब व्याध ने झुंझलाकर और जोर से पूछा। तब मुनि ने कहा—

पश्यति न साब्रूते, याब्रूते सान पश्यति।
अहो व्याध स्वकार्यार्थिक किं पृच्छसि पुनः पुनः।

व्याध चला गया। मुनि ने हिरन की प्राण-रक्षा के लिए व्याध को गोलमोल उत्तर दिया, हिरन के प्राण तो बच गये, पर मुनि को यह चिंता हुई कि उन्होंने असत्य भाषण करके पाप किया है। अपनी शंका लेकर वह दूसरे मुनि के पास गये। सबने मिल कर यह निश्चय किया कि यह प्रश्न नैमिषारण्य में जहां हजारों तपस्वी और विद्वान् मुनि एकत्र होंगे, उठाया जाय और उनसे निर्णय मांगा जाय। ऐसा ही हुआ और मुनियों ने यह निर्णय दिया कि वे सत्य और असत्य का यही निर्णय करते हैं कि जिससे किसी का हित हो, वही सत्य है।

बापू ने कहा––इसमें भी तो अहिंसा की विजय हुई है। मुझे डर लग रहा था कि मैं अधिक समय ले रहा हूं। मैंने दो तीन बार कहा—मैं अधिक समय ले रहा हूं। बापू यही कहते रहे कि बात करो न? फिर बापू ने पूछा—कुछ कविता करते हो? मैंने कहा––मैंने कविता करना छोड़ दिया है। बापू ने कहा––मगर कविता ने तुम्हें नहीं छोड़ा होगा। मैंने हंसकर कहा––हां, नहीं छोड़ा है। कभी कभी तरंग आ ही जाती है। बापू ने कहा––कुछ बनाया हो तो सुनाओ।

मैंने सकुचाते हुए कहा––आप पर मैंने दो छंद लिखे हैं।

बापू को अपने विषय में कोई आलोचनात्मक बात सुनने में कुछ विशेष मजा आता था, ऐसा मेरा अनुमान है। क्योंकि आलोचना में उनको अपनी कोई त्रुटि मालूम हो जाती तो वे उसे दूर कर लेते थे।

मैंने दोनों छंद सुना दिये। एक का भाव यह था कि राम ने बानर भालुओं की सेना लेकर रावण को पराजित किया और लंका पर विजय प्राप्त की किन्तु विजय पाते ही उन्होंने बानर भालुओं की सेना तोड़ दी और उन्हें उनके घर भेज दिया। आपकी सेना भी मुख्यतः बानर या भालुओं ही की थी। जमींदार, सेठ, वकील, सरकारी कर्मचारी प्रायः सभी आपके विपक्ष में थे। ज्यादातर किसान और मजदूर वर्ग के लोग, जो बानर भालुओं ही की तरह अपढ़ और अशिक्षित थे, आपके साथ थे। उन्हीं की सहायता से आपने भी अंग्रेजों पर विजय प्राप्त की। पर राम ने जो बुद्धिमानी की, वह आपने नहीं की। आपने अपनी सेना बर्खास्त नहीं की, जिसने अंग्रेज़ी राज्य के उजाड़ने का अभ्यास किया था, वरन् उसे देश बसाने का काम सौंप दिया।

दूसरे छंद की अंतिम कड़ी थी––'हमको महंगी पड़ी लाल पगड़ी से टोपी।'

दोनों छंद सुन कर गांधीजी विचार-मग्न हो गये। मैं चिंतित हो गया कि शायद उनको यह प्रिय नहीं लगा।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि इसी भाव के कुछ पत्र उनको दक्षिण भारत से भी मिले थे। और बहुत सम्भव है कि जीवन के अंतिम दिनों में जो उन्होंने कांग्रेस को समाप्त कर के 'जन सेवक संघ' के निर्माण जो सम्मति दी, उसमें ऐसी ही आलोचनाओं का प्रभाव पड़ा होगा।

से चिढ़ती थी और घर के बड़े लोगों से इसके लिए कई बार झगड़ा भी कर चुकी थी कि मेरा नाम इतना पुराना, लम्बा और रद्दी क्यों रखा गया ? फलतः जब त्रिपाठी जी ने पूछा तो मैंने बड़ी ही हिचकिचाहट से उत्तर दिया—'रामकुमारी'। इस पर वे बोले—'बड़ा ही सुन्दर नाम है तुम्हारा।' मुझे थोड़ी सी हँसी आई। मैंने बाबू जी की ओर देखा। वे भी मुस्कराते हुए बोले—'यह अपने नाम से बहुत नाराज रहती है और मुझसे झगड़ती रहती है कि इतना खराब नाम क्यों रखा गया।'

हम सभी इन्हीं बातों में लगे थे कि त्रिपाठी जी के नेत्रों में आँसू की बूँद छलछलाती दीख पड़ीं। मैं गम्भीर हो गई। वे बोले, "तुम्हारे नाम ने मेरे प्रिय मित्र की याद दिला दी है जिन्हें मैं कभी नहीं भूल पाता। उसका नाम था 'रामकुमार'। उनकी मृत्यु से मुझे गहरी चोट लगी थी और तभी मैंने 'पथिक' की रचना की थी। मैंने उस पुस्तक में पांच सर्ग रखे जो उनके नाम के प्रत्येक अक्षर से प्रारम्भ हुआ है।" बाबू जी को 'पथिक' की पंक्तियां याद थीं। जब उन्होंने सुनाया तो वह आत्मविभोर हो उठे। उनके चले जाने पर मैंने 'पथिक' खोल कर देखा। सचमुच ही पांचों सर्ग 'रामकुमार' के पांच अक्षरों के क्रमानुसार ही थे।

'पथिक' के प्रथम सर्ग का प्रथम छंद इस प्रकार है—

राग-रथी रविराग पथी
अविराग विनोद बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से
सुंदर सरस सवेरा।
एक पथिक अति मुदित उदधि के
वीच बिचुंबित तीरे।
सुख की भांति मिला प्राची से,
आकर धीरे धीरे।।

इस छंद की प्रथम पंक्ति का प्रथम अक्षर 'रा' से प्रारंभ होता है। उसके मित्र का नाम भी 'रामकुमार' था।

इसके बाद हम सब अपने पुराने मकान, अलोपीबाग, में चले आये। वहां पर भी त्रिपाठी जी कई बार आये और दर्शन-लाभ होता रहा। इसी बीच एक बार उन्होंने बाबू जी को सुल्तानपुर किसी उत्सव में भाग लेने के लिए बुलाया। वहां उन्होंने अपनी समस्त पुस्तकें भी मेरे पिता जी को भेंट की। इस बार मुझे उनकी समस्त रचनाओं को एक साथ देखने और पढ़ने का अवसर मिला। उनकी कहानियों में 'वफाती चाचा' तथा नाटकों में 'जयन्त' एवं 'कन्या का तपोवन' मुझे अत्यन्त प्रिय लगीं। उन्हीं दिनों 'कल्याण' में उनका एक लेख भी पढ़ा जिसमें उन्होंने संस्मरणात्मक रूप से ईश्वर के ऊपर भरोसा रखने पर मनुष्य की विजय दिखाई थी। इन समस्त रचनाओं के पढ़ लेने के बाद मेरे मन में त्रिपाठी जी के लिए अपूर्व सम्मान हो गया और मेरी

इच्छा होने लगी कि इस बार त्रिपाठी जी से भेंट होने पर उनकी रचनाओं के विषय में अवश्य ही कुछ पूछताछ करूंगी।

सौभाग्यवश एक दिन एकाएक हाथ में छड़ी लिए और बन्दगले का लम्बा कोट, धोती और टोपी पहने त्रिपाठी जी बाबू जी से मिलने आ ही गये। उस दिन बाबू जी घर पर नहीं थे। मैंने प्रणाम किया और कमरे में बैठने के लिए कहा तो बोल उठे, "क्या होगा, यहीं ठीक है" यह कहते हुए वह बाहर रखी हुई चौकी पर बैठ गये और पीने के लिए पानी मांगा। मैंने उनकी पुस्तकों की चर्चा प्रारम्भ की—"आपकी कहानी 'वफाती चाचा' बहुत अच्छी लिखी है। 'जयन्त' तथा 'कन्या का तपोवन' में आपने जिन आदर्शों की चर्चा की है क्या वे सम्भव हैं?"। त्रिपाठी जी बोले, "यदि इनमें से शतांश का भी लोग अनुकरण करेंगे तो उनका कल्याण ही हो सकता है।"

जब मैंने 'कल्याण' में छपे उनके लेख की उस घटना की सत्यता के विषय में (एक बार त्रिपाठी जी को किसी ने विषपान करा दिया था परन्तु काफी पीने के कारण बच गये थे, उस दिन चाय नहीं पी थी, अन्यथा मर गये होते) पूछा तो कहने लगे, "मेरे जीवन में ऐसे कई अवसर आये हैं जब मैं मृत्यु के मुंह से बाल बाल बच निकला हूं।" यह कह कर उन्होंने मुझे अपने दो संस्मरण सुनाये, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

प्रयाग में हिन्दू मुसलिम दंगा था। नखासकोने से ही होकर उन्हें स्टेशन जाना था। उनके पास कोई हथियार न था, जेब में एक फाउन्टेनपेन थी। जब लोगों ने उनका पीछा किया तो उन्होंने जेब में हाथ डाला और पेन को निकाल कर हाथ में इस प्रकार पकड़ा मानो वह पिस्तौल हो। पीछा करने वाले भाग खड़े हुए।

इसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान दंगे के समय वह एक तांगे में बैठे थे। तांगेवाला बदमाशी से ऐसी गली में होकर उन्हें ले जा रहा था जहां प्राणों का भय था। तभी सामने के मकान से निकल कर एक व्यक्ति ने पुकारा—तांगा रोको। उसने त्रिपाठी जी को पहचान लिया था, अतः प्रणाम करते हुए निवेदन किया कि तांगे से उतर कर वह उनके यहां चलें। घर ले जाकर उन्होंने बताया कि वह बदमाश था। त्रिपाठी जी ने हंसते हुए कहा कि यह व्यक्ति जो मुझे उस समय परमेश्वर के समान प्रतीत हुआ मेरा भक्त था और वह वहां का डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट था।

त्रिपाठी जी ईश्वर पर अत्यधिक विश्वास करते थे। उनके द्वारा प्रणीत साहित्य, ग्राम्य-साहित्य एवं गद्य-साहित्य अत्यन्त सुबोध एवं आदर्शों से परिपूर्ण हैं। 'कविता-कौमुदी' के द्वारा उन्होंने न जाने कितनों को हिन्दी की ओर उन्मुख किया। उनकी साहित्यिक देनों के लिये हिन्दी जगत् उनका चिरऋणी रहेगा।

कुंवर सुरेश सिंह

पंडित रामनरेश त्रिपाठी : एक संस्मरण

पूज्य पंडित रामनरेश त्रिपाठी को मैं अपना साहित्यिक गुरू मानता हूँ। उन्होंने मुझे प्रारम्भ में ही लिखने की प्रेरणा नहीं दी वरन् उत्साह-वर्धन का क्रम उनके जीवन-काल तक चलता रहा।

सन् १९३० ई० में जब मैं काशी विश्वविद्यालय में पढ़ता था तो कार से अक्सर प्रयाग हो कर ही बनारस जाता था। एक बार मैं हिन्दी-मंदिर, प्रयाग में पुस्तकें खरीद रहा था तो त्रिपाठी जी ने मेरा परिचय पूछा और उन्हें जब यह मालूम हुआ कि मैं कालाकांकर का हूँ तो उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे अपने पास बिठाल कर अपना परिचय दिया।

उन्होंने मुझे कालाकांकर-वंश के हिन्दी-प्रेम को और पूज्य मालवीय जी तथा 'हिन्दोस्तान' के संबंध में कुछ बातें बता कर उस परिपाटी को कायम रखने के लिए उत्साहित किया।

'कविता-कौमुदी' के नाते उस समय जिसे हिन्दी से थोड़ा भी प्रेम था, वह त्रिपाठी जी से अपरिचित नहीं था। मैं उनके स्नेह को देख कर चकित हो गया और जब तक वे जीवित रहे तब तक उनके स्नेह में तनिक भी कमी नहीं आई।

नमक सत्याग्रह में जब मैं जेल में था तो श्री त्रिपाठी जी कई बार मुझसे मिलने आये और बालकों के लिए कुछ लिखने को कहा। जेल से छूटने पर जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाने तथा मुझे हिन्दी में लिखने की प्रेरणा देने के लिए हिन्दी-मंदिर से निकलने वाले "वानर" नामक बालोपयोगी मासिक पत्र का संपादक बनाया और यहीं से मेरी हिन्दी-सेवा का श्रीगणेश हुआ। तब से वे जब तक जीवित रहे मुझे अपने छोटे भाई की तरह मानते रहे और जब मैं प्रार्थना करता तो वे कालाकांकर आकर कुछ समय हम लोगों के साथ अवश्य बिताते थे। वे जब तक मेरे यहां रहते, मनहूसियत घर के पास न फटकने पाती और हम लोगों का समय बड़े आनन्द से बीत जाता। यहां आने पर गांव भर के रामायण के प्रेमी उन्हें दिन भर घेरे रहते और स्कूल के छात्र उनसे साहित्यिक चरचा करके प्रसन्न हो जाते।

त्रिपाठी जी जैसे निरभिमानी, मिलनसार और प्रसन्नचित्त व्यक्ति बहुत कम देखने को मिलते हैं। उन्होंने 'कविता-कौमुदी' का संपादन तथा ग्रामगीतों का संकलन करके हिन्दी की जो सेवा की है वही उन्हें हिन्दी साहित्य में अमर रखने के लिए काफ़ी है। उनका "मिलन" और "पथिक" तो उनकी कीर्ति में चार चाँद लगा देते हैं।

कई वर्ष हुए वे बहुत सख्त बीमार पड़ गये, मैं भी उन दिनों बीमार पड़ा था। अतः मैंने एक सज्जन को अपनी मोटर ले कर इस प्रार्थना के साथ उनके पास भेजा कि वे अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए कालाकांकर पधारें और हम लोगों को सेवा करने का अवसर दें।

मेरा पत्र पा कर उनके आँसू बहने लगे। उन्होंने मेरे आदमी से कहा, "मुझे कुँवर साहब से ऐसी ही आशा थी। उनसे कह दीजिए कि मेरी ऐसी हालत नहीं है कि मैं मोटर पर सफ़र कर सकूँ। अच्छा होने पर मैं कुछ दिनों के लिए वहाँ जरूर आऊँगा।"

स्वस्थ होने पर उन्होंने अपना वचन पूरा किया और वे १९५९ में अंतिम बार कालाकांकर पधारे। उनकी हालत सुधर जरूर गई थी लेकिन उसे पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं कहा जा सकता था। लगभग एक सप्ताह यहाँ रह कर वे वापस जाने लगे तो मुझे स्वप्न में भी इसका गुमान नहीं हुआ कि यह उनका अंतिम दर्शन है। आज वे हम लोगों के बीच से सदा के लिए चले अवश्य गये हैं लेकिन उनकी स्मृतियाँ जीवन भर उसी प्रकार सजग रहेंगी।

* * *

प्रेम

यथा दान में शांति, दया में कोमलता है।
मैत्री में विश्वास, सत्य में निर्मलता है।।
संगति में आनंद, विरह में व्याकुलता है।
फूलों में सौंदर्य, चंद्र में उज्वलता है।।

जैसे सुख संतोष में, तप में उच्च विचार है।
त्यों मनुष्य को हृदय में, शुद्ध प्रेम ही सार है।।

निंदा से है पुण्य, क्रोध से शांति तपोबल।
आलस से सुख शक्ति, मोह से ज्ञान मनोबल।।
निर्धनता से शील, लाज मिथ्याभिमान से।
हो जाता है क्षीण, तेज निज कीर्ति-गान से।।

इसी भांति से प्रेम भी, जो सुख का आधार है।
थोड़े ही संदेह से, हो जाता निस्तार है।

—रामनरेश त्रिपाठी

('कवि-कौमुदी' मासिक सन् १९२४)

श्री कमलापति मिश्र

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्

स्वर्गीय पंडित रामनरेश त्रिपाठी अपने समय के साहित्य के विविध अंगों के अन्यतम सफल स्रष्टा थे। वे अपने प्रत्येक रूप में इतिहास की अमर विभूति रहेंगे। उनकी बहुविधि सर्जनशीलता का साधारणीकरण इतना सहज-सरल था कि उनका मौन मुखर या संकेतमय वर्ण-वर्ण अनुभूयमान अभिव्यंजन लगता था। स्वर्गीय त्रिपाठी जी ने हिन्दी साहित्य को क्या दिया, इस पर विचार करने के बजाय हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को क्या नहीं दिया! 'शब्दार्थौं सत्कविरिवद्वयं विद्वानपेक्षते' के वे मूर्तमान प्रमाण थे। उनकी भाषा भाव के समान थी। उनके वाङ्मय का एक-एक वाक्य आर्ष सूत्रों के समान गंभीर, अर्थवाही और सूक्ष्मतम होता था।

काव्य, आलोचना, नाटक, उपान्यास, कहानी, कोश, लक्षण ग्रन्थ, संपादन और संग्रह, संस्मरण, अनुवाद, जीवनी, संगीत, यात्रा-विवरण, बाल-साहित्य तथा अन्य अनेक विषयों पर उन्होंने जो कुछ लिखा, वह परिमाण की दृष्टि से तो अतुल है ही, स्थायी साहित्य की दृष्टि से भी हिन्दी ही नहीं, हिन्दीतर भाषाओं के लिए भी अतुलनीय है।

बाल-वाङ्मय के तो वे वाल्मीकि थे। जिस प्रकार मानव-स्वभाव का चरम उत्कर्ष उसकी सहज शिशुता होती है, उसी प्रकार साहित्य का उत्कृष्टतम रूप बाल-साहित्य है। त्रिपाठी जी का बाल-साहित्य उत्तम से उत्तम बाल-साहित्य का आदर्श है।

प्रायः एक शत ग्रन्थों की रचना त्रिपाठी जी ने अपने जीवन में की है। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ या उनकी रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित होते रहते थे। त्रिपाठी जी अकेले ऐसे हिन्दी के साहित्यकार थे, जिनके खंडकाव्यों का अनुवाद भारत की विभिन्न भाषाओं में हुआ। बड़े आश्चर्य और हर्ष की बात है कि त्रिपाठी जी की अति प्रसिद्ध कृति 'पथिक' का बहुत ही सुन्दर अनुवाद संस्कृत में भी हुआ है। मुझे स्मरण नहीं आता कि अब तक हिन्दी के किसी अन्य कवि की कोई काव्य-कृति संस्कृत में अनुदित हुई हो।

'कविता-कौमुदी' की महत्ता देश-विदेश के प्रसिद्ध विद्वानों, लेखकों और अन्वेषणकर्ताओं ने एक स्वर से स्वीकार की है। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस संग्रह की प्रशंसा मुक्तकंठ से की थी।

महात्मा गांधी स्वर्गीय त्रिपाठी जी की रचनाओं के नियमित स्वाध्यायी थे। 'पथिक' काव्य उन्होंने कई बार पढ़ा था। किसी भाषा में ऐसा काव्य शायद ही इस युग में लिखा गया

हो, जिसका प्रतिध्याय देशभक्ति हो और जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम हृदय की कोमलतम अनुभूति और प्राकृतिक-भाव-व्यंजन हो।

स्वर्गीय पुण्यश्लोक महामना मालवीय जी ने 'पथिक' पढ़ कर अपनी यह कामना प्रकट की थी कि इसका संस्करण कम से कम एक लाख प्रतियों का होना चाहिए।

ग्रामगीतों की ओर सब से पहले स्वर्गीय त्रिपाठी जी का ध्यान गया। ग्राम-गीतों के संग्रह के लिए उन्होंने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी। ग्रामगीतों में अन्तर्हित प्रौढ़ अनुभूति और कवित्व को उन्होंने ऐसी मर्मस्पर्शिता से तत्कालीन कवियों, लेखकों और नेताओं को समझाया था कि सहसा उस ओर विपुल जन-समुदाय आकृष्ट हो गया। ग्राम-साहित्य चिरकाल तक त्रिपाठी जी का ऋणी रहेगा और हमारे साहित्य को तो उनकी यह देन अनादि काल तक उन्हें मूर्धन्य स्थान पर सुशोभित रखेगी। अवधी के ग्राम-गीतों से प्रभावित होकर स्वर्गीय त्रिपाठी जी के मित्र श्री ए० जी० शेरिफ़ (निवृत्त आई० सी० एस०) ने कतिपय ग्रामगीतों को अंग्रेज़ी में अनूदित करके प्रकाशित कराया है।

कवि और लेखक के रूप में त्रिपाठी जी की विशेषता की चर्चा करने से पहले मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि वे असाधारण देशभक्त थे। देश के लिए उन्होंने असाधारण त्याग किया था। वे आपादमस्तक अदम्य आत्माभिमानी थे। जीवन में कभी किसी के समक्ष उन्होंने दीनता नहीं दिखायी। उनके स्वभाव में नहीं था कि वे किसी का अन्याय देख सकते। देश के बड़े से बड़े विद्वान्, बड़े से बड़े कवि, बड़े से बड़े लेखक और बड़े से बड़े नेता तथा बड़े से बड़े राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार और सम्पत्तिशालियों से उनकी घनिष्ठता थी। पर किसी को यह साहस नहीं होता था कि उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध एक वाक्य भी कभी कह दें। उनके सम्पूर्ण जीवन के पल-पल की मीमांसा करने से पता चलता है कि उन्होंने सैद्धान्तिक प्रश्नों पर अपने साथ भी कभी कोई रू-रियायत नहीं की। महात्मा गांधी और स्व० त्रिपाठी जी में बड़ी आत्मीयता थी। एक बार महात्मा जी से विरोध प्रकट करते हुए उन्होंने बापू को लिखा था कि लिपि की अवैज्ञानिकता के कारण ही उर्दू का विकास न हो सका। फिर ऐसी लिपि हिन्दी पर क्यों थोपी जाय ?

त्रिपाठी जी ने लगभग कुल ७५ पुस्तक लिखी होंगी। इनमें से अधिकांश का प्रचार भारत ही नहीं, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और रूस तक में हुआ है। त्रिपाठी जी के निरन्तर स्वाध्याय और अध्ययनशीलता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्होंने रेल-यात्रा में ही रामचरित मानस की टीका पूरी की थी। वे बाहर जाते समय सादे काग़ज़ पर चौपाइयाँ चिपका लेते थे और पचास पृष्ठ साथ ले लेते थे। लौटते समय तक उन्हें अवश्य पूरा कर लेते। यहीं यह कह देना भी आवश्यक है कि त्रिपाठी जी ने पथिक २१ दिन में, मिलन १३ दिन में और स्वप्न २ माह में पूरा किया था।

त्रिपाठी जी प्राच्य और अर्वाचीन संस्कृति के बड़े ही सन्तुलित समन्वयी थे। वे प्रकृत्या ईश्वरवादी, व्यवहारतः सनातनधर्मी, विचारतः सुधारवादी, स्वभावतः कार्यवादी, कर्मणानु-

योगनिष्ठ एवं प्रखर परिश्रमी थे। प्रकृति ही उनकी सन्तुष्टि थी और ईश्वरत्व की प्रतिक्षण अनुभूति ही उनकी प्रकृति थी।

प्रत्येक क्षेत्र के मूर्धन्य व्यक्तियों का सौहार्द्र उन्हें प्राप्त था। महात्मा गांधी, महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय और बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के तो वे बहुत ही निकटवर्ती थे।

मुझ पर उनका असीम स्नेह था। उनके चरणों में बैठ कर मैंने बहुत कुछ सीखा। उनके संबंध में मैं क्या कहूँ ! मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनका प्रसाद है। वे लखनऊ आते तो मेरे ही घर पर ठहरते। मेरा और मेरे परिवार का अमोघ पुण्य था कि ऐसे सौभाग्य का लाभ हमें मिला।

तुम पुरुष होकर न डर आपत्तियों की मार से।
जन्म ही है जीत जग में कंठ और कटार से।
सिर कटा कर जी उठा उस दीप की देखो दशा।
दब रहा था जो अंधेरे के निरंतर भार से।
पिस गई तब प्रेमिका के हाथ चढ़ चूमी गई।
मान मेंहदी को मिला है प्राण के उपहार से।
तन दिया पीसा गया अंजन बना तब काम का।
तब उसे रक्खा दृगों में प्रेमियों ने प्यार से।
लेखनी ने जीभ दी तब वह मिली भाषा उसे।
शक्ति दे जिसने बचाया विश्व को तलवार से।
प्रेम-पथ में दुःख में सुख हार में ही जीत है।
भक्त को भगवान मिलते हैं हृदय की हार से।

—रामनरेश त्रिपाठी
('कवि कौमुदी' से, सं० १९८१)

श्री शिवनारायण खन्ना

स्वर्गीय त्रिपाठीजी : जीवन और साहित्य-रचना

जौनपुर जिले के कोइरीपुर गाँव में फाल्गुन शुक्ल त्र्योदशी सं० १९४६ वि० (सन् १८८९) के दिन रामनरेश का जन्म हुआ था। पिता पं० रामदत्त त्रिपाठी सरयूपारीण ब्राह्मण एक साधारण सम्पन्न कृषक थे। पिता ने बालक रामनरेश को गाँव में उपलब्ध प्रारम्भिक शिक्षा दी। गाँव से अपर प्राइमरी परीक्षा पास कर जौनपुर के हाई स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ने गए, पर अंग्रेजी पढ़ने में पिता का विरोध होने के कारण नवें दर्जे तक ही पढ़ सके।

१४-१५ वर्ष की अवस्था में एक दिन किशोर रामनरेश गोमती नदी में स्नान कर रहे थे। एकाएक उनकी नज़र एक डूबते हुए लड़के पर पड़ी। तैरना तो वह जानते ही थे। तुरन्त कूद पड़े। वह लड़का उनकी गर्दन पकड़ कर लटक गया। इस दिन बड़ी कठिनाई से यह डूबते डूबते बचे।

देशभक्ति तथा पठन-पाठन में अधिक रुचि होने के कारण मन खेती-बारी में नहीं लगता था। १८ वर्ष के होते ही पिता से बगैर बताए रोजगार की खोज में कलकत्ते गये। कलकत्त में आपके चाचा दरवान थे। आप चाचा के पास ही ठहरे। चाचा के मालिक लोग सम्पन्न होते हुए भी कुछ विचित्र स्वभाव के थे। त्रिपाठी जी वहाँ चैन से न रह सके। मन ऊबने लगा।

हिन्दी भाषा और साहित्य की ओर रुचि विद्यार्थी जीवन से ही थी। कलकत्ते के हिन्दी समाचारपत्रों ने आपका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। शीघ्र ही एक आर्यसमाजी नेता से परिचय हुआ। परिचय बढ़ा। सम्पर्क हुआ। उनके व्यापार के ट्रेवलिंग एजेन्ट बन गए। व्यापार के चक्कर में यात्राएँ करनी पड़ीं। इधर उधर की धूल फाँकी।

यात्राओं के कारण खाना-पीना गड़बड़ हुआ। पेट खराब रहने लगा। धीरे-धीरे इसने संग्रहणी का रूप धारण कर लिया। लाचार होकर व्यापार छोड़कर कलकत्ते लौट आना पड़ा। हालत और भी बिगड़ती गई। स्वास्थ्य गिरने लगा।

जानपहचान वालों में से एक मारवाड़ी ने उन्हें फतहपुर (शेखावटी-राजस्थान) जाने की राय दी। उन्होंने फतहपुर की आबहवा और वातावरण त्रिपाठी जी के लिए स्वास्थ्यप्रद बतलाया।

हठात् एक दिन त्रिपाठी जी ने फतहपुर जाने के लिये तय कर लिया। स्वास्थ्य गिरते रहने के कारण नए स्थान के बारे में उन्होंने अधिक सोच विचार करना उचित नहीं समझा। रेल की

यात्रा के बाद ऊँट से जाना पड़ता था। वे भी जैसे तैसे ऊँट पर सवार हुए। ऊँट वाले ने कुछ बेहोशी की हालत में एक धर्मशाले में ले जाकर उन्हें ठहरा दिया। राजस्थान के हवा पानी से शरीर पनपने लगा। दूध-दही-मट्ठे-घी से सूखे ढाँचे पर माँस चढ़ने लगा। संग्रहणी दूर भाग गई।

धर्मशाले के पास ही (श्री रामकुमार नेवटिया आदि) नेवटिया परिवार का मकान था। इस परिवार से सम्पर्क हुआ। परिचय बढ़ा। पास पड़ोस के व्यक्ति 'पंडित जी' कहने लगे। नेवटिया-परिवार के बच्चों के तो आप सचमुच ही 'पंडित जी' बन गए।

नेवटिया-परिवार सुलझे हुए विचारों वाला, शिक्षित तथा सुधारक था। यहां समाचार पत्र आदि भी आया करते थे। पुस्तकों का संग्रह था। त्रिपाठी जी का अधिक समय पठन-पाठन में ही व्यतीत होने लगा।

प्रकृति के रम्य मनोरम वातावरण ने आपको काव्य-सृजन की ओर प्रेरित किया। आप खड़ीबोली में छोटी छोटी कविताएँ लिखने लगे। ये कविताएँ 'सरस्वती' तथा 'प्रभा' आदि में प्रकाशित होने लगीं। इन दिनों आप शिक्षा प्रचार करने लगे। आपके विचारों से असहमत हो रूढ़िवादियों ने विरोध किया। इसका आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परिणाम स्वरूप आप आर्यसमाजी समझे जाने लगे।

'बालक सुधार शिक्षा' इनकी प्रथम कविता-पुस्तक इन्हीं दिनों की रचना है। १९११ ई० में श्री रामकुमार नेवटिया ने इसे प्रकाशित किया। प्रचार की दृष्टि से २७ पृष्ठ की इस पुस्तक का मूल्य मात्र ६ पैसे रखा गया था। इसी वर्ष कथा साहित्य 'वीरांगना' स्वयं त्रिपाठी जी ने जयपुर से प्रकाशित किया। राधामोहन गोकुल जी ने कलकत्ते से 'मारवाड़ी और पिशाचिनी' उपन्यास १९१२ ई० में प्रकाशित किया। देवनागरी यंत्रालय, कलकत्ते से 'वीरबाला' लघु उपन्यास भी इन्हीं दिनों छपा। ५२ पृष्ठों के इस उपन्यास का मूल्य १ आना था।

फतहपुर में मारवाड़ियों के सहयोग से एक पुस्तकालय भी आपने स्थापित किया। पुस्तकालय से हिन्दी, अंग्रेज़ी और संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। कुछ दिनों में राजस्थानी और गुजराती भी सीख ली। बंगला आप कलकत्ते में ही सीख चुके थे।

१९१३ ई० में रस-पिंगल आदि पर 'पद्य-प्रबोध' पुस्तिका लिखी। १९१४ ई० की 'सरस्वती' भाग १५, संख्या १ में प्रकाशित कविता में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति दर्शनीय है। कवि को इस देश तथा जाति में जन्म लेने का बड़ा अभिमान है—

जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है॥
जिसमें प्रकृति विकास रम्य सुंदर उत्तम है।
जीव जन्तु फल फूल शस्य अद्‌भुत अनुपम है।
पृथ्वी पर कोई देश भी, इसके नहीं समान है।
इस दिव्य देश में जन्म का, हमें बहुत अभिमान है॥

रामनरेश जी गांधी जी की तरह एकता के समर्थक थे। 'सरस्वती' भाग १५, संख्या १ में 'जन्मभूमि भारत' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

उठो त्याग दें द्वेष, एक ही सब के मत हों।
सीख ज्ञान विज्ञान, कला कौशल उन्नत हों।।
भारत की उन्नति सिद्धि से, हम सब का कल्याण है।
दृढ़ समझो इस सिद्धान्त को, हम शरीर यह प्राण है।।

इन दिनों सृजनात्मक कार्य अच्छी प्रगति पर था। १९२४ ई० में इलाहाबाद के पं० सुदर्शनाचार्य, ने 'गृहलक्ष्मी' कार्यालय से दमयन्ती की जीवनी 'दमयन्ती' शीर्षक से प्रकाशित की। ३६ पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य ढाई आना था। काव्य संकलन 'कविता विनोद' तथा 'हिन्दी महाभारत' इसी वर्ष इलाहाबाद के पंडित रामजीलाल शर्मा ने प्रकाशित किए। 'कविता विनोद' बच्चों के लिए छोटी-छोटी सरल कविताओं का संग्रह है। ४१८ पृष्ठों के महाभारत का शीर्षक 'भारतीय कथा अर्थात् हिन्दी महाभारत' है।

इन दिनों रामनरेश त्रिपाठी की आयु २५ वर्ष की ही थी, पर हिन्दी क्षेत्र आपके नाम से भली प्रकार परिचित हो चुका था। काव्य में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति, देशभक्ति तथा एकता आदि गुणों ने हिन्दी जनता का ध्यान आकर्षित किया।

इन दिनों आपने सूर के विनय संबंधी पदों तथा भूषण के काव्य का संग्रह भी किया। टीका सहित इन दोनों का प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद ने १९१४ में किया।

१९१५ ई० में पिता के स्वर्गवास होने पर आप अपने गाँव चले गए। साहित्य-सृजन का कार्य अनवरत रूप से जारी था। हिन्दी साहित्य का केन्द्र इन दिनों इलाहाबाद था। बड़े-बड़े कवि और लेखक यहीं रहते थे। 'सरस्वती' पत्रिका तथा इन्डियन प्रेस ने भी आपको आकर्षित किया। आप इलाहाबाद आ गए।

त्रिपाठी जी की बड़ी तीव्र अभिलाषा अपना स्वयं का प्रेस (प्रकाशन) खोलकर यहीं व्यवसाय करने का था। आपने फतेहपुर के नेवटिया परिवार से ४०० रु० उधार लेकर अपना प्रेस खोल दिया। इस प्रेस से सर्वप्रथम स्वयं लिखित 'श्रीमान् सेठ रामदयालु जी का जीवन चरित्र' प्रकाशित किया। १४ पृष्ठों की इस पुस्तक का व्यक्तिगत जीवनी होने के कारण निर्मूल्य रखा। 'सुभद्रा' उपन्यास भी इन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ। नक्षत्र ज्ञान पर परिचयात्मक पुस्तक 'आकाश की बातें' अगला प्रकाशन है।

१९१५ ई० को एक दिन बरेली कालिज, बरेली से भाषण देने का आमंत्रण मिला। यह बरेली जा पहुँचे। हिन्दू मुस्लिम दंगे के कारण उस दिन वहाँ हड़ताल थी। अनजाने ही एक मुसलमान ताँगेवाले के ताँगे में बैठ गए। ताँगेवाला जानबूझ कर दंगे के स्थान की ओर चल पड़ा, पर ईश्वर की कृपा थी कि आप कत्ल होने से बाल-बाल बच गए।

१९१७ ई० में प्रकाशित प्रसिद्ध खण्डकाव्य 'मिलन' में आनन्दकुमार तथा विजया दोनों ही

राष्ट्रीय भावना, देशभक्ति से ओतप्रोत हैं। देश की दयनीय स्थिति से दोनों ही दुखी हैं। युवक आनन्दकुमार के विचार हैं:—

अस्थि चर्ममय कंकालों में जो कुछ बल है शेष।
संचय कर रिपु-रहित करूँगा अपना प्यारा देश॥ (सर्ग-१, खण्ड-११)

प्रेम के संबंध में युवती विजया के विचार हैं—

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक, अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक॥

रामनरेश जी को हिन्दी में कविताओं के प्रामाणिक संग्रह की कमी खटकी। आपने कविताओं के संग्रह तथा प्रकाशन की एक विशाल योजना बनाई। संग्रहों को 'कविता कौमुदी' नाम से प्रकाशित करने का निश्चय किया। त्रिपाठी जी का विचार हिन्दी कविताएँ, ग्रामगीत, संस्कृत तथा उर्दू साहित्य तथा अन्य भारतीय भाषाओं की कविताएँ भी प्रकाशित करने का था। इस प्रकार का, हिन्दी क्या सभी भारतीय भाषाओं में, यह प्रयास सम्भवतः प्रथम था। संकलन-कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ कर दिया गया। प्रथम भाग प्राचीन हिन्दी कविओं की कविताओं का संग्रह १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ। यह बड़ा उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी समय पद्य रचना सम्बन्धी एक पुस्तक 'हिन्दी-पद्य-रचना' प्रकाशित हुई।

इस काल में हिन्दी में बाल-साहित्य बहुत कम था। रामनरेश जी ने छोटे-छोटे बच्चों के लिए कहानियाँ लिखनी शुरू की। बाल-कथा-कहानी शीर्षक से इन कहानियों का प्रकाशन होने लगा। १९१७ ई० से १९३५ ई० तक इसके १५ भाग प्रकाशित हुए। यह रचनाएँ छोटे बच्चों के लिए रुचिकर होने के साथ साथ शिक्षाप्रद भी हैं।

'पद्मावती' जीवनी श्री ओंकारनाथ बाजपेई ने ओंकार प्रेस, प्रयाग से १९१७ ई० में प्रकाशित किया।

१९१८ ई० में त्रिपाठीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के प्रचार मंत्री निर्वाचित हुए। इस पद पर आप १९२१ तक रहे। इन दिनों आपने लगकर हिन्दी की सेवा की।

'क्या होमरूल लोगे' खड़ीबोली का काव्य १९१८ ई० में अपने प्रेस से ही प्रकाशित किया। गांधीजी का परिचयात्मक विवरण देते हुए "गांधीजी कौन हैं?" १९२० ई० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में अपने प्रकाशन का नाम हिन्दी रत्नमाला कार्यालय रखा। बाद में यह नाम हिन्दी मन्दिर में बदल दिया गया। 'उत्तर ध्रुव की भयानक यात्रा' इसी वर्ष वेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। यह यात्रा-विवरण एक अंग्रेजी पुस्तक के आधार पर है।

त्रिपाठी जी को सबसे अधिक ख्याति देनेवाली पुस्तक 'पथिक' है। खड़ीबोली में रचित यह खण्डकाव्य सर्वप्रथम १९२० ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशित होते ही इसने बड़ी ख्याति प्राप्त

कर ली। इस काव्य में प्रकृति और प्रेमवर्णन का मणिकांचन संयोग हुआ है। रामेश्वरम् के सागर तट का वर्णन बड़ा आकर्षक और स्वाभाविक है। सागर की उमड़ती हुई लहरें बरबस ही नजर पकड़ लेती हैं—

रेणु स्वर्ण-कण-सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज भरी आती हैं।।
चूम-चूम निज देश चरण यह नाच नाच गाती हैं।
यह शोभा यह हर्ष कहाँ आँखें जग में पाती हैं।।

पथिक' का दुखान्त स्वरूप बड़ा ही करुण है। जननी की मृत्यु पर अबोध बालक का हृदय किस प्रकार छटपटाता है—

कहने लगा सो गई क्यों तू माँ, उठ चल अब घर को।
मुझे लगी है भूख अकेला जाऊँ, कहां किधर को? पथिक, ४–३१
माँ, तू कुछ न खिलाती मुझको, कभी न दूध पिलाती।
सारे दिन रोती रहती है, खेल कभी न खिलाती।। पथिक, ४–३२

इस प्रकार हृदय छटपटाते देखकर किसका हृदय टूक-टूक न हो उठेगा।

'पथिक' की रचना रामेश्वरम् की स्मृति-स्वरूप हुई है। त्रिपाठी जी ने स्वयं कहा है कि 'पथिक' मेरी दक्षिण-यात्रा का पद-चिन्ह है। नेवटिया-परिवार के श्री केशवदेव नेवटिया को यह समर्पित किया गया है। 'पथिक' की एक अन्य विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक सर्ग के प्रथम अक्षर को जोड़ने से 'रामकुमार नेवटिया' बनता है। अतएव यह श्री रामकुमार नेवटिया का भी स्मारक है। इस खण्डकाव्य के अब तक ४० संस्करण हो चके हैं।

१९१७ ई० में प्रकाशित 'कविता कौमुदी' का प्रथम भाग बड़ा उपयोगी साबित हुआ। शीघ्र ही अन्य भागों की माँग आने लगी। द्वितीय भाग हिन्दी-मन्दिर से १९२० ई० में प्रकाशित हुआ। इस भाग में आधुनिक हिन्दी कवियों की कविताओं का संकलन है।

त्रिपाठी जी ने लोक सेवा तथा विश्व कल्याण को ईश्वर का आदेश तथा प्राप्ति का साधन बताया है। माधुरी भाग-१, खण्ड-१, संख्या-१ की 'अन्वेषण' कविता देखिए:—

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के सदन में।।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में।।
मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।।

१९२१ ई० में आप युक्त प्रान्तीय कांग्रस कमेटी के सदस्य निर्वाचित हुए। असहयोग आन्दोलन के दिनों में उत्कट देशभक्ति तथा राष्ट्र-प्रेम के कारण १९२१ ई० में आपको डेढ़ वर्ष की सजा तथा १०० रु० जुर्माना हुए।

आल्हा सम्बन्धी मुख्य घटनाओं का वर्णन 'आल्हा रहस्य' में है। खड्ग-बिलास प्रेस, बाँकीपुर ने इसे १९२१ ई० में प्रकाशित किया। इसी वर्ष हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद से संक्षिप्त जीवनी सहित रहीम की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। सस्ती पुस्तक माला कार्यालय, कानपुर ने 'देश का दुःखी अंग' प्रकाशित किया। नरहरि द्वारिकादास पारीख रचित प्रसिद्ध गुजराती पुस्तक 'आटलु तो जाणजो' का हिन्दी अनुवाद किया गया। सस्ती पुस्तक माला कार्यालय, कानपुर ने इसे १९२१ ई० में प्रकाशित किया।

'हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास' अपने प्रेस से ही १९२३ ई० में प्रकाशित किया। इस इतिहास में विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों, विशेषताओं, कवि तथा उनकी कविताओं के सौन्दर्य का विवेचन है। यह इतिहास विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों के लिए लिखा गया है।

इन दिनों हिन्दी कविताओं की सम्भवतः कोई पत्रिका न थी। पिछले कई वर्षों से त्रिपाठी जी इसकी आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। अपना प्रेस तो था ही 'कवि कौमुदी' नाम से हिन्दी काव्य की सचित्र मासिक पत्रिका निकालना प्रारम्भ कर दिया। कुछ अंक निकालने के बाद आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह पत्रिका बन्द कर देनी पड़ी। कुछ दिनों पश्चात् 'उद्योग' नामक पाक्षिक-पत्र सुल्तानपुर से निकाला। बाल पत्रिका 'वानर' तथा 'सम्मेलन पत्रिका' का भी कुछ दिनों कुशल सम्पादन किया।

'कविता कौमुदी' का संकलन-कार्य जारी था। संस्कृत, उर्दू तथा ग्रामगीतों के संकलन में त्रिपाठी जी लगे थे। १९२४ ई० में संस्कृत का संकलन-कार्य पूर्ण हुआ। हिन्दी मन्दिर से इसी वर्ष यह भाग प्रकाशित हुआ। 'लक्ष्मी' उपन्यास भी इसी वर्ष इन्डियन प्रेस, प्रयाग ने प्रकाशित किया। ६१० पृष्ठों के कोश 'हिन्दी शब्द-कल्पद्रुम' का प्रकाशन इलाहाबाद से रामदयाल अगरवाला ने १९२५ ई० में किया। 'कविता कौमुदी' के उर्दू भाग का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ।

'सेठ जमनालाल बजाज' की जीवनी और 'अयोध्या काण्ड की टीका' १९२६ ई० में स्वयं त्रिपाठी जी ने अपने प्रेस से प्रकाशित की। 'दिमागी ऐयाशी' प्रहसनों का संग्रह भी इसी वर्ष छपा। इसमें समाज तथा साहित्यकारों के दोषों पर चुटीला व्यंग्य है।

त्रिपाठी जी की चुनी हुई सुन्दर कविताओं का कोई संग्रह न था। श्री श्रीगोपाल नेवटिया ने 'मानसी' नाम से फुटकर कविताओं का संग्रह किया। यह संग्रह १९२७ ई० में हिन्दी मन्दिर से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की 'आंखों का आकर्षण' कविता देखिए—

अपने दिन रात हुए उनके क्षण ही भर में छबि देख यहाँ।
सुलगी अनुराग की आग वहाँ जल से भरपूर तड़ाग जहाँ।
किससे कहिए अपनी सुधि को मन है न यहाँ तन है न वहाँ।
अब आँख नहीं लगती पल भी जबआँख लगी तब नींद कहाँ।।

आँख लगती है तब आँख लगती ही नहीं,
प्यास रहती है लगी सजल नयन में।
मन लगता ही नहीं वन में भवन में न,
सुन्दर सुमन से सजाए उपवन में।
रुचि रह जाती नहीं खान में न पान में ही,
गान में न मान में न ध्यान में न धन में।
चित्र में खचित सा अचेत रहता है नित,
जाता है चिपक चित जब चितवन में।।

'स्वप्न' त्रिपाठी जी की उत्तरयात्रा का स्मृति-चिन्ह है। इस खण्डकाव्य में तत्कालीन युवकों के द्विविधामय हृदय को चित्रित किया गया है। एक ओर देश का दुखदैन्य और समस्याय करुण रस उत्पन्न करती हैं, तो दूसरी ओर सौन्दर्य-सुख और श्रृंगार के लिए प्रकृति प्रस्तुत है। युवकों का मार्ग श्रृंगार और करुण के बीच का है। आकर्षण दोनों ओर है। किधर जाना चाहिए ? इस समस्या का हल ही 'स्वप्न' है। 'स्वप्न' के अनेक पदों में काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है। अनिश्चित परिस्थिति में 'सुमना' ने पति को सहयोग देकर भारतीय अर्द्धांगिनी के कर्त्तव्यों को भलीभाँति निवाहा है। उसने अपने जीवन के साथ पति के जीवन को भी धन्य किया। आधुनिक अंग्रेजी सभ्यता पर व्यंग्यात्मक पुस्तक 'आधुनिक शिष्टाचार' १९२८ ई० में प्रकाशित हुई।

'कविता कौमुदी' के तृतीय भाग ग्रामगीत के लिये त्रिपाठी जी को काफी परिश्रम करना पड़ा। गाँव गाँव घूमकर गीत एकत्र किए। हिन्दी में इसके पूर्व ग्रामगीत अथवा लोकगीतों का कोई संकलन-कार्य नहीं हुआ था। इस प्रकार यह प्रथम प्रयास था। यह संकलन-कार्य वर्षों चलता रहा और १९२८ ई० में पूर्ण हुआ। अगले वर्ष ही हिन्दी मन्दिर ने इसे छापा।

'स्वप्नों के चित्र' में कहानियाँ और प्रहसन हैं। त्रिपाठी जी ने १९३० ई० में इसे स्वयं प्रकाशित किया। 'चाँद' के मारवाड़ी अंक का उत्तर 'मारवाड़ के मनोहर गीत' शीर्षक से इसी वर्ष छपा।

रामनरेश जी ने घाघ और भड्डरी की कहावतों का संकलन किया। हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद ने १९३१ ई० में इसे प्रकाशित किया। 'सुकवि कौमुदी' भी इसी वर्ष का हिन्दी मन्दिर का प्रकाशन है।

इन दिनों बालकों के लिए त्रिपाठी जी ने अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं। इनमें गुपचुप कहानियाँ, सिन्दबाद, बालकौतुक, खोजो खोज निकालो तथा तरह तरह की रचनाएँ सम्मलित हैं। बालकों के लिए अशोक, चन्द्रगुप्त तथा महात्मा बुद्ध आदि की जीवनियाँ भी लिखीं। बाल पदावली में मोहनमाला और मोहनभोग सम्मिलित हैं। शिक्षा संबंधी बालसाहित्य, नीति रत्नमाला, नीति शिक्षावली, कन्या शिक्षावली, बताओ तो जाने, नेता बुझौवल, हिन्दी प्राइमर, हिन्दी ज्ञानोदय और हिन्दी पत्र शिक्षक आदि हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अनुरोध पर भाषा संबंधी 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' पुस्तक लिखी। १९३२ ई० में यह मद्रास से प्रकाशित हुई। ७०८ पृष्ठों का 'हिन्दुस्तानी कोष',

१९३३ में स्वयं त्रिपाठी जी ने प्रकाशित किया। त्रिपाठी जी के अनुरोध पर 'कविता कौमुदी' के लिये कृपानाथ मिश्र ने बंगला काव्य-संग्रह किया। त्रिपाठी जी ने इसका सम्पादन करके 'कविता कौमदी' के सप्तम भाग में १९३३ ई० में प्रकाशित किया। 'अभिनव संगीत' १९३४ ई० का प्रकाशन है।

१९३४ ई० में आप मद्रास गए। वहाँ वालों ने हिन्दी नाट्य साहित्य की न्यूनता की ओर आपका ध्यान आर्कषित किया। अभी तक आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। अब नाटक रचने का निश्चय किया। प्रथम नाटक 'जयन्त' १९३४ ई० में आपके प्रेस में छपा। इस नाटक की सफलता से प्रेरित हो कर दूसरा नाटक 'प्रेमलोक' युवती स्त्रियों के लिये लिखा। छोटे बच्चों के लिये काव्यात्मक नाटक 'वानर संगीत' १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ। 'तरकस' शीर्षक से १० लघु कहानियाँ भी इसी वर्ष प्रकाशित हुईं।

रामनरेश जी गोस्वामी तुलसीदास के बड़े भक्त थे। आपने रामचरित मानस, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, की विस्तृत टीकाएँ कीं। ये सभी टीकाएँ १९३५ ई० में प्रकाशित हुईं। 'सुदामाचरित' की टीका भी इसी वर्ष प्रकाशित हुई। 'मिट्टी के सुखदायक घर' १९३६ ई० का प्रकाशन है।

रामचरितमानस का अध्ययन करते समय त्रिपाठी जी के मन में तुलसी और उनकी कविता के संबंध में अनेक नवीन विचार आए। उसी समय से तुलसी-साहित्य पर कुछ लिखने की तीव्र अभिलाषा थी। तुलसी के जीवन तथा कविता पर प्रकाश डालने वाले नवीन विचार 'तुलसीदास और उनकी कविता' शीर्षक से तीन भागों में प्रकाशित करने का निश्चय किया। १९३७ ई० में प्रथम दो भाग अपने प्रेस से ही प्रकाशित किए, पर कुछ कठिनाइयों के कारण तृतीय भाग प्रकाशित न हो सका।

बाल नाटक 'पेखन' तथा 'सोहर' हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली और हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद से १९३७ ई० में प्रकाशित हुए।

भारतीय ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन और हिन्दू मुस्लिम एकता की दृष्टि से 'धफाती चाचा' नाटक लिखा। १९३९ ई० में यह हिन्दी मन्दिर, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। 'खड़ीबोली कविता का संक्षिप्त परिचय' भी इसी वर्ष छपा। अगले वर्ष ही 'उर्दू जबान का संक्षिप्त इतिहास' छपा। इसकी प्रस्तावना पं० अमरनाथ झा ने लिखी।

तत्कालीन संयुक्त प्रंतीय सरकार की प्रेरणा से लिखा 'हमारा ग्राम साहित्य' १९४० में स्वयं प्रकाशित किया। 'कहानी के कल पुर्जे' और 'मौत के सुरंग की कहानी' बाल कहानियाँ भी इसी वर्ष प्रकाशित हुईं।

आदमी की हिम्मत, भय विन होय न प्रीति, वेल कुमारी, रूपा, बुढ़िया बुढ़िया किसे खाऊँ, पकड़ पुछकटे को, तीन सुनहले बाल, फूलदानी, तीन मेमने, डंकू, चटक मटक की गाड़ी और चुड़ैल रानी आदि बाल कहानियाँ १९४१ ई० में हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद से प्रकाशित हुईं।

उम्र बढ़ने तथा अधिक कार्य न कर सकने के कारण १९४१ ई० में अपना प्रेस बेच दिया। कुछ दिनों बाद आप सुल्तानपुर चले गए। वहीं अपना मकान बनाकर रहने लगे। साहित्यसृजन अवकाश के समय होता रहा।

'तीस दिन—मालवीय जी के साथ' पुस्तक सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली से १९४२ ई० में प्रकाशित हुई। इसकी प्रस्तावना राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने लिखी। वर्तमान सभ्यता का नग्नदृश्य दिखाते हुए 'अजनवी' नाटक १९४४ ई० में लिखा। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास ने १९४६ ई० में इसे प्रकाशित किया। नाटक में सम्वादों का बाहुल्य है।

स्वास्थ्य बिगड़ने तथा प्रेस बेच देने के कारण सृजनकार्य अधिक न हो पाता था। रामचरितमानस की टीका का भूमिका भाग काफी परिश्रम से लिखा गया था। बहुत से पाठकों को केवल भूमिका पढ़ने के लिए सम्पूर्ण मानस खरीदना पड़ता था। अतएव राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ने १९५१ ई० में 'तुलसी और उनका काव्य' शीर्षक से इस भूमिका भाग को प्रकाशित किया। टिप्पणी सहित मूल मानस भी इसी वर्ष राजपाल एंड संस ने प्रकाशित किया। १२०८ पृष्ठों की इस टीका का मूल्य १४ रु० रखा गया था। अन्तिम १८ पृष्ठों में मानस के चुने हुए उपदेश हैं।

१९५१-५२ ई० में सम्पूर्ण 'ग्रामसाहित्य' तीन भागों में प्रकाशित हुआ। प्रथम भाग में सोहर, अन्नप्राशन, मुण्डन, जनेऊ तथा विवाह आदि हिन्दू संस्कार संबंधी गीतों का संग्रह है। तृतीय भाग में कहावतों और पहेलियों का संग्रह है। इस भाग को आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ने १९५२ ई० में प्रकाशित किया।

व्यंग्य प्रधान पर गम्भीर 'पैसा परमेश्वर' नाटक १९५२ ई० में हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। पिछले नाटकों के समान इसमें भी सम्वाद अधिक हैं। त्रिपाठी जी ने जीवन में देखी हुई कुछ सच्ची घटनाओं को कहानी में रूपान्तरित किया है। यह कहानियाँ 'आँखों देखी कहानियाँ' शीर्षक से १९५३ ई० में प्रकाशित हुई। ११ कहानियाँ इस संग्रह में सम्मिलित हैं। 'बा और बापू' एकांकी नाटक भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। 'हिन्दी मुहावरे' भी १९५३ ई० का प्रकाशन है।

मानस की सूक्तियाँ, मानस के पांच पात्र, नीति-रत्नावली १९५४ ई० के प्रकाशन हैं। 'प्रेमलोक' नाटक के कुछ सम्वाद ज्यों के त्यों तथा कुछ नवीन सम्वादों का समावेश कर 'कन्या का तपोवन' (ससुराल) सामाजिक नाटक आदर्श पुस्तक भण्डार, कलकत्ता से सन् १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ।

अतीत के कोरे गीत गाने की अपेक्षा त्रिपाठी जी वर्तमान के गीत गाना अधिक पसन्द करते थे। उनके तीनों खंडकाव्यों में यह स्पष्ट है। नायक अतीत के प्रसिद्ध महापुरुष न होकर वर्तमान युग के साधारण व्यक्ति ही हैं।

त्रिपाठी जी ने स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध सभी के लिए सामग्री संजोयी है। रचनाओं में साहित्य के सभी अंग जैसे बाल साहित्य, कविता, कहानी, उपन्यास, समालोचना, कोश, इतिहास तथा टीकाएँ सम्मिलित हैं। अनेक पुस्तकों का सम्पादन भी किया। हम कह सकते हैं कि त्रिपाठी जी की रचनाएँ युग और राष्ट्र की आकांक्षाओं से परिपूर्ण हैं। त्रिपाठी जी की स्वयं की रचित और सम्पादित पुस्तकों की संख्या लगभग १०० है। इनमें स्वयं की रचित ८५, सम्पादित १५ तथा २ अनुवादित सम्मलित हैं।

त्रिपाठीजी रचित पुस्तकानुक्रमी

स्वर्गीय त्रिपाठी जी ने अपने जीवन में एक शत पुस्तकों की रचना की है। विषय-क्रम, काल-क्रम के अनुसार पुस्तकों तथा मूल्य, पृष्ठ संख्या और–प्रकाशन आदि का विवरण इस प्रकार है —

आलोचना

हिन्दी-हिन्दुस्तानी—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। १९३२।

तुलसीदास और उनकी कविता—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३७, २ भाग, १८.५। से० मी० प्र० भा०–१२, ४०९ पृ०, २.००। द्वि० भा०–८, ४१२-९४८ पृ०; २.५०। तृ० भा०–अप्रकाशित।

कहानी के कल पुर्जे—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९४०।

तुलसी और उनका काव्य—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५१। द्रू० सं० १९५३; ३५० पृ०, २१.५ से० मी०; ७.००।

कथा-साहित्य

वीरांगना—लेखक, जयपुर। १९११; ७२ पृ०, २२ से० मी०; .५०।

मारवाड़ी और पिशाचिनी—राधामोहन गोकुलजी, कलकत्ता। १९१२।

वीरबाला—देवनागरी यंत्रालय, कलकत्ता। ५२ पृ०, १४ .५ से० मी० .०६।

सुभद्रा—लेखक, इलाहाबाद। १९१४; ८२ पृ०, १८ से० मी०।

आल्हा रहस्य—खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर। १९२१; १२० पृ०, २२ से० मी०; .६२।

दिमागी ऐयाशी—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२६, तृ० सं० १९५४; १०४ पृ०, १८ से० मी०; १.००।

लक्ष्मी—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद। १९२४। द्वि० सं० १९३९; ४, १३८ पृ०, १८.५ से० मी०।

स्वप्नों के चित्र—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३०; ३, १५९ पृ०, १८ से० मी० .७५।

तरकस—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३४; २, १२४ पृ० १९ से० मी० .५०।

आँखों देखी कहानियां--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९५३; ५.९७ पृ०, १८ से०-मी०; १.५० (११ लघु कहानियाँ)

काव्य

मिलन--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९१७; नवाँ सं० १९५४; १०.७८ पृ०, १८ से० मी०, १.०० (खण्डकाव्य)

पथिक--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२०; ८५ पृ०, १८ से० मी० (खण्डकाव्य-५ सर्ग)

मानसी--सम्पादक, श्रीगोपाल नेवटिया। हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२७; २३.८२ पृ०, १८ से० मी०, .५० (कविताओं का संग्रह)

स्वप्न--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२७; ३.१०५ पृ०, १८ से० मी०।

कोश

हिन्दी-शब्द-कल्पद्रुम--रामदयाल अगरवाला, इलाहाबाद। १९२५; ६१० पृ०, २४ से० मी०; ३.००।

हिन्दुस्तानी कोश--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३३; ७०८ पृ०, १८ से० मी०, २.००।

ग्राम-साहित्य

हमारा ग्राम साहित्य--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९४०; ३६० पृ०, १९ से० मी० २.०० (युक्तप्रांत सरकार की प्रेरणा से प्रस्तुत)

ग्राम साहित्य--पहला भाग-हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९५१; ३७६ पृ०, १८ से० मी०; ४.००। दूसरा भाग-१९५१; तीसरा भाग-आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १९५२; ३३७ पृ०, २१.५ से० मी० (कहावतें तथा पहेलियाँ)

जीवन

दमयन्ती चरित्र--गृहलक्ष्मी कार्यालय (सुदर्शनाचार्य), इलाहाबाद। १९१४; ३६, १८ से० मी०, .१६

श्रीमान् सेठ रामदयालुजी नेवटिया का जीवन-चरित्र--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९१४; निर्मूल्य।

पद्मावती--ओंकारनाथ वाजपेयी, इलाहाबाद। १९१७; ८२ पृ०, १७ से० मी०, .२५।

त्रिपाठी जी ने स्त्री-पुरुष, आबाल-बृद्ध सभी के लिए सामग्री संजोयी है। रचनाओं में साहित्य के सभी अंग जैसे बाल साहित्य, कविता, कहानी, उपन्यास, समालोचना, कोश, इतिहास तथा टीकाएँ सम्मिलित हैं। अनेक पुस्तकों का सम्पादन भी किया। हम कह सकते हैं कि त्रिपाठी जी की रचनाएँ युग और राष्ट्र की आकांक्षाओं से परिपूर्ण हैं। त्रिपाठी जी की स्वयं की रचित और सम्पादित पुस्तकों की संख्या लगभग १०० है। इनमें स्वयं की रचित ८५, सम्पादित १५ तथा २ अनुवादित सम्मलित हैं।

त्रिपाठीजी रचित पुस्तकानुक्रमी

स्वर्गीय त्रिपाठी जी ने अपने जीवन में एक शत पुस्तकों की रचना की है। विषय-क्रम, काल-क्रम के अनुसार पुस्तकों तथा मूल्य, पृष्ठ संख्या और–प्रकाशन आदि का विवरण इस प्रकार है —

आलोचना

हिन्दी-हिन्दुस्तानी—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। १९३२।

तुलसीदास और उनकी कविता—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३७, २ भाग, १८.५। से० मी० प्र० भा०–१२, ४०९पृ०, २.००। द्वि० भा०–८, ४१२-९४८ पृ०; २.५०। तृ० भा०–अप्रकाशित।

कहानी के कल पुर्जे—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९४०।

तुलसी और उनका काव्य—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५१। द्वि० सं० १९५३; ३५० पृ०, २१.५ से० मी०; ७.००।

कथा-साहित्य

वीरांगना—लेखक, जयपुर। १९११; ७२ पृ०, २२ से० मी०; .५०।

मारवाड़ी और पिशाचिनी—राधामोहन गोकुलजी, कलकत्ता। १९१२।

वीरबाला—देवनागरी यंत्रालय, कलकत्ता। ५२ पृ०, १४ .५ से० मी० .०६।

सुभद्रा—लेखक, इलाहाबाद। १९१४; ८२ पृ०, १८ से० मी०।

आल्हा रहस्य—खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर। १९२१; १२०पृ०, २२ से० मी०; .६२।

दिमागी ऐयाशी—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२६, तृ० सं० १९५४; १०४ पृ०, १८ से० मी०; १.००।

लक्ष्मी—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद। १९२४। द्वि० सं० १९३९; ४.१३८ पृ०, १८.५ से० मी०।

स्वप्नों के चित्र—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३०; ३, १५९ पृ०, १८ से० मी० .७५।

तरकस—हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३४; २, १२४ पृ० १९ से० मी० .५०।

आँखों देखी कहानियां--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९५३; ५.९७ पृ०, १८ से०-मी०; १.५० (११ लघु कहानियाँ)

काव्य

मिलन--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९१७; नवाँ सं० १९५४; १०.७८ पृ०, १८ से० मी०, १.०० (खण्डकाव्य)

पथिक--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२०; ८५ पृ०, १८ से० मी० (खण्डकाव्य-५ सर्ग)

मानसी--सम्पादक, श्रीगोपाल नेवटिया। हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२७; २३.८२ पृ०, १८ से० मी०, .५० (कविताओं का संग्रह)

स्वप्न--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२७; ३.१०५ पृ०, १८ से० मी०।

कोश

हिन्दी-शब्द-कल्पद्रुम--रामदयाल अगरवाला, इलाहाबाद। १९२५; ६१० पृ०, २४ से० मी०; ३.००।

हिन्दुस्तानी कोश--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३३; ७०८ पृ०, १८ से० मी०, २.००।

ग्राम-साहित्य

हमारा ग्राम साहित्य--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९४०; ३६० पृ०, १९ से० मी० २.०० (युक्तप्रांत सरकार की प्रेरणा से प्रस्तुत)

ग्राम साहित्य--पहला भाग--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९५१; ३७६ पृ०, १८ से० मी०; ४.००। दूसरा भाग--१९५१; तीसरा भाग--आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १९५२; ३३७ पृ०, २१.५ से० मी० (कहावतें तथा पहेलियाँ)

जीवन

दमयन्ती चरित्र--गृहलक्ष्मी कार्यालय (सुदर्शनाचार्य), इलाहाबाद। १९१४; ३६, १८ से० मी०, .१६

श्रीमान् सेठ रामदयालुजी नेवटिया का जीवन-चरित्र--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९१४; निर्मूल्य।

पद्मावती--ओंकारनाथ वाजपेयी, इलाहाबाद। १९१७; ८२ पृ०, १७ से० मी०, .२५।

गांधी जी कौन हैं?--हिन्दी रत्नमाला कार्यालय, इलाहाबाद। १९२०; द्वि० सं०; १६८ पृ०, १७ से० मी० .५६।

सेठ जमनालाल बजाज--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२६; १०, १०१ पृ०, १८ से० मी०; १.००

तीस दिन-मालवीय जी के साथ--सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली। १९४२; २०,३५५ पृ०, १८ से० मी० (प्रस्तावना लेखक--राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन)

धर्म

भारतीय कथा अर्थात हिन्दी महाभारत--रामजीलाल शर्मा, इलाहाबाद। १९१५; ५, ५, ८, ४१८ पृ०, १० से० मी०।

मानस के पाँच पात्र--१९५४।

नक्षत्र

आकाश की बातें--हिन्दी रत्नमाला कार्यालय, इलाहाबाद। १९२१; तृ० सं०--३२ पृ०, १८ से० मी०।

नाटक

जयन्त--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३४; १२० पृ०, १८ से० मी०, २.००।

प्रेमलोक--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३४; ११८ पृ०, १९ से० मी० .७५।

वफाती चाचा--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३९; २, १०८ पृ० १८ से० मी०, .५० (हिन्दू-मुस्लिम एकता)

अजनबी--दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास। १९४६; २, २७४ पृ०, १८ मी०; २.५०।

पैसा परमेश्वर--हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, नई दिल्ली। १९५२; १६, १८४ पृ०, १८ से० मी०, ३.००।

कन्या का तपोवन (ससुराल)--आदर्श पुस्तक भण्डार, कलकत्ता। १९५४; ४, १७६ पृ०, १८ से० मी०, २.५०

बा और बापू--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९५३; ७, १११ पृ०, १८ से० मी०; १.५०।

पिंगल

हिन्दी पद्य रचना--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९१८; ७वां सं०, १०६ पृ०, १८ से० मी०, .५०।

मुहावरे

हिन्दी मुहावरे--१९५३।

यात्रा

उत्तरध्रुव की भयानक यात्रा---वेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद। १९२०; ११२ पृ०, १८ से० मी० .५०।

राजनीति

क्या होमरूल लेंगे ?--लेखक, इलाहाबाद। १९१८।

देश का दुखी अंग--सस्ती हिन्दी पुस्तक माला, कानपुर। १९२१; ८, ८० पृ०, १९ से० मी०; .१९।

शिक्षा

बालक सुधार शिक्षा--रामकुमार नेवटिया, कलकत्ता। १९११; २६ पृ०, १६ से०-मी०; .०९।

कन्या-शिक्षावली--६ भाग।

नीति-शिक्षावली--(श्लोक संग्रह) .१२।

नीति-रत्नमाला--१९५४।

संगीत

अभिनव संगीत--१९३४।

साहित्य-इतिहास

हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२३; २.९८ पृ० १८ से० मी०; ०.३७।

खड़ीबोली की कविता का संक्षिप्त परिचय--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३९; १२३ पृ०, १८ से० मी०।

उर्दू जबान का संक्षिप्त इतिहास--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९४०; १०, ८४ पृ०, १८ से० मी०; ०.५०। (प्रस्तावना-पं० अमरनाथ झा)

विविध

आधुनिक शिष्टाचार--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९२८; २.००।

मिट्टी के सुखदायक घर--१९३६।

सोहर--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३७।

मोहनमाला--(बाल पदावली) ०.७५।

हंस की हिम्मत--हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद। १९३५; ३४ पृ०, २२ से० मी० ०.३७।

हिन्दी पत्र शिक्षक--०.१२।

अशोक--०.२५।

चन्द्रगुप्त--०.२५।

महात्मा बुद्ध--०.२५।

राबिन हुड सिन्दबाद।

वानर संगीत--१९३४; ०.२५ (गेयनाटक)

पेखन--हिन्दी मन्दिर प्रेस, इलाहाबाद। १९३७; ०.२५।

हिन्दी ज्ञानोदय--६ भाग।

कन्या शिक्षावली--५ भाग।

हिन्दी प्राइमर--२ भाग।

बाल कौतुक--तरह तरह के आदमी।

खोजो, खोज निकालो।

नेता बुझौवल।

बताओ तो जानें।



श्री गणेशलाल शर्मा 'प्राणेश'

स्वर्गीय पं० रामनरेश त्रिपाठी : एक भेंट

बात १९६० ई० की है। प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिकोत्सव एवं उपाधि-वितरण-समारोह था। काका साहब गाडगिल, राज्यपाल पूर्वी पंजाब, केन्द्रीय मंत्री श्री जगजीवन राम जी, सेठ गोविन्ददास जी आदि उसमें भाग लेने के लिये पधारे थे। स्वर्गीय त्रिपाठी जी भी पधारे और सम्मेलन के अतिथि भवन में ठहरे थे। उसी अवसर पर श्रद्धेय त्रिपाठी जी के साथ मुझे भी ठहरने का एवं उनसे विशेष परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

जिस समय मैं अतिथि भवन में पहुँचा उस समय स्वर्गीय त्रिपाठी जी पत्र लिखवा रहे थे। मैंने जाकर उनके चरणस्पर्श किए। नेत्रों की ज्योति क्षीण होने से उन्होंने मेरा नाम पूछा। मैंने अपना परिचय दिया। वह बड़े प्रसन्न हुए और हाथ पकड़कर अपने पास पलंग पर बिठाकर बड़े स्नेहभाव से कुशलक्षेम पूछने लगे। फिर बोले—"दो-तीन दिन का साथ है यहीं ठहरिए।" मैंने कहा—"जैसी आज्ञा।" इस स्वल्प समय में मैंने स्वर्गीय त्रिपाठी जी के सम्बन्ध की सम्पूर्ण जानकारी उनके मुख से ही सुनी।

वास्तव में हमारी बातचीत प्रायः इन्टरव्यू का रूप धारण कर लेती थी। शिक्षा के बारे में जिज्ञासा प्रकट करने पर आपने कहा—"भाई ! मैं आप लोगों के समान डिग्रीधारी तो हूँ नहीं। मेरी शिक्षा केवल नवीं कक्षा तक हुई है। इसका कारण यह है कि मेरे पिता जी अंग्रेजी शिक्षा के विरोधी थे और घर की आर्थिक स्थिति अनुकूल भी नहीं थी।"

मैंने पूछा—"पंडित जी ! आपने ग्रामगीतों का संग्रह किस प्रकार किया ?"

पंडित जी ने उत्तर दिया—"शिक्षा समाप्त कर मैं कलकत्ते चला गया। वहाँ कुछ दिनों तक साहित्य सेवा की, परन्तु जलवायु अनुकूल न होने से मैं वापस चला आया। मुझे संग्रहणी की शिकायत हो गई, अतः कुछ दिनों तक विश्राम किया। परन्तु साहित्य-सेवा की भावना हृदय में तरंगित होती रहती थी। अतः ग्रामगीतों का संग्रह करने राजस्थान की ओर चला गया। वहीं कभी रात भर जाग कर, कभी चक्की चलाते समय स्त्रियों के गाने लिखे और कभी ऊँट की सवारी दिन भर करके एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़ता था। विश्राम करने का अवसर ही नहीं मिलता था। मेरी व्याधि ने जोर पकड़ा और यह बात समाचार पत्रों में छपी। तब दिल्ली के एक सज्जन श्री श्यामदास की पत्नी ने वह खबर पढ़कर कहा कि साहित्यकार का स्वास्थ्य राष्ट्र की सम्पत्ति है। उसकी रक्षा करना हमारा परम धर्म है। इस प्रकार उस महिला ने मेरी सहायतार्थ ५००रु० गुमनाम भिजवाये थे।"

मैंने निवेदन किया कि पंडित जी अपनी साहित्य-सेवा पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा कीजिए। क्या आपके सभी ग्रन्थ प्रयाग में ही लिखे गए? यात्रा के दिनों में क्या आप रूपरेखा तैयार कर लेते थे?

पंडित जी अपनी स्मरण-शक्ति को जागृत करते हुए कुछ सोचकर बोले—"मैंने ग्रामगीतों का संग्रह करने में तीन बार सारे देश की यात्रा की। इसमें मैंने १० वर्ष व्यतीत किए तथा ८ हजार रुपये व्यय हुए।"

"कविता करने का शौक मुझे १३ वर्ष की अवस्था से ही हो गया था। ग्रामगीत लिखते समय ही राजस्थान में 'हिन्दी महाभारत' लिखा। फिर हिन्दी-कोष का सम्पादन किया। साहित्य सेवा का मुख्य कार्य १९१५ ई० में इलाहाबाद में प्रारंभ किया।"

मैंने क्षमा चाहते हुए बीच में ही प्रश्न किया—"कविता करने की प्रेरणा आप को किससे मिली?"

"मेरे अध्यापक एवं 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा और इन्हीं दोनों से मुझे कविता रचने की प्रेरणा मिली। मैंने भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न काव्य लिखे—खण्डकाव्य 'पथिक' मैंने रामेश्वरम् में २१ दिन में लिखा, 'मिलन' प्रयाग में १३ दिन में लिखा और 'स्वप्न' काश्मीर में दो माह में लिखा। इनके अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, कहानियाँ तथा जीवन-चरित्र भी लिखे। इनमें कहानियों की संख्या १७ हैं एवं जीवन-चरित्र ५ हैं। इनमें गाँधी जी कौन? तथा 'मालवीय जी के साथ ३० दिन' बहुत लोकप्रिय हुए।"

"देश-सेवा की प्रेरणा आपको किससे प्राप्त हुई?"

"सर्वप्रथम मैं डॉ० एनीबेसेन्ट के होमरूल का सदस्य बन गया। उस समय मैं देश के मूर्धन्य नेता-लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, महामना मालवीय जी, पं० मोतीलाल नेहरू एवं लाला लाजपतराय के सम्पर्क में आया। इन महापुरुषों का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा और मुझे देश-सेवा की प्रेरणा मिली।"

"क्या आप कभी जेल भी गए हैं?"

"सर्वप्रथम मुझे कृष्ण मंदिर के दर्शन तब हुए जब मैं तिलक स्वराज्य फंड के लिए तीन हजार रुपये एकत्र कर रहा था। उस समय मुझे लखनऊ तथा आगरा में १॥ वर्ष की सजा भुगतनी पड़ी। इसके पश्चात् सत्याग्रह-संग्राम में पुनः जेल गया। तीसरी बार फिर जेल जाना चाहता था, किन्तु महात्मा गाँधी जी की आज्ञा थी कि तुम साहित्य-सेवा ही करो। अतः मैं साहित्यिक कार्यों में विशेष समय देने लगा।"

श्रद्धेय त्रिपाठी जी ज्ञान के अगाध समुद्र थे। आपकी साहित्यिक प्रतिभा चतुर्मुखी थी। वह सम्पादक, आलोचक, नाटककार, उपन्यास लेखक, कहानीकार, टीकाकार, अनुवादक और लोकसाहित्य के उत्थानकर्ता थे। 'हे प्रभो, आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए' वाली प्रसिद्ध प्रार्थना आपने ही लिखी है।

स्वर्गीय त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व में कुछ विलक्षण बातें दृष्टिगोचर होती हैं। ईश्वर

पर आपका अटल विश्वास था। संस्कार से नियति-नियंत्रण के प्रबल पक्षपाती और स्वभाव से कर्मवाद के सच्चे समर्थक थे। आपके व्यक्तित्व में भाग्य एवं पौरुष का अद्भुत समन्वय था। आपका स्वभाव बड़ा विनोदप्रिय था। प्रहसन एवं व्यंग्य लेखक के रूप में आपने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। अध्ययनशील, अध्यवसायी, स्पष्टवादी, विनयशील, परम दयालु–कितने ही गुण आप के चरित्र में समन्वित थे। सम्पूर्ण देश का तीन बार भ्रमण करने के कारण एवं देश के मूर्धन्य नेताओं के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप आपका अनुभव गम्भीर एवं व्यापक हो गया था। साहित्य के प्रथम कोटि के व्यक्तियों में स्वर्गीय त्रिपाठी जी का स्थान निर्विवादरूप से सुरक्षित है। ऐसे यशस्वी साहित्य-सेवक, देशभक्त एवं मानवता के पुजारी को श्रद्धांजलि भेंट करने के साथ ही, उनकी स्मृति-रक्षार्थ साहित्य संसार को कोई सक्रिय कदम भी उठाना चाहिए।

* * *

घनाक्षरी

हिन्दी कविता में घनाक्षरी एक प्रसिद्ध छंद है। इसका दूसरा नाम कवित्त भी है। भूषण, मतिराम, सेनापति, देव, पद्माकर, सुंदर, हरिश्चन्द्र, आदि कवियों ने अपनी ललित रचनाओं से इस छंद का गौरव बढ़ाया है। चौपाई के चाहक तुलसी ने इसे अछूता नहीं छोड़ा। इस छंद की सबसे बड़ी विशेषता जिससे यह सर्वप्रिय हुआ है, यह है कि इसमें नवों रसों की कविता सफलता के साथ हो सकती है। बहुत से छंद ऐसे हैं जो खास खास रसों के ही काम के हैं। जैसे, बरवै, करुण और शांति रस के लिये और सवैया, शृंगार, हास्य, करुण और शांत रस के लिये। इन छंदों में रौद्र, भयानक या वीररस की कविता से यथेष्ट रस की उत्पत्ति नहीं होगी। पर घनाक्षरी छंद में सब रसों की सरलता आ सकती है। इसी से हिन्दी के सब रसों के कवियों ने इसे अपना लिया।

—रामनरेश त्रिपाठी

('कवि कौमुदी' सं० १९८१ से)

श्री कृष्णनारायणलाल

पंडित रामनरेश त्रिपाठी : एक सफल कथाकार

पं० रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य के उन कवियों में से एक हैं, जिनकी गणना सर्वश्रेष्ठ कवियों के अन्तर्गत की जाती है। आपकी कविताओं में सरसता, माधुर्य, भावपक्ष और कलापक्ष सम्बन्धी सौन्दर्य और ओजस्विता का पूर्णरूपेण समावेश उपलब्ध होता है। आपकी कहानियाँ भी इतनी रोचक होती हैं कि पाठक को सहज ही में आकर्षित कर लेती हैं। इन कहानियों के कई संग्रह निकल चुके हैं किन्तु उनमें 'तरकस' और 'आँखों देखी कहानियाँ' तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

आपकी कहानियों की कथावस्तु की प्रधान विशेषता यह है कि उनमें एक ठोस सत्य निहित रहता है, और कदाचित इसलिए वे अपने संग्रह का 'आँखों देखी कहानियाँ' नामकरण करते हैं। त्रिपाठी जी भूमिका बाँधकर कहानी के कलेवर को दीर्घ नहीं बनाते वरन् कहानियों के शीर्षक में ही ऐसा जादू होता है कि वही भूमिका क्या, भूमिका से भी अधिक काम करता है। जैसे 'उन बच्चों का क्या हुआ', 'कभी मैं भी दुलहिन थी', 'भीखिन मँगवअ्', 'सुहागरात का उल्लू', 'वह फिर न हँसी' आदि। कहानी का प्रथम वाक्य इतना सुन्दर होना चाहिए कि पाठक को पूरी कहानी पढ़ने के हेतु विवश कर दे परन्तु आपके आरम्भ से लेकर अन्त तक के वाक्य इतने मनोहर होते हैं कि पाठक बिना कहानी को पूरी समाप्त किए नहीं उठता। उनमें जीवन में घटित केवल एक घटना का ही चित्रण रहता है जो कि वर्णनात्मक नहीं किन्तु उसमें एक मार्मिक संकेत रहता है। आपकी कहानियों में रागात्मकता रहती है जिससे वे अत्यधिक संवेदात्मक हो जाती हैं। 'उन बच्चों का क्या हुआ' में समाज की क्रूरता या 'नई बहू पुरानी सास' में आजकल की बहुओं का सास और पति के साथ व्यवहार इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। आप की कथावस्तु अत्यन्त शीघ्रता से अग्रसर होती हैं और चरम सीमा पर पहुँचकर समाप्त हो जाती हैं जिससे पढ़ने के पश्चात् पाठक के मस्तिष्क में बहुत देर तक अन्तर्द्वन्द्व मचा रहता है। आपकी कहानियों की यह एक प्रमुख विशेषता है।

त्रिपाठी जी की कहानियों में हमें बहुत कम पात्र प्राप्त होते हैं-हाँ, अधिक यदि प्राप्त भी हो गये तो केवल तीन ही परन्तु सभी कहानियों में एक ही पात्र सर्वप्रमुख होता है क्योंकि आपकी कहानी अधिकांशतः घटना-प्रधान रहती हैं। अतएव पाठक पर वह ऐसा अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं कि वह उन्हें भूल नहीं पाता, साथ ही कहानी में आए हुए पात्रों को भी भुला नहीं पाता। जैसे 'दातादीन', 'बफाती चाचा', 'कुणाल' आदि ऐसे पात्र हैं जो पाठक के मस्तिष्क में समाए रहते हैं। त्रिपाठी जी की कहानियों के अधिकांश पात्र जीवन के अत्यन्त साधारण व्यक्ति होते हैं, उनमें सभी प्रकार की झलक रहती है। उदाहरण के लिए हम 'उन बच्चों का क्या हुआ'

'सुहाग रात का उल्लू' 'गरीब का हृदय' 'भीखिन मंगवअ्' के क्रमशः 'बुधनी' 'कुमुद' 'गोमती' 'शीतल' नामक पात्रों को ले सकते हैं। त्रिपाठी जी समाज के प्रत्येक प्रकार के पात्रों का चयन करते हैं-अमीर, गरीब, चोर, दयालु, दुष्ट, सज्जन सभी तरह के मनुष्य उनकी कहानियों के अन्तर्गत आते हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी जी की कहानियों के कथोपकथन अत्यन्त सूक्ष्म और व्यंग्यात्मक हुआ करते हैं। उनमें वर्णमात्मकता का दोष नहीं पाया जाता। उनमें मार्मिकता निहित रहती है। आपके कथोपकथन इतने कौतूहल-पूर्ण हुआ करते हैं कि पाठक को आगे पढ़ने का चाव लगा रहता है और फिर अभिनयात्मकता तो इन कहानियों में जान ही डाल देती है। नाटकीय ढंग से कथोपकथन अत्यधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। 'वफाती चाचा' 'कुणाल' 'नई वहू पुरानी सास' 'उन बच्चों का क्या हुआ' आदि के कथोपकथनों में अभिनयात्मकता दृष्टिगोचर होती है। आपने कहानियों में थोड़ा कहकर अधिक अर्थ निकालने का सफल प्रयास किया है। उनका एक भी शब्द यदि अपनी जगह से हटा दिया जाय तो कहानी का सौन्दर्य ही नष्ट हो जायेगा, प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ये शब्द इतने आकर्षक हैं कि अपने स्थान से हटाये ही नहीं जा सकते।

आपकी कहानियों की भाषा इतनी सरल है कि साधारण से भी साधारण व्यक्ति कहानी का पूर्णरूपेण आनन्द प्राप्त कर लेता है। आपने हिन्दी के सरल से भी सरल शब्दों को अपनी कहानियों में रखा है। कहानी को आक़र्षक बनाने के लिए त्रिपाठी जी ने 'सख़्त' 'नावाकिफ़' 'काहिल' 'शरारत' 'मलाल' 'मौजूदगी' जैसे उर्दू के सरल और प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। आपने दीर्घ वाक्यों का प्रयोग कर कहानी को दुरूह होने से बचाया है। जीवन की अनुभूतियों का चित्रण करने के लिए त्रिपाठी जी ने उसमें दैनिक व्यवहारोपयोगी भाषा का प्रयोग किया है-- जैसे चुक, पोंकत, लप्पड़, कांछ, टुकुर टुकुर, गोरू आदि। मध्यम परिवार में दैनिक प्रयोग वाली भाषा के प्रयोग करने में त्रिपाठी जी नहीं चूके और इसीलिए उन्होंने अंग्रेजी के प्रचलित शब्द जैसे ग्रेजुएट, कम्पोजीटर, फोरमैन, प्रेस का प्रयोग किया है। आपकी कहानियों की शैली आडम्बर-हीन पर ओजपूर्ण होती हैं। उनके कथन का ढंग ऐसा निराला है कि पाठक स्वयमेव आकर्षित हो जाता है।

त्रिपाठी जी अपनी कहानियों का उद्देश्य कुछ इस प्रकार रखते हैं जिससे कि समाज के भीतर फैले हुए दोषों और गुणों को खुले रूप में समाज के समक्ष रखा जाये। वे समाज की बुराइयों का निराकरण करने के हेतु ही कहानी की रचना करते हैं। इसमें उपदेशात्मकता और शिक्षात्मकता अन्तर्निहित रहती है। आपकी अधिकांश कहानी बालोपयोगी हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति में त्रिपाठी जी पूर्णतया सफल हुए हैं। वास्तव में आपकी कहानियों के एक एक वाक्य अंगूर के दाने के समान हैं। पाठक जितना ही उनको पढ़ता है उतना ही उसे आनन्द प्राप्त होता है।

त्रिपाठी जी पूर्णतया एक कथाकार के रूप में सफल हैं। कहानी के समस्त गुण हमें त्रिपाठी जी की कहानियों में उपलब्ध होते हैं। किन्तु यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि त्रिपाठी जी कवि के रूप में जितना प्रसिद्ध हैं उतना एक कथाकार के रूप में नहीं।

त्रिपाठी जी की कहानियाँ सच पूछा जाये तो अत्यन्त यथार्थवादी हैं। उनमें कल्पना, जोड़-गांठ तथा अप्राकृतिक भावों की न्यूनता है। वह जो कुछ प्रत्यक्ष देखते और अनुभव करते थे, उसी-को सजीव रूप में अपनी कहानियों में चित्रित कर देते थे। वह जितने उच्चकोटि के कवि थे, कहानियों की दृष्टि से वह उच्च कलाकार भी थे। वास्तविकता यह है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, साथ ही सफल और लोककल्याणकारी भी।

* * *

श्रद्धेय त्रिपाठी जी के प्रति

(१)

धन्य-धन्य श्री रामनरेश त्रिपाठी जी का सद्‌जीवन था,
राष्ट्र और साहित्य-साधना में अर्पित तन, मन, धन था।
भारतीय भावों के प्रेरक हिन्दी के उन्नायक थे,
स्वयं सुकवि थे उच्चकोटि के, कविता-कला-विधायक थे।

(२)

मानवता के सबल समर्थक शान्ति, स्नेह, शुचि साधक थे,
आर्य्य-संस्कृति के संरक्षक आर्षकाल-आराधक थे।
निज उद्देश-साधना में अति संकट झेले-कष्ट सहे,
पर कर्त्तव्य मार्ग पर, दृढ़ता से अविचल हो अड़े रहे।

(३)

कविता-कौमुदियाँ प्रकाश कर, कवि-कौशल दिखलाया था,
प्रतिभाशाली कवियों की कविता का सुरस पिलाया था।
गद्य-पद्य दोनों के द्वारा, भव्य भाव उमगाते थे,
नव विचार दे-दे कर जग में, जीवन-ज्योति जगाते थे।

(४)

कवि की कीर्ति सदा रहती है, देह नष्ट हो जाता है,
उसका विमल विवेक विश्व को शुचि सन्मार्ग सुझाता है।
जिनकी गौरव-गुण-गाथा के गायक आज अपरिमित हैं,
उन स्वर्गीय त्रिपाठीजी को श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं।

लोहामंडी, आगरा

—(डाक्टर) हरिशंकर शर्मा, डी० लिट्

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

जिन्हें भूलना कठिन है

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक लाला भगवानदीन 'दीन' प्राचीन साहित्य के समर्थ विवेचक और स्वयं चमत्कार तथा वक्रोक्ति शैली के कवि थे। उनके घर पर वाराणसी के सभी उदीयमान साहित्यकार और भाषा-प्रेमी जाया करते थे। साहित्य-विद्यालय नाम की शिक्षण-संस्था का जन्म लाला जी ने दिया था, उसमें नियमित रूप से वे सभी लेखक और कवि जाया करते थे जिनकी आयु उस समय १५ से २० वर्ष के भीतर ही थी, जो अब ५५ से ६० के भीतर या कुछ और भी अधिक में चल रहे हैं। श्री 'उग्र', श्री विनोदशंकर व्यास, हिन्दू विश्व-विद्यालय वाराणसी के हिन्दी के अध्यक्ष डा० जगन्नाथ शर्मा, लाला जी के बाद साहित्य-विद्यालय में पोषण और प्राण भरनेवाले आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी आदि मित्रों की मंडली में भी जाकर मैं उस विद्यालय में बैठा करता और लाला जी के गम्भीर साहित्यिक-विवेचन का लाभ लिया करता था। कवि-कर्म और साहित्यिक कृतित्व का मानदण्ड जो लाल जी मानते थे उसका पता इसी से चल जाता है कि उनके कहने से हम में से कितने ही उनके शिष्यों ने सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की आठवीं श्रेणी में ही संस्कृत की 'श्रृंगार तिलक' जैसी रचना को, यही नहीं कि पढ़ गये, पूरे सौ छन्दों को रट गये, जिनमें कुछ श्लोक प्रायः ४५ वर्ष बीत जाने के बाद भी अभी तक स्मरण हैं। हिन्दी में जो कुछ नया साहित्य आ रहा था, लाला जी परिहास और व्यंग्य में बड़ी सरलता से उसकी खिल्ली भी उड़ा दिया करते थे।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' की एक पंक्ति 'सीतापते ! सीतापते ! गीतामते ! गीतामते' का नया संस्कार जो लाला जी ने किया था—'पैसापते ! पैसापते ! रुपयामते ! रुपयामते ! ! ' तो उनके मुंह से मैं कई बार सुन चुका था। और यह भी ठीक है कि उनके कहने का ढंग कुछ ऐसा निर्दोष होता था कि हम सभी किशोर-साहित्य के अनुरागी बार-बार इसे सुनकर मौज में हँस पड़े थे। उन्हीं दिनों लाला जी ने 'कृति-लाठी' का बड़ा मनोरंजक विवेचन किया था। स्वर्गीय पं० रामनरेश त्रिपाठी का राष्ट्रीय खंडकाव्य 'पथिक' उस समय के विद्वानों की सम्मतियों के साथ छपा था, जिसमें सुप्रसिद्ध कवि पं० नाथूरामशंकर शर्मा की सम्मति थी —

पंडित रामनरेश त्रिपाठी,
लूटा सुजस मार कृति-लाठी।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कृति की लाठी मार कर सुजस लूट लिया है, इस सूत्र के भाष्य के लिए हम लोगों ने 'पथिक' तो पढ़ा ही, त्रिपाठी जी का 'मिलन' काव्य भी पढ़ डाला।

'भारत भारती' का नाम राष्ट्रीय काव्य के रूप में बहुत हो चुका था पर किसी भी कथा-प्रवाह के अभाव में विभिन्न शीर्षकों के नीचे लिखे उत्तेजक छन्दों की माला ही 'भारत भारती' बनी रह गयी। कवि की पंक्तियां जो हृदय में कम्पन और देह में रोमांच उत्पन्न करें मुझे स्वर्गीय त्रिपाठी के 'पथिक' में बहुत मिली थीं। शब्द के माध्यम से जीवन की मार्मिक परिस्थितियों और भावों को रूप देनेवाले कवि रामनरेश त्रिपाठी से मेरा परिचय अभी नहीं हुआ था। प्रायः छः वर्ष बाद हुआ पर 'पथिक' काव्य ने मेरे मन को उनके अत्यन्त निकट तभी पहुँचा दिया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक त्रिपाठी जी के कवि-कर्म पर प्रायः मौन ही रह गये, जिस किसी ने थोड़ी बहुत उदारता दिखायी वह भी जैसे नाम गिनाने और कुछ उद्धरण भर देने के लिए। त्रिपाठी जी के 'पथिक' 'स्वप्न' और 'मिलन' से आधुनिक हिन्दी-कविता को कितनी प्रेरणा मिली थी, यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय हो सकता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि अपनी पहली छायावादी कविता-पुस्तक 'अन्तर्जगत्' लिखने के पहले त्रिपाठी जी के 'पथिक' की कई आवृत्ति कर गया था। सम्भवतः यही स्थिति छायावाद-काल के अन्य कवियों की भी रही होगी। 'भारत भारती' की एक आवृत्ति भी मुझ से पूरी न हो सकी, मेरा परिचय कुछ थोड़े ही छन्दों से तब हो सका था जब वे मुझे अपनी ओर खींच सके थे।

१९३० में जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में कानून का विद्यार्थी बना, हिन्दी-मन्दिर में स्वर्गीय त्रिपाठी जी का दर्शन मिला था। कवि होते हुए भी त्रिपाठी जी ऐसे कर्मठ व्यवस्थापक थे कि हिन्दी-मन्दिर को कुछ ही वर्षों में इन्होंने अपने समय की प्रकाशन-संस्थाओं में आगे बढ़ा दिया था। 'कविता कौमुदी' के पाँच-भाग, रामचरितमानस की टीका जैसे श्रम-साध्य कार्यों में लगे रहने पर भी त्रिपाठी जी का प्रकाशन-व्यवसाय भी चमकता गया, ऐसा संयोग देखने में बहुत कम मिलता है। समर्थ कवि, अधिकारी पंडित और व्यवहार-कुशल व्यवसायी एक ही साथ वे तीनों बने रहे। इतना ही नहीं हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में भी उन्होंने भाग लिया, मृत्युञ्जय गांधी के साथ देश के अन्य नेताओं के सम्पर्क में भी वे बराबर बने रहे। देहाती मदरसे का शिक्षक, जिसकी शिक्षा किसी विश्वविद्यालय में या कहीं भी नियमित नहीं चली थी, स्वाध्याय और कुछ बैठने की धुन में कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है, दिवंगत त्रिपाठी इसके प्रमाण हैं। उन दिनों जब कभी मैं हिन्दी-मन्दिर गया, त्रिपाठी जी को एक ही साथ व्यवस्था, व्यापार, प्रूफ-संशोधन और साहित्य-लेखन का भी कार्य करते देखा। जिससे मुझे इस प्राणी को देखकर जो विस्मय हुआ, उनके न रहने पर भी अभी नहीं मिटा है। तपस्या को अतिरंजना और अलंकार से अलग कर देखने पर रामनरेश त्रिपाठी जैसे कर्मयोगी तपस्वी कहे जा सकते हैं—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

गीता का यह श्लोक जैसे दिवंगत त्रिपाठी जी में आत्मसात् हो उठा था और वे मुझे जब कभी मिले यह श्लोक अनायास मेरे मन में उतरता रहा।

त्रिपाठी जी प्रकृति से भावुक और रससिद्ध कवि थे, जिसे देखने का अवसर मुझे कई बार मिला था। वह अपनी कन्या के लिए वर खोजने आजमगढ़ जिले के पूर्वी अंचल में, जिसमें एक ही पूर्वज की सन्तान हम लोग नौ-दस गाँव में बसे हैं, गये। जो वर उन्हें पसन्द हुआ वह इंजीनियरिंग कर चुका था, पर उसके पिता कुछ अधिक व्यवहार-कुशल और लाभ-लोभ के जीव थे। उन्होंने यह सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया। त्रिपाठी जी रो पड़े थे। उन दिनों में 'अन्तर्जगत्' के बाद की 'सिंदूर की होली' तक मेरी पाँच-सात रचनायें प्रकाशित हो चुकी थीं। मैंने त्रिपाठी जी को समझाकर प्रकृतिस्थ करने की चेष्टा की और तब त्रिपाठी जी जैसे क्रोध में भर कर बोल उठे—मिश्र जी, आप भी सरस्वती के पुत्र हैं, आपके सामने मैं संकल्प करता हूँ कि अपनी कन्या को मैं आपके कुल के इस प्राणी के घर से बड़े घर में दूँगा। लड़का छोड़कर इनके पास और क्या है? कि इन्होंने मेरा इस प्रकार बुलाकर अनादर किया। मुझे कहना पड़ा, मेरे कुल में एक व्यक्ति आपके प्रति अपराधी बन गया तो हम सब अपराधी हैं, पूरा कुल अपराधी है। इस पर वे खुले मन से हँस पड़े थे और बोले——नहीं, नहीं आप तो इस कुल के नहीं सरस्वती के कुल के हैं। त्रिपाठी जी ने वास्तव में अपनी कन्या को बहुत बड़े घर में दिया। उनके अतमगौरव को जो ठेस लगी थी, उससे कन्या का तो लाभ ही हुआ। आँसू, क्रोध और हँसी——तीनों इतने थोड़े समय में त्रिपाठी जी ने मुझे दिखा दिया था। एक बार और त्रिपाठी जी इसी कार्य से मेरे मिसरान में गये, मेरे सगे दायाद के यहाँ ठहरे, जिस दायाद के यहाँ अनुज की हत्या के बाद मेरा आना-जाना बन्द था। त्रिपाठी जी दोपहर के बाद मेरे द्वार पर पहुँच गये, बोले——आप वहाँ जाते नहीं और आपसे बिना मिले चला जाता तो मेरा मन मुझे धिक्कार देता। जाड़े के दिन थे, मकान के आगे सहन में मैं धूप में पलँग पर बैठा था, त्रिपाठी जी जाकर पैताने बैठ गये, मैं पलँग छोड़कर खड़ा हो गया और बोला——क्या किया आपने? मेरे पैताने बैठकर आप मुझे कहाँ ठेल रहे हैं। वह बोले——आप लोगों के यहाँ कन्या के लिए वर खोजने आया हूँ, आपके कुल का बालक भी मेरे लिए प्रणम्य है। उस अवसर पर भी——मृत अनुज के पुत्र को देखकर वे रो पड़े थे और श्रीहर्ष का प्रसिद्ध चरण जैसे अनायास बोल गये थे——मयैकपुत्रा वरटा तपस्विनी। त्रिपाठी जी का संयोग उस बार भी मेरे कुल में किसी भाग्यशाली से न बैठ सका। त्रिपाठी जी ने कहा था——आप लोगों का अक्षत मुझे बदा नहीं है। त्रिपाठी जी के साथ मैं अपने दायाद के बैठके तक चला गया, कुछ देर बैठा भी रहा। मेरे चले आने के बाद त्रिपाठी जी से उन लोगों ने मेरे उनके साथ वहाँ तक चले जाने पर विस्मय प्रकट किया था, जिसका समाधान भी——यह कहकर उन्होंने किया था कि भला मेरे आने का यही इतना फल हुआ और परमात्मा अब से भी आप लोगों की दूरी कम करे।

पिछले दस वर्षों में त्रिपाठी जी से बार-बार भेंट हुई। त्रिपाठी जी की आयु ज्यों ज्यों बढ़ती गयी, उनका हृदय अधिकाधिक स्नेह और शील से भरता गया। राजर्षि टंडन जी को जिस दिन राष्ट्रपति द्वारा अभिनंदन-ग्रन्थ भेंट किया गया उसके दूसरे या तीसरे दिन प्रयाग संगीत-समिति में हिन्दी के साहित्यकार लोग साहित्य पर विचार-विनिमय करने को जुटे थे। श्री पन्त जी और श्रीमती महादेवी वर्मा के भाषण से कार्यक्रम का श्रीगणेश हुआ था, मुझे भी बोलने को कहा गया।

अपने भाषण में मैं कुछ ऐसा कह गया था कि पूर्व वक्ता जो अंग्रेजी-गीतकारों के लय में लय मिला कर गीत लिखने में ही जीवन भर लगे रह गये, वे लोग साहित्य की चिन्ता करने लगे हैं। लोक-मन से इतनी दूर जाकर लोक-साहित्य की चिन्ता करना विचित्र बात है। लोक अपना और अपने साहित्य की चिन्ता अपने अर्थ, धर्म और काम की चिन्ता में कर रहा है, जो लोग लोक के अर्थ, धर्म और काम को भूल कर अब तक कवि और साहित्यकार बनते आये हैं, लोक को चैन से रहने दें। मेरे बाद त्रिपाठी जी बोलने उठे और उन्होंने मेरे ही मत का समर्थन जिस निर्भय और दृढ़ बुद्धि से किया, उसका स्मरण तो मैं अब भी कर रहा हूँ, पर कहने के लिए वाणी का वह बल नहीं है और न तो उनके इस संस्मरण में इसका प्रसंग ही है।

मृत्यु के एक दिन पहले सुना कि त्रिपाठी जी सम्मेलन के अतिथि-भवन में बीमार हैं, रात में उनकी दशा चिन्तनीय हो गयी थी। जब उनको देखने गया, तब उस समय वे पलंग पर चित्त पड़े थे। लम्बा रास्ता पार करनेवाले राही की तरह थकान के चिह्न उनकी आकृति पर, ललाट पर, आँख पर, साँस की गति में लक्षित हो रहे थे, मुझे देखते ही सहसा वे उठ बैठे। दोनों बाहें जैसे मन्त्र-शक्ति में मेरी ओर बढ़ गयीं, क्षण भर के लिए मैं सहम गया। फिर उन्हें संभाल कर लिटाते हुए मैंने कहा—सुना मैंने आपकी गति बिगड़ गयी थी। धीमी हँसी उनके मुंह से निकली, मेरा हाथ पकड़ कर बोले——लोग मुझे पलंग से उठने नहीं दे रहे थे पर मैं सबेरे शौचालय स्वयं उठकर गया। जब तक इच्छाशक्ति बनी है कैसे मान लूं कि मुझे अब जाना ही है। धीरे-धीरे घर-परिवार की कुछ बातें हुईं, उनकी नाड़ी मैंने हाथ में ली, जो कुछ जानकारी मुझे है सब ओर निर्दोष लगी। मेरे मुंह से निकल गया, काल भगवान अब आपको हमारे बीच में रहने दें। उन्होने तुरंत ही कहा, आप मेरे मन की कह गये, मुझे भी ऐसा ही लग रहा है। सबेरे दस बजे के आसपास की स्थिति ऐसी ही रही। सुना दिन भर लोग मिलने आते रहे, रात को भी दस या ग्यारह बजे तक। त्रिपाठी जी लोगों से सुख-सन्तोष के साथ हँसकर बातें करते रहे।

दूसरे दिन सुना, त्रिपाठी जी चल बसे। ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी कुम्हार के चक्के की तरह नाच गयी। पं० पद्मकान्त मालवीय के साथ उस काया के कण्ठ और शिर पर हम लोगों ने मालाएँ टिका दीं। यही वह काया थी जिसमें कभी कवि का, कभी गम्भीर विचारक का, कभी राष्ट्रसेवी और व्यवस्थापक की वृत्ति आती-जाती रही। हम दोनों ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और नीचे उतर आये जहाँ प्रयाग के साहित्यसेवी उनके प्रति श्रद्धा की डोर से खिंचकर आ गये थे। गंगा-तट तक शव-यात्रा में गये। पंचभूत काया चिता की लपटों में धू-धू कर जल उठी। गंगा-स्नान कर लौट आये। त्रिपाठी जी के भीतर जो कवि और मनीषी का अंश था, वह आज भी जीवित है और जीवित रहेगा। हम लोग जो उनके पीछे धरती पर आये हैं, उनके पद-चिह्न न मिटने दें तभी हमारी साहित्य-सेवा सार्थक होगी और भगवती सरस्वती का प्रसाद भी हमें तभी मिलेगा।

* * *

तृतीय खंड

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(व्यक्तित्व, कृतित्व और संस्मरण)

दो गीत

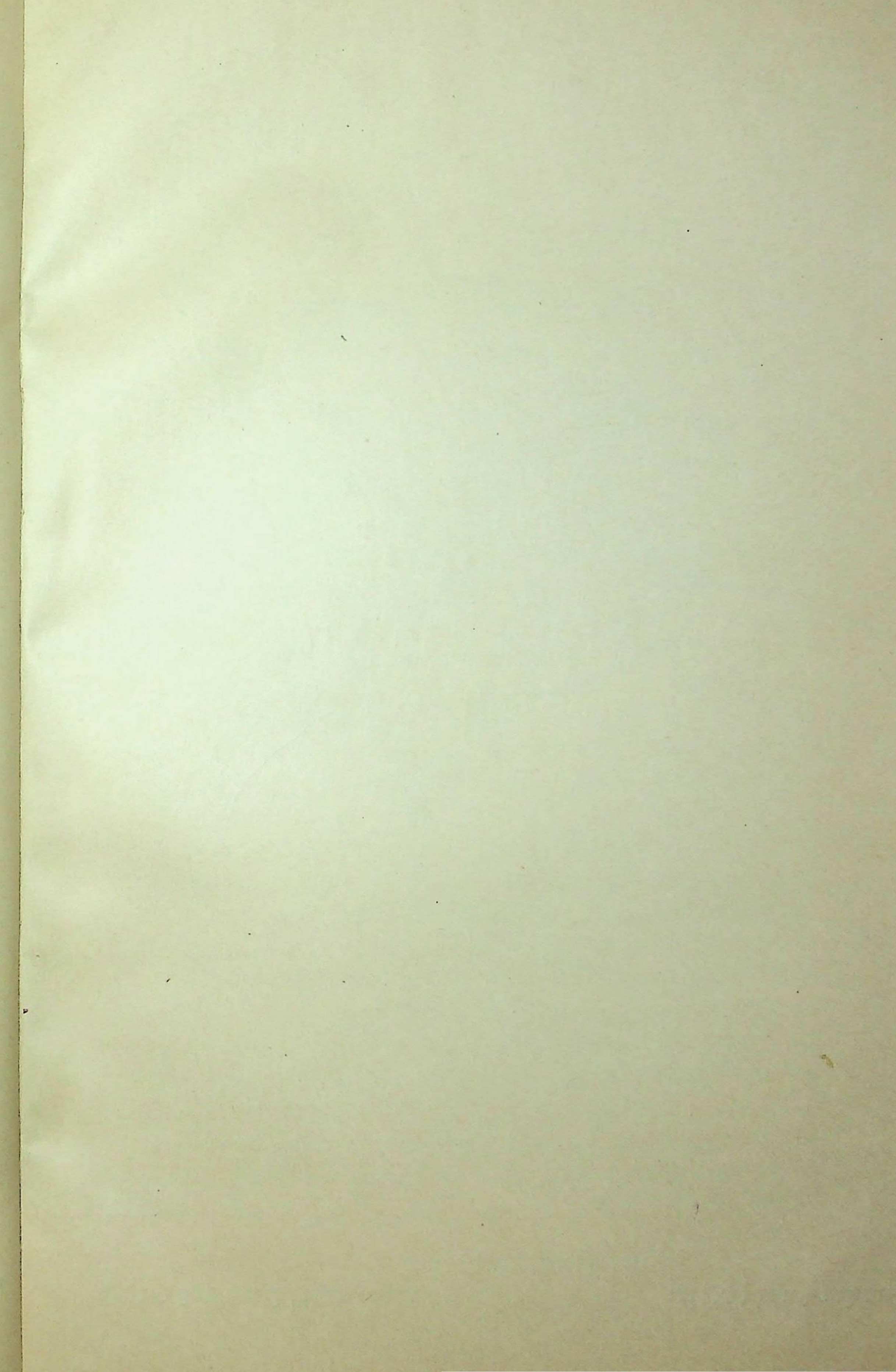
[१]

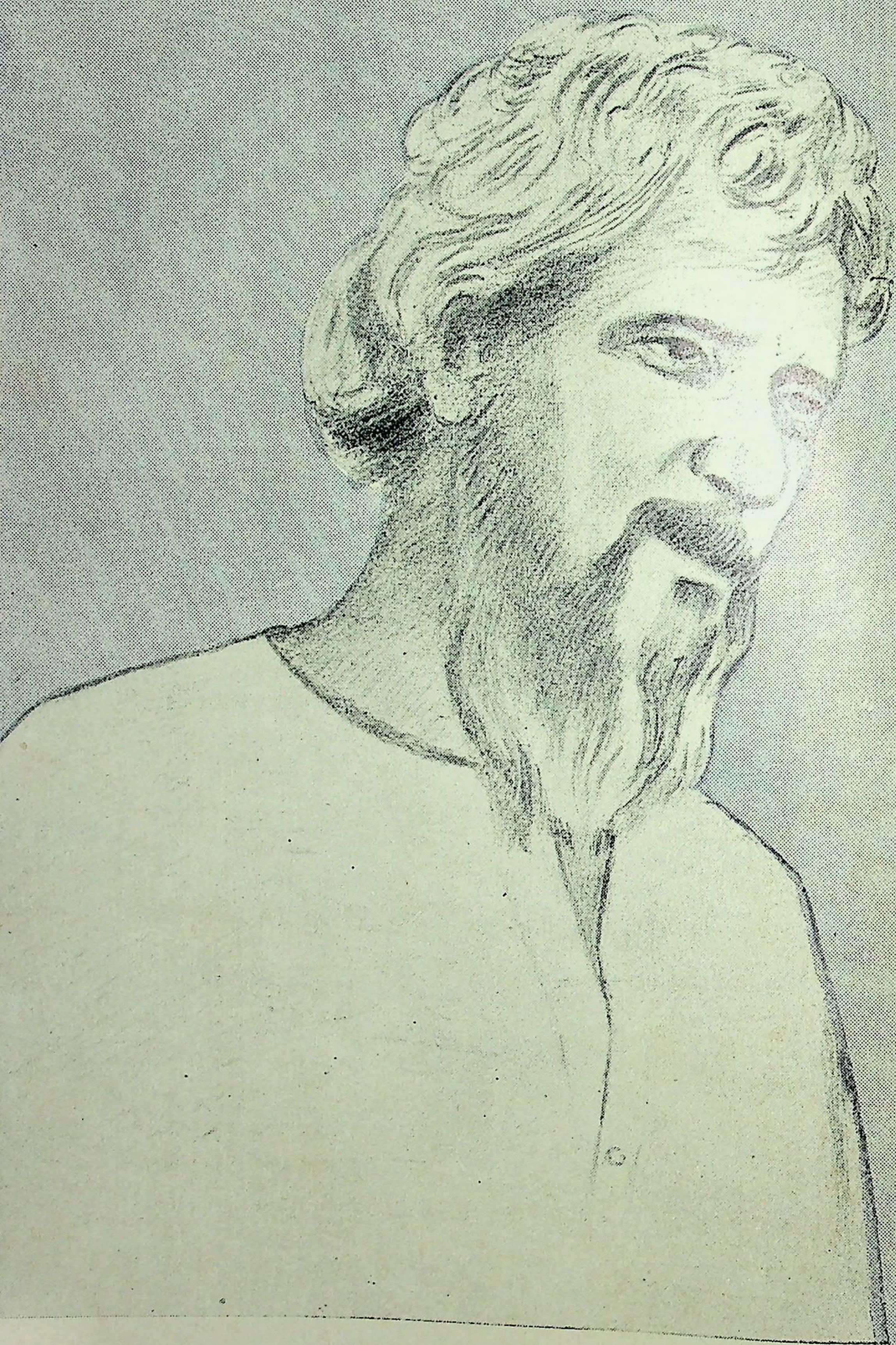
नखशिख लिखे लिखे
तन रतनार दिखे
नवल सरोज
उरोज नाल कर
दशन पंक्ति
कुंदावकलित हर
हंसित विमोह सिखे — तन रतनार दिखे
(१ चरण और शेष हैं)

[२]

धिक् मनस्सब मान गरजे बदरवा
झूले झिले, गान सरजे बदरवा
चीर के धनुष के तीर छूटे छटे
बूँद के बारि के बसन बूटे बटे
गले के चले गायन, चरायन पटे
पेड़ के तल अतल लरजे बदरवा — झूले झिले०
घुसे कामद शिखर, शिखर गिरि फैल कर
घन प्रवहमान वन शैल पर
गायन ध्वनित ग्राम ग्राम से नगर घर
नागरी नागरी बरजे बदरवा — झूले झिले०

—निराला





पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म : माघ शुक्ल ५, संवत् १९५३ वि०

निधन : आश्विन शुक्ल ६, संवत् २०१८ वि०

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रद्धाञ्जलि

मा भारती के मन्दिर का वह स्वरकार मौन हो गया है, जो उसकी वीणा की हर कोमल कठिन झंकार को लयवती बनाता था।

महाकवि निराला के तिरोधान से हमारे मन में जैसा शून्य उत्पन्न हो गया है उससे कम भारती के मन्दिर में नहीं है, क्योंकि उसके हर स्वर को सँभाल सके, उसकी व्याख्या कर सके और उसे लय-ताल-छन्द में बाँध सके ऐसा दूसरा गीतकार नहीं है।

भाई निरालाजी के महाप्रस्थान को अभी थोड़े दिन हुए हैं। हमारे उनके बीच में समय का पाट अभी विस्तृत नहीं हुआ है। आज भी उनका व्यक्तित्व हमें घेरे हुए है। आज भी लगता है मानो उनकी स्नेहतरल दृष्टि हमारे जीवन का रक्षाकवच बनी हुई है, उनकी सरल-सहज हँसी हमारे मार्ग के काँटों पर बिछ बिछ जाती है और उनकी समवेदना हमारे स्पन्दन के साथ मिलकर हमें बल देती है। अभी उनके व्यक्तित्व से हमारा बिछोह नहीं हुआ है—साहित्य से तो बिछोह सम्भव ही नहीं है।

जब किसी कवि के और हमारे बीच में दीर्घ समय का व्यवधान आ जाता है तब हम उसके साहित्य से ही उसके व्यक्तित्व का परिचय पाते हैं। परन्तु जो कवि भौतिक शरीर से हमारे इतने निकट रहा, जिसने अपनी हर सांस के साथ हमारे सुख-दुःखों को अनुभव किया, उसे भूलना सहज नहीं होता।

धरती में ऐसी शक्ति है कि वह विशेष प्रतिभा उत्पन्न कर सके। परन्तु जो प्रतिभा विराट स्वप्न और आकाशचारिणी कल्पना लेकर आती है, उसके लिए अनुभूति के समुद्र की गहराई से बँधा रहना कठिन होता है। आकाश का समुद्र-तल से बँध जाना सहज नहीं, चाहे उसका प्रतिबिम्ब जल में तैरता रहे। महान् कवि तभी उत्पन्न होता है जब अनुभूति की गहनता-गम्भीरता, जो जीवन का एक सूत्र है, जीवमात्र की समानता का उद्घोष है और मानवता की जय का उद्गीथ है, विराट स्वप्न और आकाशचारी कल्पना से बँधी रहे। निरालाजी में वैसी ही अनुभूति थी। कहीं पत्ता भी हिले तो उसकी कम्पन भी उनके हृदय में प्रतिध्वनित होती थी। जैसे एक अत्यन्त सधी वीणा हो, जिसके मिले खिंचे तारों में हल्की सी कम्पन भी संगीत बन जाती है, एक झंकार भी अनेक प्रतिध्वनियाँ जगा देती है।

अपनी असाधारण प्रतिभा के साथ भी वे अपनी संवेदनशीलता में सामान्य थे। 'राम की शक्ति-पूजा' 'शिवाजी का पत्र' जैसी ओज भरी और 'जुही की कली' जैसी कोमल रचनाओं तथा

अनेक लय-तालों में बंधे रहस्यमर्मी गीतों, जिन्हें गाने के लिए दूसरा कण्ठ दुर्लभ है, का रचयिता प्रायः किसी इक्के रिक्शेवाले या दरिद्र मजदूर की खटिया पर बैठा हुआ उसे खैनी (तम्बाकू) मलकर देता हुआ उसके सुखदुःख की बात सुनता हुआ मिल जाता था। अपने जीवन की दृष्टि से भी वे भारत के साधारण जन का प्रतिनिधित्व करते थे। बर्तन स्वयं मलते थे, पानी स्वयं लाते थे, राशन की दूकान पर घण्टों खड़े रहते थे और चूल्हा फूंक फूंक कर स्वयं भोजन बनाते थे। ऐसी स्थिति में अतिथि तो आपत्ति ही हो सकता था, परन्तु निराला जी के लिए अतिथि का आगमन उत्सव ही हो जाता था। अतिथि द्वार पर आया नहीं कि वे दौड़े। उसके लिए क्या लायेंगे, क्या व्यंजन बनायेंगे आदि चिन्ताओं के साथ भी उनका मन आनन्द से भर जाता था।

किसी को किंचित् कष्ट हो, कोई पीड़ा हो तो सुनकर ही वे आकुल हो उठते थे। उनका कष्ट व्यक्तिगत न होकर इतना समष्टिगत रहता था कि उसका निवारग प्रायः कठिन हो जाता था। एकाकी व्यक्ति के लिए समष्टिगत व्यथा सँभालना, महामानवता की ही अपेक्षा रखता है। निराला जी ऐसे ही महामानव थे। उनके व्यक्तित्व पर चाहे जितने प्रहार हुए, वे विचलित नहीं हुए। स्वर्ण को गला कर किसी भी सांचे में ढाला जा सकता है, परन्तु हीरे को हम तोड़ सकते हैं, गला नहीं सकते, उसका, अपनी इच्छानुसार कोई आभूषण नहीं वना सकते। उसका हर खण्ड, हर कण अपने आप में मूल्य रखता है। निराला का प्रखर व्यक्तित्व भी किसी की इच्छानुसार गला-ढला नहीं, परन्तु सवके लिए मूल्यवान रहा। अपने अपरिग्रही स्वभाव के कारण वे हमारी सन्त परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने लिए कुछ न करने का हठ उनके विद्रोही स्वभाव का अंग था और वह अन्त तक अपरिवर्तित रहा। मा भारतीय अपने वरद पुत्र के व्यक्तित्व को खण्डित करना क्यों चाहती ! वह तो अपने पुत्रों को अपने स्वप्न के अनुरूप वनाती है, अन्य किसी को उसमें कुछ जोड़ने कुछ घटाने नहीं देती।

निराला ने जो अमृत दिया है वह कितने मनोमन्थन से उत्पन्न हुआ होगा, इसे कौन जान सकता है ?

एक बादल बनाने के लिए समुद्र को कितना तपना पड़ता है। बादल क्षार जल नहीं लाता, परन्तु सारी सजलता के साथ विद्युत् तो उसमें रहती ही है।

निराला जैसे युगान्तरकारी कवि अनायास आते और अपने दान के प्रति स्वयं वेसुध रह कर चले जाते हैं। जैसे उनके आने पर हमारा नियन्त्रण नहीं है, वैसे ही उनकी बिदा पर भी हमारा वश नहीं है। केवल उनके दान की कृतार्थता हमारी है।

निराला चिरनवीन हैं और तव भी सनातन से बँधे हुए हैं। वे भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन से विच्छिन्न न होकर भी हर दिशा से आनेवाले विचार का स्वागत करते रहे हैं। वही तात्विक एकता, वही दर्शन, वही सांस्कृतिक वैभव उनके काव्य में नव नव अवतार ग्रहण करता है, जैसे एक धारा में जल की अनेक धारायें मिलती जाती हैं और यह स्वीकृति उसे और अधिक विशालता तथा गहराई देती चलती है। उनका विद्रोह हर रूढ़ि से, हर संकीर्णता से है, परन्तु मर्यादा-बोध उनके स्वभावगत है। नदी, नहर के समान तट नहीं चाहती। संगमर्मर के

तटों में बँधकर भी गंगा समुद्र तक नहीं जायगी, परन्तु उसकी मर्यादायें स्वयं उसकी हैं, तट वह स्वयं बना लेती है। उससे सजलता सब ले सकते हैं, धरती हरी भरी हो सकती है, पर लक्ष्य उसका अपना है, मार्ग उसका अपना है। अनन्त धाराओं में बँटकर मिलकर जब वह समुद्र से एक हो जाती है, तब समुद्र बन जाती है।

महाकवि निराला की प्रतिभा निरन्तर नवीन परिस्थितियों को समेटती हुई भी अपने एक गन्तव्य की ओर बढ़ती रही है। जहां उसका उद्गम है वह हिमालय भी एक है, जिसमें मिल कर उसे एक होना है वह समुद्र भी एक है।

इतने महान कवि से प्राप्त उत्तराधिकार का यदि हम उचित उपयोग न कर सकें तो हम अपने आपको उनका उत्तराधिकारी नहीं कह सकेंगे।

यदि हम अपनी अनुभूतियों को गहराई और विस्तार दे सकें, अपने ज्ञान को जीवन के धरातल पर उतार सकें और अपने जीवन को इतना सहज बना सकें कि सामान्य जन हमारा आत्मीय हो सके, तभी हम निराला को श्रद्धांजलि देने के अधिकारी हो सकेंगे।



श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

पूर्ण-काम 'निराला'

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की रचनाएँ 'मतवाला' के मुखपृष्ठ पर जिन दिनों निकलने लगीं उन्हीं दिनों 'अन्तर्जगत्' के छन्द मैं भी लिखने लगा था। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार का मिलना जहाँ एक ओर देश के गौरव का कारण बना, दूसरी ओर व्यक्ति-मन या व्यक्तित्वपरक कविताओं का श्रीगणेश भी इसी रचना से हुआ। काव्य इस देश में पहले भी लिखे गये थे, कवि-कर्म वेद की ऋचाओं में भी आ चुका था। **'कवीना-मुशना कवि :'** गीता के इस कथन से इतना जाना जाता है कि सुदूर अतीत में कहीं उशना के कवि-कर्म की बड़ी ख्याति थी जो अब लुप्त है। वालमीकि, व्यास के कवि-कर्म रामायण और महाभारत के रूप में जातीय संस्कृति की काया के दुहरे मेरु-दंड निश्चय ही ज्ञात इतिहास के पहले बन चुके थे। जो कथाएँ इन ग्रन्थों में आ चुकी थीं और जो हमारी जाति के जीवन का अंग बन चुकी थीं उन्हीं के आधार पर संस्कृत के सभी काव्य-नाटक लिखे गये। वाल्मीकि-कालिदास और दूसरे कवियों के काव्यों में हमें अपने मूलभाव रति, उत्साह, क्रोध, विस्मय, भय आदि मिले––चार पुरुषार्थों में तीन अर्थ, धर्म और काम काव्य के त्रिवर्ग कहे गये। कवि-कर्म का चरम उत्कर्ष इन काव्यों में आया पर कवि का व्यक्तित्व सब कहीं छिपा रहा। **'सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता'** अकेले कालिदास का मत न होकर हमारी पूरी कवि-परम्परा का तत्त्वबोध है। इसीलिए हमारे साहित्य में व्यक्ति की प्रधानता नहीं, विधि की प्रधानता रही है, जिसमें जीव-धर्म और जीवन की परिस्थितियाँ कमल की पंखुड़ियों सी खुलती और बन्द होती रहीं।

वाल्मीकि रामायण में, जिसे हम आदिकाव्य कहते हैं, वाल्मीकि के व्यक्तित्व का सब कहीं लोप है। कवि के लोक के अर्थ, धर्म और काम, रति, उत्साह, भय, क्रोध आदि के अनूठे प्रसंग बार-बार मिलते हैं। राम-कथा का अर्थ हमारे लिए राम और राम के लोक के अर्थ, धर्म, और काम हैं। मूल भाव हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। अशिथिल समाधि में व्यक्ति व्यक्ति न रह कर विराट् बन जाता है और तभी काव्य या कला का कोई भी स्वरूप बन पाता है।

इसके ठीक विपरीत यूनानी साहित्य में शिथिल या अशिथिल समाधि की कोई धारणा नहीं है। कवि यहाँ न विराट् है, न विधाता। देही के अर्थ, धर्म, काम या मूल भाव की कोई पकड़ यूनानी व्यक्तिवादी नहीं कर सके। अपने मन की रंगीनी उमड़-घुमड़, कुंठा और विषाद की प्रदर्शिनी अपने गीतों में जैसे यूनानी कवयित्री सैफो ने प्रायः छब्बीस सौ वर्ष पहले खोल दी,

पुनर्जागरण-काल में उसी की प्रेरणा में अंग्रेजी के कैशोर कुंठा और विषाद के कवि शेली, कीट्स आदि ने अपने गीत लिखे; इन कवियों के प्रभाव में 'गीतांजलि' के गीतों की रचना हुई जिसका प्रभाव इस देश के पूरे कवि-कर्म पर देर-सवेर समान रूप से पड़ गया। हिन्दी कविता के छाया-वाद-युग का मूल पश्चिम के ऐसे ही गीत हैं, न कि उपनिषद् या वेद के मन्त्र। उपनिषद् और वेद के मन्त्रों में व्यक्ति का आधार या आलम्बन कहीं नहीं है। यह पश्चिम की देन है, जिसका मूल यूनानी व्यक्तिवाद और यूनानी कवि-कर्म में है। यूरोप के पुनर्जागरण-काल में यही व्यक्ति-वाद जागा था। इसी प्रभाव में 'निराला' की 'मतवाला' वाली कविताएँ आयीं, ऐसी कविताएँ बंगाल में पहले ही आ चुकी थीं।

'मतवाला' के मुखपृष्ठ की दो-चार कविताएँ जो 'निराला' के नाम से छपीं, उनसे समूचा हिन्दी-क्षेत्र एकाएक हिल उठा। इन कविताओं की जो आलोचना वाराणसी में लाला भगवान दीन किया करते थे, उनके उद्धरण या आलोचना का अवसर यहाँ नहीं है। इन कविताओं से मैं विस्मित हुआ, प्रभावित भी हुआ और जहाँ तक स्मरण है दो-तीन लम्बी कविताएँ मैंने भी उसी 'रबड़ छन्द' में लिख डाली थीं, जिसके प्रवर्त्तक सूर्यकान्त कहे गये। जितना विस्मय मुझे इन कविताओं से हुआ था उतना ही विस्मय मुझे 'निराला' को पहले-पहल देखकर भी हुआ।

वाराणसी के बेनियाबाग के पश्चिम से जो सड़क उत्तर से दक्षिण को जाती है, उसी सड़क पर दक्षिण से उत्तर को जाते हुए मुझे एक लम्बे और पुष्ट शरीरवाले तरुण को देखने का अवसर सन् १९२५-२६ में मिला। आँखों में वह तेज था, जिसकी ओर देखना भी कठिन था। मैं अवाक्-सा देखता रह गया। लम्बी पुष्ट काया, पहलवान जैसा अंगों का उभार, चाल में निश्चय ही सिंह की गति और आकृति पर यमराज को भी स्तम्भित कर देने वाली निर्भय मुद्रा। सारा शरीर नंग-धड़ंग, केवल कमर में जैसे तेल से भींगा बनारसी अँगौछा, चौंक कर सब ओर घूमती हुई आँखें जो किसी को भी चौंका देने में समर्थ थीं। मेरे साथी ने कहा, अरे देखते नहीं 'निराला' जी चले जा रहे हैं; सहसा विश्वास नहीं हुआ, 'मतवाला' के यशस्वी कवि 'निराला' और यह नंग-धड़ंग काया, जिस पर यज्ञोपवीत के सूत्र भी नहीं। सूर्यकान्त त्रिपाठी कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण बिना जनेऊ के। यज्ञोपवीत उतारने का अधिकार केवल संन्यासी को है। हो नहीं सकता मेरा साथी किसी भ्रम या प्रमाद में ऐसा कह रहा हो, मुझे अवाक् विस्मित देखकर मित्र ने फिर कहा—चले चलो 'प्रसाद' जी के यहाँ, निराला जी वहीं जा रहे हैं। हम दोनों सड़क की पच्छिमी पटरी से उतर कर जा रहे थे और 'निराला' जी पूरब की पटरी से। कलकत्ते की सड़कों को पार करनेवाला पुरुष कितनी सरलता से सड़क पार कर उस गली में घुसा जो 'प्रसाद' जी के घर की ओर जाती थी, हम भी पीछे हो लिये। थोड़ी-थोड़ी दूर पर 'निराला' ने तीन बार घूमकर पीछे की ओर देखा, वैसे जैसे कोई गजराज गाय के बछड़ों को देख लेता है। मित्र का कहना अब ठीक ही रहा। फिर मेरा साहस नहीं हुआ कि मैं इस तेजस्वी की आँखों में आँख मिला लूँ, परिचय प्राप्त कर लूँ, दो शब्द अपने देकर कुछ शब्द उसके पा लूँ।

'प्रसाद' जी ने परिचय कराया। यह जानकर कि उनके कुछ पीछे चलनेवाला उसी गोत्र का था जिस गोत्र के वे थे, सरस्वती के पुत्र सभी एक ही माता के गोत्र के होते हैं, कुछ इस तरह का भाव उन आँखों के आकर्षण में अब व्यक्त हुआ। 'प्रसाद' जी चौकी की गद्दीपर मसनद के सहारे बैठे थे, 'निराला' जी बिना किसी भी हिचक या संकोच के उनके आगे चौकी के किनारे पैर नीचे लटका कर बैठ गये। बैठने में दायें हाथ का सहारा जो उन्होंने लिया, लगा जैसे अँगौछे के भीतर कोई घाव है। 'प्रसाद' जी ने पलथी मारकर आराम से बैठने को कहा, 'निराला' बोल उठे—जी नहीं, बड़ा कष्ट है—एक ही साथ दोनों हाथ दोनों ओर घुमाकर बोले—सब फोड़े और घाव से भर गया है। दो दिन में ही फिर कलकत्ते चला जाना है। काशी आकर बिना आपसे मिले चले जाना भी अच्छा नहीं होता। 'प्रसाद' जी जैसे सन्न रह गये। बड़ी कठिनाई से कह पाये—ऐसी दशा में आप आये क्यों ? 'निराला' का उत्तर सुनकर 'प्रसाद' जी और भी सन्न रह गये, वही दशा हम लोगों की भी थी—'कलकत्ते की भागीरथी वैसी पतित-पावनी नहीं है जैसी काशी की गंगा। सोचा वहीं चलकर गंगा की धार में इस पाप को धो दूँ।' निराला के इस उत्तर को सुनने के कुछ देर बाद 'प्रसाद' जी ठठाकर हँस पड़े, जिसके खिंचाव में हम लोगों को भी हँसी आ गयी।

'निराला' उस समय भीषण उपदंश से पीड़ित थे। जो कुछ लेप लगाते रहे होंगे उसीसे कमर पर लिपटी अँगौछी उतनी काली पड़ गयी थी। ऐसे रोगवाला कोई साधारण आदमी होता तो घर में चुपचाप बैठ रहता, किंतु उसे लेकर यह पुरुष गंगा स्नान भी कर लेता है, देवी-देवताओं के मन्दिरों के चक्कर भी काट लेता है, 'प्रसाद' जैसे प्रसिद्ध साहित्यकार से मिल भी लेता है। ग्लानि या लज्जा का कोई भी भाव न शब्द में आने देता है, न आकृति पर। ऐसे असाधारण व्यक्तित्व वाले थे दिवंगत सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला', जो जीवन-भर हिन्दी-जगत के लिए अपने निर्द्वन्द्व और अनूठे आचरण-व्यवहार के कारण एक विस्मय बने रह गये।

सन् १९२७ ई० के 'माडर्न रिव्यू' के अगस्त के अंक में श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'रीसेन्ट हिन्दी लिटरेचर' शीर्षक से एक लेख लिखा, जिसमें हिन्दी के वयोवृद्ध जीवित लेखकों की भूरि-भूरि भर्त्सना की गयी थी। हिन्दी के एक उदीयमान लेखक ने यह लेख लिखा था। उक्त अंग्रेजी मासिक के यशस्वी संपादक श्री रामानन्द चटर्जी ने प्रसन्नता-पूर्वक उस लेख को संभवतः इसलिए छाप दिया कि जो हिन्दी राष्ट्रभाषा का पद पाने का सपना देख रही थी उसका वास्तविक स्वरूप क्या था ? इलाचन्द्र जी ने जवानी के उत्साह में वह लेख लिख दिया था इसलिए कि हिन्दी के तत्कालीन वयोवृद्ध लेखकों और कवियों ने उन्हें आकाश पर उठा देने की उदारता नहीं दिखायी थी। सितम्बर के अंक में उस लेख का कोई प्रतिवाद न देखकर अक्टूबर के अंक के लिए मैंने उस लेख के प्रतिवाद में श्री जोशी के विचारों का खंडन करते हुए एक लेख भेजा, उन दिनों मैं हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस में बी० ए० प्रथम वर्ष का छात्र था। 'निराला' ने कलकत्ते से मुझे बधाई का पत्र भेजा और यह भी सूचना दी कि श्री प्रेमचन्द्र ने भी 'माडर्न

रिव्यू' के अक्टूबर के अंक के लिए प्रतिवाद भेजा था जिसे उस अंग्रेज़ी मासिक के सम्पादक ने न छाप कर मेरे लेख को छाप दिया।

श्री इलाचन्द्र के लेख का उत्तर मैंने दिया, इस कार्य से मैं निराला जी द्वारा प्रशंसा का अधिकारी बन सका, उससे भी अधिक उनकी प्रशंसा का अधिकारी मैं इसलिए बन गया कि जहाँ प्रेमचन्द को सफलता नहीं मिली वहाँ मुझे मिल गयी। उसके बाद वाराणसी में, लखनऊ में, प्रयाग में जब कभी निराला जी मिले, जिस किसी से मेरा उन्होंने परिचय कराया, 'माडर्न-रिव्यू' वाले मेरे लेख की चर्चा बराबर की और इस बात पर बराबर विस्मय व्यक्त किया कि विद्यार्थी-जीवन में ही मैं 'माडर्नरिव्यू' जैसे प्रसिद्ध अंग्रेज़ी मासिक का लेखक ही नहीं बन गया अपितु श्री प्रेमचन्द्र के सामने मैदान भी मार ले गया। मैं अब भी नहीं समझ पाया कि मेरे चालीस वर्षों के कवि-कर्म पर 'निराला' जी सिवा इसके कि 'मिश्र जी आपके नाटकों का बड़ा सम्मान हुआ है। एक ही साथ आपके कितने नाटक ऊँची परीक्षाओं में पढ़ाये जा रहे हैं। हमारे जैसों से उपार्जन भी आपने अधिक किया, आदि।' गुण-दोष के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा पर 'माडर्न-रिव्यू' के लेख की चर्चा वह बराबर करते रहे।

सन् १९३६ में अनुज की हत्या के बाद अपनी चिकित्सा के चक्कर में मुझे लखनऊ प्रायः छः महीना रह जाना पड़ा था। अमीनाबाद से जहाँ सड़क पुराने चौक के लिए मुड़ती है, सड़क के दोनों ओर दो होटल थे, एक में निराला जी रहते थे और दूसरे में उनके सुपुत्र। इक्के से आते-जाते पिता-पुत्र के परस्पर व्यवहार के कई दृश्य मुझे देखने को मिले, जहाँ तक स्मरण है तीन बार मैंने 'निराला' जी को समझाना चाहा, पर उन्हें समझाना जैसे पहाड़ पर सिर पटकने के बराबर ही रहा। 'निराला' जी आदर और सम्मान जितना दूसरे लोगों से चाहते थे कदाचित् उससे अधिक अपने पुत्र से चाहते थे। महाकवि 'निराला' दूसरे थे और पुत्र के साथ संघर्ष में खड़े हो जानेवाले 'निराला' दूसरे थे, यहाँ पर यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जो वृक्ष आकाश में जितना ऊँचे जाता है उतना ही नीचे उसकी जड़ें पाताल में भी जाती हैं। जिस ताल में कीचड़ और सड़ांद जितनी अधिक रहती है उसी अनुपात में उसके कमल मोहक और बड़े होते हैं। जीवन का यही क्रम है और विधाता की सृष्टि इसी क्रम पर चलती जा रही है। उन दिनों 'निराला' को मैंने अत्यन्त निकट से देखा, जाना, विस्मित हुआ, क्रोध और ग्लानि का फल भी पाया। पर उनके दृप्त तेज को कठिन से भी कठिन परिस्थिति में धीमा पड़ते नहीं देखा। जितनी बातें उनके सम्बन्ध की सुनीं उनसे इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कवि का व्यक्तित्व हमारे पुराने कवियों की तरह लुप्त होता तो कितना अच्छा रहता। हम उनके विधाता रूप से ही तृप्त होते, उनके व्यक्ति-रूप की ग्लानि हमें न उठानी पड़ती।

लखनऊ के अमानुद्दौला पार्क में हम दोनों की एक सन्ध्या को भेंट हो गयी। 'निराला' ने हाथ की छड़ी हिलाकर कहा—मिश्र जी, यह मेरी प्रेयसी है। मैंने उत्तर दिया—तब इसे ऐसे रखिए कि उसका कुछ भाग आपकी छाती से लगा रहे, कुछ ओठ से, नाक से न लगे नहीं तो श्वास का अवरोध हो जायगा। 'निराला' की आँखें चक्र-सी नाच गयीं। कुछ वैसे ही जैसे माघ

ने बलराम के मद-घूर्णित नयन का वर्णन किया है। बोले---आप दिल्लगी कर रहे हैं। स्वर में कठोरता आ गयी थी। 'जी नहीं, प्रिया को जैसे रखा जाता है उतना ही मैं ने कहा। और जो यह छड़ी आपकी प्रेयसी है तो आपकी कल्पना की इस प्रेयसी से मुझे कुछ लेना-देना भी नहीं है। कायावाली प्रेयसी होती तब कदाचित् मेरी दिल्लगी का अवसर आता।' मेरे इस कथन पर महाकवि खुलकर हँसे, छड़ी वेंच के सहारे टिक गयी। दोनों हाथों से उन्होंने मुझे अपनी ओर खींच लिया। मेरा शिर उनके कन्धे तक भी पहुँचा कि नहीं, नहीं कह सकता। उस समय जो लोग वहाँ घूम-टहल रहे थे, हम दोनों की ओर विस्मय से देखते रहे और तब उनके यह शब्द कान में पड़े---मिश्र जी, मेरे छोटे भाई समर्थ कवि और नाटक-लेखक हैं। अंग्रेज़ी में इन्होंने लिखना नहीं चाहा, नहीं तो इनका जैसा अधिकार हिन्दी पर है वैसा ही अधिकार अंग्रेजी पर भी होता। परिस्थिति समझ कर मैं दो डग पीछे हट गया और बोल पड़ा---अंग्रेजी पर अधिकार की कामना इस धरती के पुत्र को नहीं करनी हैं। अंग्रेज़ी का मोह छोड़ना ही अच्छा होगा। उन दिनों अभी 'निराला' को अंग्रेजी में बोलने का रोग नहीं लगा था। हम दोनों बेंच पर बैठ गये, छड़ी फिर 'निराला' के हाथ में थी। छड़ी प्रेयसी बन सकती है कि नहीं, इस पर सरल साथ ही साथ गम्भीर बातें भी बढ़ चलीं और मुझे कहना पड़ा---जुही की कली और बतास के प्रतीक से जो प्रणय्र दिखाया गया है वह किसी नायक-नायिका, प्रेमी-प्रेमिका के माध्यम से दिखाया गया होता तो हमारी अनुभूति के अधिक निकट होता। थोड़ी देर चुप रहने के बाद 'निराला' ने कहा---राधा-कृष्ण के माध्यम से कवियों ने इतना अधिक कह दिया कि उसके आगे अब हम लोगों की गति नहीं है। हँसते हुए मैंने कहा---**'मसल दिये गोरे गात'** क्या **'कसकर कन्हाई ने दबाई कुच राधे जू की, फाटि गई चोली बोली आह री दई दई'** का क्या यह नया संस्करण है ? 'निराला' जी हँसते रहे, देर तक हँसते रहे। फिर बोले---हो सकता है। इस विषय पर अब फिर कभी बातें होंगी। मैंने कहा---जी नहीं, जो बात अनुभव की है जिसे भाव बन जाना चाहिए उस पर बातें कम से कम। मल्लिनाथ ने इसीलिए कहा था---**'गुर्जरीणाम् स्तनाविव'**। मल्लिनाथ को और उस काल के कवियों को इस तथ्य को सीधे स्वीकार करना था, हमें टेढ़े स्वीकार करना है, अन्तर इतना ही है।

'निराला' का उपन्यास 'अप्सरा' प्रकाशित हुआ था। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी उन दिनों 'भारत' के सम्पादक थे। वाजपेयी जी ने मुझ से 'निराला' के सामने इस उपन्यास पर कुछ लिखने के लिए कहा। 'निराला' जी उन दिनों वाजपेयी जी के साथ ही ठहरे थे। निराला जी के उपन्यास का आलोचक बनने में मुझे कठिनाई होगी, इसलिए कि मैं उनके आतंक से छूट न पाऊँगा। उपन्यास पढ़कर अपनी राय भर मैं दे सकूँगा, उपन्यास की एक प्रति मुझे मिली और तै रहा कि रात को उपन्यास पढ़कर दूसरे दिन श्री वाजपेयी जी के यहाँ मैं अपनी राय सुना दूँ। रात में मैं उपन्यास पढ़ गया, दूसरे दिन अपराह्न में पुस्तक के साथ वाजपेयी जी के यहाँ गया। कुछ स्थलों पर मैंने लाल पेंसिल से चिह्न बना लिये थे, जिन्हें मैं वहाँ बैठे-बैठे कई बार उलट भी गया। महाकवि 'निराला' और आज के आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के सामने इस रचना पर

अपना मत व्यक्त करना था, काम सरल नहीं था। मुझे बार-बार पुस्तक उलटते देखकर 'आप तो ऐसा अध्ययन कर रहे हैं जैसे आपको इस पुस्तक में परीक्षा देनी हो'--'निराला' ने कहा। 'उससे भी कठिन है पर अब आप लोग सुनने के लिए तैयार हो जायँ'--यह कह कर प्रायः आध घंटे मैं लगातार बोलता गया, जैसे विश्राम के लिए ही मेरी आँखें कभी वाजपेयी जी की ओर कभी 'निराला' की ओर घूमती रहीं--'हिन्दी के सभी लेखक और कवि इन दिनों अभावग्रस्त हैं। कल्पना के सहारे वे अपने अभाव भर रहे हैं। सबके भीतर कैशोर भावनाएँ कामनाओं के इन्द्रधनुष बनाती चली जा रही हैं। इस उपन्यास के लेखक भी हाँडी के एक चावल की तरह हैं। इस उपन्यास के नायक लेखक स्वयं हैं, नायिका वेश्या-पुत्री लेखक की कल्पना की प्रेयसी है, जिसके माध्यम से लेखक अपने अभावों से छुटकारा चाहते हैं। वेश्या की अर्जित अटूट सम्पत्ति वेश्या-पुत्री के पास द्रव्य, आभूषण और दूसरे रूपों में है, साथ ही साथ उसके निजी पुस्तकालय में संसार भर की भाषाओं के प्रसिद्ध लेखकों और कवियों की कृतियाँ भी हैं। ऐसी प्रेमिका को पाकर प्रेमी जीवन के सभी श्रम से तो छूट ही जायगा, अभाव और चिन्ता के स्वप्न से भी छूट जायगा। अमरावती, अलका या भोगवती को किसी भी बड़े घर में जो सुख-सुविधा होगी, सब कुछ वेश्या-पुत्री के घर में उपस्थित है। इस तरह से अभाव और संकट से छूट जाने की वृत्ति का ही दूसरा नाम कैशोर वृत्ति है।'

ऐसी ही बातें मैं कहता चला गया। वाजपेयी जी ने बीच में कभी-कभी टोंक कर मुझे कुछ आगे बढ़ने के लिए जैसे सहारा दिया पर 'निराला' जैसे तन्मय होकर सुनते रहे। कवि की तन्मयता की मोहिनी मुझे 'निराला' की आकृति पर नाचती मिली। विरोध या मतादि का एक शब्द भी उनके मुँह से नहीं निकला, उस समय वे अगाध सिन्धु थे और मैं कंकड़ फेंक कर उस समुद्र में भंवर बना रहा था।

सन् १९४७ में मैं उनसे मिलने दारागंज गया। दोपहर से पहले पहुँचा था, सन्ध्या तक उनके निकट रहा, जो लोग आये-गये, सब से 'निराला' जी मेरे उस 'मार्डन रिव्यू' वाले लेख की चर्चा करते रहे, साहित्य के माध्यम से मैंने जो यश और धन कमाया था, बीच-बीच में यह भी कहते रहे। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि पन्द्रह रुपये की इतर की शीशी एक ही बार अपने सिर पर उँड़ेल लेने का सौभाग्य मेरा न कभी हुआ, न होने की संभावना थी। एक दिन में जो व्यय उनके अकेले शरीर पर हो जाता था, उतने में मेरे जैसे कितने परिवार वालों का कई दिन काम चल सकता। थोड़ी देर का एकान्त मिला, मुझसे पूछ बैठे–मिश्र जी! इन दिनों लोग किसे बड़ा कवि मानते हैं--मुझे, पन्त या महादेवी को? ऐसे प्रश्न का उत्तर मैं क्या देता। थोड़ी देर चुप रहने के बाद मैंने कहा--'आप इस मोह में क्यों पड़े हैं, आकाश के तारों में कौन छोटा है, कौन बड़ा, कहा नहीं जा सकता है और फिर जो यश, जो प्रताप आप कमा चुके, उसे आप भूल क्यों रहे हैं? लोग आज किसे बड़ा मानते हैं, इससे काम नहीं चलेगा, देखना यह है कि काल भगवान् किसे बड़ा मानते हैं, किसकी कितनी रचनाएँ कितने दिन जीवित रहती हैं, यह निर्णय इस पर होगा। कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती जिन नाटककारों का नाम गिनाया है उनके कविपुत्र

और सौमिल्लक की कोई रचना अब जीवित नहीं है। अपने कवि-कर्म में अकेले अब भास जी रहे हैं।' इससे मेरी बातों से 'निराला' को पूरा सन्तोष नहीं हुआ। 'मेरे साथ बड़ा अन्याय हुआ है मिश्र जी!' इतना कह कर वे जो कुछ आगे कहते रहे उसमें उनके हृदय की ग्लानि, पीड़ा, क्रोध और क्षोभ के जो चित्र उतरते रहे उनकी चर्चा यहाँ ठीक न होगी। उनके मन को सन्तुलित करने के लिए निम्न श्लोक मैंने कहा था—

प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा, गौरवं घोररौरवम्।
मानं च सुरापानं, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

'यह श्लोक कहाँ का है मिश्र जी! बात सच है, इन तीन को छोड़ देना ही सुखी हो जाने की कुंजी है। फिर भी मन माने तब न।' इस श्लोक का मूल मैं न दे सका, इतना ही कहा—ऐसे सुभाषित संस्कृत में बहुत हैं जो समय पर काम आ जाते हैं।

इसके बाद 'निराला' से मिलने के लिए उनके निवास पर प्रयाग में रहते हुए भी नहीं जा सका। उनके चारों ओर उपग्रहों की जो एक मण्डली बन गयी थी उसके भीतर जाना मेरे लिए रुचिकर नहीं रहा। कई बार विभिन्न स्थानों पर निराला के दर्शन मिले हाथ जोड़ कर नमस्कार कर लेने का लाभ मिला, उस तेजस्वी सर्वमेधी साथ ही साथ कल्पना के गगन-विहारी के सम्पर्क के अनेक अवसर मुझे अब भी स्मरण हैं जो छोटे से संस्मरण में समेटे नहीं जा सकते। 'निराला' यदि इतने निर्भीक और साहसी नहीं होते, अपनी लेखनी और वाणी पर अंकुश रख सके होते, चाटुकारी और अपना मन दूसरे के मन में डालकर काम निकालने का ढंग उन्हें आया होता तो वे भी बड़ी उपाधियों से आज भूषित हो सके होते।

'निराला' का व्यक्तित्व जो रहा हो, यश और अनुराग जितना वे चाहते थे न पा सके। जितना मिल सका उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उनके व्यक्तित्व को भूलकर हम अब केवल उनके उस कवि-रूप को देखें जो व्यक्ति का नहीं विधाता का है। जिसमें तर्क-वितर्क, निन्दा और स्तुति का अवसर अब नहीं है। अपने कवि-कर्म में 'निराला' पूर्णकाम हैं।



डाक्टर हरद्वारी लाल शर्मा

निराला की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या

("तुलसीदास" पर आश्रित)

मनोविज्ञान का आधुनिकतम चरण मनोविश्लेषणवाद है जिसके अनुसार किसी भी क्षेत्र में 'सृजन' चेतना के सीमित प्रयत्नों से नहीं, बल्कि इसकी सीमा के पार, 'अचेतन' की अभिव्यक्ति से सम्पन्न होता है। निराला के काव्य का मन्थन मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से इसलिये उचित है कि वह कवि के अचेतन मन की सुव्यक्त सृष्टि है। और भी, मनोविज्ञान के इस नूतन वाद ने मन की अद्भुत सृष्टियों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है जिनकी व्याख्या सामान्य वैज्ञानिक स्थापनाओं के आधार पर सम्भव नहीं, जैसे, स्वप्न, भ्रान्ति, विक्षिप्तता, आदि विरल और निरालि घटनाएँ। ऐसा प्रतीत होता है मानों 'निराला' की व्याख्या और विश्लेषण केवल कवि होने के नाते ही नहीं, अपितु 'निरालापन' के कारण, केवल मनोविश्लेषण विज्ञान से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

निराला की काव्य-कृतियाँ मन के अचेतन गर्भ से निसृत कलात्मक प्रसूतियाँ हैं जिन्हें कला के चेतन, सीमित और रूढ़िग्रस्त मानदण्डों से समझने का प्रयत्न दुराग्रह मात्र है।

निराला का 'तुलसीदास' एक कवि द्वारा कवि को समझने का प्रयास है। फल यह हुआ है कि दोनों की आत्माएँ एकमएक, परस्पर अनुस्यूत और 'युगनद्ध' की भांति समरस हो गई हैं। दोनों के व्यक्तित्व को अलग रखना सम्भव नहीं प्रतीत होता। निराला ने तुलसी के जीवन-वृत्त और उसकी अन्तर्निहित भावनाओं को अपनी अचेतन आकांक्षाओं के अनुसार मरोड़ दिया है। परिणामतः तुलसी 'राम-नाममय सब जग जानी' वाली भावना से प्रेरित होकर अपना कलिमल धोने के लिये रामचरितमानस का सृजन नहीं करते, वरन् उस युग के आक्रान्त और आहत हिन्दू भारतवर्ष के पुनरुद्धार के आदर्शवादी उद्देश्य को लेकर खड़े होते हैं। निराला के तुलसीदास उसी ऐतिहासिक 'मिशन' की ज्वाला से जलते हैं जिसकी चेतना ने निराला को अन्त तक न छोड़ा, जन्म भर जिससे वे जूझते रहे, जिसके कारण उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में तपस्वी, त्यागी और क्रान्तिकारी का 'पार्ट' ग्रहण किया।

'तुलसीदास' के सौ छन्दों में से पहले दस केवल भारतवर्ष की दुरवस्था के वर्णन में लगाये गये हैं। इनमें अभिव्यक्ति का साधन वे मनोमूर्त्तियाँ (imagery) हैं जिनसे 'जलन' 'अन्धकार', 'तीव्रगति' आदि भयावह तथा दुःखद अनुभूतियों की उद्भावना होती है, जैसे, 'तमस्तूर्य दिङ्मंडल', 'शत-शत शब्दों का सान्ध्यकाल,' 'मोगल-दल बल के जलद-यान. . .छाया ऊपर

घन ऊपर-अन्धकार-टूटता वज्र दह दुर्निवार, नीचे प्लावन की प्रलय-धार, ध्वनि हर-हर।' इत्यादि।

दसवें पद्य में, मानों निराला कहते हैं—ये सब लोग छलना में भूले हुए हैं। इन्हें जग-जाना चाहिये।

सोचता कहाँ रे, किधर कूल
बहता तरंग का प्रमुद फूल!
यों इस प्रवाह में देश मूल खो बहता;
'छल-छल-छल' कहता यद्यपि जल,
वह मंत्र-मुग्ध सुनता 'कल - कल';
निष्क्रिय; शोभा-प्रिय कूलोपल ज्यों रहता।

निराला ने कभी 'कूलोपल', किनारे पर पड़ा हुआ पत्थर, बनना न चाहा। वे तैरकर 'कूल' पाना चाहते थे। मनोविश्लेषण विज्ञान के विद्वान् जानते हैं कि 'कूल' 'बहना', तैर कर पार करना', अचेतन मन के वे प्रतीक हैं जो दमन किये गये दुर्दान्ति 'काम' को प्रकट करते हैं। सारे काव्य में 'पार' करना अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। कवि स्वयं भारत-संस्कृति पर फैली हुई मानस-तरंग को पार कर 'ज्योतिर्मय' देश को पहुँचना चाहता है—

सोचा कवि ने, मानस - तरंग,
वह भारत - संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग-संग जन-गण को;
इस अनिल-वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल - जीवन - चुंबनकर मानस - धन जो ।।३३।।

स्पष्ट ही, इस काव्य में उद्दाम काम ने दीप्त प्रतीकों की सृष्टि की है जो चेतन द्वारा दबाये जाने पर भी अचेतना की ज्वाला से 'ज्योतिर्मय' हो उठा है। निराला के अनुसार तुलसीदास की सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति चोट खाये हुए 'काम' के प्रशमन से और भी अधिक प्रखर 'ज्योति' तक पहुँचने में लगी रही। अपने आन्तिम (१००वें) पद्य में घर छोड़ कर वन को चलते हुए उन्होंने रत्नावली को 'प्राची-दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा' के रूप में देखा:—

चल मन्द चरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुघर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा—
संकुचित, खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची - दिगंत - उर में पुष्कल रवि - रेखा।

निराला का 'पुरुषत्व' और 'ओज' जिसके लिये उनके काव्य की प्रख्याति है, मनोविज्ञान की भाषा में, 'तम' और 'ज्योति' इन दो प्रतीकों के संघर्ष से प्राप्त होते हैं। तम जड़ है, ज्योति चेतन है। रत्नावली की भर्त्सना से जब "रे गया काम तत्क्षण वह जल", और "बीती वह, बीती अंध रात", उस समय "झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल" तथा तुलसी को सुनाई पड़ा—

बाँधो, बाँधों किरणें चेतन,
तेजस्वी हे तमजिज्जीवन;
आती भारत की ज्योतिर्घन महिमा बल ॥९३॥

तुलसी और निराला दोनों के जीवन में जड़ और चेतन, तम और ज्योति का 'दुर्धर्ष समर' जीवन भर चलता रहा, चेतना की चिनगारियाँ इसी अचेतन संघर्ष से निकलती रहीं। तुलसी ने संकल्प किया—

"होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशि वासर,
कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवन भर ॥९४॥

स्यात् आश्चर्य हो कि निराला ने अपने 'तुलसीदास' में मनोविश्लेषण-विज्ञान के स्वीकृत लैङ्गिक प्रतीकों का, जैसे नदी, सर्प, पार करना, ऊपर चढ़ना आदि का उपयोग कथावृत्त में नहीं किया जो वह प्रसिद्ध किंवदन्तियों के अनुसार कर सकते थे। प्रेमोन्मत्त तुलसी ने नदी पार की और रात्रि में कोई मार्ग न पाकर वे साँप को पकड़ कर रत्नावली से मिलने के लिये ऊपर चढ़ गये। यहाँ घटना की ऐतिहासिकता का प्रश्न नहीं। कलात्मक सत्य यह है कि राम के प्रति इतना उत्कट और अनन्य प्रेम करने की शक्ति उसी में सम्भाव्य है जो अपनी प्रियतमा से उतना पागल प्रेम कर सकता है। इतिहास की अपेक्षा जनश्रुति इस बात में सत्य के अधिक समीप है। जो कुछ हो, निराला ने इस सत्य को प्रयुक्त नहीं किया। सम्भव यह प्रतीत होता है कि अपनी रहस्यवादी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने उपर्युक्त प्रतीकों को छोड़ दिया। किन्तु यह रहस्यवाद भी प्रतीकात्मकता से अछूता नहीं है।

सामान्यतया 'रहस्य' का अर्थ है वह सत्य जो हमारे जानने के साधारण साधनों से न जाना जाय, इन्द्रियों के द्वारा अथवा बौद्धिक युक्तियों द्वारा अथवा किसी के बताने से जो न समझा जाये। 'समझ में न आना' रहस्य का प्राण है। अतएव रहस्य अज्ञात, अज्ञेय, अतीन्द्रिय, अतिबुद्धि, अमेय आदि समानार्थक हो गये हैं। उपनिषत् और सन्तों की वाणी के अनुसार, रहस्य आत्म-तत्त्व है, परमात्मा है जिसे अभ्यास और साधना के बल से समाधि के द्वारा जाना जाता है। परन्तु इस जानने और साधारण समझने में अन्तर है। समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, साधारण दशा में भेद-बुद्धि बनी रहती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने 'रहस्य' की विवेचना करते हुए बताया है कि रहस्य अचेतन मन की घटना है जिसे चेतन मन अपने परिमित साधनों से नहीं जानता। जब

चेतन मन सोता है तो स्वप्न और सुषुप्ति में अचेतन का उद्घाटन होता है। अचेतन में दिक्, काल अथवा कार्य-कारण के सामान्य नियम लागू नहीं होते; न वहाँ समाज, नीति, धर्म आदि की मान्यताएँ काम करती हैं। अचेतन में जीवन निर्बन्ध, उन्मुक्त, नियम-मर्यादा-हीन स्थिति में रहता है। स्वप्न की धूमिल अनुभूति में रहस्य खुलता है, जागृति की चेतना में नहीं। मन अनेकों रूप रखकर उड़ाने भरता है, अम्बर के ऊपर, और ऊपर आकाश में तैरता है, कभी चमकदार तो कभी काले बादलों को पार करता है। निराला का रहस्यवाद उपनिषत् और सन्तों के रहस्यवाद की अपेक्षा मनोविश्लेषण-विज्ञान के समीपतर मालूम देता है। देखिये——

एक दिन तुलसीदास सखाओं के साथ चित्रकूट गिरि पर आये, **'देखा पावन वन, नव प्रकाश मन आया'**। बिना किसी प्रयत्न के भी, पावन वन देखने से जो नव प्रकाश मन में आया, वह चेतना के पार से अचेतन के प्रकाश की झाँकी थी। अचेतन के पास 'भाषा' नहीं है, न साफ रंग है, वह कुहरे के अथवा धुंएँ के उठते हुए कुण्डलों की भाँति कुछ छिपती, कुछ खुलती छवि से भावों को प्रकट करता है——

एक दिन, सखागण संग, पास,
चल चित्रकूट गिरि, सहोच्छ्वास,
देखा पावन वन, नव प्रकाश मन आया;
वह भाषा – छिपती छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा में रँग कर,
वह भाव कुरल-कुहरे-सा भर कर भाया॥१४॥

अचेतन का स्वरूप स्वप्न में मिलता है। वहाँ चेतन मन 'विस्मित' हो जाता है; आँखें कुछ देख नहीं पातीं; कुछ परिचित, कुछ भूली स्मृतियाँ 'ज्यों दूर दृष्टि को धूमिल-तन तट-रेखा' सी प्रतीत होती है। अचेतन को विज्ञानवेत्ताओं ने 'तरंगाकुल सागर' की तरह माना है जिसमें अनेक स्वप्नों की अस्फुट छायाएँ तैरती रहती हैं। तुलसीदास ने चित्रकूट पर सखाओं के साथ जो देखा वह 'स्वप्न' था, और, अचेतन की झाँकी——

केवल विस्मित मन, चिन्त्य नयन;
परिचित कुछ, भूला ज्यों प्रियजन –
ज्यों दूर दृष्टि को धूमिल - तन तट-रेखा,
हो मध्य तरंगाकुल सागर,
निःशब्द स्वप्न संस्कारागर;
जल में अस्फुट छवि छायाधर; यों देखा॥१५॥

स्मरण रहे कि समुद्र, तरंग, शब्द, तट, जल आदि का प्रयोग इस पद्य में प्रतीकात्मक हुआ है। कवि की सर्जना का उद्गम उसके अचेतन की गहराई में हैं। साधारण मनुष्य चेतन के ऊपरी स्तर

पर मानों दौड़ता है। उसमें अपने में डूबने की शक्ति नहीं होती; वह 'खो' नहीं सकता; चिन्ता अथवा भय के सिवा स्यात् वह 'गम्भीर' नहीं हो सकता। फलतः उसमें सृजन की शक्ति नहीं मिलती। मनोविश्लेषण-विज्ञान की यह सम्मानित स्थापना है कि जो 'खो' नहीं सकता वह 'पा' नहीं सकता। इसलिये 'समुद्र' 'नद' 'नदी' 'जल' 'तैरना', 'डूबना' आदि अचेतन मन की घटनाओं के प्रतीक हैं।

उपर्युक्त प्रतीकों के अतिरिक्त, निराला एक विशिष्ट प्रतीक को काम में लाते हैं जो सम्भवतः उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक है, यह है ऊपर उठना या उड़ना। तुलसीदास में 'ऊपर उठना' 'नीचे उतरना' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। 'समुद्र' के पश्चात् 'आकाश' निराला की अचेतन आकांक्षाओं का उचित वाहन प्रतीत होता है, क्योंकि आकाश स्वच्छन्द गति और अनन्त अवकाश प्रदान करता है। आकाश में बादल उनके लिये 'जलद-यान' का काम देते हैं। इससे भी अधिक आकाश में 'विहंग' को उन्मुक्त उड़ान और मुक्तकण्ठ-गान का अवसर मिलता है। जब तुलसी, ने चित्रकूट-शिखर पर सृजनोन्मुख अचेतन प्रतिभा के दर्शन किये तो उन्हें सन्देश मिला—

इस जग के मग के मुक्त-प्राण!
गाओ — विहंग! सद्ध्वनित गान,
त्यागोज्जीवित, वह ऊर्ध्व-ध्यान, धारा - स्तव ॥१९॥

अथवा, इस समय कवि के चेतन स्तर पर व्याकुलता हुई, मन उन्मन हो गया, क्योंकि चेतन के विस्फोट के बिना अचेतन का आविर्भाव कैसे सम्भव है? हमारे साधारण अनुभव में भी सुख की अपेक्षा दुख हमें अधिक अन्तर्मुखी बना देता है। तुलसी के उन्मन होने पर उनका 'कवि' निस्तरंग नभ पर उड़ गया। जीवन और उसके रंगों का उद्घाटन इसी अवसर पर होता है—

बह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का त्यों तुल कर उन्मन;
वह उस शाखा का वन-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग — रंग पर जीवन ॥२२॥

मन को अपने अचेतन स्वरूप की झाँकी तभी मिल सकती है जब वह नभ के दूर, दूरतट, दूरतम प्रदेश में उड़ कर स्वप्न सा धूमिल, 'सन्ध्या-ज्योतिः' सा दिखाई पड़े, क्योंकि वहीं तो 'उड़ती तरंग ऊपर अपार'; नीचे वह अपार जीवन की तरंग नहीं मिल सकती। अपार नभ ही अपार मन को ग्रहण कर सकता है। अतएव कवि के मन का प्रतीक ऊपर का अपार नभःप्रदेश ही हो सकता है—

दूर, दूरतर, दूरतम, शेष,
कर रहा पार मन नभोदेश,
सजता सुवेश, फिर-फिर सुवेश जीवन पर,
छोड़ता रंग, फिर - फिर संवार
उड़ती तरंग ऊपर अपार
संध्या-ज्योति : ज्यों सुविस्तार अंबरतर ।।२३।।

ऐसा प्रतीत होता है कि तम को पार कर ज्योति तक पहुँचने की भांति अथवा चेतन और जड़ के संघर्ष की भाँति, निराला के जीवन में नभःप्रदेश में ऊपर-चढ़ना और नीचे उतरना, इनमें जीवन भर संघर्ष बना रहा। अपनी सृजन-प्रतिभा के कारण उनका मन 'दूर, दूरतर, दूरतम' नभोदेश पार करता रहा, और धूमिल 'सन्ध्या-ज्योति' में खोगया, इतना कि वह फिर नीचे उतरा नहीं, और, लोग खोजते ही रह गये !

तुलसीदास का मन चित्रकूट में किसी अदृश्य सन्देश को पाकर धीरे-धीरे नीचे उतरा—

उसके अदृश्य होते ही रे,
उतरा वह मन धीरे - धीरे ।।४०।।

मन के धरातल पर उतर आने के बाद पुनः तुलसीदास प्रेयसी के प्रेम में बँध गये। ससुराल में जाकर प्रेमोन्मंत्त तुलसी को पुनः 'अनल-प्रतिमा' बामा के रूप में अपनी प्रसुप्त प्रतिभा की झाँकी मिली, और, पुनः मन ऊपर को उड़ान भरने लगा—

दृष्टि से भारती से बँध कर
कवि उठता हुआ चला ऊपर;
केवल अंबर – केवल अंबर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र, शशि, ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा ।।८८।।

स्पष्ट है कि आकाश, विहंग और उसका स्वच्छन्द गान निराला की गम्भीरतम अन्तश्चेतना के प्रतीक हैं। उनकी कथित विक्षिप्त अवस्था आकाश के सुदूर, धूमिल अन्तरालों में खोये हुए की अवस्था है जिससे नीचे उतरना निराला ने स्वीकार ही नहीं किया।

तब निराला के रहस्यवाद का क्या रहस्य है ? निराला का रहस्यवाद चेतन मन और अचेतन के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न सान्ध्य-ज्योति सी धूमिल अनुभूति का नाम है। जिन प्रतीकों द्वारा यह अन्तर्द्वन्द्व प्रतिलक्षित होता है वे हैं तम और तेज, जड़ और चेतन, आकाश और समुद्र तथा इनमें उड़ना, तैरना, पार करना, डूबना इत्यादि। प्रभात, किरण, पर्वत, नद-नदी, विहंग, गान इत्यादि इन्हीं प्रतीकों के पोषक हैं। कवि की अचेतन आकांक्षा, उसका उद्दाम काम

जो जल कर भस्म तो हुआ, किन्तु उसका प्रभाव अन्तर में व्याप्त हो गया, और, अन्त में कवि को इतिहास द्वारा दिया गया 'मिशन', ये सभी 'जग-वीणा के स्वर के बहार' और 'देदीप्यमान गीत' के रूप में प्रकट हो गये।

तम के अमार्ज्य ले तार - तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश - धार;
जग - वीणा के स्वर के बहार रे, जागो;
इस कर अपने कारुणिक प्राण
कर लो सक्षम देदीप्यमान –
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो ।।९७।।

कविता निराला के कवि-मन को किस रूप में प्रस्तुत करती है? सारी कविता 'स्वप्न' सी प्रतीत होती है जिसमें प्रतीकों की धुंधली छायाएँ बादल के खण्डों की भाँति उड़ती हैं। कहीं आकाश की उड़ान है तो कहीं पाताल में प्रवेश। निरभ्र नभ में ज्योति या अग्नि फैलती है तो यदा-कदा तम का वितान तन जाता है। गति सदैव स्वच्छन्द रहती है, यहाँ तक कि भाषा, भाव या छन्दों की मर्यादा उसे रोक नहीं सकते। प्रकाश के साथ कभी कभी वीणा, विहंग के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। संक्षेप में, 'तुलसीदास' निराला के मन की स्वप्न-सृष्टि है जिसमें चेतन जीवन की सीमाओं के पार स्वर और ज्योति से निर्मित एक आलौकिक लोक का आविर्भाव हुआ है।



डाक्टर भगीरथ मिश्र

स्वाभिमानी और ओजस्वी कवि निराला

हिन्दी के साहित्यकारों और कवियों में निराला-जैसे व्यक्तित्त्व के लोग बहुत कम मिलेंगे। उनमें पौरुष का हुंकार था, वाणी का ओज था, जीवन की मस्ती थी, विचारों की अक्खड़ता थी और सबसे बढ़कर उनका स्वाभिमान था। वे 'यथा नाम तथा गुणः' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले पुरुष थे। बहुत कम कवि और लेखक ऐसे होते हैं जिनकी कृतियों को पढ़कर उनका जो रूप सामने आता है वैसा ही या उससे भी अधिक भव्य सबल उनका वास्तविक जीवन हो। निराला जी इसी प्रकार के व्यक्ति थे। उनके हृदय, व्यक्तित्व और कृतियों में सदा ही जो रूप दिखलाई पड़ते थे और वे थे उनकी भव्यता, विशालता, ओज और स्वाभिमान। प्रयाग में रहते हुए निराला जी अपने साहित्य में स्वयं तीर्थराज थे, क्योंकि कविता की गंगा, कथा-साहित्य की जमुना और निवन्ध की सरस्वती; तीनों का संगम उनकी कृतियों को त्रिवेणी का महत्व प्रदान करने वाला है। वास्तव में निराला का व्यक्तित्त्व सबसे अछूता पर समग्र को अपने भीतर संजोए हुए विरोधाभास का प्रतीक था। उनके अन्तर की विषमताओं ने ही उन्हें असाधारण, असामान्य और निराला बना दिया था।

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि,' की उक्ति निराला जी के स्वभाव के लिए पूर्णतया लागू होती है। निराला का व्यक्तित्त्व एक दमकती प्रतिभा और ओजस्वी पौरुष का व्यक्तित्व था और उनके अति सन्निकट रहने वाले लोग भी उनके व्यवहार के सम्बन्ध में अनिश्चित रहते थे; क्योंकि वे गुणों के विरोधाभास थे। किसी के अनुचित कार्य पर वे फूहड़ गाली गलौज पर भी उत्तर सकते थे और किसी के संकीर्ण स्वभाव पर क्षुब्ध होकर वे हिमालय के समान महान, गुरु और गंभीर वाणी में उदात्त वक्तव्य दे सकते थे। उनके गुणों का अगणित विस्तार और भावनाओं की अथाह गहराई के कारण कोई उनकी थाह नहीं लगा पाता था कि किस समय वे क्या कहेंगे और क्या करेंगे। पर निराला के सम्बन्ध में एक बात सत्य है कि वे मन, वचन और कर्म से एक थे। मनमें कुछ हो, कहें कुछ, और करें कुछ ऐसी बात निराल में नहीं थी। जो विचार या भाव आया वैसा ही उनका कार्य भी हुआ करता था। वे दिखावे और दुराव-छिपाव के कट्टर शत्रु थे। उनकी अपनी अनेक कमियां, कमजोरियाँ और विवशताएं भी थीं जो अपने आप में असाधारण थीं पर इससे भी अधिक असाधारण सत्य यह है कि उन्होंने कभी भी उन पर पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं किया। इन्हें वे निर्भीक होकर कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में उद्घाटित करते रहे। निराला उन व्यक्तियों में से थे कि उनके सामने सहसा कुछ करने और कहने की हिम्मत लोगों में नहीं

होती थी। वे आडम्बरशून्य, भीतर बाहर एक थे। वे औघड़, फक्कड़ आशुतोष शंकर के साक्षात् अवतार थे और सचमुच उनके किये हुए को संभालने की शक्ति उनके साथी ब्रह्मा-विष्णुओं में नहीं थी। वेश भूषा, रहन-सहन, खानपान में उन्हें शिवत्त्व प्राप्त था।

निराला जी का शरीर पौरुष का प्रतीक था। उनका ऊँचा, पूरा, विशाल पुष्ट शरीर, सतेज आँखे, तेजस्वी ललाट, आकर्षक केशराशि, घन-गंभीर-वाणी और ओजस्विनी मुद्रा, एक बार भी दर्शन करने वाले व्यक्ति के मन पर, सदा के लिए प्रभाव डालने वाली थीं। उनका शारीरिक गठन, यूनानी देव प्रतिमाओं का स्मरण कराने वाला था। जैसा उनका व्यक्तित्व था वैसा ही उनका ओजस्वी स्वभाव था और वैसा ही पौरुष-पूर्ण उनका काव्य भी। कवि सम्मेलनों में जिन्होंने निराला जी को कवितापाठ करते हुए देखा और सुना है वे उनकी ओजस्विनी वाणी और सिंहवत भंगिमा को कभी भूल नहीं सकते। मुझे एक कवि-सम्मेलन का स्मरण आ रहा है जब कि निराला जी अपने अध्यक्षीय आसन पर एक ही मुद्रा में लगातार चार घण्टे बैठे रहे और अन्त में केवल अपनी कविता ही सुनाने के लिए उठे। उस समय बैठे हुए वे समाधिस्थ शंकर और खड़े हुए प्रलयंकारी रुद्र से लगते थे। उनकी क्रान्ति का आवाहन करने वाली रचना इस प्रकार थीं :—

"एक बार बस और नाच तू श्यामा।
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर - मेखला मुण्डमालाओं से बन बन अभिरामा —
एक बार बस और नाच तू श्यामा।
भैरवी मेरी तेरी झंझा,
तभी बजेगी मृत्यु लड़ायेगी जब पंजा
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अंजलि भर भर;
उंगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ —
एक बार बस और नाच तू श्यामा।
अट्टहास - उल्लास नृत्य का होगा वह आनंद
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बंद हो जायेंगे ये सारे कोमल छंद,
सिन्धुराग का होगा तब आलाप —
उत्ताल तरंग भंग कर देंगे —
माँ मृदंग के सुस्वर क्रिया-कलाप;
और देखूँगा बेते ताल

करतल-पल्लव-दल से निर्जन वन के सभी तमाल;
निर्झर के झर झर स्वर में तू सरिगम मुझे सुना माँ –
एक बार बस और नाच तू श्यामा।

निराला के इस क्रान्तिकारी ओजस्वी कवि का निर्माण उनके वैयक्तिक जीवन के घात्-प्रतिघातों से हुआ किन्तु सामाजिक चोटों का प्रभाव कम नहीं है। निराला जी का काव्य पौरुष से समन्वित है। कवि किसी भी अवस्था में, किसी भी भूमिका में कभी हारा नहीं। यह उसके जीने की आस्था का सबल प्रमाण है। वह अकेला है और उसका हृदय इस एकाकी अवस्था से पूर्ण परिचित है पर उसका स्वाभिमान उसे नमने नहीं देता, झुकने नहीं देता —

"जानता हूँ, नदी झरने
जो मुझे भी पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं मेला,
मैं अकेला।।"

निराला का स्वाभिमान व्यक्तिगत जीवन से लेकर उनके काव्य तक में उसी प्रकार अचल और अडिग रहा। उनकी विद्रोह-भावना जो भाषा, छन्द, साहित्य, जीवन, समाज सभी में बंधन और बाधा के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्हें प्रस्तुत करती रही, अपने अन्दर मर्मान्तक गाथा की स्मृतियों की जागरूकता को निरन्तर जगाये रही। उनकी मस्ती, उनका फक्कड़पन और उनकी अल्हड़ता मानों पुकार पुकार कर कहती थी कि मैं नियमों और नीतियों को जानता हूँ, फिर भी उनके विरुद्ध चल रहा हूँ; और देखूं, किस पाखण्डी नियामक में इतनी शक्ति है जो मेरी निरंकुशता का नियमन करने का दुस्साहस करता है? इसके भीतर भी उनके विक्षुब्ध और चोट खाए हुए स्वाभिमान का ही स्वरूप दिखाई पड़ता है। निराला का जैसा पौरुष और ओज भरा उदात्त काव्य सामान्यतः नहीं मिलता। हिन्दी साहित्य में एक से एक ओजस्वी वीररस के कवि मिल जायेंगे; पर निराला के काव्य में ओज-उदात्त ओज की ऐसी मूलभूत विशेषता है कि जो उनकी ललित श्रृंगारी रचनाओं में भी देखी जा सकती है। निराला का ओज विराट और कभी कभी दुर्धर्ष है और प्रायः पाठक और श्रोता के मन में पूरी तरह समा नहीं पाता जैसे ऊपर ऊपर से निकल जाता हो। एक ही विषय पर लिखी गयी पन्त, प्रसाद और निराला की रचनाओं में हमें जो प्रधान अन्तर मिलता है, वह निराला के उदात्त, विराट ओज के कारण, और हम कह सकते हैं कि निराला के इस प्रभूत एवं अजस्र ओज को न संभाल सकने के कारण ही उन्हें वन्ध छन्दों को छोड़कर स्वच्छन्द छंदों का आविष्कार करना पड़ा। उनके छंद, स्वच्छन्द छंद, उन शंकर के समान हैं जिन्होंने निराला की ओजमयी वाणी के गंगावतरण को संभाला है। अतः कुछ प्रयोगवादियों के फैशनगत प्रयोग के समान ही निराला का छन्दावतरण नहीं है; वरन् वह पौरुषमय काव्य का प्रकृत स्वरूप है। ओज निराला के काव्य की मूलभूत प्रकृति है।

निराला के काव्य की इसी प्रकृति ने उनके काव्यस्वरों में वह शक्ति भर दी कि उनकी काव्य-धारा संस्कारबद्ध आस्थाओं को तोड़ती फोड़ती, कभी समतल और कभी असंतुलित वेग से बढ़ती उनकी विक्षुब्ध कुण्ठाओं को खुलकर उछालती हुई निर्बाध रूप से आगे बढ़ती गई। इसी ओज के कारण कवि ने अपनी चेतना के सभी स्वरों को मुक्त कर दिया था, वे चाहे जब, जिस धरातल पर, विना किसी कृत्रिम संगति में बंधकर बोल सकते थे। इसको देखकर लोगों ने उनके आचार-पक्ष की असंतुलितता तथा विचार-पक्ष की अनियंत्रितता पर व्यंग्य कसा, चोटें कीं मगर ओज जिसकी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है वह इन सब की ओर ध्यान क्यों देने लगा ? न जाने कितनी वैयक्तिक और सामाजिक गुत्थियां जीवन के अनेक स्वरों पर उतरती चढ़ती काव्यधारा के साथ प्रवाहित होती रहीं परन्तु ओज का पल्ला एक भी अभिव्यक्ति ने नहीं छोड़ा। पहाड़ों को थर्रा देने वाला मन्द्र वज्र शब्द के सदृश 'वन के तरु तरु पादप पादप' तन और मन को एक तरल स्पंदन से भर देने वाला "झर झर झर झर धारा झर कर पल्लव पल्लव पर भर नवजीवन" हृदय को मधुर मधुर स्पर्श से गुदगुदानेवाला "विजन वन-वल्लरी पर सोती थी सुहाग-भरी" अथवा करुणा की एक बूंद गिरानेवाला "वह आता पछताता पथ पर आता" कोई भी गीत ओज से रहित नहीं है। निराला ओज के साकार रूप हैं और उनकी कविता उसकी परछाईं।

अपनी उग्र स्वच्छन्दता और फक्कड़पन में निराला कबीर से तुलनीय हैं। वैसे ही मस्तमौला, वैसी ही ललकार, वैसा ही फक्कड़पना, वैसा ही क्रान्तिकारी स्वर और वैसी ही प्रगाढ़ तन्मयता दोनों की ओजभरी वाणी रूढ़ियों और बन्धनों के विरोध में बेलगाम रहीं। दोनों की करुणा दीनों के लिए फूट फूट बहती रही। दोनों में लोगों को प्रसन्न करने की प्रवृत्ति नहीं थी। स्वाभिमान भी दोनों में ऊँची श्रेणी का था। अन्तर केवल इतना ही था कि एक संत पहले और कवि बाद में था और दूसरा कवि पहले और संत बाद में। किन्तु निराला ने भी लुकाठा ले अपना घर जलाकर ही साहित्य रचा था। इसके पीछे उस भारती के पुत्र ने अपना सब कुछ लुटा दिया, अपने आप लुट गया था, परन्तु मरते दम तक उस स्वाभिमानी निर्भीक कवि ने हार नहीं मानी और साहित्यकार के सम्मान को सबसे ऊँचा रखा। उसने भीख दी पर ली नहीं। ऐसा स्वाभिमानी और ओजस्वी व्यक्तित्व वाला कवि निराला पार्थिव शरीर से न रहते हुए भी जन जन के मानस में अमर है और रहेगा।



आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

शिमला में सिंहनाद–'जागो फिर एक बार'!

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन में प्रमुख हिन्दी महारथी, बड़े साहित्यकार और ऊँचे दर्जे के कवि बहुत बड़ी संख्या में समवेत हुए थे। कवि-सम्मेलन भी अधिवेशन की स्वागत समिति कर रही थी और शिमला में यह कविसम्मेलन खूब मजेदार हुआ था। यहाँ महाकवि निराला का अखाड़िया रूप भी खुलकर प्रकट हुआ और उनकी दहाड़ सुनी गई-'जागो फिर एक बार'। श्रोता आनन्द से भर गए थे। वस्तुतः इस दहाड़ से निराला जी ने उस अखाड़े पर विजय प्राप्त कर ली थी—एक प्रारम्भिक संघर्ष के बाद।

संघर्ष की बात यह है कि कविसम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे डा० सत्यनारायण सिंह। आपने अपने स्वागत भाषण में जो कुछ कहा था, उसका प्रेरणात्मक अंश इस तरह था—"इस समय देश स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहा है। ऐसे समय में प्रतिभावान कविजनों को कुछ ऐसी कविता के लिए यत्न करना चाहिए, जिससे देश को उद्‌बोधन मिले, जनता में कुछ गरमाहट आए। ऐसे रण-रंग के समय पायल की झंकार किस काम की? जाड़े के दिनों में कोई बरफ और केवड़ा डालकर बढ़िया शर्बत बनाकर आपको दे, तो कैसा रहेगा? हर चीज का समय होता है। 'प्रियतम' 'प्रेयसि' आदि संबोधन देकर आज कविजन जो कुछ दे रहे हैं, वह समय की चीज नहीं है। हमारे कविजनों को इस पर विचार करना चाहिए।"

यह सारांश है उस भाषण का। सभापति थे पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'। उनकी कुर्सी के पीछे ही मैं बैठा था, और मेरे बगल में ही भाषण पढ़ने के बाद, स्वागताध्यक्ष जी आकर बैठ गए थे। वे बैठने भी न पाए थे कि महाकवि निराला अपने स्थान से बड़ी-तेजी से उठकर आए और माइक के सामने खड़े होकर बड़े ही उग्र स्वर में बोले—

"इस सम्मेलन में कोई भी कवि कविता न पढ़ेगा। स्वागताध्यक्ष ने कवियों का अपमान किया है। इसलिए जबतक वे माफी नहीं माँग लेते, कोई भी कवि कविता न पढ़ेगा।"

इतना कहकर वे अपने स्थान पर जा बैठे, जहाँ बहुत से अन्य कवि श्री शन्नो देवी के साथ बैठे हुए थे।

एक अजीब सन्नाटा छा गया। स्वागताध्यक्ष डाँवाडोल हो गए। वे उद्विग्न थे। मैंने उनसे कहा, "आप घबराते क्यों हैं? आपने खराब बात क्या कही है? अच्छी बात कहने से भी कोई अपना अपमान समझे, तो इसका उपाय क्या? माफी आप किस बात की माँगेंगे? कोई पाप किया है क्या?"

वे चुप बैठे रहे। तब श्री शन्नो देवी जी उठकर माइक पर आईं और बड़े ही भद्र रूप में निवेदन किया—"यह सम्मेलन पंजाब में हो रहा है। यहाँ कवियों का अपमान होने से पंजाब का सिर नीचा होगा। मैं स्वागताध्यक्ष महोदय से निवेदन करती हूँ कि वे अपने शब्दों के लिए क्षमा याचना कर लें। इससे उनका सम्मान घट नहीं जाएगा; बढ़ेगा ही।"

इतना कहकर वे अपने स्थान पर जा बैठीं। कवियों में मंत्रणा चल रही थी। स्वागताध्यक्ष कुछ ढीले पड़ते नजर आए। मैंने फिर कस दिया—"आप माफी किस चीज के लिए माँगेंगे। कवि सम्मेलन न होगा, तो इसके लिए आप दोषी न ठहराए जायेंगे। वे फिर डट गए।"

तब श्री शन्नो देवी जी ने कहा—"स्वागताध्यक्ष महोदय माफी नहीं मांगते, तो एक बार यहाँ जरा देर के लिए आने की तो कृपा करें।"

मैंने उनसे कहा कि "वहाँ जाकर आप कुछ भी कहें, समझा-समझाया यही जाएगा कि आपने माफी मांग ली है।" वे फिर शांत हो गए।

इस अवसर पर सेठ गोविन्ददास की सुपुत्री कवयित्री रत्ना जी ने सन्नाटा भंग किया। वे माइक पर आईं और एक सुन्दर कविता पढ़कर चली गईं। करतल ध्वनि हुई। इसके वाद डाक्टर रामकुमार वर्मा माइक पर आए और बहुत सुन्दर कविता पढ़ गये।

उधर कविजन बैठे सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए! कवि सम्मेलन तो चल पड़ा। कुछ न पढ़ेंगे तो ऊँचे दर्जों का रेलभाड़ा और मेहनताना कौन देगा! जो भी हो, इसी समय श्री शन्नो देवी फिर माइक पर आईं और बोलीं—"भाइयो यह सम्मेलन पंजाब में हो रहा है; इसलिए पंजाब की ओर से मैं माफी मांगती हूँ, अपने कवियों से; और उनसे प्रार्थना करती हूँ कि अब अपनी अपनी कविता से जनता को आनन्दित करें।"

बस, इसके अनन्तर ही, तुरन्त महाकवि निराला जी अपने स्थान से उठे और तेजी के साथ आकर माइक पर खड़े हो गए। भूमिका बांधते हुए बोले—"छायावादी और रहस्यवादी कविता को तो लोग न जाने क्या समझते हैं। सुनिए छायावादी और रहस्यवादी की कविता।" इतना कह कर गंभीर ध्वनि में बोले——

'जागो फिर एक बार।'

तालियों की गड़गड़ाहट पन्द्रह मिनट तक होती रही। अखाड़ा जम गया और खेत रहा निराला जी के हाथ। वे जानते थे कि इस समय कौन सा शस्त्र काम देगा। 'जागो फिर एक बार' ने रंग ला दिया।

ध्यान देने की वात है कि निराला जी ने 'रहस्यवादी कविता देखो' कहकर उस कविता का पाठ नहीं किया था—'रहस्यवादी कवियों की कविता' कहा था। दोनों में कितना अन्तर है? रहस्यवादी कवि प्रकाशवादी कविता भी तो कर सकता है न!

सो, निराला जी केवल किताबी ही कवि नहीं थे, अखाड़े भी कब्जे में करना जानते थे। अपनी एक ही कविता से वह 'हीरो' बन गए। हीरा तो वे थे ही। यहाँ बात उस अखाड़े की है।

डाक्टर रामविलास शर्मा

'यह मतवाला—निराला!'

उपर्युक्त शीर्षक से बच्चन जी का लेख साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' तथा उनके निबंध-संग्रह 'नये -पुराने झरोखे' में प्रकाशित हुआ है। इससे पहले २३ जनवरी १९५० में 'संगम' में उनका एक लेख छपा था 'निरालाजी की वर्षगाँठ पर'। दोनों लेखों को देखने से पता चलता है कि बच्चन जी आलोचक रूप में निरन्तर उन्नति करते जा रहे हैं। कविता में एक बार उनका स्वर चाहे सच्चा न लगे, आलोचना का स्वर उनके बढ़ते हुए आत्मविश्वास का पूर्ण साक्षी ठहरता है।

अपने पहले लेख में बच्चन जी ने निरालाजी की मनःस्थिति के विगड़ने की वातों का उल्लेख करते हुए कहा था—"मैं यह वात मानने को तैयार नहीं हूँ कि इतना वड़ा कलाकार व्यक्तिगत मानापमान को इतनी महत्ता दे सकता है। उन्होंने अपने को हिन्दी, हिन्दी कविता, हिन्दी साहित्य-कार का प्रतीक ही मान लिया है। उन्होंने अपनी उपेक्षा में हिन्दी की उपेक्षा देखी है। अपनी उपेक्षा तो शायद वे सह जाते पर हिन्दी की उपेक्षा उनके लिए असह्य हो गई है।"

बच्चन जी ने आशातीत उदारता प्रदर्शित करते हुए यहाँ निराला जी को व्यक्तिगत माना-पमान से परे माना । उन्हें इस योग्य स्वीकार किया कि व्यक्तिगत उपेक्षा सह लें किन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य की उपेक्षा न सहें।

दूसरे निबंध में बच्चन जी का यह दृष्टिकोण बदल गया है। उनके नये दृष्टिकोण में दार्शनिकता की पुट है। उन्होंने अमृत और विष का रहस्यमय विश्लेषण किया है। निराला जी क्यों टूटे ? इसलिए कि वह देते तो थे अमृत लेकिन उसका प्रतिदान भी चाहते थे। इस चाह से उत्पन्न हुई कुंठा और इस कुंठा ने उन्हें ले डाला। लिखा है—"जो अमृत का दान देने चलता है, वह जानता है कि उसके लिए अंत में विष ही रह जाता है। प्रतिदान की कामना-कुंठा बनी रहे तो यह विष अधिक कटु हो जाता है। मुझे यह लिखते हुए बड़ा दुःख हो रहा है कि यह कामना-कुंठा निराला को न छोड़ सकी। निराला ऐसे साधक के लिए इस पर विजय पाना असंभव न था, पर दुर्भाग्यवश, उनके स्नेही अपने मोह की अतिशयता में इसे उभारते ही रहे।"

इस मूल्यांकन में हिन्दी का मानापमान का सवाल नहीं रहा। यहाँ रह गयी केवल प्रतिदान की आकांक्षा! निराला शायद इस आकांक्षा पर विजय पा भी जाते किन्तु उनके मोहान्ध स्नेही उसे उभारते रहे। क्या कहते रहे होंगे निरालाजी से उनके स्नेही—यही कि निरालाजी आप हिन्दी के प्रतीक हैं, आप हिन्दी साहित्य के प्रतीक हैं! आपकी उपेक्षा हिन्दी की उपेक्षा है। आप भला हिन्दी की उपेक्षा कब सह सकते हैं?

इसी तरह के मोहान्ध प्रलाप से निराला का अहंकार और जगा होगा, कामना-कुंठा पर उनका विजय पाना असंभव हो गया होगा !

बच्चनजी ने जिस दृढ़ता से निराला-सम्बन्धी मोह-पाश को छिन्न-भिन्न किया है, वह उनके अडिग आत्मविश्वास का ज्वलन्त प्रमाण है।

मोहपाश के अनेक फन्दे हैं। पहला फन्दा है उनकी मृत्यु के बारे में जनसाधारण के विलाप का। लोग समझते हैं, निराला और जी सकते थे, उन्हें जीना चाहिए था। किन्तु यह सब भ्रम है। बच्चनजी के शब्दों में "निरालाजी की मृत्यु न अप्रत्याशित थी, और न आकस्मिक और न असामयिक ही।" उनकी मृत्यु प्रत्याशित थी, सामयिक—और स्वाभाविक !

इसका कारण यह कि 'राम की शक्ति-पूजा' वह सन् ३६ में लिख चुके थे। उसके बाद जो बचा, वह था विष। यह विष लिये वह पच्चीस साल जीते रहे ! इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या होगी ? उस विष को भी वे रस में परिणत करते रहे। फिर यह विष -रस भी समाप्त हो गया—"सात वर्ष से अधिक निराला इससे भी रिक्त होकर अपने को जिलाए रहे, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।"

बच्चन जी ने यह जीवन-मरण का गंभीर विश्लेषण उसी महीने में कर डाला जिसमें निरालाजी का देहावसान हुआ था—यह उनकी प्रज्ञा के प्रतिष्ठित होने का श्रेष्ठ प्रामाण है।

यह तो मोहपाश के पहले फन्दे की बात हुई। दूसरा फन्दा और भी कठिन है इसका सम्बन्ध है निराला-काव्य के मूल्यांकन से। लोग निराला को, उनके साहित्य को हिन्दी की निधि मानते हैं, समझते हैं कि तुलसीदास और भारतेन्दु की परम्परा की ही एक कड़ी हैं निराला जी। बच्चन जी ने निराला-काव्य में दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। एक परम्परा बंगला की, दूसरी हिन्दी की। पहली निराला के लिए स्वाभाविक थी, दूसरी—हिन्दी की परम्परा—निराला के लिए थी कृत्रिम। उनके काव्य में जो कुछ उदात्त और समर्थ था, वह बंगला के कारण, जो कुछ गर्हित था वह हिन्दी के कारण।

निराला जी के प्रथम कविता-संग्रह 'अनामिका' के बारे में बच्चनजी ने लिखा है—"अनामिका में निराला दो सुस्पष्ट, विभिन्न परम्पराओं के अन्तर्गत सृजन करते दिखलाई पड़ते हैं—एक समृद्ध परिपक्व, सुस्थिर; दूसरी निस्तेज, कल की और प्रयोगात्मक एक बंगाली साहित्य की परम्परा जिसमें रवीन्द्र और नजरुल रचनाएँ कर रहे थे और दूसरी द्विवेदीयुगीन—इतिवृत्तात्मक—जिसका परिचय उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका से प्राप्त किया था; बँगाल में जन्मने, पलने, बढ़ने, शिक्षित होने , युवावस्था तक रहने के कारण पहली निराला के लिए अधिक स्वाभाविक, दूसरी कम, कृत्रिम भी। परिणाम स्पष्ट है। जहाँ निराला खड़ीबोली की तत्सामयिक परम्परा भाव, भाषा छंद, रूपक आदि का अनुसरण करते हैं, वहाँ उनकी चीज़ें इतिवृत्तात्मक, सिलपट, फुसफुसी, भोंडी, सस्ती, सुधारवादी होती हैं—हालाँकि उनमें भी कहीं कहीं छायावादी कल्पना के अंकुर फूटते दिखाई देते हैं; पर जब वे बँगला की परम्परा के प्रभाव में लिखते हैं, तब उनकी लेखनी के पर लग जाते हैं; उनकी चीज़ें चुस्त, दुरुस्त, सुष्ठु होती हैं।"

निराला के कवि रूप में सामने आते ही अनेक हिन्दी-रक्षक "बँगला की नकल है" की गुहार मचाने लगे थे। निराला को घटिया कवि साबित करने के उद्देश्य से वह सब किया जाता था। बच्चन जी का उद्देश्य दूसरा है। वह निराला की गरिमा पर प्रकाश डाल रहे हैं। इस गरिमा का हिन्दी की परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह देन है बँगला की! युवावस्था तक बंगाल में रहने के कारण बँगला की परम्परा ही उनके लिए स्वाभाविक थी। राम जाने परिवार के लोगों से वे बैसवाड़ी में बोलते थे या बँगला में? शायद बैसवाड़ी भी कलकत्ते से आकर गाँव में बसने पर—युवावस्था के बाद—सीखी होगी!

सिलपट, फुसफुसी आदि विशेषण पहले भी कहीं सुने थे। याद आया। फिराक गोरखपुरी ने निराला, पंत आदि हिन्दी महारथियों को इन्हीं विशेषणों के उपहार दिये थे। बच्चनजी ने उन्हीं का उपयोग निराला की हिन्दी-परम्परा वाली कविताओं की विशेषताएँ बताने के लिए किया है। इससे उनकी मौलिकता में बट्टा नहीं लगता, क्योंकि उन्होंने छायावादी कल्पना के अंकुर के लिए "चुस्त-दुरुस्त और सुष्ठु" इन सुन्दर विशेषणों का प्रयोग भी किया है। फिराक को इनकी जरूरत महसूस नहीं हुई थी।

फिराक एक काम और करते थे जो बच्चन जी ने नहीं किया। वह दूसरों की नुक्ताचीनी करने के बाद अपने शेर उद्धृत करके लोगों को बता देते थे कि उनकी निगाह में आदर्श कविता किस तरह की होती है। बच्चन जी ने विनम्रता वश ऐसा नहीं किया। वह चाहते तो निराला की सिलपट फुसफुसी, भोंडी, सस्ती, सुधारवादी रचनाओं के मुकाबले में अपनी चुस्त, दुरुस्त, और सुष्ठु पंक्तियाँ रख सकते थे। यथा 'खादी के फूल से'—

मेरे मन में उठता सवाल है रह रह कर
पाता जवाब हूँ इसका ढूँढ़े कहीं नहीं,
मुझको अपने को ठीक समझने की कीमत,
क्यों तुमको देनी
पड़ी जिगर के
लोहू से?
जब गाँधीजी थे चले स्वर्ग से पृथ्वी को
मानव की पशुता से, दानवता से लड़ते,
तब देवों ने था उनको यह आदेश किया,
लो देह भीम की
बल-विक्रम
बजरंगी का।

यह तो सुष्ठु कविता की मिसाल हुई। निरालाजी की "पंचवटी-प्रसंग' में बच्चनजी ने रवीन्द्र और नजरुल की प्रतिध्वनियाँ सुनी हैं—"शायद नजरुल की अधिक।" शायद क्यों?

आशा है, आत्मविश्वास की यह अपवाद रूप कमी पुस्तक के दूसरे संस्करण में दूर हो जायगी। कौन नजरुल की हर कविता का विश्लेषण करके "पंचवटी-प्रसंग' से उसकी भिन्नता दिखाने बैठे? सही सलामती से यह दावा किया जा सकता है कि हिन्दी की किसी भी कविता में बँगला की किसी भी कविता की प्रतिध्वनि गूँजती है।

निराला के सुष्ठु काव्य को हिन्दी परम्परा के अन्तर्गत मानना, हिन्दी परम्परा के प्रभाव से उसका फुसफुसापन न देखना, बँगला के प्रभाव से ही जहाँ-तहाँ वह काव्य चुस्त और दुरुस्त है—यह न पहचानना, मोहपाश का फंदा नम्बर दो हुआ।

फंदा नम्बर तीन है मुक्त छन्द के बारे में। निराला ने मुक्त छन्द लिखा, इसी के द्वारा बँगला की दौलत बटोरी, लेकिन यह छन्द हिन्दी में न चला। असल में इस मुक्त छन्द का बाप कवित्त भी हिन्दी के आँगन में बंगाल से आकर जम गया था।

यह बात सही है कि तुलसीदास ने कवित्त लिखे, भूषण, देव, मतिराम और पद्माकर ने लिखे, भारतेन्दु और रत्नाकर ने लिखे, खड़ीबोली में गोपालशरण सिंह, हितैषी और दिनकर ने लिखे। लेकिन इतने कवियों के लिखने पर भी कवित्त हिन्दी का अपना न हो सका। यह उसके जबर्दस्त विदेशीपन का अकाट्य प्रमाण है।

पंतजी ने बहुत पहले लिखा था, और बच्चनजी ने पंतजी के वाक्यों को फिर सादर, साभार उद्धृत किया है। वह इस प्रकार—"कवित्त छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया; अक्षर मात्रिक छन्द बँगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण-संगीत की वे रक्षा नहीं कर सकते।"

इस सम्बन्ध में बच्चनजी का निष्कर्ष यह है—

"परिणाम तो यही देखने में आया कि निराला के बाद कोई उसका निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं कर सका, और पिछले दशक में जो मुक्त छंद आया है, वह स्वर की लय पर नहीं, भाव और अर्थ की लय पर आधारित है, गद्यवत् है, यानी वह पढ़ने के लिए नहीं, देखने-समझने के लिए है।"

बच्चनजी ने एक लेख और लिखा है जिसमें इसी मुक्त छन्द की फिर चर्चा की गई है। इस लेख का शीर्षक है "पंत और कला और बूढ़ा चाँद'।" चाँद के बूढ़े होने पर पंतजी ने भी मुक्त छन्द को अपनाया लेकिन बच्चनजी ने पाठक को सावधान कर दिया है कि वह पंतजी के मुक्त छन्द को निरालाजी का मुक्त छन्द न समझ लें। पंतजी के मुक्त छन्द का सम्बन्ध गद्यकाव्य से है, "न कि मुक्त छन्द की उस परम्परा से जो महाकवि निराला से आरम्भ होकर अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीरसहाय, कुँवरनारायण आदि कवियों में विकसित हुई।"

पहले उद्धरण को देखने से मालूम होगा कि निरालाजी हिन्दी में जो विदेशी कवित्त छन्द लाये, उसकी जड़ यहाँ नहीं जमी; वह अकेले ही उसका झण्डा ऊँचा किये रहे। दूसरे उद्धरण से मालूम होता है कि अज्ञेय से लेकर कुँवरनारायण तक कवियों की काफी बड़ी पाँति निराला के मुक्त छन्द का अनुसरण करती रही!

बच्चनजी को सबसे पहले यह सिद्ध करना है कि निरालाजी ने हिन्दी में मुक्त छन्द लिखकर हिन्दी पर अत्याचार किया। उसके बाद यह सिद्ध करना है कि उनका अनुसरण करने में किसी को सफलता नहीं मिली। तीसरी बात यह सिद्ध करनी है कि पंतजी ने मुक्त छंद लिखा तो वह छन्द नहीं गद्य है।

यह सब सिद्ध करने में उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के खंडित गद्य के टुकड़ों और गिरिजाकुमार माथुर के कवित्त छन्द पर निर्भर मुक्त छन्द में कोई साम्य नहीं है।

अच्छा, पंतजी तो निरालाजी के मुक्त छन्द के प्रभाव से बच गये। बच्चनजी का अपना हाल क्या है? उनके मुक्त छन्द का नमूना देखिये और बतलाइये कि यह गद्य-काव्य है या निराला के अनुकरण पर लिखा हुआ मुक्त छन्द है?

और आज
देखा है मैंने,
एक ओर है तुम्हारी प्रतिमा
दूसरी ओर है डांसिंग हाल,
हे पशुओं पर दया के प्रचारक,
अहिंसा के अवतार,
परम विरक्त,
संयम साकार,
मची है तुम्हारे सामने रूप-यौवन की ठेल-पेल,
इच्छा और वासना खुलकर रही हैं खेल,
गाय-सुअर के गोश्त का उड़ रहा है कबाब
गिलास पर गिलास
पी जा रही है शराब,—
पिया जा रहा है पाइप, सिगरेट, सिगार,
धुआँधार,
लोग हो रहे हैं नशे में लाल।

इसी तरह की पंक्तियाँ हमने कहीं और पढ़ी थीं। उनके लेखक हैं निराला। बेशक उनकी गति में ओज कुछ ज्यादा है लेकिन मूलतः है वही गति जो ऊपर बच्चनजी के छन्द में है। निरालाजी के 'अक्षर मात्रिक' का उदाहरण यह है—

हैं जो बहादुर समर के,
वे मर के भी
माता को बचायेंगे।

शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम माँ का दाग,
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे!—
निर्जर हो जाओगे—
अमर कहलाओगे!

पंतजी ने भले ही अपने बूढ़े चाँद को निराला के मुक्त छन्द के प्रभाव से बचा लिया हो, बच्चनजी का छन्द उसी की गति का अनुसरण करता है, यह स्पष्ट है।

पंतजी के मुक्त छन्द की बानगी भी देख लेनी चाहिए। बच्चनजी की चेतावनी है कि यह गद्यगीत है, 'अक्षर मात्रिक' छन्द का प्रवाह नहीं।

उन माणिक पुष्पराग के
जलते कटोरों में
कैसा पावक रहा,
हीरक रश्मियों भरा?—
(आँखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फँसी,
बंद कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन)
तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ!
खिलने पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ!
हाय रे दुराशा!
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाए!
(हाय री यशोलिप्सा!
अन्धे की दिवस तू—
अन्धकार रात्रि-सी।
लपट में झपट
प्यासों मरने वाले
मृग की मरीचिका है।)

मैंने
हिमालय के
शुभ्र श्वेत मौन को
फूँका,
मानस शंख से
छोटा था वह।...
मैं सूर्य में डूबा,
वह स्वच्छ सरोवर निकला,
(मैं) रक्त कमल सा खिला!
मेरे अंग-अंग
स्वर्ण शुभ्र हो उठे।
(घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयि-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में गुच्छ-गुच्छ।)

पंतजी की पंक्तियों के साथ कोष्टकों में दी हुई निरालाजी की पंक्तियों की तुलना कीजिये। वच्चनजी की लय-मर्मज्ञता की दाद दीजिये जो पंतजी की पक्तियों को गद्यज और निरालाजी की पंक्तियों को कवित्तज मानते हैं। यदि यह कह दें कि पंतजी ने निरालाजी के उसी मुक्त छन्द का अनुसरण किया है जिसका कभी उन्होंने विरोध किया था तो सत्य की हत्या हो जाय!

कहने का मतलब यह कि मोहपाश का तीसरा भंदा काफी उलझा हुआ है। कवित्त छन्द हिन्दी का अपना छन्द नहीं। एक उलझाव। इसमें तुलसीदास-देव-मतिराम-भूषण-पद्माकर-भारतेन्दु-रत्नाकर-दिनकर-ने कविता रची। यह दूसरा उलझाव। निराला ने अपना 'अक्षर मात्रिक' इसी कवित्त के आधार पर चलाया जो हिन्दी में चला नहीं, और चला भी यहाँ तक कि स्वयं बच्चनजी ने उसकी कद्र की। यह तीसरा उलझाव। पंतजी ने भी मुक्त छन्द लिखा जो न गद्य है न पद्य है, फिर भी निरालाजी के छन्द के साथ काफी दूर तक कदम मिलाकर चलता है। यह चौथा उलझाव। इन सब उलझावों से बचकर बच्चनजी ने यह सिद्ध कर दिया कि जो कुछ भी वह सिद्ध करना चाहते थे वह सिद्ध ही है—यह साधारण बुद्धि के लोगों के लिए पाँचवाँ उलझाव है।

कवित्त छन्द और मुक्त छन्द के अलावा एक और छन्द है, 'गजल छन्द'। इस 'छन्द' में गालिब, मीर, मोमिन, ज़ौक, जोश, जिगर आदि बीसों कवियों ने रचना की है। निराला ने भी इस 'छन्द' में लिखने का प्रयत्न किया। बच्चनजी ने लिखा है, "गजल छन्द को हिन्दी में लाने के कुछ भोंड़े-

भद्दे प्रयोग पहले भी हो चुके थे; निराला की प्रतिभा भी उसमें कोई विशेष निखार-सँवार नहीं ला सकी।"

यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि जब कवित्त छन्द के आधार पर निराला हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल कोई बड़ी चीज न दे सके, तब 'गजल छन्द' में हिन्दी को वह क्या देते ? काश ! उन्होने दोहे लिखे होते, जो हर चौराहे पर ढोलक मँजीरों की धुन के साथ गूंजते होते।

> **बापू के असवान पर, जब मन दुखित-उदास।**
> **धीरज देते हैं हमें, बाबा तुलसीदास॥**
> **नाथू को पापी कहें, अथवा हम निष्पाप।**
> **बापू के तन-त्याग पर, मन में अति संताप॥**
> **सम्प्रदायपन धर्म हो, या अधर्म की मूल।**
> **बापू का हम शोक दुख, कैसे पायें भूल॥**

पाठक समझ गये होंगे, ऐसे सुन्दर-सुन्दर दोहों की रचना महाकवि बच्चन ने ही की होगी।

बाबा तुलसीदास का नाम सुनकर रामायण की यांद आ गई। निरालाजी ने रामायण के कुछ अंशों को खड़ीबोली में लिखा। सहृदय कवि बच्चन के हृदय को भारी ठेस लगी। "तुलसी के आधुनिकीकरण पर मैंने तो अपना सिर ही धुन लिया।" वाह ! आ+धुनिकीकरण के सम पर सिर धुनना कमाल है !

क्या ही अच्छा होता कि निरालाजी अवधी में नई गीता लिखते। निरालाजी ने अवधी की रचना का रूपान्तर खड़ीबोली में किया; बच्चनजी ने वर्तमान युग में अवधी को ही अधिक आधुनिक बनाते हुए लिखा––

> **आहि जो, होइ सो नाँहि नाँहि, नाँहि जो आहि न होइ।**
> **आहि नाँहि यह भेद कहँ, बूझहिं बुध कोइ-कोइ।**

स्वयं बच्चनजी ने जितनी सफलता खड़ीबोली में न पाई थी, उससे कहीं अधिक सफलता प्रथम प्रयास में ही अवधी में पा ली। निराला जिन्दगी भर खड़ीबोली लिखने के बाद रामायण के मैदान में चित्त आये। बच्चनजी ने केवल एक बार अवधी में कलम उठाई और गीता के कुरुक्षेत्र में आये पट्ट ! इसका एक कारण है। बच्चनजी पर एक सिद्ध महात्मा की दयादृष्टि पड़ी थी। इन्होंने पूछा––क्या पुनर्जन्म होता है ? और उन्होंने दृढ़ विश्वास से कहा —होता है। फिर कुछ सोचने लगे, कुछ कहने लगे, "पर मुझे लगा कि जैसे मैं क्षण भर को चेतनाशून्य हो गया और इतने में ही कई जन्मों के आवर्त में घूम आया।" इस चेतना-शून्य आवर्त-परिभ्रमण में बच्चनजी स्वयं बाबा तुलसीदास से अवधी में काव्य-रचना करना सीख आये हों, तो आश्चर्य क्या ! बीसवीं सदी में भी सौभाग्य से दैवी चमत्कार एकदम खारिज नहीं हुए।

मोहपाश के आखिरी फंदे का सम्बन्ध है प्रगतिवाद से। प्रगतिवादी बड़े चालाक होते हैं।

इन्हें एक नेता की जरूरत थी। चले और सीधे-सादे पंतजी को पकड़ लाये। निरालाजी को भी अपने काफिले का सरदार बना लिया। वास्तव में किसी महाकवि का किसी वाद से सम्बन्ध नहीं होता। बच्चनजी को लोग हालावादी कहते थे लेकिन वास्तव में वह दूध पीकर शराब पर कविता लिखते थे। अब निरालाजी को देखिये--शराब पीकर दूध पर कविता लिखी।

प्रगतिवाद और पंतजी के सम्बन्ध का इतिहास बच्चनजी के शब्दों में इस प्रकार है: "हिन्दी कविता में प्रगतिवाद की चर्चा १९३५-३६ से आरम्भ हुई। पंतजी की 'युगवाणी' १९३९ में और 'ग्राम्या' १९४० में प्रकाशित हुई। दोनों रचनाओं में ऊपरी ऐसा बहुत कुछ था जिसे देखकर प्रगतिवादियों ने उन्हें अपना नेता-सा मान लिया। निराला जगह-जगह कहते सुने जाते--"मैं प्रोग्रेसिव नहीं ऐग्रेसिव हूँ" पर उनके मन का क्षोभ दिन-दिन बढ़ने लगा। कारण कुछ भी हो छायावादी-काल में जो लोकप्रियता पन्त को मिली थी वह निराला को नहीं मिली थी। निराला उसे हिन्दी का अज्ञान मानते थे।"

एक तो छायावाद-काल में निराला पिछड़ गये थे --लोकप्रियता की होड़ में पंतजी बाजी मार ले गये। उसके बाद आया प्रगतिवाद का युग। उसमें भी नेता चुने गये पंतजी। निराला फिर रह गये फिसड्डी। और नेतृत्व न पा सकने के कारण प्रोग्रेसिव के मुकाबले अपने को ऐग्रेसिव कहने लगे!

इस सारी परिस्थिति का दोष मूलतः प्रगतिवादियों के सिर मढ़ा जाना चाहिए। उन्होंने पंतजी की रचनाओं को सतही निगाह से देखा। इनमें ऊपरी ऐसा बहुत कुछ था जिससे प्रगतिवादियों ने फायदा उठाया और उन्हें अपना "नेता-सा" मान लिया।

'रूपाभ' के प्रथम अंक में पंतजी ने छायावाद को नमस्कार करने और उससे विदा लेने की घोषणा की। उन्होंने यह भी घोषित किया कि "इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग जीवन ने उससे चिर-संचित सुख-स्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।"

यह सन् ३८ की बात है—'ग्राम्या' और 'युगवाणी' के प्रकाशन से पहले की बात है। स्पष्ट है कि कविता स्वप्नलोक में नहीं पल सकती—इस तरह की ऊपरी बातों से लाभ उठाकर प्रगतिवादियों ने पंतजी को नेता-सा माना। बच्चनजी ने इन ऊपरी बातों से पैदा होने वाले भ्रम को दूर करके प्रगतिवादियों का असीम उपकार किया है।

स्वयं पंतजी को 'उत्तरा' की भूमिका में मार्क्सवाद की यथेष्ठ आलोचना करनी पड़ी। उन्होंने मार्क्स तथा एंगेल्स के दर्शन की तुलना "बौद्धिकता के शुभ अन्धकार के भीतर से रेंगनेवाली झींगुरों की रुँधी हुई झनकारों" से की। उन्हें इस बात पर भी आश्चर्य हुआ कि उनके कुछ आलोक "अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं।" मार्क्सवादी होने तक गनीमत थी, लेकिन मार्क्सवादी होने के साथ कोई कम्युनिस्ट भी हो—तोबा!

वैसे किसी समय पंतजी भी अपने को प्रगतिवादी ही नहीं कम्युनिस्ट भी कहते थे। इसके प्रमाण स्वयं बच्चनजी हैं। उनका एक कविता-संग्रह है 'हलाहल'। उसकी एक अत्यन्त सुन्दर भूमिका है। 'कृति-परिचय' नाम की यह भूमिका बच्चनजी ने १९४६ में लिखी थी। १९४६ तक पंतजी का प्रगतिवादी दौर समाप्त हो चुका था अर्थात् अब वे ऊपरी बातें न रह गई थीं जिनमें फायदा उठाकर प्रगतिवादी पंतजी को अपना नेता-सा मानते। इसलिए बच्चनजी ने पंतजी के सम्बन्ध में —उनके पूर्वकाल में साम्यवादी होने की—जो बात लिखी है उसका महत्व और भी बढ़ जाता है। वास्तव में उन्होंने पंतजी का कथन ही उद्धृत किया है। यह भी याद रखने योग्य है कि बच्चनजी १९४० से पंतजी के साथ रहने लगे थे।

बच्चनजी ने लिखा है—"हम दोनों ८-ए बेली रोड पर 'वसुधा' में रहने लगे। प्रसंगवश यह बतला दूँ कि इस घर का यह नाम पंतजी ने ही दिया था। कहने लगे, जब मैं कालाकाँकर में था तब मेरे निवास-स्थान का नाम था 'नक्षत्र'; अब मैं 'नक्षत्र' से 'वसुधा' पर आ गया हूँ; फिर यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर संकेत करता है और इस प्रकार मेरे साम्यवादी विचारों से जोड़ खाता है।"

पाठक इस कथन को 'रूपाभ' के वक्तव्य से मिलाकर उसकी असंदिग्ध सचाई को और भी प्रमाणित कर सकते हैं। 'रूपाभ' में उन्होंने स्वप्न-लोक छोड़कर यथार्थ की कठोर धरती पर अवतरित होने की बात कही थी। 'रूपाभ' नाम में उन्होंने 'रूप' शब्द द्वारा इसी तथ्य की ओर संकेत किया था। इसी तरह उन्होंने 'नक्षत्र' छोड़कर 'वसुधा' पर रहने की बात भी कही थी। "मेरे साम्यवादी विचारों से"—ये शब्द पंतजी के ही हैं और उनका उल्लेख है बच्चनजी के लेख में।

स्वयं बच्चनजी ने 'वसुधा' नामकरण की घटना का उल्लेख करने के बाद उसी भूमिका में लिखा है—"पंतजी उच्च आकाश की आभा का परित्याग कर पृथ्वी पर उतर पड़े थे।" इस गंगावतरण का जितना विज्ञापन 'रूपाभ' के वक्तव्यों में, बच्चनजी की भूमिका में तथा इस कोटि के अन्य गद्य-पद्य में है, उतना प्रगतिवादियों के नेता-निर्वाचन में नहीं। स्वयं पंतजी ग्राम्या-काल में अपने विचारों को साम्यवादी कहते और मानते थे, यह बच्चनजी के वक्तव्य से प्रमाणित है।

बच्चनजी ने ठीक लिखा है कि पंतजी की रचनाओं में "ऊपरी ऐसा बहुत कुछ था" कि प्रगतिवादी उससे फायदा उठा सकते थे। दरअसल उनकी नजर थी मलाई पर, खुरचन हाथ लगी सिर्फ बच्चनजी के!

कहने का मतलब यह है कि छायावाद-काल में पंतजी लोकप्रिय थे ही, "जब हिन्दी कविता में नया आन्दोलन चला, तब भी उसका नेतृत्व लोग पंत को ही दे रहे थे।" निरालाजी के हाथ लगा क्षोभ यद्यपि—पुनः बच्चनजी के स्मरणीय शब्दों में—"निराला के व्यक्तित्व का एक पक्ष तो उस समय से प्रगतिवादी था, जब प्रगतिवादियों का जन्म भी नहीं हुआ था।" अर्थात् जब 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' के नये साम्यवादी कवि का भी जन्म न हुआ था।

बच्चनजी ने प्रमाणस्वरूप निरालाजी की 'अधिवास' कविता की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। बच्चनजी के वक्तव्य से जो निष्कर्ष निकलता है, उसे स्वीकार करने में किसी को जरा भी हिचक न

होनी चाहिये। निष्कर्ष यह कि हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा की जड़ें इस देश की धरती में वहुत गहरी चली गई हैं। निराला प्रगतिवाद और प्रगतिवादियों के लिए पिता के समान थे। प्रत्येक प्रगतिशील लेखक को इस बात पर गर्व होगा कि निराला उस समय प्रगतिवादी थे जब प्रगतिवादियों का जन्म भी न हुआ था।

यदि कोई कहे कि 'अधिवास' में निरालाजी ने जिस करुणा को व्यक्त किया है, वह प्रगतिवाद की तरह संकुचित नहीं है, उसका व्यापक आधार है, तो मैं कहूँगा कि व्यापक मानव करुणा और क्रान्ति के आह्वान में, परस्पर विरोध होना तो दूर, दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं। व्यापक मानव करुणा के विना क्रान्तिकारीपन उच्छृंखलता और आतंक का रूप ले लेता है और क्रान्ति से विमुख होने वाली करुणा थोथी भावुकता का रूप ले लेती है। इसीलिए जिस निराला ने एक दुखी को देख कर उसे गले लगाने की वात कही थी, उसी ने 'बादल राग' में क्रान्ति का आह्वान भी किया था—

भय के मायामय आँगन में
बरसो विप्लव के नव जलधर।

यदि कोई कहे कि यह विप्लव वेदान्त का प्रतीक है, निराला ने मायारूपी संसार पर विजय पाने की बात लिखी है, तो विप्लवी बादल की ओर हाथ उठाने वाले दीन कृषक के चित्र की ओर संकेत कर देना काफी होगा—

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!

निरालाजी को एक ओर जहाँ स्वाधीनता और सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में क्रान्तिकारी चेतना प्रेरित करती थी, वहाँ दूसरी ओर जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने की कामना भी उन्हें साहित्य-सेवा की प्रेरणा देती थी। वच्चनजी के लिए न 'निराला जी' की क्रान्तिकारी भावना का विशेष महत्त्व है, न उनके मुक्त छंद का, न उनके हिन्दी-प्रेम का। 'परिमल' की भूमिका की चर्चा करते हुए वच्चनजी ने लिखा है—"भूमिका में निराला ने दो बातों पर विशेष बल दिया था—हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने के लिए साहित्यिक पौरुष की और भावी कविता के लिए मुक्त छंद अपनाने की आवश्यकता पर। कविता का जीवन से जो सम्बन्ध मेरी कल्पना में उस समय था और शायद आज भी है, उसमें ये दोनों प्रश्न गौण थे।"

वच्चनजी साहित्य और जीवन का जो सम्बन्ध समझते रहे हैं, वह उनकी कविताओं से स्पष्ट है। उनके काव्य का जितना सम्बन्ध मृत्यु से है, उतना जीवन से नहीं। इसलिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा वनाने के लिए साहित्यिक पौरुष की बात उनकी समझ में न आये तो आश्चर्य ही क्या! निराला जी अपना और अपनी पीढ़ी के साहित्यकारों का सम्बन्ध सीधे भारतन्दु हरिश्चन्द्र से जोड़ते थे। १९५० में भारतेन्दु जन्म-शती के अवसर पर भाषण करते हुए निरालाजी ने प्रयाग में कहा था—"मैं उनके दरबार का एक दरवान मात्र हूँ।" ('भारत', १८ सितम्बर १९५०)

देखिये, निराला की अहम्मन्यता ! अपने आगे किसी को गिनते न थे। अपने को भारतेन्दु के दरवार का दरबान कह रहे थे।

अव सुशिक्षित अभिनव आलोचक बच्चनजी का मत देखिये। बच्चनजी का विचार है कि भारतेन्दु और उनके साथियों ने पुनर्जागरण के गीत जरूर गाये लेकिन संकीर्णता से निकल न पाये। "वे अपनी बात समस्त राष्ट्र से नहीं कह रहे हैं, उसके एक वर्ग से कह रहे हैं।" अर्थात् वे केवल हिन्दुओं को हिन्दू जागरण का सन्देश दे रहे थे। उसका कारण यह है। "क्या यह बताने की आवश्यकता है कि हिन्दी को उस समय कौन पढ़ता था ?" अर्थात् हिन्दी केवल हिन्दू पढ़ते थे, इसलिए भारतेन्दु ने केवल हिन्दुओं के हित में साहित्य रचा ! और वह हिन्दू पुनर्जागरण कैसा है ? "फिर भी उस संकीर्णता के कारण वहुत कुछ ऐसा लिखा गया है जो साँप निकल जाने पर बाँबी पीटने के समान है।" अर्थात्—-प्राचीन गौरव का साँप निकल जाने पर भारतन्दु वाँबी पीट रहे थे ! (देखिये, 'नये-पुराने झरोखे', पृष्ट० ११८)

यहाँ उद्धरण देकर यह सिद्ध करना आवश्यक नहीं कि भारतेन्दु ने सचमुच राष्ट्रीय साहित्य का सृजन किया था। बच्चनजी उनके साहित्य को राष्ट्रीय नहीं मानते तो न मानें। इससे स्वयं उनकी राष्ट्रीयता संदिग्ध हो सकती है, भारतेन्दु की नहीं।

निराला ने हिन्दी भाषा और साहित्य को जो कुछ दिया, उसका मूल्य आँकने में वच्चनजी कितने समर्थ हैं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनके लिए भारतेन्दु और उस युग के अन्य महान् लेखक हिन्दू संकीर्णतावाद के प्रचारक हैं।

उनकी सबसे वड़ी खोज यह है कि निरालजी ने 'कुकुरमुत्ता' कविता पन्तजी के विरुद्ध लिखी है। इसका प्रमाण यह है कि निरालाजी ने 'ज्योत्सना' की भूमिका में पन्तजी को काव्योपवन में खिला हुआ गुलाब कहा था। 'कुकुरमुत्ता' में गुलाब को खानदानी हरामी कहकर गालियाँ दी गई हैं। इन गालियों का असर पन्तजी पर भी पड़ा यद्यपि असर पड़ने में कुछ वर्ष जरूर लगे। 'कुकुरमुत्ता' का पहला हिस्सा 'हंस' में छपा था, मई १९४१ में। उसी में गुलाब को गलियाँ दी गई थीं। बच्चनजी के अनुसार पन्तजी बीमार पड़े १९४३ में। आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक ! गालियों का असर डेढ़ दो साल में ही हो गया, काफी जल्दी हुआ।

निरालाजी ने गुलाब का बहुत जगह वर्णन किया है। 'कुकुरमुत्ता' लिखने के वाद शायद उन्हें पन्तजी पर तरस आ गया, इसलिए अनेक कविताओं और गद्य में भी गुलाब का वर्णन करने लगे। 'अणिमा' की एक बँगला कविता में "तोमार चोखे-मुखे गोलाप फोटे" लिखकर उन्होंने एक महिला के मुख और नेत्रों में पन्तजी को खिला दिया है। प्रसादजी के निधन पर निरालाजी ने जो कविता लिखी थी, उसमें 'गुलाब कवि' पर बच्चनजी की नजर नहीं गई ! यहाँ तो गुलाब के साथ कवि शब्द भी जुड़ा है। पन्तजी की ओर संकेत होने में कोई संदेह न होना चाहिए।

प्रसादजी की विजयध्वजा लेकर आगे बढ़ने वालों में निराला ने सबसे पहले पन्तजी का नाम लिया है—

"हे चतुरंग तुम्हारी विजयध्वजा धारण कर,
खड़े सुमित्रानन्दन, देवी, मोहन, दिनकर
माखनलाल, नवीन, भगवती,"

इस विजयध्वजा को लेकर आगे बढ़ने वाले से निरालाजी को इतनी घृणा थी कि गुलाब के बहाने उन्होंने उसे अत्यन्त ग्राम्य और असभ्य हरामी आदि गालियाँ दीं ! यह सोचना-समझना बच्चनजी के ही योग्य है।

पन्तजी गुलाब थे और बच्चनजी की राय में "निराला का प्रतीक कुकुरमुत्ता था, निराला ही कुकुरमुत्ता थे।" इस कुकुरमुत्ते का कबाब बन जाता है और खा भी डाला जाता है ! कितना सुन्दर प्रतीकवाद है !

शौक से लेकर सवाद,
खाती रहीं दोनों
कुकुरमुत्ते का कलिया–कबाब !

निरालाजी ने गुलाब को गालियां दीं और अपने को कुकुरमुत्ता मानकर महान् घोषित किया ! मेरा विचार है, बच्चनजी ने 'कुकुरमुत्ता' का वही अंश पढ़ा है जहाँ गुलाब को गालियाँ दी गई हैं। निरालाजी ने कहीं कुकुरमुत्ते को भी गाली दी है, इसकी भनक भी उनके कान में नहीं पड़ी।

सच समझ जैसे रकीब,
लेखकों में लंठ जैसे खुशनसीब।

बच्चनजी के विचार से यह सब निरालाजी ने अपनी तारीफ में लिखा है। एक कवि का जिक्र और है—

कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर
टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा,
पढ़ने वालों ने भी जिगर पर रखकर
हाथ कहा, लिख दिया जहाँ सारा।

बच्चनजी के विचार से यहाँ निरालाजी अपनी काव्य-कला की विशेषताएँ बता रहे हैं। और भी नये पुराने कवियों का उल्लेख है—

मुझी में गोते लगाये वाल्मीकि व्यास ने,
मुझी से पोथे निकाले भास-कालिदास ने;
टुकुर-टुकुर देखा किये मेरे ही किनारे खड़े
हाफिज रवीन्द्र जैसे विश्व कवि बड़े बड़े।

बच्चनजी के विचार से निरालाजी कुकुरमुत्ता के बहाने आत्म-प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं कि उनका जन्म वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि सभी से पहले हुआ था और उन्होंने अपने काव्य

की सामग्री निराला-साहित्य पढ़कर ही प्राप्त की थी। देखिये, कहता है न कुकुरमुत्ता—"मुझी से पोथे निकाले भास कालिदास ने !"

वच्चनजी प्रतिभाशाली पहले भी थे। जब से विलायत में रिसर्च करके सरकारी नौकर हुए हैं, तब से प्रतिभा के साथ उनका आत्म-विश्वास भी वढ़ गया है। इसलिये पहले यदि कहते थे कि निरालाजी व्यक्तिगत मानापमान की भावना से परे हैं, तो अब कहते हैं कि वह अहंमन्यता के प्रतीक थे। अब उनकी मर्मभेदी दृष्टि गुलाब में पन्तजी को और कुकुरमुत्ता में निरालाजी को देखती है। उन्हें तुलसीदास, देव, पद्माकर आदि का सँवारा हुआ कवित्त छन्द विदेशी जान पड़ता है और निराला के काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व वे मालूम होते हैं जिनका सम्बन्ध उनकी दृष्टि में बंगाल से है। भारतेन्दु जैसे सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत उन्हें संकीर्णतावाद-ग्रस्त जान पड़ते हैं। आश्चर्य नहीं, कुछ दिन में उन्हें शेक्सपियर, मिल्टन आदि भी महज ईसाइयों के लिए लिखने वाले सम्प्रदायवादी कवि दिखाई देने लगें।

जिन्हें गुलाब की गन्ध से घृणा है और जिनका रसोबोध कुकुरमुत्ते के कबाब तक सीमित है, उनका वर्णन निरालाजी ने इस प्रकार किया है—

चली गोली आगे जैसे डिक्टेटर,
बहार उसके पीछे जैसे भुक्खड़ फालोअर,
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
आधुनिक पोएट !

निराला-साहित्य के विरोधियों का जलूस कुछ-कुछ इसी तरह का है।



श्री विश्वम्भर 'मानव'

निराला के काव्य में पत्नी और प्रेयसी-भाव

प्रेम एक आदिम वृत्ति है। मनुष्य के प्रेम का संबंध इसीलिए किसी भी वस्तु से हो सकता है जैसे पुस्तक, पुष्प और पशु-पक्षी से लेकिन जैसे-जैसे यह भाव जड़ से चेतन की ओर विकसित होता है, वैसे ही वैसे वह जटिल और मधुरतर होता जाता है। सारा अंतर प्रतिदान की सम्भावना पर निर्भर करता है। जड़ वस्तुओं से हम कितना ही प्रेम क्यों न करें, वह विशेष स्फूर्तिदायी नहीं होता। जड़ वस्तुएं हमारे संबंध में क्या सोचती हैं, इसका पता हमें नहीं चलता, क्योंकि उनके हृदय नहीं होता। अन्य वस्तुएं अपनी चेतना के अनुसार हमारी भावना का कुछ न कुछ प्रत्युत्तर देती ही रहती हैं। संसार के सभी देशों में ऐसे लोग रहे हैं जिन्होंने अपने कुत्ते, घोड़े या बिल्ली को जीवन-व्यापी प्रेम दिया है; पर मनुष्य-मनुष्य के बीच की बात ही दूसरी है।

हिंदी-काव्य में प्रेम अपने लौकिक रूप में भी पाया जाता है और अलौकिक रूप में भी। लौकिक प्रेम में वीरगाथा-काल का तीव्र भाव है जिसकी पूर्ति के लिए नायक-नायिका जीवन के सभी संकटों को मोल लेने के लिए तत्पर रहते हैं और समय उपस्थित होने पर प्राणों की बाजी लगा देते हैं। खुली प्रकृति में उत्साह के इस परिचय के कारण रोमांस में एक विचित्र प्रकार की 'थ्रिल' की अनुभूति होती है। रीतिकालीन प्रेम का एक व्यक्तिगत रूप भी है जिसका आभास बोधा, ठाकुर, आलम, घनानंद आदि की कविता से मिलता है; दूसरा, रूढ़िबद्ध नायिकाभेद-संबंधी स्वरूप है जो बिहारी, देव, पद्माकर, मतिराम आदि की रचनाओं में झलकता है। यहाँ नायिका विशिष्ट नहीं, सामान्य नारी है। नारी के यहाँ अलग-अलग 'टाइप' हैं। उसे जो अनेक श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया है, उसी के आधार पर वह पहचानी जाती है। आधुनिक-काव्य में लौकिक-प्रेम की स्वीकृति यों 'बच्चन' जी से ही प्रारंभ हो गयी थी; पर उसे ठीक से अभिव्यक्ति मिली 'अज्ञेय' के काव्य में। 'बच्चन' का प्रेम बहुत कुछ स्वकीया के प्रति है। उनका 'निशा-निमंत्रण' हिंदी की सबसे बड़ी शोक-गीति है; पर है वह अपनी पत्नी के प्रति ही। विलास के क्षेत्र में यही दशा 'मिलन-यामिनी' की है। रोमांस को एक स्वाभाविक वृत्ति के रूप में उत्तर छाया-वाद-काल में ही स्वीकार किया गया और अब तो प्रेम एकदम व्यक्तिगत स्तर पर उतर आया है। अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति भक्ति-काल में हुई। इसमें एक ओर निर्गुण-काव्य है, दूसरी ओर सगुण-काव्य; एक ओर रहस्यवादी काव्य है, दूसरी ओर भक्ति-काव्य। इस काव्य की उच्चता, पवित्रता और मधुरता बेजोड़ है।

लौकिक और अलौकिक दोनों से भिन्न एक इस प्रकार का प्रेम-काव्य भी है जिसे दोनों के

मध्य रखा जा सकता है। राधा-कृष्ण के नाम की ओट में व्यक्त होने वाला ढेर सारा रीतिकालीन काव्य ऐसा ही है। एक आड़ सिद्ध-काव्य ने भी कभी ली थी जिसमें नग्नता के ऊपर धर्म का झीना आवरण था। एक तीसरी कोटि में आधुनिक काव्य की वह धारा समझनी चाहिए जिसका प्रेम-पात्र निर्दिष्ट नहीं है, जहाँ यह पता ही नहीं चलता कि भावना लौकिक के प्रति है अथवा अलौकिक के प्रति। छायावाद-युग में प्रेम की यही मिली-जुली अनुभूति पायी जाती है। केवल महादेवी जी का काव्य इसका अपवाद है।

प्रसाद, निराला, पंत तीनों कवियों की प्रेम-संबंधी परिस्थितियाँ भिन्न कोटि की रही हैं, यही कारण है कि अभिव्यक्तियाँ भी भिन्न प्रकार की हैं; फिर भी व्यक्तिगत प्रेम के संबंध में इन कवियों ने बहुत कहा है। इस वर्णन में मांसलता है—सबसे अधिक 'प्रसाद' में। प्रेम के ये वर्णन अति-शयोक्ति पूर्ण हैं। 'प्रसाद' के 'आँसू' और पंत की 'ग्रंथि' में विरह का दुःख अपने अतिरंजित रूप में ही पाया जाता है। लेकिन इन कवियों की ऐन्द्रियता और अतिरंजना में भी एक प्रकार की गंभी-रता है। उसका एक कारण तो यह है कि अपनी उद्दाम-भावना को ये धीरे-धीरे सूक्ष्मता की परिधि तक विस्तृत कर देते हैं; दूसरे, सौंदर्य के प्रति ललक को इन्होंने कल्पना के आवरण में ऐसा छिपा दिया है कि वह धीरे-धीरे धुँधली और अस्पष्ट हो उठती है। कहने का तात्पर्य यह कि मन की तीव्रता को एक ओर गंभीरता, दूसरी ओर सूक्ष्मता, तीसरी ओर कल्पना और चौथी ओर अस्पष्टता की दिशा में लेजाने से वह रहस्यमय हो उठी है। इसीसे छायावादी-युग का प्रेम भी बस छायावादी ही है।

'निराला' जी के संबंध में कुछ लोगों ने जो यह प्रचारित करने का प्रयत्न किया है कि उनके प्रेम का लक्ष्य उनकी सुन्दर पत्नी ही थी, वह सत्य से बहुत दूर है। पत्नी के प्रति भी उनका भाव उमड़ कर वहा है—पर कम। जैसे सभी का, वैसे निराला का अंतर भी स्वच्छंद प्रेम के माधुर्य से परिपूरित रहा है, यह उनके वर्णनों से एकदम स्पष्ट हो जाता है।

ऐसा सुना जाता है कि 'निराला' की पत्नी सुन्दरी और गुणवती थीं और ये उनकी ओर आकर्षित भी बहुत थे। खड़ीबोली की कविता की ओर इनका झुकाव उन्हीं की प्रेरणा से हुआ। उनके आकर्षण के कारण ये प्रायः ससुराल चले जाते थे। कुछ दिन वे गढ़ाकोला और कलकत्ते में भी रहीं। 'गीतिका' का भावपूर्ण समर्पण उन्हीं के लिए है। इस समर्पण के आधार पर कुछ लेखकों ने निराला जी की प्रेम-संबंधी रचनाओं के पीछे उनकी पत्नी के व्यक्तित्व के प्रभाव को मान्यता दी है। समर्पण की भाषा सामान्य रूप से उच्छ्वसित कोटि की होती है। उससे धोखे में आने की आवश्यकता नहीं है। विवाह के समय इनकी पत्नी की अवस्था बारह वर्ष की थी और अठारह वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु होगयी। वे एक गाँव की रहने वाली थीं। निराला ने १९१६ में ही 'जुही की कली' जैसी रचना प्रस्तुत की थी; अतः संभव है प्रारंभ में उनकी कोई बात चुभ गयी हो; लेकिन दोनों के व्यक्तित्व में बहुत अंतर था। कुछ लोगों ने उनकी तुलना कालिदास की पत्नी विद्योत्तमा और तुलसी की सहधर्मिणी रत्नावली से जो की है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है। फिर भी 'निराला' अपनी पत्नी को बहुत प्रेम करते थे, इसका आभास 'कुल्ली भाट' से लगता है।

'प्रिया के प्रति' एक रचना 'परिमल' में है। इसमें उनकी मृत्यु के उपरांत वे उन्हें स्मरण करते हैं। जानना चाहते हैं, परलोक में वे सुख में हैं अथवा दुख में ? इसमें मृत्यु के परे जीवन के प्रति जिज्ञासा के साथ वियोग की व्यथा का वर्णन बहुत मार्मिक बन पड़ा है। हृदय की उज्ज्वलता के आधार पर भावनाओं की पूरी उच्चता यहाँ प्रदर्शित हुई है। आत्म-निवेदन की भाषा अत्यंत संयमित है। कहने से अधिक यहाँ कुछ न कहना ही अधिक मर्मस्पर्शी हो उठा है—

एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जातीं तुम,
एक बार भी प्राणों की
तम-छाया में आ कह जातीं तुम,
सत्य हृदय का अपना हाल,
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल।
मैं न कभी कुछ कहता,
बस, तुम्हें देखता रहता।
क्या तुम व्याकुल होतीं ?
मेरे दुख पर रोतीं ?
मेरे नयनों में न अश्रु प्रिय आता;
मौन दृष्टि का मेरा चिर अपनाव
अपना चिर निर्मल अंतर दिखलाता।

'मरण दृश्य' शीर्षक रचना भी पत्नी से संबंधित बतलायी जाती है। इसमें प्रिया की ओर से यह पश्चाताप प्रकट किया गया है कि उसने अपने प्रियतम को दुःख ही दुःख दिया। फिर भी उसकी इच्छा है कि वे नित्य नवीन गीतों का सृजन करें। जहाँ तक उसका संबंध है, वह मृत्यु को वरण कर उन्हें मुक्त कर जायगी। इस प्रकार अतीत की मधुरता से वर्तमान जीवन की कटुता की तुलना करते हुए कवि मृत्यु में भी एक अभिप्राय खोज लेता है—

दिये थे जो स्नेह-चुम्बन,
आज प्याले गरल के घन;
कह रही हो हँस—"पियो, प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय !
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आई हुई, न डरो।"

निराला की पत्नी की मृत्यु १८ वर्ष की अवस्था में ही अपने नैहर डलमऊ में हो गयी थी।

उस समय वे कलकत्ते में थे। उन्हें तार से सूचना दी गयी थी; लेकिन उनके आने के पूर्व ही वे चल बसीं। अंतिम भेंट उनसे नहीं हो पायी। कहने का तात्पर्य यह कि कवि अपनी पत्नी की रुग्णावस्था में अथवा उसकी मृत्यु-शय्या के निकट नहीं था। अतः यह घटना तथ्य पर आधारित नहीं है। लेकिन काव्य का सत्य एक भिन्न ही प्रकार का होता है। इस विवशता की वेदना उन्हें बराबर कसकती रही होगी। इसी से संभव है ऐसी कल्पना उन्होंने की हो कि यदि वे मृत्यु के समय उनके पास होते, तो वे क्या कहतीं। यह भाव बीस वर्ष तक कवि के हृदय में पकता रहा और उसकी अभिव्यक्ति सन् १९३८ में हुई। स्मृति में आई हुई यह कल्पना सत्य से कम मार्मिक नहीं।

स्वच्छंद प्रेम का इतिहास भिन्न प्रकार का है। उदाहरण के लिए 'परिमल' की 'स्मृति चुंबन' कविता को लें। इसमें यौवन-काल के चुंबनों की स्मृति रक्षित है--

बालिकाएँ मेरे संग की कुमारियाँ
शिथिल कर देह
बह जातीं अविराम
कहाँ जाने किस देश में ! --
इंगित कर मुझको
बुलाती थीं बार - बार
प्यार ही प्यार का
चुम्बन - संसार था।

इस रचना में किशोरावस्था की समाप्ति पर एक ऐसे सुख के परिवेश का वर्णन है जिसमें कवि सुंदरी बालिकाओं से घिरा हुआ है। भावनाओं के इस राज्य में प्रेम का आलोक निरंतर झरकर आनंद के फूल खिलाता रहता है। यहाँ सोने के दिन हैं, चाँदी की रातें। भावों के आदान-प्रदान की तुलना कवि ने प्रकृति के जीवन से की है--जैसे किरणें पुष्पों के अधर चूमती हैं, जैसे निर्झर सरिता से जा मिलते हैं, जैसे विहंग आकाश में उड़ते रहते हैं। इस प्रकार मुक्त वातावरण में भावनाओं का खेल मुक्त रूप से चल रहा है। यह दूसरी बात है कि इन कुमारियों में से कवि का झुकाव एक की ओर विशेष रूप से है जिसे वह अपने यौवन-वन की शकुंतला बतलाता है; लेकिन वर्णन यह लौकिक है और इसमें लालसा का प्राधान्य है। हमारा अनुमान है कि बंगाल के प्रवास-काल की कोई मधुर स्मृत्ति कवि को 'हॉन्ट' कर रही है--

देखा एक अपर लोक
रोम-रोम में समाई जहाँ
चुम्बन की लालसा,
ज्योति नयन-ज्योति से
पलकों से पलक मिले,
अधरों से अधर,

कण्ठ कण्ठ से लगा हुआ,
बाहुओं से बाहु,
प्राण प्राण से मिले हुए।

परिमल की 'स्मृति-चुंबन' की टक्कर में अनामिका की 'प्रेयसी' शीर्षक रचना रखी जा सकती है जिसमें भाव नारी को ओर से व्यक्त हुआ है। यहाँ भी प्रथम दर्शन उपवन में होता है। देखते ही वह अपने प्राण उसे सौंप देती है। लेकिन कुल, शील और धर्म की मर्यादा उसे कुछ कहने से रोकती है और वह चुप लौट जाती है। एक दिन युवक उसके द्वार पर पहुँचता है। संयोग से घर के सब प्राणी उस समय अपने काम पर गए हैं। युवक उसे पुकारता है। युवती उस पुकार को अनसुनी नहीं कर पाती। दोनों एक दूसरे का हाथ अपने हाथ में लेते हैं और पुरानी भूल का सुधार करते हैं। युवक उस रूप-माधुरी का पान कर न जाने कितनी बार तृप्ति का अनुभव करता है। युवती को लगता है कि प्रेम से बड़ा और कुछ नहीं है, यहाँ तक कि उसके लिए जाति और धर्म के बंधन भी तोड़े जा सकते हैं—

दोनों हम भिन्न वर्ण,
भिन्न जाति, भिन्न रूप,
भिन्न धर्म-भाव, पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।
किंतु एक रात का,
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दर्य से बन्धन स्वर्गीय है।

'रेखा' में भी प्रेम के उदय, विकास और प्राप्ति की कहानी कही गयी है। यौवन के आगमन पर जैसे सभी एक प्रकार की विह्वलता का अनुभव करते हैं, जैसे सभी प्रतीक्षा करते हैं, जैसे सभी किसी से मिलन के लिए आतुर रहते हैं, यही दशा कवि की है। कवि के प्रति जो भी झुकाव का अनुभव करता है, उसका स्वागत वह करता है और एक दिन ऐसा भी आता है कि अपने प्रणय के लक्ष्य से उसकी भेंट होती है। उसका सामना होते ही भावों की सारी सम्पत्ति वह उसके चरणों पर उँडेल देता है और जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है—

अंत में
मेरी ध्रुवतारा तुम
प्रसरित दिगंत में
अंत में लाईं मुझे
सीमा में दीखी असीमता—
एक स्थिर ज्योति में
अपनी अबाधता—
परिचय निज पथ का स्थिर।

ये तीनों ही कविताएं लंबी, वर्णनात्मक और अतीत की घटनाओं पर आश्रित हैं। तीनों में ही यौवन का वर्णन है, तीनों ही प्रेम-भाव को प्रस्फुटित करती हैं, तीनों ही कामना से प्रणय की अनन्यता की ओर मुड़ जाती हैं। इन रचनाओं से कोई निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा; पर इतना तो स्पष्ट ही है कि अतीत में कहीं कोई था जो कवि के दृष्टि-पथ में बार-बार उदित होकर उसके भाव-जगत को आंदोलित कर जाता है। वर्णनों से यह भी स्पष्ट है कि वह कोई भी क्यों न हो, कवि की पत्नी नहीं है।

जहाँ तक प्रेम के व्यवहार-पक्ष का संबंध है, निराला के काव्य में कहना-सुनना बहुत कम है। सम्पर्क स्थापित हो गया, दोनों आकर्षित होकर एक दूसरे के निकट आ गए, यही बहुत है। इससे अधिक और क्या चाहिए ? वह मौन रहकर ही प्रेम की मधुरता का अनुभव करना चाहता है। वाचालता उसे पसंद नहीं, इसी से वह कहता है—

बैठ लें कुछ देर
आओ, एक पथ के पथिक से।
मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में
मन सरलता की बाढ़ में
जल-बिन्दु-सा बह जाय।

सभी कवियों के समान निराला ने अपनी प्रेमिका के अनुपम लावण्य का वर्णन किया है। लावण्यमयी होने के साथ वह लज्जावती है। इस लाज के कारण ही तो वह मिल नहीं पाती। लेकिन जब मिलन होता है तो यह कांति और यह लज्जा भोग की मनोवृत्तियाँ, क्रियाओं और चेष्टाओं को रसभीनी कलाकारिता प्रदान करती हैं। संयोग-काल के इस चित्र को देखिए—

स्पर्श से लाज लगी,
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव राग जगी।
चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख छल,
कभी हास, फिर त्रास, सांस बल
उर - सरिता उमगी।

लौकिक-प्रेम में एक ऐसी स्थिति आती है जब प्रणयी लोग शरीर को बीच में डालकर सुख का अनुभव करते हैं। किसी प्रकार की बाधा या विवशता हो तो दूसरी बात है, नहीं तो प्रेम में शरीर को बचाना बहुत कठिन काम है। निराला के होली वाले गीत में ऐसा वर्णन भी

पाया जाता है, जहाँ हमारी सभी इंद्रियाँ तृप्ति का अनुभव करती हैं। संकोच के कारण हम उसे उद्धृत नहीं कर पा रहे हैं।

लेकिन जीवन में किसी को भी स्थायी रूप से बाँधकर नहीं रखा जा सकता। विरह की एक स्थिति वह है जो आशंका से उत्पन्न होती है। जब कोई व्यक्ति किसी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठता है, तो पल भर के लिए भी उसका वियोग सहन नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि संयोग-काल में भी यह डर लगा रहता है कि किसी दिन यह स्थिति बदल न जाय——यह व्यक्ति बदल न जाय। दूर तो होना ही है; लेकिन किसी दिन उसका प्रेमास्पद कितनी दूर हो जायगा, इसका अनुमान प्रेमी को प्रायः नहीं होता। ऐसी ही एक आशंका का वर्णन निराला जी ने 'परिमल' में किया है——

> फिर किधर को हम बहेंगे,
> तुम किधर होगे,
> कौन जाने फिर सहारा
> तुम किसे दोगे?
> हम अगर बहते मिले,
> क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते?
> या अपरिचित खोल प्रिय चितवन
> मगन बह जावगे पल में
> परमप्रिय-संग अतल जल में?

इनके काव्य में प्रेम कहीं पुरुष के माध्यम से व्यक्त हुआ है, कहीं नारी के माध्यम से। नारी की ओर से जो भाव व्यक्त किए गए हैं उनमें आकर्षण, अनन्यता, अनुनय, प्रतीक्षा और समर्पण का प्राधान्य है। पुरुष की ओर से जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है उनमें एक ओर अगाध तृप्ति है, दूसरी ओर गहरा असंतोष, बीच में विरह है। अंत में स्मृति का आधार रह गया है। कुल मिलाकर प्रेम यहाँ एक महती प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया गया है।



प्रोफेसर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

भुवन-व्यापिनी भुवन-मोहिनी आत्मा

निरालाजी से मेरा परिचय आज से ३४ वर्ष पुराना था। उनके निकट आने और उनका स्नेह पाने का सौभाग्य मुझे उस समय मिला था, जब मैं १३-१४ वर्ष का था। मेरे पूज्य पिताजी (स्व०) पं० मातादीन शुक्ल (भूतपूर्व 'माधुरी' संपादक) निराला जी के पुराने मित्र थे। हमारे गांव में निराला जी की दिवंगता पत्नी की ननिहाल थी और इस नाते उनका वहां आना-जाना बहुत शुरू से था। निराला जी की दिवंगता पत्नी के सबसे बड़े मामा स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद जी मेरे प्रथम गुरु थे। उन्होंने मेरा पट्टिका-पूजन कराया था। सारे गांव में वे व्यास जी के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके स्वाभिमान, साधुता और अध्ययनशीलता के कारण सब लोग उनका बड़ा आदर करते थे। पिताजी से और उनसे निराला जी की प्रतिभा, फक्कड़पन और मल्लोचित आत्म-शक्ति की चर्चा सुन-सुन कर मैं मन ही मन निराला जी के प्रति बड़ी श्रद्धा करने लगा था। सबसे पहले मैंने निराला जी को 'तुम और मैं' शीर्षक कविता कलकत्ता से प्रकाशित 'साहित्य प्रभाकर' नामक संकलन में पढ़ी थी, जिसे 'लोकमान्य' के संचालक-संपादक पंडित रामशंकर त्रिपाठी ने संपादित किया था। यह सन १९२६ की बात है। मेरे पिता जी मध्य-प्रदेश में पत्रकारिता और अध्यापन-कार्य छोड़कर 'माधुरी' के संपादन विभाग में आ चुके थे। मेरी अवस्था उस समय ११ वर्ष से अधिक न थी। कवि की इस सुन्दर कविता का अर्थ उस समय मैं पूरे तौर पर क्या समझ सकता था! पर उसकी कोमलकान्त पदावली, संगीत की लयमयता और जोर-जोर से गाकर पढ़ने पर उसका नाद-सौन्दर्य मुझे इतना भाया और मैंने उसे इतनी बार पढ़ा कि वह मुझे याद हो गई। उसका दार्शनिक अन्तरस्थ और अर्थ-गौरव तो मैं उस समय समझा, जब यूनिवरसिटी में पढ़ते समय मैंने उसे एक हाईस्कूल की परीक्षा के छात्र को समझाने के लिए भली प्रकार तैयार किया। पर ११ वर्ष की अवस्था में भी उसकी पंक्तियों को पढ़कर मैं झूमता रहता था:—

तुम दिनकर के खर किरण जाल, मैं सरसिज की मुस्कान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥

०० ०० ००

तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥

०० ०० ००

तुम आशा के मधुमास और मैं पिक कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान।।

मुझे याद है उन्हीं गरमियों में मेरे फूफा पं० देवदत्त मिश्र (एम० एल० ए० उत्तर प्रदेश) लखनऊ आये थे। एक दिन उनमें और पिता जी में तत्कालीन हिन्दी कविता के विषय में बातचीत हो रही थी। मैंने बड़े गम्भीर भाव से, जैसे, निरालाजी की सारी कविताएं पढ़ चुका हूं, कहा 'निराला जी की सबसे अच्छी कविता 'तुम और मैं' है। पिताजी ने कहा--'तुम क्या जानो निराला जी की कविताओं को। अपनी हैसियत देखो। बड़े-बड़े उन्हें नहीं समझ पाते। उनकी सर्वश्रेष्ठ कविता 'यमुना के प्रति' और 'जूही की कली' है।'

फूफा जी ने भी पिताजी की बात का समर्थन किया। मुझे उसी समय निराला जी की अन्य कविताओं की चाह हो गई। पर, मुझे वे कहां मिलतीं? 'मतवाला' की पुरानी फाइलों का पाना मेरे जैसे बालक के लिए कहां संभव था? 'माधुरी' के परिवर्तन में जो पत्र-पत्रिकायें आती थीं उन्हें मैं प्रतिमास पढ़ता था। पर निराला जी की ये दोनों कविताएं मेरी दृष्टि में नहीं आईं। 'यमुना के प्रति' और 'जूही की कली' शीर्षक कवितायें मुझे उस समय पढ़ने को मिलीं जब, १९२९ में उनका 'परिमल' नामक संग्रह छप रहा था। निराला जी उन दिनों हमारे घर में ही रहते थे। उनके कमरे में जाकर उनकी सारी पुस्तकें उलटने पुलटने, कागजपत्र देखने-सुनने का अधिकार मुझे मिल चुका था।

* * *

'निराला जी के दर्शन पहले-पहल मैंने १९२८ में किये। लखनऊ की बात है। शाम को मैं पिता जी के साथ अमीनाबाद की ओर जा रहा था। सामने से निराला जी दो-तीन साहित्यिकों के साथ चले आ रहे थे। पिता जी को देखते ही लिपट कर बोले--'कहां थे? मैं 'सुधा' आफिस से आ रहा हूं।'

पिता जी उस दिन दफ्तर नहीं गये थे। लखनऊ आने के बाद उनसे निराला-जी की यह पहली भेंट थी। मैं थोड़ा पीछे खड़ा हुआ--सफेद कुर्ता, सफेद धोती और चप्पल पहने, शाम को हल्के नीले रंग का धूप का चश्मा लगाये, बड़े-बड़े बाल वाले इस नवयुग-प्रवर्तक कवि को अपने सामने देख रहा था; जो नव-यौवन के पथपर अग्रसर, मुझ जैसे असंख्य साहित्यिक रुचि रखने वाले किशोरों का 'हीरो' बन चुका था। निराला जी ने मेरी ओर देखा। मैंने उन्हें प्रणाम किया। पहली ही भेंट में मैं उनसे बहुत सी बातें करने का सुयोग पा गया। उनकी चालढाल, बोलचाल और हँसी के ठहाकों में विचित्र अलमस्ती थी। बात करते समय बीच-बीच में एक भेदभरी शून्यता, एक घनीभूत आत्म-विसंज्ञता उनकी आंखों में फैल जाती थी। विद्रोह के अवतार--साहित्य की परम्पराओं को तोड़ कर उन्हें नये रूप में गढ़ने वाले--धैर्य, साहस, त्याग और उदारता की मूर्ति वे मेरे सामने खड़े थे। हाथ में 'सुधा' की नयी प्रति थी जिसमें उनके द्वारा अनूदित बंगला के कवि गोविन्ददास की पदावली के कुछ पद छपे थे। पिता जी ने पूछा--'तुम्हारा सामान कहां है?'

मुझे याद है दार्शनिक की-सी निरासक्तता के साथ उन्होंने कहा था, 'बन्दे के पास सामान कहां ?' इतना कहकर वे बड़े जोर से हँस पड़े। उनके अट्टहास से सारा वातावरण जगमगा उठा।

हम लोग बड़ी देर तक पार्क में बैठे रहे। निरालाजी की बातचीत से मालूम हुआ कि वे गांव में थे, प्रकाशक से रुपये वसूल करने आये थे। शीघ्र ही उनका कलकत्ता लौट जाने का विचार था। अनेक साहित्यिकों और पत्रकारों पर चर्चा होती रही। मैं बैठा सब सुनता रहा। बीच-बीच में अपनी राय देने की पुरानी आदत जोर मारती थी, पर मन मसोसकर रह जाता था, बोलने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। इसके बाद निराला जी कुछ समय के लिए कलकत्ता जरूर लौट गये पर उसके पहले वे हमारे घर आकर रहे और एक-दो लेख लिखकर 'माधुरी' और 'सुधा' में देते गये।

* * *

जहां तक मुझे स्मरण है, इसके एक ही दो वर्ष बाद निराला जी का कार्यक्षेत्र कलकत्ता से बदलकर लखनऊ हो गया था। कुछ समय तक हमारा घर उनका स्थाई निवास बना रहा। 'परिमल' की प्रेस-कापी वे तैयार कर रहे थे। स्फुट लेख और कवितायें भी लिखते थे। उनके अत्यन्त निकट आने और उनके स्नेहपूर्ण हृदय को परखने का अवसर मुझे अब मिला। मैंने उस समय तक कविता लिखना तो नहीं सीखा था, पर साहित्यिक विषयों पर लेख लिखा करता था। अपने कालेज की पत्रिका में छपे अपने दो-तीन लेख मैंने निराला जी को दिखाये। निराला जी ने मेरी भाषा की शुद्धता और विषय की गम्भीरता की प्रशंसा कर दी। यही नहीं, कई बार बड़े बड़े साहित्यिकों के सामने कहा—'यह लड़का बड़ी अच्छी हिन्दी लिखता है।' निरालाजी के मधुर और संगीत में मंजे हुए कंठ से उनकी न जाने कितनी कविताएं सुनने का सुयोग मुझे घर में ही उठते-बैठते अनायास मिलता था। चंडीदास, विद्यापति और गोविन्ददास के पद, रवीन्द्रनाथ के गीत वे उठते-बैठते गाया करते थे। पन्त जी की अनेक कविताएं उन्हें याद थीं, जिन्हें वे छायावादी कविता की कलात्मक सुघरता बताते हुए गा गाकर सुनाते रहते थे।

मुझे याद है, उन्हीं दिनों पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपने त्रैमासिक पत्र 'साहित्य समालोचक' का 'पद्माकर अंक' निकाला था। निरालाजी से उन्होंने पद्माकर की कविता पर लेख मांगा था। मुझे भी पद्माकर की कविताओं का बड़ा चाव था। उनके बहुत से घनाक्षरी सवैये मुझे याद थे। निरालाजी भी पद्माकर की भाषा और सौन्दर्य-चित्रण पर मुग्ध थे। मुझे यह देखकर आश्चर्य और गर्व भी हुआ कि मेरे अनेक प्रिय छंदों को अपने लेख में उद्धृत करते हुए निराला जी ने पद्माकर के सौन्दर्य-वर्णन पर प्रकाश डाला था।

मेरे काव्य-संस्कारों के निर्माण में निराला जी का हाथ है, यह मुझे बराबर लगता रहा है। उन्होंने मेरे जीवन के दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया है। उनका सबसे बड़ा गुण था उनकी निर्भीकता और विचारों की स्वतंत्रता। मैं नहीं कह सकता कि मैं उनके गुणों को कहां तक अपना पाया हूं, पर चेष्टा यही रही कि मेरा सिर केवल वहीं झुके जहां ज्ञान, चरित्र और प्रेरणा का प्रकाश हो। समाज जिन्हें बड़ा मानता है—जिन्हें ऊंचा कहकर आदर, मान और गौरव देता

है, उनके जीवन को निकट से देखकर अधिकतर उनसे घृणा हो जाती है। बनावट और आत्म-छलना पर ही जैसे उनके जीवन की भित्ति होती है। इसके विपरीत निराला जी का जीवन वेदान्ती संतत्व का जीवित उदाहरण था।

निराला जी अब लखनऊ में बस गये थे। महीनों हमारे घर पर रहे। 'परिमल' प्रकाशित हो गया। उसके प्रूफ निरालाजी ने हमारे यहां रहते हुए देखे। उसकी भूमिका हमारे घर पर लिखी गई। उन दिनों हमारा घर साहित्यिक चर्चा का केन्द्र हो रहा था। प्रत्येक समय नवीन और प्राचीन काव्य की आलोचना चलती रहती थी। 'परिमल' की सारी कविताएं मैंने प्रूफ में ही पढ़ डाली थीं। निरालाजी की बहु-प्रशंसित कविता 'यमुना के प्रति' मैंने इन्हीं दिनों पढ़ी। समझ में न आने पर उनसे पूछ लेता था। वे बड़े प्रेम से अर्थ समझा देते थे। उनकी कविताओं में उस समय मुझे बड़ी क्लिष्टता लगती थी। जो क्लिष्ट न थीं वे भी अपनी अधकचरी समझ के कारणं मुझे क्लिष्ट लगती थीं। पन्त जी का 'पल्लव' मैं इसके दो वर्ष पूर्व पूरा पढ़ चुका था। उसकी अधिकांश कविताओं में जो अर्थ की स्पष्टता और रसमयता थी, भावनाओं की निश्छलता की सरल अभिव्यक्ति थी, वह मुझे उस समय 'परिमल' की कविताओं में कम मिलती थी। इस बात को लेकर मैं कभी-कभी निराला जी से उलझ जाता था। आखिर क्यों उनकी कविता दिल पर चोट नहीं करती ? क्यों उसमें अर्थ की ऐसी दुरूहता है ? उसका अभिप्राय समझने में अपनी ओर से इतना प्रयत्न क्यों करना पड़ता है ? आज मुझे अपनी वह कमी अपने में ही समझ में आती है। 'गेटे' का यह वाक्य मुझे बराबर अपनी समझदारी की कमी का बोध देता है––He who would reproach an author for obscurity should look into his own mind to see whether it is quite clear there. In the dusk the plainest writing is illegible.

* * *

निराला जी की बात-बात में तीव्रता, मुखरता और उनके अखण्ड आत्मविश्वास के दर्शन होते थे। आत्मविश्वास उनकी जीवन-साधना का चेतनाधार था। आत्मविश्वास ही उनके निकट परमात्म विश्वास था। उन्होंने जीवन में इतनी विपत्तियां झेलीं थीं, इतने दुख सहे थे कि उनका संघर्ष-साहस और सहनशक्ति चरम सीमा पर पहुंच गए थे। उनकी कविता पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। निराला जी बीच बीच में हमारे घर आते थे, रहते भी थे, उनका आना हमारे परिवार के लिए कोई असाधारण बात नहीं रह गई थी। पर उनके संपर्क में आने वाले उनके व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होते थे। उनका सत्संग, वार्तालाप और काव्य-चर्चा, कविता और कला के सम्बन्ध में उनके मौलिक विचारों के साथ उनका तीक्ष्ण मार्मिक विवेचन चलता ही रहता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे उतने गंभीर नहीं थे, जितने अपने साहित्य में। हास्य और व्यंग की मात्रा उनमें चोटी पर की थी। उनकी सूझ और उनकी युक्तियां सुन-सुनकर बड़ा आनन्द आता था। पर बात करते-करते बीच में एकाएक अपने में खो जाने की – आंखों में–मुखमण्डल पर आकर उसी दार्शनिक शून्यता के भर जाने की बात भी बराबर चलती

रहती थी। आपके साथ घूमने चले जा रहे हैं—बात कर रहे हैं—एकाएक किसी ध्यान में डूब जायेंगे। मुझे बराबर लगता था—कुछ दार्शनिक तथ्य हैं—कुछ अलौकिक प्रकाश हैं, जो बराबर उनकी दृष्टि के सामने झिलमिलाते रहते थे। वे रह रह कर चिंतन की डुबकी में ओझल हो जाते थे। अपने जीवन में वे आदर्शवादी रहे हैं। उनका समस्त जीवन-दर्शन एक उच्च भावात्म-निस्संगता का——सुख दुख के ऊपर उठते रहने की मर्यादा-पुरुषोत्तमता का——आदर्श रहा है। दूसरे लोग आदर्शों को असुविधाजनक पाते ही छोड़ने लगते हैं—निराला जी ने न केवल आदर्शों के प्रति अपनी आस्था नहीं खोई, वरन उन्होंने असफलताओं में भी अपने जीवन की निष्ठाओं और तन्मय-ताओं से उन्हें अनुप्राणित किया है। मैं बराबर देखता था, बीच बीच में आलोचकों की कटुता उपहास-वृत्ति, उनकी कृतियों की पूरे मनोयोग और सहानुभूति के साथ विना पढ़े ही उन पर फतवा दे डालने की प्रवृत्ति, उनके विरुद्ध विरोध संगठित करने की प्रचारक-वृत्ति कवि के हृदय को कष्ट देती थीं। कभी कभी वे आपस की बातचीत में उत्तेजित भी हो उठते थे। पर यह क्षणिक होता था। कुछ समय बाद फिर वही चित्त की शान्ति, प्रसन्नता, विवेक और अपने विश्वासों की शक्ति पर अटूट विश्वास! मनचाही नवीन सृष्टि की रूपरेखा सजाने में फिर पहले जैसा ज्व-लन्त उल्लास!

* * *

निराला जी हेवेट रोड पर एक होटल में रहने लगे थे। मैं तब तक यूनिवर्सिटी में आ गया था। दिनभर हम लोगों का वहां जमघट लगा रहता था। रामरतन भटनागर (अब डाक्टर और सागर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक) गिरीशचन्द्र पन्त (पं० सुमित्रानन्दन पन्त के भतीजे और उस समय के उदीयमान सुकवि) कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' और उनके सुपुत्र स्वर्गीय बुद्धिभद्र दीक्षित, श्री उमाशंकर बाजपेयी 'उमेश', श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' प्रो० पुरुषोत्तमलाल भार्गव आदि उस समय लखनऊ के उदीयमान और उदित कवि-लेखक वहां जमा होते थे। निराला जी सबकी सुनते थे। सबके मतों का आदर करते थे और सभी की रच-नाओं को पढ़कर या सुनकर उन्हें प्रोत्साहित करते थे। बीच-बीच में पं० सुमित्रानन्दन पंत लख-नऊ आकर हफ्तों अपने बड़े भाई साहब के यहां रहते थे। पन्त जी निराला जी से रोज ही मिलते थे। बराबर दोनों युग-प्रवर्तक कवियों में साहित्यिक वाद-विवाद और कविता, कला और संगीत संबंधी मान्यताओं पर, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर बातचीत होती थी। कभी कभी घंटों वार्ता-लाप चलता था और हम लोग मुग्धमन बैठकर यह सब सुनते-गुनते रहते थे। बीच बीच में बोलने और अपनी राय देने की हमें पूर्ण स्वाधीनता थी। पर हम अधिकतर विद्यार्थी थे। तत्कालीन हिन्दी साहित्य और उसकी गति-विधि पर बातें होतीं—तुलसीदास, कालिदास और रवींद्रनाथ पर बातें होतीं—काव्य-कला के नये पुराने रूपों पर विचार होता। पन्त जी के लिए निराला जी के मन में जो अथाह आदर-स्नेह था—उनकी कविताओं के लिए जो मान था, वह उनकी अनुपस्थिति में हम लोगों के सामने व्यक्त होता रहता था। पन्तजी की उपस्थिति में बहस की गर्मी ज्यादा

रहती थी। पन्तजी को वे चाहे जो कहें, पर मजाल नहीं थी कि पन्तजी की कविता की कोई दूसरा अप्रशंसात्मक आलोचना निराला जी के सामने कर सके।

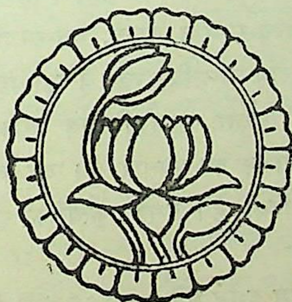
'जब वे हमारे घर पर आकर बैठते थे या पहले रहते थे, तव पिताजी से भी उनकी गर्मा-गरम बहसें चलती थीं। अपनी कविता की खूबियों को स्वयं समझाते-समझाते वे कभी-कभी इतने डूब जाते थे कि दूसरे की बात सुनने या उनकी ओर ध्यान देने की उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती थी। पिताजी व्रजभाषा की कविता और काव्य-दर्शन के समर्थक थे। छायावाद की बहुत सी बातें उन्हें अच्छी न लगती थीं। पर वे साहित्य में नयी-नयी काव्य-शैलियों और चित्रण-प्रणालियों के समर्थक थे। 'सुधा' में जब पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने छायावाद और रहस्यवाद का उपहास और विरोध करते हुए 'पाखंड प्रतिशोध' नाम की कविता लिखी थी, तव पिताजी ने 'सुधा' के दूसरे ही अंक में 'पाखंड परिच्छेद' के नाम से उन्हीं छन्दों में कविता लिखकर शुक्ल जी को उत्तर दिया था। उस समय के अनेक छायावादी और रहस्यवादी कवियों को आचार्य शुक्लजी के आक्षेप अच्छे न लगे थे। पिताजी की कविता पर हार्दिक प्रसन्नता उन सब ने प्रकट की थी। स्वयं निराला जी ने कई बार पिता जी की कविता का अभिमान पूर्वक उल्लेख किया था। पर इतना सब होने पर भी निराला जी द्वारा बताई जानेवाली छायावाद की बहुत सी खूबियों से वे सहमत न थे। छायावादी कविता में जो रूढ़ता आती जा रही थी, वह उन्हें स्वीकार न थी। यह बात मैं १९३१-३३ के आस पास की कह रहा हूं। साहित्य के इतिहास के पाठक जानते हैं कि उसी समय छायावाद की परम्परा ह्रासोन्मुख हो चली थी। कवि सम्मेलनों में जनता छायावादी कवियों के स्वर-माधुर्य से मनोमुग्ध अवश्य होती थी, पर उनके भावों को पकड़ न पाती थी। उनकी कविताओं की तुलना में कानपुर-स्कूल के ठुके-पिट्टे सवैया और घनाक्षरी छन्दों में उसे अधिक रस मिलता था। पिताजी छायावाद की कोमलकान्त पदावली, व्यंजना का लालित्य पसंद करते थे पर अत्यधिक स्वप्नशीलता और आकाशी बातों के स्थान पर उसमें जीवन की यथार्थ अनुभूतियों का संचय चाहते थे। उस समय देश की दशा को देखकर भी उन्हें कविता में पौरुष, विश्वास. दृढ़ता और कर्म की प्रेरणा की अधिक आवश्यकता अनुभव होती थी। निराला जी की कविताओं में भी उनकी सामाजिक-अनुभूतियों वाली और आशा का अदम्य आलोक लेकर चलनेवाली दार्शनिक-प्रकाश से दीप्त कविताएं उन्हें अधिक प्रिय थीं। निरालाजी व्रजभाषा को जीवित काव्यभाषा के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। अक्सर इस विषय में निरालाजी के मत से मेरी सहमति होती थी।

* * *

निरालाजी के साथ मैं इतना अधिक रहा हूं कि उनके संबंध में क्या लिखूं क्या न लिखूं? उनकी उदारता, मन की दर्पमयी दृढ़ता, असंयमित रहन-सहन और आत्माभिमान के ऐसे-ऐसे सहज रूप मैंने देखे हैं, जो असाधारण हैं। उनके मन की निर्विकारता बिलकुल उनकी थी। आप के साथ कड़ा से कड़ा विरोध और गरमागरमी—यहां तक कि बाकायदा झगड़ा——घन्टे दो घन्टे के बाद, वही तटस्थ, उदार दार्शनिक मन। कहीं कोई द्वेष नहीं, कोई कीना नहीं, कोई शिकायत

नहीं। मन क्या था, गंगा के चौड़े पाट का बहता पानी था जो केवल बहना जानता था—बहता ही जाता था। जैसे उनके प्राण केवल स्वप्नलोक की मधुर झंकार लहराना जानते थे और जानते थे अपनी आन्तरिक ममत्वावस्था के सहज स्वाभाविक स्वर। शान्ति के सहज सौन्दर्य के साथ उनका मन एकाकार एकरस हो गया था। क्रोध में आकर उत्तेजित होकर भी वे कल्याणमय भावनाओं में रमे रहते थे। उनका खरे सोने जैसा प्रोज्जवल हृदय संसार में बिरले ही को मिलता है। काव्य-कला-साधना पर उनका अटूट विश्वास था। इसे ही उन्होंने जीवन का ध्येय माना था।

आसक्तियां-विरक्तियां सबके जीवन में होती हैं, पर वे मन की सात्त्विक उदात्त भावना में डूब जायं—सब अपने हो जायं—पराया कोई न रहे, मानवमन की इससे बड़ी परिणति और क्या होगी? संसार की सभी जानी-अनजानी दिशाओं के प्रवाह हृदय के लिए खुल पड़ें—जीवन की भाँति चित्रण की पृष्ठभूमि अधिकाधिक विस्तृत होती जाये, यह कवि के मन की मुक्ति है। निराला जी जगत के मिथ्यात्व को मानते हुए भी जीवन की अविनाशी परम्परा और अमरता के गायक थे! 'शैली' के शब्दों में, उनके कलात्मक हाथों ने जीवन की अस्थिरता आ उपहास किया है और उनकी सजग चेतना ने बड़प्पन के गर्व को तोड़ा है। उनके जैसा गहरा आत्मविश्वास और अन्तश्चेतना का दर्शन हिन्दी में पन्त जी की कविता को छोड़कर मुझे अन्य किसी कवि की कविता में नहीं मिला। उनकी सौन्दर्य-चेता आत्मा व्यक्ति की अपेक्षा भावना से अधिक अनुप्राणित थी। मुक्ति और शान्ति की उर्ध्वमुखी वृत्तियों को लेकर वे चलते थे। उनकी कविताएं जीवन के संशय-पूर्ण अशांत क्षणों में शान्ति देती हैं। सौंदर्य के पार्थिव रूप को हटाकर उनके वाह्य आवरण के भीतर छिपी रहने वाली आत्मिक दिव्यता—केवल दिव्यता का दर्शन उन्होंने किया है। संसार के प्रत्येक बड़े कवि ने यही किया है और जीवन को सौन्दर्य-बोध और विश्व-विवेक की क्षमता प्रदान की है।



डाक्टर उदयनारायण तिवारी

महामानव कविश्री निराला : एक संस्मरण

उन दिनों महापण्डित राहुल सांकृत्यायन अपनी पुस्तक 'नये भारत के नये नेता' के लिये सामग्री एकत्र कर रहे थे। इन नये नेताओं में महामानव निराला भी थे। राहुल जी इन नेताओं से मिलकर उनके जीवन के सम्बन्ध में प्रश्न करते थे तथा आवश्यक सामग्री संकलित करते जाते थे। श्री निराला जी के जीवन-वृत्त की सामग्री एकत्र करने का कार्य मेरे घर पर सम्पन्न हुआ था। निराला जी के उपयोग के लिये सिग्रेट के कई पैकेट ले लिये गये थे। पान की बीड़े भी पर्याप्त मात्रा में सामने रखे थे। वह श्री राहुल जी के साथ ही जलपान तथा भोजन भी करते थे और अपने जीवन-वृत्त के सूक्ष्मातिसूक्ष्म ताने-बाने बुनते जाते थे। अपने पिता, अपनी विमाता तथा अपने वंशादि के सम्बन्ध में श्री निराला जी निस्संकोच भाव से कहते जा रहे थे और श्री राहुल जी उसे लिख लेते थे। अपने सम्बन्ध में जिन बातों को गोपनीय रखना ही लोग श्रेयस्कर मानते हैं उन्हें सहज भाव से श्री निराला जी के मुख से सुनकर मैं आश्चर्यचकित था। पहली बार मैं निराला जी में एक ऐसे महामानव का दर्शन कर रहा था जो मेरी कल्पना के परे था। उनके जीवन की घटनाओं को जब मैंने अपनी पत्नी से कहा तो वह दीर्घनिश्वास लेकर बोल उठीं––'ऐसी विपत्ति जिस मनुष्य पर पड़ी हो वह भला संतुलित कैसे रहे?'

प्रायः तीन दिनों तक जीवन-वृत्ति की सामग्री के आकलन का यह कार्य चलता रहा और जब समाप्त हुआ तो मुझे एकान्त में चिन्तामग्न देखकर राहुल जी ने कहा––क्या सोच रहे हो? क्या निराला जी के जीवन की बातों को लेकर चिन्तामग्न हो रहे हो? मैंने राहुल जी को उत्तर देते हुए कहा––जहाँ जीवन में राज्य-सम्मान, गौरव, धन-सम्पत्ति तथा मृत्यु के पश्चात् भी अपनी कीर्त्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए लोग लालायित रहते हैं वहाँ यह व्यक्ति अपने सम्बन्ध में अगौरव-पूर्ण बातें कहने में भी संकोच नहीं करता, यह तो विचित्र व्यक्ति है! श्री राहुल जी ने मुझे समझाते हुए कहा––निराला सिद्ध साधक का अवतार है। यह सर्वतंत्र स्वतंत्र महामानव है। इसने अपने 'अहं' का मूलोच्छेद कर दिया है। इसके कृत्यों को साधारण दृष्टि से देखने की चेष्टा मत करो।

श्री निराला जी का प्रथम दर्शन मैंने सन् १९२४ में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर दिल्ली में किया था। उस समय मैं इण्टर का छात्र था। श्री निराला जी, 'मतवाला' के संस्थापक, मिर्जापुर के श्री महादेव सेठ के साथ इस सम्मेलन में आये थे किन्तु इनसे घनिष्टता प्राप्त करने का अवसर तो मुझे उस समय मिला जब वे सन् १९३० के बाद, आदर-

णीय पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी तथा पं० वाचस्पति पाठक के घर पर, प्रयाग में, ठहरने लगे थे। पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी जब फैजाबाद में स्कूलों के इंस्पेक्टर थे तब उनके निवासस्थान पर प्रायः एक महीना तक मैं भी श्री निराला जी के साथ रहा था। उन्हीं दिनों श्री चतुर्वेदी जी के उद्योग से, फैजाबाद में, उत्तरप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ था जिसमें स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० केशवप्रसाद मिश्र, राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन, श्री सम्पूर्णानन्द जी तथा आचार्य नरेन्द्रदेव जी के अतिरिक्त हिन्दी के अनेक उदीयमान साहित्यिक एवं कवि सम्मिलित हुए थे। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, इस अधिवेशन में, साहित्य-परिषद् के सभापति थे। परिषद् की कार्यवाही जिस समय प्रारम्भ होने जा रही थी उसी समय, दुर्भाग्यवश, शुक्ल जी को दमा का दौरा हो गया। लोगों ने सोचा--किसी अन्य व्यक्ति को शुक्ल जी के आसन पर बिठाकर परिषद् की कार्यवाही अग्रसर की जाय। कार्यवाही आरम्भ होने जा ही रही थी कि निराला जी सिंह की तरह गरजते हुए बोल उठे--आचार्य शुक्ल के आसन पर मैं किसी अन्य व्यक्ति को बैठने न दूँगा। इस वीरगर्जना को सुनकर लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठे। प्रश्न यह था कि इस महापुरुष को शान्त कैसे किया जाय? चतुर्वेदी जी ने इस अवसर पर बड़ी चतुराई से काम लिया। उन्होंने कहा--निरालाजी, आचार्य शुक्ल के आसन पर कोई नहीं बैठेगा, तब तक निबन्ध-पाठ होगा। इसी बीच चतुर्वेदी जी के आदेश से मैं आचार्य शुक्ल जी को बुला लाया। शुक्ल जी के आसन-ग्रहण करते ही निराला जी ने अपना भाषण आरम्भ किया। लोगों की आशंकाओं के विपरीत निराला जी ने नितान्त संयत शब्दों में कहा--'आप लोगों को मेरा कृत्य देखकर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए। मैं निरन्तर इस बात का अनुभव कर रहा हूँ कि साहित्यकार के आसन पर राजनीतिज्ञ बिठा दिये जाते हैं। जब मैंने इसका कारण जानना चाहा तो मुझसे कहा गया कि इन राजनीतिज्ञों ने महान त्याग किया है। मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ कि हिन्दी के साहित्यिकों ने जो त्याग किया है क्या उसका भी आप लोगों को कुछ पता है? मैं अपनी ही बात बताता हूँ। मेरी विवाहिता पुत्री 'सरोज' दवा के अभाव में तड़प-तड़प कर मर गई और मेरे पास दो पैसे भी न थे कि उसकी औषधि का भी प्रबन्ध कर सकूँ। मेरा आप लोगों से नम्र निवेदन है कि आप लोग साहित्यिकों के आसन पर राजनीतिज्ञों को न बैठायें। मैं उसे अपने देश का दुर्भाग्य मानता हूँ कि साहित्यिकों को उनका प्राप्य नहीं मिल रहा है। मुझे और कुछ नहीं कहना है।' निराला जी के इस ओजस्वी भाषण का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि कई लोग तो रो पड़े।

निराला जी ने गत सत्रह-अठारह वर्षों से दारागंज को अपना निवासस्थान बनाया था। उनके मित्र तथा मित्रों से भी बढ़कर उनकी स्त्रियाँ निराला जी का अत्यधिक आदर-सम्मान करती थीं। उनके लिये निराला जी परमहंस, सिद्ध एवं योगी थे। मित्रों का परिवार निराला जी का अपना परिवार था और अपने पुत्र तथा मित्रों के लड़कों-बच्चों में निराला जी का समान भाव था। जिन घरों में निराला जी का आना-जाना था उस घर के छोटे बच्चों तक को वह अपना स्नेह देना न भूलते थे। जिस गली में वे रहते थे उसके पशु तक उनके स्नेह के पात्र थे। कभी वह

आसन्न प्रसवा कुतिया को चुपके से अपना खाना खिला आते थे तो कभी द्वार पर खड़े वृषभ को प्रेम से सहलाते हुए देखे जाते थे। ये पशु भी ठीक समय पर अपना दाय प्राप्त करने के लिये उनके पास पहुँच जाते थे।

निराला जी की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वह सब कुछ लुटाकर जीवन भर अकिंचन बने रहे और अपने लिये समाज से वहुत कम लिया। उनके लिये कोई भी वस्तु न तो प्रिय थी और न अदेय ही। वह गृहस्थ होकर भी संन्यासी थे और सब कुछ खाते-पीते हुए भी वह अनासक्त योगी थे। कुछ लोगों का ख्याल है कि अच्छे वातावरण में रखकर तथा कुछ भौतिक उपकरण जुटाकर निराला जी के जीवन को सुखी बनाया जा सकता था। यद्यपि इसके प्रयोग का अवसर नहीं मिला किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि निराला जी का दुःख सम्पूर्ण मानवता का दुःख था। वह संसार में किसी को विपन्न एवं दुःखी नहीं देखना चाहते थे। वह सदैव एक ऐसे लोक में विचरण करते थे जो संकीर्णता, ईर्ष्या, द्वेष, उत्पीड़न, कालुष्य एवं पाप से परे था और जव उस लोक का इस वास्तविक संसार से संघर्ष होता था तो वह असंतुलित हो जाते थे। ऐसे महामानव को सुखी वनाने की भला किसकी सामर्थ्य थी ?

निराला जी को गोलोकवासी हुए दो वर्ष बीत गया। उनके महाप्रयाण के साथ हिन्दी के एक युग का भी अन्त हो गया। किंतु वह महामानव अब भी जीवित है और हिन्दी का जीवन ही उसके जीवन से सदा अनुप्राणित रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

* * *

जियाफ़त

इसमें वही शरीक होंगे जिन्हें न्योता नहीं भेजा
गया, साथ ही जो कंगाल नहीं, न ऐसे बड़े आदमी
कि अपनी जगह गड़े रह गये। मतलब साफ़ है।
हम दोनों मतलब के। न हम पैरों पर पड़ें, न वह।
मिहनत की कमाई हम भी खायें और वह भी।

—निराला
('कुकुरमुत्ता' की भूमिका)

डॉक्टर जगदीश गुप्त

गुलाबख़ास, खासुलख़ास और निराला

आम हिन्दुस्तान का खास 'मेवा' है; काबुल-कंधार के अनार-अंगूर किशमिश और बादाम को भी मात करने वाला। इसलिये आम के शौक़ीन जगह जगह मिल जायेंगे। पर अगर उनसे कोई पूछे कि आपको कौन सा या कौन से आम पसंद हैं तो 'लँगड़ा', 'बम्बई' से ऊपर उठते उठते 'दसहरी' और 'सफ़ेदे' तक आकर रुक जायेंगे। थोड़ी बहुत कोशिश और करेंगे तो 'फ़जरी' की याद करने लगेंगे पर इसलिए नहीं कि वह पसन्द करने लायक़ है, सिर्फ़ इसलिए कि वही एक नाम और है जिस तक पहुँच कर उनकी सूची समाप्त हो जाती है।

लेकिन यही सवाल अगर कोई शाहजहाँपुर और शाहाबाद के रहने वाले से पूछे तो वह बिना किसी हिचक के कहेगा 'गुलाबख़ास' और 'ख़ासुलख़ास'। आप इन नामों को सुनकर हो सकता है चकित हो जायँ और कहने वाले की ओर ग़ौर से देखते हुए उसकी नाम-सूची की थाह लेना चाहें तो यह भी बहुत संभव है कि वह आपकी ज्ञान-वृद्धि के लिए 'अल्फंज़ो', 'ज़र्दाल्', 'लोहा-चंग', 'किशनभोग', 'गोपालभोग', से लेकर 'तोतापरी' तक सैकड़ों अज्ञात संज्ञाएँ मन्त्रवत् उच्च-रित करता चला जाय और आप उनके रूप की कल्पना करने में घोर विवशता का अनुभव करते हुए केवल नाम का नाद-सुख लेकर रह जांय।

बीघापुर और डलमऊ की अमराइयों से उठती उन्मत्त मंजरी-गंध के अनुभवी निराला जी आमों की बहुत सी क़िस्में जानते थे। खासुलखास-गुलाबखास के आस्वाद से तो ख़ासतौर पर परिचित थे जैसा बैसवाड़े के रहनेवाले के लिए सहज संभव है। बैसवाड़ा यानी ज़िला उन्नाव और रायबरेली। निराला जी के चरितनायक कुल्लीभाट यहीं के थे। बैसवाड़े की पश्चिमी सरहद हरदोई से मिली हुई है और वह शाहाबाद, जो ख़ासुलखास-गुलाबख़ास का गढ़ है, सदियों से जहाँ आम की सैकड़ों क़िस्में वाक़ायदा पैदा की जाती हैं और जिसके बाग़ों की शोहरत आम के लिए मशहूर जगहों मलिहाबाद और लखनऊ को भी हेय कर देती है, ज़िला हरदोई की ही एक तहसील है। माना जाय कि मैं अपने जन्म-स्थान के प्रति कोई पक्षपात् नहीं कर रहा हूँ।

बात ही बात में निराला जी को जब यह ज्ञात हुआ कि मैं उसी शाहाबाद का रहनेवाला हूँ (बिहार वाले शाहाबाद जिले का नहीं) तो वह पुलकित हो उठे और वहां के आमों के स्वाद को अपने होठों पर स्मृति के सहारे अनुभव करते हुए बोले:

'अच्छा तो तुम ख़ासुलखास-गुलाबखास वाली जगह के हो, बोलो कब खिलाते हो अपने यहाँ के आम!' खाने-पीने में निराला जी जैसी नफ़ासत पसन्द करते थे उसका जवाब नहीं।

मैंने उनकी सहज इच्छा से मन ही मन गौरवान्वित होते हुए, जैसा स्वाभाविक था, विनयपूर्वक निवेदन किया--**'जब आप आज्ञा करें, अबकी बार जब घर जाऊँगा तो अवश्य ही आपके लिए आम लाऊँगा।'**

बात थोड़ी देर में दूसरी ओर मुड़ गयी। ब्रजभाषा-काव्य की चर्चा होने लगी। वसन्त का अवसर था। मुझसे 'देव' का पूरा छंद कई बार पढ़वाने के बाद निराला जी उसकी प्रथम पंक्ति 'डार द्रुम पलना. . .'गुनगुनाते हुए अपने में डूब गये। बातचीत में काफ़ी देर हो ही चुकी थी, मौक़ा पाकर मैं चला आया, पर उनकी फ़र्माइश मेरे मन में घर कर गयी।

सदा ही वर्षारंभ मुझे जन्मभूमि की सोंधी गंध की ओर खींच ले जाता है। जब नहीं पहुँच पाता हूँ, मन कचोटने लगता है। अगली बार आमों का मौसम आया नहीं कि मेरा शाहाबाद जाना हुआ। यों भी वहाँ घर है इसलिये आना जाना लगा ही रहता है फिर अब तो उसके पुराने नाम अंगईखेड़े को सार्थक करनेवाली मृण्मूर्तियों और अभिलिखित मुद्राओं के रूप में पुरातत्व की प्रभूत सामग्री का लोभ मेरे लिये शाहाबाद के आकर्षण को दूने के स्थान पर तिगुना करने लगा है। वहाँ जितने दिनों रहा जब तब बागों में जाता रहा, इस बात की टोह लेने कि इस बार किधर 'दाने' उम्दा उतर रहे हैं। भूड़ों वाले बाग़ात में या संकटादेवियों की तरफ़। यह भी सोचता रहा कि 'दौंगड़ा' गिर जाय तो फलों में स्वाद आ जाय। सौभाग्य से कुछ छींटे गिरे भी और उन्हीं से अभिषिक्त हो होकर सीधे 'डाल' से तुड़वा कर ख़ासुलख़ास और गुलाबख़ास के 'तैयार' दाने एक झावे में बन्द कराकर अपने साथ प्रयाग ले आया। शाहाबाद में यह तरीक़ा है कि जब सौगात के रूप में कहीं आम भेजे जाते हैं तो हर एक दाने पर उसका नाम स्याही से लिख दिया जाता है ताकि आम खाने के साथ साथ उसके नाम का भी सही अंदाज़ रहे, केवल गुठलियों के दाम का ही नहीं।

निराला जी के लिये, चुनकर लाये हुए आमों में से दुबारा चुनाव कर के कुछ आम निकाल कर रखवा दिये गये और बाक़ी में से कुछ बच्चों ने खाये कुछ पाठक जी जैसे सम्मान्य मित्रों के यहाँ भेज दिये गये। जब मैं स्वयं उन दोहरे चुनिंदा आमों को लेकर निराला जी की सेवा में पहुँचा तो देखा वह अपने कमरे में नहीं हैं। बड़ी निराशा हुई। भीतर कमलाशंकर जी के घर से मालूम किया तो पता चला कि कुछ देर पहले कमरे में ही थे। बाहर निकल कर इधर उधर देखा और लौटने को ही हुआ कि सामने से वे आते दिखायी दिये। विशाल काया, लहराता हुआ गैरिक अधोवस्त्र, सिर झुकाए अपने से आप बातें करते हुए। मैंने प्रणाम किया पर वह उनकी आत्मलीनता के आगे व्यर्थ गया और वे सीधे कमरे के अन्दर जाकर अपनी चारपायी पर बैठ गये। मैंने बिना कुछ बोले हुए ख़ासुलख़ास और गुलाबख़ास के ग्यारह दाने उनके सामने रख दिये। उन्होंने गर्दन ऊँची करते हुए कड़े स्वर में पूछा--'यह क्या ?' लगा जैसे मैंने कोई भारी अपराध कर दिया हो और अब उसका दण्ड दिये बिना वे मुझे नहीं छोड़ेंगे। मैंने साहस बटोर कर और कुछ न कहते हुए सिर्फ़ उन आमों का नाम प्रकट प्रभाव 'साबर मन्त्र' की तरह अस्फुट रूप में उच्चरित कर दिया और उनके चेहरे की ओर चुपचाप ताकने लगा। उन्होंने उसमें से एक दाना, जो आधे से अधिक सुर्ख़

था, उठाया और पढ़ा——गुलाबखास, फिर हल्का पीलापन लिए दूसरे गोलाकार आम को हाथ में लिया और वैसे ही बाँचा——ख़ासुलख़ास। इसके बाद दोनों आमों को ज़ोर से विस्तरे पर डाल कर खुले पंजे ऊपर की ओर उठाते हुए इतनी जोर से हँसे कि मैं सहम कर एक क़दम पीछे हट गया। उतनी निर्मल हँसी मैंने शायद फिर कभी नहीं सुनी। धीरे धीरे वह उनके पतले होठों में विलीन हो गयी और उसका अस्तित्व मुस्कान की एक तीव्र रेखा वनकर रह गया। सहसा मेरी ओर देखकर डाँटते हुए बोले—

'वैठते क्यों नहीं जी!'

और मैं सामने की कुर्सी पर चुपचाप वैठ गया। कुछ देर वे भी निःशब्द रहे फिर अकस्मात् चारपायी से उठे और आमों को उठाकर आवाज़ देते हुए घर के भीतर चले गये। लौटे तो कुर्ता पहनने लगे। मैंने धीरे से बताया 'शाहावाद गया था आपकी आज्ञा का पालन कर लाया।' उन्होंने कहा 'खूब शुद, चलो मेरे साथ' मैंने पूछा 'कहाँ?' तो कड़ी नज़र से मुझे देखकर बोले 'जहाँ मैं चल रहा हूँ।' इसके वाद मेरी हिम्मत यह कहने की नहीं हुई कि अब मुझमें कुछ भी जिज्ञासा शेष बची है। भारी डग धरते हुए वे कोठी के पीछेवाली गली से चल दिये और मैं उनकी छाया (छाया भी क्या!) की तरह साथ हो लिया। पं० दयाशंकर दुवे का पीला मकान पार करके ज्यों ही वे मोतीमहल के सामने पहुँचे मैं क़दम बढ़ाकर उनके पास पहुँचा और अपने घर जाने की अनुमति माँगने लगा। उन्होंने मुड़कर देखा, फिर जैसे किसी पूर्व निश्चित योजना को ध्यान में रखकर कहा——

'ठीक है, जाओ और फौरन एक बड़ा झोला ले आओ मैं तब तक यहीं हूँ।'

'बड़ा झोला' और उसके साथ फौरन लौट आने का आदेश आखिर क्यों? इसका मतलब? मेरी बुद्धि ने सचमुच ही जवाव दे दिया। परिस्थिति का रहस्यवाद मेरी कतई समझ में नहीं आ रहा था। उनकी कही हुई वात को टालना संभव न था, घर जाकर वहीं का हो जाता वस इतना ही कर सकता था पर आगे किस मुंह से उनके सामने पड़ूँगा यह सोचकर आदेश का यथावत् पालन करता हुआ स-झोला फौरन लौटकर आ गया। वे ठीक उसी मुद्रा में खड़े मिले जिस मुद्रा में मोतीमहल के भीतर पैर रखते समय मैं उन्हें छोड़ गया था। फिर वही कदम-ब-कदम चाल। अब हम वेणी माधव मंदिर के सामने वाली गली में थे। विहारी पंडित वाले मकान से पहले पहुँचकर निराला जी सहसा रुक गये और दाहिनी ओर मुड़नेवाली ऊँची पतली गली की तरफ रुख करने लगे। मुझे मालुम था कि वहीं एक मकान की ऊपरी मंजिल में वे, कुछ समय तक रह चुके हैं और पूर्वस्मृति ने ही उन्हें वहाँ रुकने और रुख वदलने के लिए मजवूर कर दिया है। उस गली में कुछ पंडागण तख़्त पर सिलवट्टा खटकाते हुए भाँग छान रहे थे। ज्यों ही उन्होंने निरालाजी को देखा, लगे बुलाने 'आइए छानते जाइए आप भी' के भाव से। निराला जी मुस्कुराते हुए उनके पास गये। इस बीच उनका हाथ जेब में जा चुका था। पाँच का एक ताजा नोट निकालकर उन्होंने उन सबकी ओर बढ़ाते हुए कहा——

गहरी छानौ गुरू! हम अबहिनै आये। उस हरे नोट से भाँग की हरियाली और गहरी

होकर पिस्तई और बादामी भी हो गयी होगी इसमें मुझे संदेह हो सकता है पर निराला जी लौटकर वहाँ का रंग देखने नहीं गये, यह सर्वथा असंदिग्ध है। इस घटना के घटित होने में मुश्किल से दो-तीन मिनट लगे होंगे। वे फिर उसी भाँति आगे हो लिए और मैं उनका अनुसरण करने लगा। अब अड्डा करीब आ गया था। अड्डे पर पहुँचकर उन्होंने चारों ओर नजर दौड़ायीं। सिर्फ एक जगह उन्हें कुछ आम का दिखायी दिया और वे उधर को चल पड़े। सहसा मैंने पाया कि वे एक आम वाले से आमों का भाव पूंछ रहे हैं। मैंने कहना चाहा कि इन आमों का क्या कीजिएगा ? कहाँ अपने खासुलखास-गुलाबखास और कहाँ यह उतरे हुए घटिया आम, पर जव तक मैं कहूँ कहूँ उन्होंने मेरे हाथ से झोला ले लिया और उसमें सारे के सारे आम तुलवा कर भरवा दिए। तीन सेर से कुछ ही कम थे। फिर मुझसे बोले—

'लो इन्हें ले जाओ बच्चों को दे देना।' मैंने कहा—'बच्चे तो सुबह से आम ही आम खाते रहे हैं घर पर अब भी बहुत से रक्खे हुए हैं।' पर मेरी सुनता कौन। वे पाँच का ही एक नोट आम वाले के झावे में डालकर तेजी के साथ अड्डे से कोठी की ओर चल पड़े। मैं हाथ में आमों का झोला लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा उनकी गतिशील काया में उस महान आत्मा मनुष्य को देख रहा था जिसे स्वयं उन्होंने कुल्लीभाट में देखकर लिखा—

'सच्चा मनुष्य निकल आया, जिससे बड़ा मनुष्य नहीं होता।' अन्तर सिर्फ इतना ही था कि वहाँ प्रसंग विद्रोह का था और यहाँ स्नेहमय प्रतिदान का।

उनके दिये हुए 'प्रसाद' को साथ लेकर ही अन्ततः मुझे घर आना पड़ा। रास्ते भर सोचता रहा कि आखिर उन्होंने ऐसा क्यों किया ? ऐसा उनके मन में किसलिए आया ?

सच पूछिये तो सही उत्तर आज भी मेरे पास नहीं है पर मैं अपनी ओर से अनुमान अवश्य करता हूँ कि शायद उस अतिशय संवेदनशील विभूति के लिए यह असह्य था कि कोई उसे कुछ दे दे और वह उसे अपने प्रतिदान से अभिभूत किये विना रह जाय। या शायद यह उनकी प्रसन्नता की ही विचित्र अभिव्यक्ति थी। मैं उनके उस प्रतिदान से निश्चय ही अभिभूत हुआ और आजीवन उनकी प्रसन्नता का ऋणी रहूँगा क्योंकि मैंने जिस भाव से गुलाबखास-खासुलखास उन्हें दिये उससे उनका भाव कहीं अधिक सहज, ऊँचा, सम्पन्न और अद्वितीय था। उसके निरालेपन से भला कौन इन्कार करेगा !



श्री अमृतराय

निराला को प्रणाम !

निराला सचमुच निराला था। चाल-ढाल में निराला, सोच-विचार में निराला। अपने इसी निरालेपन की कीमत उसने चुकायी। दुनिया निराले आदमियों को पसंद नहीं करती, बल्कि यों कहें कि दुनिया निराले आदमियों से डरती है। घिसे-पिटे, छोटे-बौने, औसत आदमी ही उसे अच्छे मालुम होते हैं क्योंकि उन्हीं को वह अपने साधारण बटखरों से तौल पाती है और जिन्हें तौल पाती है उन्हीं के प्रति आश्वस्त अनुभव करती है, जिन्हें तौल नहीं पाती उनके प्रति सशंक रहती है। वे उसकी परिधि के बाहर के लोग हैं, पता नहीं कब क्या कर बैठें जिससे समाज में भूडोल आ जाय, जानी-मानी चीजें सब उलट-पलट हो जायं। इसलिए उनको उभरने न देना चाहिए, कहीं किसी कोने में दबाकर रखना चाहिए, इसी में समाज का कल्याण है !

इसीलिए यह भी देखा जाता है कि समाज में सफलता का सेहरा उन्हीं लोगों के सर रहता है जो समाज की बंधी हुई लीक पर आंख मूँदकर चलते हैं।

निराला उन लोगों में नहीं था। उसे किसी की बनायी हुई लीक पर चलना मंजूर नहीं था——न अपने जीवन में न अपने साहित्य में। रास्ता वह है जो खुद अपने पैरों से रौंदकर बनाया गया हो, जिनमें थोड़ा-सा उन लहूलुहान पैरों का खून भी मिला हो जिन्हें अकेलेदम रास्ते की कँटीली झाड़ियों से जूझना पड़ा था।

सफलता का चरित्रनाशक मंत्र निराला ने जीवन में कभी नहीं पढ़ा। शुरू से उसकी अपनी एक आन रही, टेक रही। सत्ता के आगे झुकना, सुविधा की वेदी पर अपनी जीवन-आस्था की हत्या करना उसने सीखा ही नहीं। 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी कीजै' उसके लिए बिरानी चीज थी। जो उसके लिए सहज था वही श्रेयस्कर था। आत्मा को बेचकर मिलने वाली त्रैलोक्य की संपदा भी उसके लिए कूड़ा थी।

कितने छोटे लगते हैं हम सब निराला के मुकाबले में——अपने छोटे-छोटे स्वार्थों में खोये हुए, सोते-जागते हर समय उसी की तिकड़म में लगे हुए, हर वक्त बिकने के लिए तैयार, कहीं पैसे के पीछे और कहीं झूंठी प्रतिष्ठा के। इसी के लिए सारी गुटबंदियाँ हैं। मैं भी खाऊँ, तू भी खा। मैं तुझे आसमान पर उछालता हूँ, तू मुझे उछाल। दस-पांच बरस चलने दे यह खेल, बस फिर हमीं हम होंगे; वाल्मीकि, कालिदास, होमर, शेक्सपियर सब पानी भरेंगे हमारे आगे ! . . किसी को गम नहीं इसका कि इसी सब जोड़-तोड़ में घुन लग गया उनकी कलम को। अपने जीते जी, अपनी आँखों के आगे जो अमरता मिली वही तो असल अमरता है ! मरने के बाद क्या होता है क्या नहीं

होता, कौन देखने आता है। जिसे देखो उसे यही चिन्ता खाये जा रही है। सारे रागद्वेष इसी एक बात को लेकर हैं। कब और कैसे मेरा अभिषेक चक्रवर्ती के सिंहासन पर हो जाय! सब अपने अश्वमेध के घोड़े छोड़े हुए हैं—जिनके पास घोड़े नहीं हैं वे अपने गधों और बैलों को लेकर ही परम पुलकित हैं, मुद्दे की बात एक ही है—कि मैं सबसे बड़ा हूँ, दूसरे मुझसे छोटे हैं, घटकर हैं, कोई मेरे घुटने तक भी नहीं पहुँचता, कान तक पहुँचना तो दूर की बात है!

निराला को इन सब चीजों से कोई मतलब नहीं। सृजन के सुख से इतर किसी दूसरे सुख की उसे कामना नहीं है—हाँ, इतनी-सी चाह जरूर है कि जब वह कोई नया काम करे, बड़ा काम करे, जो उसके पहले किसी ने नहीं किया, तो कुछ लोग, जिन्हें वह अपना समानधर्मी समझता है, हाथ से नहीं, जबान से नहीं, आखों से उसकी पीठ थपथपा दें। इसे अगर कमजोरी कहें तो हर इंसान में यह कमजोरी होती है। लेकिन यह कमजोरी नहीं है, मनुष्य का सहज स्वभाव है, अबोध बच्चे में भी इतनी लालसा होती है। लेकिन अनुदार साहित्य-समाज इतना भी उसे नहीं दे सका। आज दे रहा है, उससे बहुत ज्यादा दे रहा है, सर आंखों पर बिठाल रहा है लेकिन अब क्या, अब तो वह आदमी जिसे इन चीजों से थोड़ी संजीवनी मिलती, इस सब मान-अपमान से परे एक दूसरी ही दुनिया में चला गया है।

फक्कड़ आदमी था, अपनी उसी फक्कड़ मस्ती के साथ चला गया। अमरता की चिन्ता उसने नहीं की, इसलिए वास्तविक अमरता उसे मिली। राजसिंहासन पर राजा बैठता है लेकिन उसका भी सर झुकता है सिद्धयोगी के आगे। निराला ऐसा ही सिद्धयोगी है। आज बड़े बड़ों का सर उसके आगे झुक रहा है। इस देश की मिट्टी ही कुछ ऐसी है।

आधुनिक साहित्यकारों में जो स्थान आज निराला को प्राप्त है, वह दूसरे किसी साहित्यकार को नहीं प्राप्त है। अर्थात् निराला को अपना प्राप्य मिला। कब किसे अपना प्राप्य मिलता है इसकी पूर्वसूचना देनेवाली कोई जंत्री या पंचांग नहीं है, लेकिन इतना ध्रुव है कि न्याय से जिसका जितना प्राप्य है उतना उसे मिले बिना नहीं रहता। जीवन भर की एकान्त-निष्ठा और लगन से जिस साहित्य की सृष्टि निराला ने की है उसका प्राप्य बहुत बड़ा है, बहुत मिलने पर भी अभी बहुत कुछ निराला को मिलना बाकी है जो धीरे-धीरे मिलेगा और जरूर मिलेगा। आधुनिक हिन्दी कविता में वस्तु और शिल्प की दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके पहले और सबल चरण हमें निराला के यहाँ नहीं मिलते। उनके जैसा प्रौढ़ गद्य भी हिन्दी में कम ही लिखा गया है। निराला ने 'जुही की कली' से लेकर 'राम की शक्तिपूजा' और 'बादल-राग' तक, और उसके भी आगे 'वह तोड़ती पत्थर' 'कुकुरमुत्ता' 'बेला' और 'नये पत्ते' की कविताओं तक, और उससे भी आगे 'अर्चना और 'आराधना' तक, शृंगार, वीर, शान्त सभी रसों में, हल्के और गंभीर सभी रंगों में, चेतना की सभी नयी करवटों को सबसे पहले आगे बढ़कर अपनी बाहों में समेटते हुए लिखा है। बहुत बार अपनी इस यात्रा में काफी अकेले भी रहे हैं लेकिन इसका कोई भय, कोई चिन्ता उन्हें कभी नहीं रही। इसी बात को रवीन्द्रनाथ ने कहा था—अगर तेरे संग कोई न आये तो तू अकेला ही चल। नयी राह बनानेवालों को अक्सर अकेले ही चलना पड़ता है—यही उनकी

परीक्षा भी होती है और यही उनका पुरस्कार। इसकी कोई पीड़ा उन्हें हुई हो, ऐसा पता नहीं चलता। पीड़ा उन्हें हुई और अकथनीय पीड़ा हुई, ईर्ष्या के दंश से। अपनी ही हीनता की ग्रंथि से आहत लोगों ने क्या नहीं कहा निराला को, आगे से पीछे से कहाँ से चोट नहीं की, कौन-सी उपेक्षा, कौन सी अवमानना, कौन-सा तिरस्कार निराला को नहीं सहना पड़ा? बहुत सहा उन्होंने। उसी सहने में थोड़ा सा टूट भी गये लेकिन थोड़ा ही सा क्योंकि उनके बहुर्चाचित मानसिक विक्षेप के संबंध में अक्सर मुझे लगा है कि वह जैसे एक झीना-सा पर्दा हो जिसे वह अपनी शान्ति और सुरक्षा के लिए, जाने या अनजाने, अपने और दुनिया के बीच डाल लिया करते हों। जब-जब मिला हूँ तब तब मैंने देखा है कि उन्होंने अगर दो-एक बातें बहकी हुई की हैं तो दस-पांच बातें बिलकुल सुचित होकर भी की हैं। लेकिन उनके मानसिक विक्षेप को अगर सच भी मान लें तो यह विक्षेप सच्चे अर्थों में उनका विक्षेप नहीं उनके युग का विक्षेप है जो हर चीज को उल्टा-उल्टा देखता है।

प्रणाम है उस वीरपुरुष को, और उस मर्द कवि को जिसने कभी हार न मानी, न जीवन से और न मृत्यु से, और जो अपनी आखिरी सांस तक अपने व्यक्तित्व की उसी सहज, मौलिक अभिव्यक्ति के लिए लड़ता रहा।

* * *

खेल

जेठ की दुपहर दिवाकर प्रखरतर,
जल रही भू, चल रही लू त्रासकर।
राह निजन, मन्द चितवन से खड़ा
एक लड़का बना ज्यों छड़ का कड़ा,
उम्र नौ-दस साल की, बस; तोलता,
दिल कि चढ़कर पकरिये पर बोलता,
था तना मोटा, पड़ छोटा सहर,
डाल देखी एक, शोखी से पकड़,
पैर दोनों फांसकर बैठा अकड़।
शाख पर चढ़ता हुआ ऊपर गया,
नाक बैठाकर निकाला स्वर नया
भूत का "जमदूत हूँ मैं, समझ लो,
जो बिना घर का उसे गर घर न दो।"

—निराला

('कुकुरमुत्ता' संग्रह की एक कविता)

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

महाप्राण निराला का विराट बादल व्यक्तित्व

दशदिक्व्यापी, सर्वाच्छादी तथा सर्वाभिषेकी वर्षोन्मद अषाढ़ की सजल श्यामल घटा को यदि आपने देखा है तो उसकी नीलम नीलिमा को भीतर निहित धरती के तापशमन, शस्यक्षेत्रों के दारिद्र-अपहरण एवं सूखे नदी-सरोवरों की सम्पत्ति-हीन कृशता को दूर करने के उसके उद्दीप्त आश्वासन, संकल्प और सर्वसुलभ करुणा का भी अवश्य ही अनुमान तथा अनुभव किया होगा।

स्वस्थ मांसलकजरी कपिला गाय के समान सर्ववत्सल उसकी मंद-मंथर गति सबके मनकी रिक्तता को सम्पूर्णतः भर देने में समर्थ होती है। सब के लिए मंगलमय परिपूर्णता का ऐसा कोई दूसरा प्रतीक नहीं। इसके सौन्दर्य, त्याग और गुणों की गणना न कर सकने के कारण ही महाकवि कालिदास ने उसकी उपमा शिव के कंठ से दी है, जो सौन्दर्य और मंगल के चरम अधिष्ठात्रा तथा अपने में पूर्ण आशुतोष हैं। निराला ने उसे--**ऐ त्रिलोकजित ! इन्द्रधनुर्धर ! सुरवालाओं के स्वागत--विजय ! विश्व में नवजीवन भर, उतरो अपने रथ से भारत।** जैसे महिमा-मंडित शब्दों में स्मरण किया है।

विराट, अपने आप को विस्तारित करने के लिए बादल के भीतर से स्वतः एक ऐसी शक्ति उद्भूत होती है कि वह सारे आकाश को छा लेता है। उसकी सर्वत्र बिहार-क्षमता को रोकने का साहस किसी को नहीं, क्योंकि वह कामरूप है। समस्त भौतिक व्यवधानों को चीड़ता-फाड़ता वह निरन्तर गतिशील रहता है। अन्तःसार की गुरुता के कारण वायु का वेग भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। भीतर से रिक्त, सारहीनों पर ही किसी का बल-प्रयोग सफल होता है। दीपक को बुझा देनेवाली हवा आग के प्रज्वलन का कारण बनती है। भीतर से भरा-पूरा बादल वायु को अपना रथ बनाने में समर्थ होता है। निराला ने उसे--मंद चंचल समीर रथ पर उच्छृंखल, कहा है।

सजल बादल की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह अपने सर्वस्व दान के पश्चात् स्वयं निश्शेष हो जाता है। रिक्त या हलका होने की स्थिति उसके जीवन में कभी नहीं आती। सर्वस्व दानियों की यही विशेषता होती है। अपने जल-दान से बादल समस्त संतप्त लोक को शीतलता तथा शान्ति देता है। केवल उसीके लिए यह कहा जा सकता है---संतप्तानांत्वमसिशरणम्।

आशय यह कि जलदागम से वनस्पतियाँ और औषधियाँ वीर्यवती होती हैं, पशु-पक्षी पुलकित होते हैं और मनुष्य का हृदय प्राण के स्थूल रूप अन्न की आशा से आश्वस्त हो उठता है।

इस प्रकार विराट बादल का प्रभाव चर-अचर, जड़-चेतन सब पर समान रूप से परिलक्षित होता है। इसीलिए उसे साधु, सौम्य, सुभग और आयुष्मान कहा गया है।

बादल का जलवर्षण वन्य-प्रकृति, निखिल जीव-जन्तु तथा मानवीय जीवन-विकास एवं पोषण के लिए अमृत द्रव है। उसके रस-सिंचन के पश्चात् ही पृथिवी बीज धारण के उपयुक्त एवं उर्वरा बनती है। स्पष्ट है कि बादल की आकर्षक आकृति, वर्णमयी रंगमयता, ध्वनि, गति और वृष्टि सभी सबके लिए स्फूर्तिप्रद और परमप्रिय हैं, किन्तु सामान्य जन-जीवन तथा गांवों में इसका जो स्वागत-सत्कार होता है वह बहुत ही स्वाभाविक, सरल-सहज और प्रीति-स्निग्ध तथा आत्मीय होता है। कृषकों का तो यह जीवनाधार ही है। वे इस अकारण परोपकारी आगन्तुक का परम प्रेम से स्वागत करते हैं। वे जानते हैं कि कृषि का प्रवर्त्तक यही है। निराला ने इस ओर संकेत किया है—

> जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
> तुझे बुलाता कृषक अधीर,
> ऐ विप्लव के वीर !

बादल का सम्पूर्ण संचय, त्याग के लिए होता है, प्रजाओं के पालन के लिए होता है और इस अर्थ में वह प्रजापति भी है। उसकी ममता का कोष सबके लिये खुला रहता है, उसके उपहार से सभी पुष्ट और प्रसन्न होते हैं, किन्तु इस प्रजापतित्व की सार्थकता के लिए उसे कर्मानुसार दंड का भी विधान करना पड़ता है। प्रजाओं के उद्‌भव, स्थिति और संहार तीनों का वह अधिकारी है। वस्तुतः अमृत-जीवन जल-वर्षा के साथ वह ओलों की ही नहीं, बज्र की भी वर्षा करता है। उसका यह कठोर रूप भी अपने उद्देश्य में कल्याणकारी ही होता है। ओले तो जैसे उसकी व्यंग्य बौछार हैं और वज्र-शक्ति के गर्व में ऊपर उठे हुए पर्वतों के अभिमानांकुरों को भंजन करने का अमोघ अस्त्र। प्रकृति पुरुष होने के नाते वह स्वयं प्रकृति के भीषण, उग्र तथा कठोर एवं मृदु, कोमल और शान्त रूपों का समीकरण है। निराला ने उसे—कुसुम कोमल, कठोर पवि—कहकर सम्बोधित किया है। बादल अपनी इस द्विविध प्रक्रिया से प्रकृति की द्वन्द्वमयी स्थिति को स्पष्ट करता है। उसके वास्तविक स्वरूप की अवगति के लिए यह उक्ति कितनी सार्थक है—

> जनामित्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः।

महाप्राण निराला के विराट व्यक्तित्व का पूर्ण तादात्म्य इसी प्रकृति-पुरुष बादल से ही सम्भव है। बादल पर लिखी उनकी दर्जनों कवितायें इसका ज्वलंत और जीवंत साक्ष्य उपस्थित करती हैं। मनीषियों की मान्यता है कि कवि की प्रतिभा वाह्य प्रकृति का ही अन्तःस्वरूप है। वस्तुतः उसमें वाह्य प्रकृति का द्वन्द्व पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। निराला के व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा में एक ऐसा साम्य पाया जाता है, जो विश्व के बहुत कम कवियों में मिलता है। इस व्यक्तित्व का वहुविध प्रकृतिरूप उनकी बादल-राग कविताओं में पूर्णतया स्पष्ट है। निराला के भैरव घोष भरे बादल व्यक्तित्व का एक विप्लवी चित्र देखिये—

ऐ निर्बन्ध !
अन्धतम-अगम-अनर्गल-बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मंद-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
वाधा रहित विराट् !
ऐ विप्लव के प्लवान !
सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट् !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़नेवाले उन्माद !
विश्व विभव को लूट लूट लड़नेवाले अपवाद !
श्री विखेर, मुखफेर कली के निष्ठुर पीड़न ।
छिन्न-भिन्नकर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्रघोष से ऐ प्रचण्ड !
आतंक जमाने वाले !
कम्पित जंगम-नीड़ विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले !
भय के मायामय आंगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

इस कविता में बादल के लिए प्रयुक्त सभी सम्बोधन निराला के लिये भी उपयुक्त ठहरते हैं। कविता को इस प्रकार रखिये और शब्द-शब्द में निराला को भेंटिये—

हे बन्धनहीन, घोर से घोर अन्धकार (आपत्ति-अड़चन) में भी मुक्त, हे स्वतन्त्र, वायु के रथ पर (कल्पनालोक में) चलनेवाले उच्छृंखल (भाव-स्वातन्त्र्य के उपासक) मनमानी करने वाले। कहावत है कि—जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै, परन्तु निराला इस परम्परा को मानकर नहीं चलना चाहते। हवा के रुख पर न चलँकर वे हवा का रुख बदलना चाहते हैं। उनकी इच्छा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !

ऐ साहसी, अनंत अभिलाषाओं के जीवन, हे मुक्त, हे विशाल, हे युगान्तर करनेवाली बाढ़ बहाने वाले ! नयी काव्य-धारा को लक्ष्य करके निराला ने लिखा है—

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?
गरज गरज वह क्या कहती है, कहने दो—
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो !

सावन की तरह मेघाच्छन्न भावों के मनोनभ के स्वामी, ऐ रूढ़ियों पर आक्रमण करने वाले पागलपन, विश्व के वैभव (शोषण -संचित सम्पत्ति) को लूटकर लड़ने वाले अपवाद, (लूट का साहस सबको नहीं होता) ऐ कली को पीड़न के द्वारा विकास देने वाले, (सौन्दर्य को विकसित एवं व्यापक बनाने वाले) पत्र-पुष्प, पादप, वन, उपवन (सम्पूर्ण प्राचीन प्रकृति) को छिन्न-भिन्न कर नया रूप देने वाले, वज्र (दृढ़ता) की गर्जना से स्वार्थरतों पर आतंक जमाने वाले प्रचण्ड, (नयी व्यवस्था को स्वीकार न करनेवालों के प्रति ऐ सहानुभूतिहीन) भय (भ्रम) के आँगन (केन्द्र) में युगान्तर का नवजीवन देने वाले बादल गरजो, जीर्ण-शीर्ण को ध्वस्त करने के लिए निर्भय हुंकार करो।

इस प्रकार इस कविता में कवि ने संकीर्ण, अवरुद्ध तथा रूढ़िबद्ध जीवन में परिवर्तन, परिष्कृति तथा गति लाने के लिये ही विप्लवकारी बादल का रूप सामने रखा है, जो कवि के व्यक्तित्व की वाह्य प्रकृति मात्र है। सामूहिक मुक्ति ही इस कविता की, इस विप्लवी मेघ-गीत की मूल प्रेरणा है।

निराला को यह भलीभाँति ज्ञात है कि 'निर्दय विप्लव की प्लावित माया' के बिना संसार में सामूहिक उन्मेष न कभी हुआ और न होगा। इसीलिये कवि विप्लवी बादलों का आह्वान करता है—

तिरती है समीर सागर पर
अस्थिर दुख पर सुख की छाया –
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया !
यह तेरी रणतरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं ऐ विप्लव के बादल !
फिर फिर !

और जब विप्लवी बादल गरजता है, मूसलाधार बरसता है, तब सारा ससार काँप उठता है। वज्रपात से बड़े-बड़े अभिमानी अचल पर्वतों के शरीर चूर-चूर हो जाते हैं। केवल छोटे पौधे (साधारणजन) प्रसन्न होते हैं, क्योंकि 'विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।' धनीमानी बादल की गर्जना सुनकर काँप उठते हैं (क्रांति से घबड़ाते हैं) किन्तु जीर्णबाहु, शीर्णशरीर कृषक बड़ी उत्सुकता से उसका स्वागत करते हैं, क्योंकि यही बादल उनका जीवनाधार है। यह विप्लवी बादल निराला के चिरविप्लवी व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतीक है, इसमें सन्देह नहीं।

निराला ने अपने व्यक्तित्व के विविध परीक्षणों के अनुरूप बादल के विविध स्वरूपों का चित्रण किया है—

आज श्याम-घनश्याम, श्याम छवि,
मुक्तकण्ठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम - कोमल कठोर पवि !
शत - सहस्र - नक्षत्र - चन्द्र - रवि - संस्तुत
नयन मनोरंजन !
बने नयन अंजन !

इस कविता में निराला ने बादल के बाहरी रूप और अपने व्यक्तित्व के स्वरूप को एक ऐसी विराटता में पर्यवसित कर दिया है कि विश्व के असंख्य रूपों में गतिशील चेतना हमारी आंखों में अंजन बनकर समाविष्ट हो जाती है। सभी वस्तुओं में आत्मतत्व और आत्मा में समत्व का यही सिद्धान्त मनुष्य और प्रकृति में एक ही आध्यात्मिक स्पन्दन की स्थापना करता है, जिसके अनुसार प्रकृति और मनुष्य एक ही व्यापक सत्य के अंग बन जाते हैं। वास्तव में आनन्द की प्रतीति तभी होती है जब हम अपनी आत्मा का संसार से और संसार की आत्मा का विराट भूमा की आत्मा से सहज एकत्व का अनुभव करते हैं।

मुक्त तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात !
वधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग,
मुक्त शिशु! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग !

यहाँ हमें निराला के मुक्त स्वभाव, वाणी के स्वर-ताल-लय का नाद साधन और उनके शिशु-सुलभ सरल एवं निश्छल हृदय का अनायास परिचय मिल जाता है। जीवन, जगत की

श्री:

दारागंज, इलाहाबाद
३० दिसम्बर १९४४
रात आठ

चिरञ्जीव रामकृष्ण,

पत्र का उत्तर देर से दे रहे हैं। इस महीने दो मनीआर्डर भेजे। एक की रसीद अभी नहीं आई। डलमऊ से पत्र आया है कि वह मनीआर्डर भी वापस भेज दिया गया। अबतक मिल गया होगा।

तुम्हारे मामा की बीमारी से चिन्ता है। हमारी लाचारी मालूम है। रुपया हाथ आया तो भेजेंगे।

तुम्हारे दूसरे मनीआर्डर के साथ किशोरीलाल को भी रु. भेजे थे। पत्र आया है, मिल गये। जाड़े से कुछ पहले कोट, रजाई, चद्दरें, धोतियाँ आदि २०० से अधिक की लागत के कपड़े दिये थे जब वह आये थे।

रायबरेली की बातचीत दूसरों से कम किया करना। चुपचाप अपने काम में लगे रहकर हासिल निकाल लो। हमारा दूसरा लक्ष्य ऐसा कोई नहीं। मदद पहुँचती रहेगी।

किसानी अर्थाभाव से नहीं चली। अच्छा हुआ जो कुछ हुआ। एक अभिज्ञता हो गई। तुम्हारी शक्ति के विकास का वह अनुकूल क्षेत्र नहीं।

शिवशेखर जी तथा भाइयों के समाचार पत्र द्वारा देते रहो।

लखनऊ में हमारे नाम कुछ बाकी रह गई है। काम अब शुरू हुआ है, जाड़े की समाप्ति तक चुका देने का प्रयत्न करेंगे। इसके सम्बन्ध में भी विशेष बातचीत इसके सिवा न करना।

हम भी सन ४२ में महीनों बीमार रहे। प्रसाद चलता ही गया। शुभ।

सस्नेह
—सूर्यकान्त त्रिपाठी
निराला

महाकवि निराला ने अपने पुत्र श्री रामकृष्ण त्रिपाठी को यह पत्र लिखा था।

नाना तूफानी स्थितियों, आपत्तियों, विपत्तियों, संघर्षों और कटुताओं के बीच अपने शिशु-सारल्य तथा क्रीड़ा-कौतुक को संजोये रखना निराला की निर्मल परमहंसी वृत्ति का अनन्य उदाहरण है। उन्होंने लिखा है—

क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर।
रोग - शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर!

'बादल-राग' की एक कविता निराला के सर्वस्वदानी करुणामय रूप को सबके सामने स्पष्ट कर देती है। इस कविता में कवि ने अपनी अनंतधार अन्तर्बादल-प्रतिभा से सर्व मंगलमय रसवर्षण द्वारा अखिल विश्व को संसिक्त करने की कामना की है। यहाँ पहुँचकर कवि के भाव-अमृत-सिंचन का प्रसाद सबको समान रूप से प्राप्त होता है। अहं प्रेरित अपनत्व के भ्रम को छोड़ कर ही मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वत्व का स्वामी बनता है, विश्व के साथ समभाव का अनुभव आकलन करता है। सर्वकल्याण ही दिव्यआत्मा का पोषण है और सर्वप्रेम ही उसकी प्रेम-विजय है—

झूम झूम मृदु गरज - गरज घनघोर!
राग अमर! अंबर में भर निज रोर!
झर झर झर निर्झर - गिरि - सर में,
घर, मरु, तरु - मर्मर, सागर में,
सरित् - तड़ित - गति - चकित पवन में
मन में, विजन - गहन - कानन में
आनन - आनन में, रव - घोर - कठोर—
राग अमर अंबर में भर निज रोर!
अरे वर्ष के हर्ष!
बरस तू, बरस - बरस रसधार!
उथल पुथल कर हृदय
मचा हलचल
चले चल
मेरे पागल बादल!

ताप-शाप, रोग-शोक तथा दुख-दारिद्र एवं विषमता की पीड़ा से लुंठित-कुंठित विश्व पर, उसके संवेदनात्मक स्पन्दनों पर अमृत की रसधार बहाने की यह अदम्य आकांक्षा निराला के व्यक्तित्व का उज्ज्वलतम रूप है। विराट सजल घटा की तरह अपने संघर्ष की भीषण ज्वाला तथा कसक की विद्युत को दबाये हुए कवि स्वयं आत्मज्ञान से द्वन्द्वातीत हो गया है। वह रुद्र-

शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी शिव है, कठोर पवि होकर भी कुसुम कोमल है, विप्लव का उद्घोषक होकर भी नवजीवन का पोषक है, अतिचेतन होकर भी पागल है, पूरा बमभोला शंकर का साक्षात प्रतिरूप ! अस्तु, निराला के व्यक्तित्व और प्रतिभा की विराट बहुमुखता एवं गहन गम्भीरता का मूल प्रतीक उनकी बादल-राग कवितायें हैं, जिनको पूर्णतया हृदयंगम कर लेने के पश्चात् कवि का विराट् बादल व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है।

एक बात और। इन कविताओं का शीर्षक बादल-राग बहुत ही साभिप्राय है और सांकेतिक। राग का मूल ध्वनि है। जो अक्षर या शब्द उच्चरित होते हैं उनसे वायुमंडल में संक्षोभ होता है और उसमें लहरें उत्पन्न होती हैं, जो गतिशील होकर समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती हैं। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी के किसी कोने में उच्चरित शब्द बेतार के तार द्वारा हम एक क्षण के सातवें हिस्से में सुन सकते हैं। प्रकृति में सक्रियता का इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये ? इसी सक्रियता को भारतीय संस्कृति में प्राणशक्ति की संज्ञा दी गई है। बादल में प्राण जल-रूप में स्थित है। इस दृष्टि से कवि के प्राण और बादल के प्राण में कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि के समस्त कार्यों का संचालक यही प्राण है और इस प्राण का उत्स शब्द-ब्रह्म का सामगान है। संसार के निखिल रूप शब्द के स्पन्दन से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रत्येक स्थूल आकृति के रूप के साथ उसका संगीत (राग) भी निहित रहता है। इस संगीत के स्वरों को पहचानकर यदि हम नाद या ध्वनि का विधान कर सकें तो वस्तु विशेष या व्यक्ति विशेष के रूप अणु संचालित होकर अपना संस्थान ध्वनि के अनुकूल बदलने लगते हैं। इसी प्रकृति-संगीत के परिज्ञान और अपनी साधु या सामवृत्ति से निराला ने अपने राग को बादल-राग और बादल-राग को अपना राग बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। वे वास्तव में प्रकृति-पुरुष थे। उनका बादल-राग साम संगीतात्मक होने के कारण शाश्वत और कलातीत है। युगयुगों तक सर्व सुखदायी वर्षा-ऋतु स्वयं इन कविताओं का भाष्य संसार के सामने उपस्थित करती रहेगी और प्रजायें निराला के स्वरों में मुखरित हो उठेंगी—

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख ये काले काले बादल,
नीलसिन्धु में खिले कमल - दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के रस के—
अलि, घिर आये घन पावस के !

श्री राजेन्द्रसिंह गौड़

महाप्राण निराला की प्रतिभा और व्यक्तित्व

प्रतिभा दो प्रकार की होती हैं। एक प्रतिभा तो वह होती है जो जीवन की संगत और उत्फुल्ल परिस्थितियों में अपने विकास का मार्ग खोजती है और उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ स्वाभाविक ढंग से अपने मार्ग के कंकड़ों -पत्थरों को हटाती तथा अपने विकास के अनुकूल वातावरण का सृजन करती हुई अपनी चरमसीमा पर पहुँचने का प्रयत्न करती है। उसमें इतनी शक्ति होती है, कि जीवन की बाधाएं उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं कर पातीं, वह हँसती खेलती चलती हैं, और जीवन की बाधाओं से बचकर निकल जाती हैं। दूसरे प्रकार की प्रतिभा इससे सर्वथा भिन्न होती है। वह जीवन के असंगत और संघर्षशील परिस्थितियों में ही अपने विकास का मार्ग खोजती है। संघर्षहीन जीवन में वह पनपती अवश्य है, पर उसके विकास की गति अत्यन्त मंद रहती है। संघर्ष में वह हँसती-खेलती और उछलती-कूदती आगे बढ़ती है। गुदगुदे गद्दे पर उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, जीवन के बीहड़ पथों में वह मुस्कराती है। ऐसी स्थिति में उसे अपने विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिए संघर्ष का आह्वान करना पड़ता है। संघर्ष की चोट खाने से ही उसमें तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता और सूक्ष्मता आती है। निराला जी की प्रतिभा इसी प्रकार की थी। वह कांटों में ही पले, काटों में ही फूले-फले और अन्त में कांटों में ही मुस्कुराये। अपने जीवन में उन्होंने कभी 'आसानियों' का स्वागत नहीं किया। विपित्तियों के सागर में पड़कर भी वह आगे बढ़ते रहे--'हजरत जिगर' मुरादाबादी भी ऐसी ही प्रतिभा के शायर थे। उन्होंने लिखा है—

'चला जाता हूँ हँसता-खेलता बहरे-हवादिस में।
अगर आसानियाँ हों, जिन्दगी दुश्वार हो जाये।।'

हिन्दी के साहित्यकारों में निराला जी का व्यक्तित्व असाधारण था। वह हजारों-लाखों में आसानी से पहचाने जा सकते थे। छः-सवा छः फुट का सुगठित माँसल शरीर, गंदुमीरंग, भरा हुआ गोल मुखमंडल, प्रशस्त दिव्य ललाट, लघु मुख-विवर, पतले-पतले अधर, दमकती दाड़िम-दशनावली, आंतरिक तेज से चमकती बड़ी-बड़ी लुभावनी आँखें, सिर पर काले कुंचित केश, उभरा हुआ चौड़ा वक्षस्थल, प्रलंभ भुजाएँ--ऐसा था उनकी जवानी में उनका आकर्षक रूप! वह जिस समाज में, जिस गोष्ठी में और जिस समारोह में बैठ जाते थे उसे अपने ओजस्वी व्यक्तित्व से सप्राण कर देते थे। परन्तु शरीर की वह माँसलता, मुखमण्डल की वह भव्यता,

ललाट की वह दिव्यता, काली घुंघराली अलकावली की वह सुघरता, बड़ी-बड़ी आंखों की वह तेजस्विता और स्वास्थ्य की वह सुन्दरता विपत्तियों के थपेड़े खा-खाकर उनके जीवन के अन्तिम दिनों में विलीन हो गईं और ऐसी विलीन हो गईं कि उन सबका कहीं चिह्न तक न रह गया। गला-सूखा शरीर, दाढ़ी से भरा मुरझाया मुखमंडल, उदास आंख और विक्षुब्ध हृदय लेकर वह इस संसार से, समय से पहले ही, विदा हो गये। जीवन की विरोधी परिस्थितियों ने ऐसा कसकर उनका दामन पकड़ा कि उन्होंने छोड़ने का नाम ही नहीं लिया—

'कहीं दुनिया में नहीं इसका ठिकाना ए 'दाग़'।
छोड़कर मुझको कहाँ जाय मुसीबत मेरी॥'

निरालाजी के जीवन की विपत्तियाँ उनकी अर्जित विपत्तियाँ नहीं थीं। वे परिस्थिति-जन्य थीं। परमात्मा ने उनके व्यक्तित्व का शृंगार ही कुछ ऐसे ढंग से किया था कि उसमें दो परस्पर विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण हो गया था। उनके पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी बंगाल के मेदिनीपुर जिले के अन्तर्गत महिषादल राज्य में सौ सिपाहियों के ऊपर जमादार थे। एक तो वैसवाड़े के निवासी और फिर सौ सिपाहियों के ऊपर जमादार! अक्खड़ता, साहस, दृढ़ता और पुरुषार्थ की वह सजीव प्रतिमा थे। ऐसे पिता के इकलौते पुत्र निरालाजी को आरम्भ से ही कठोर अनुशासन में रहना पड़ा। उनके बचपन में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इसलिए पिता की देखरेख में ही उनका पालन-पोषण हुआ। सूने परिवार में माता के सहज स्नेह से वंचित बालक को जिन प्रारंभिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उन कठिनाइयों का उन्होंने भी सामना किया। उन्हें भोजन-वस्त्र की कठिनाई तो नहीं हुई, पर उन्हें वह स्नेह नहीं मिला जो बालकों के जीवन में वसन्त का संचार करता है। पं० रामसहाय त्रिपाठी बाहर की तरह घर में भी सिपाहियाना रोब से काम लेते थे। उनमें स्नेह की कमी नहीं थी, पर वह अपनी आदत से मजबूर थे। वह साधारण भूल के लिए भी बालक निराला को क्षमा नहीं करते थे। वह बुरी तरह उन्हें पीटते थे। घर में कोई पुचकारनेवाला, कोई सहलानेवाला होता तो हृदय का घाव भर जाता, परन्तु यह सुविधा बालक निराला को नहीं मिली। ऐसी स्थिति में वह मन मसोस कर रह जाते थे। अधिक डाँट-फटकार और मारपीट से बालक वेहया और विद्रोही हो जाता है। बालक निराला में उसी समय से विद्रोह की भावना जाग उठी। विद्रोह की भावना के साथ-साथ उनके हृदय में संकोच और सहनशीलता भी उत्पन्न हुई। माता के असामयिक निधन से उनमें उच्छृंखलता भी आई और खाने पीने के बंधन से भी उन्हें छुटकारा मिला। बड़े होने पर भी उनके स्वभाव की ये प्रवृत्तियाँ उनके साथ बनी रहीं। आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने जातीय बंधन तोड़कर, अपने पिता के जीवन-काल में ही गढ़ाकोला के एक वेश्या-पुत्र के हाथ का भोजन किया। उनके इस अप्रत्याशित व्यवहार से उनपर जो बीती उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

'एक तो सिपाही आदमी, फिर हृष्ट-पुष्ट, इस पर व्यक्तिगत और जातिगत अपमान,

जाते ही मुझे पकड़कर फौजी प्रहार जारी कर दिया। मारते वक्त पिताजी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाह के बाद पाये हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। मैं भी स्वभाव न बदल पाने के कारण, मारखाने का आदी हो गया था। चार-पाँच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था, और प्रहार की हद भी मालूम हो गयी थी।'

निरालाजी के इस कथन में जो एक मीठा दर्द है, उस दर्द की दवा उन्हें जीवन भर नहीं मिली। इसमें सन्देह नहीं कि उनके पिता कठोर अनुशासक होने के साथ-साथ स्नेही भी थे और वह बालक निराला पर अपने पुत्रविषयक सहज स्नेह की वर्षा भी करते थे, परन्तु उनकी मार-पीट ने उनके स्नेह को प्रभावहीन कर दिया था। महिषादल के राज-परिवार ने उस दर्द की अवश्य दवा की, पर वह भी स्थायी न रह सका। उसी परिवार में रहकर बालक निराला ने राजसी ठाट-बाट का आनन्द उठाया। उनका विद्यार्थी-जीवन उसी राज-परिवार में बीता। संगीत, घुड़सवारी और और कुश्ती का शौक उनमें, उसी परिवार में रहने से, उत्पन्न हुआ। अपने पिता से उन्हें भारी भरकम शरीर, संकल्पक मन और पौरुष मिला था। अपनी माता से उन्हें स्नेही हृदय और भावुकता मिली थी। राज-परिवार में इन गुणों का विकास हुआ। इसके साथ ही राजसी ठाटबाट से रहने पर उन्हें जीवन की कठिनाइयों का अध्ययन करने का अवसर मिला। इससे दीनों के प्रति उनमें करुणा का उद्रेक हुआ। लेकिन उस दर्द की दवा उन्हें नहीं मिली। वह जीवन भर स्नेह और प्रेम के भूखे बने रहे।

निरालाजी का विद्यार्थी-जीवन अधिक लंबा नहीं रहा। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बंगला स्कूल में हुई। इसके बाद वह हाईस्कूल में भर्ती हुए। आठवीं-नवीं कक्षा तक पढ़कर ही उन्होंने स्कूली पढ़ाई समाप्त कर दी। स्कूली पढ़ाई उनकी प्रतिभा के अनुकूल नहीं थी। बंगला और अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन करने से साहित्य के प्रति उनमें अनुराग उत्पन्न हो गया था और एक साहित्यकार का जीवन बिताने का उन्होंने संकल्प कर लिया था। इसलिये स्कूली पढ़ाई छोड़ने के बाद उन्होंने स्वाध्याय-द्वारा बंगला और अंग्रेजी में काफी योग्यता प्राप्त कर ली। बैसवाड़ी भी उन्होंने सीखी, पर उसकी ओर उनकी अधिक रुचि नहीं थी। प्रतिभा तो थी ही, अभ्यास से वह बंगला में सुन्दर कविता करने लगे और उनकी कविताएँ बंगला के मासिक पत्रों में प्रकशित होने लगीं। इन्हीं दिनों मनोहरा देवी के साथ उनका विवाह (सन् १९१०ई०) में हुआ। उस समय निरालाजी १४-१५ वर्ष के थे और मनोहरा देवी ११ वर्ष की। मनोहरा देवी खड़ीबोली से भलीभाँति परिचित थीं। उन्हीं के आग्रह से निरालाजी ने खड़ीबोली सीखी और उसमें कविता करने लगे। उन्होंने पहली रचना 'जूही की कली' (सन् १९१६ ई०) 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। द्विवेदी जी उस समय 'सरस्वती' के संपादक थे। वह नीतिवादी थे। 'जूही की कली' में उन्मुक्त श्रृंगार का आवेश था। द्विवेदी जी ने उसे पढ़कर लौटा दिया। इससे निरालाजी के उत्साही हृदय पर ठेस अवश्य लगी, पर अपने स्वभाव के अनुसार वह हतोत्साहित नहीं हुए।

निरालाजी की 'जूही की कली' हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अपने ढंग की सर्वप्रथम रचना थी। उस पर रवीन्द्र के स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव अवश्य था, पर हिन्दी में उस टक्कर की कोई कविता उस समय तक देखने में नहीं आई थी। भाव, कल्पना, विषय, भाषा, शैली उसमें सब कुछ नया था। उसमें काव्य की रूढ़ियाँ तोड़ी गई थीं और वह प्रत्येक दृष्टि से क्रान्तिकारी रचना थी। 'माधुरी' के प्रथम वर्ष के एक अंक में उसके प्रकाशित होते ही हिन्दी-क्षेत्र में तूफान उठ खड़ा हुआ। चारों ओर से निरालाजी पर बौछार हुई। निरालाजी ने सब की बौछारों को सहन किया। लेकिन वह रुके नहीं, झिझके नहीं। उन्हें अपनी कला में, अपने कविकर्म में और अपनी रचना में विश्वास था। इसलिए वह दूने उत्साह से आगे बढ़ते रहे। अपने आलोचकों की उन्होंने परवाह नहीं की। वह तो अमीर मीनाई के इस शैर की दाद देते रहे—

'आज कुछ और भी पी लूँ कि सुना है मैंने।
आते हैं हजरते वाइज मेरे समझाने को।।'

निरालाजी का व्यक्तित्व जिन तत्त्वों से मिलकर बना था उनमें झुकने की कहीं गुंजाइश नहीं थी। उन्हें हिन्दी के साहित्यकारों ने ही नहीं आजमाया, परमात्मा ने भी उन्हें परखा और अच्छी तरह परखा। सन् १९१६ ई० में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। इससे घर-गृहस्थी का सारा भार उन पर आ पड़ा। ऐसी स्थिति में उन्होंने महिषादल-राज्य की सेवा स्वीकार कर ली। नौकरी क्या कर ली, किसी तरह अपने दिन काटने लगे। सन् १९१७ ई० में सरोज का जन्म हुआ और इसके एक वर्ष बाद ही उनकी पत्नी चल बसी, फिर दादाजाद बड़े भाई, भाभी, चाचा और भाभी की दूध पीती बच्ची-सब काल के गाल में समा गये। इन आघातों ने निरालाजी को मर्माहत कर दिया, लेकिन वह हताश नहीं हुए। अपने जीवन के रहस्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"सोलह-सत्रह साल की उम्र से भाग्य में जो विपर्यय शुरू हुआ वह आज तक रहा। लेकिन मुझे इतना ही हर्ष है कि जीवन के उसी समय से मैं जीवन के पीछे दौड़ा, जीव के पीछे नहीं। इसलिए शायद बच जाऊँगा। जीव के पीछे पड़नेवाला बड़े-बड़े मकान, राष्ट्र चमत्कार और जादू से प्रभावित होकर जीवन के हाथ धोता है, जीवन के पीछे चलनेवाला जीवन के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं रहता।"

पत्नी की मृत्यु के बाद अपने चार साल के पुत्र रामकृष्ण और अपनी एक वर्ष की पुत्री सरोज को अपनी सास के पास छोड़कर निराला जी कलकत्ता गये और अपनी चीज नीलामकर तथा नौकरी छोड़ कर अपने गांव लौट आये। सिवा उनके, घर का देखनेवाला कोई नहीं था। लेकिन घर उनका पेट नहीं भर सकता था। स्वभाव में अमीरी थी। हाथ खुला हुआ था। पैसे आने के द्वार बन्द थे। उस समय की अपनी स्थिति का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"मैं बेकार था। 'सरस्वती' से कविता और लेख वापस आ जाते थे। एक आध चीज छपी थी। 'प्रभा' में, मालूम हुआ, बड़े-बड़े आदमियों के लेख-कविताएँ छपती हैं। एक दफा आफिस जाकर बातचीत की। उत्तर मिला—इसमें भारतीय आत्मा, राष्ट्रीय पथिक, मैथिलीशरण गुप्त—

जैसे कवियों की कविताएँ छपतीं हैं। ...मुंह लटकाकर लौट आया।'' यह थी उस समय निरालाजी की स्थिति जब उन्होंने हिन्दी-संसार में अपना कदम बढ़ाया था।

लेकिन निरालाजी इन अपमानों से निराश नहीं हुए। उन्होंने हिन्दी-सेवा का व्रत लिया था और वह इसके लिए कृतसंकल्प थे। इसलिए विष के घूंट पीकर भी वह अडिग बने रहे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति बढ़ी और नयी पीढ़ी के कवि उनकी रचनाओं में रस लेने लगे। पुराने स्कूल वाले भी झुके। 'प्रभा' में निरालाजी की एक कविता प्रकाशित हुई। उस कविता को पढ़कर आचार्य द्विवेदी जी बहुत प्रभावित हुए। उनकी सिफारिस से निरालाजी 'समन्वय' के सम्पादक हो गये। यह अद्वैतवादी दर्शन का पत्र था और कलकत्ता से निकलता था। इस पत्र में निरालाजी ने अद्वैतवाद पर कई लेख लिखे। उनके इन लेखों का श्री महादेवप्रसाद सेठ पर गहरा प्रभाव पड़ा। सेठजी उन दिनों हिन्दी का नवीन आयोजन कर रहे थे और 'मतवाला' नाम का पत्र प्रकाशित करते थे। इस पत्र में प्रकाशित होने वाली सभी रचनाएँ नये ढंग की होती थीं। सेठ जी के आग्रह से निराला जी भी 'समन्वय' का सम्पादनकार्य त्यागकर 'मतवाला-मंडल' में सम्मिलित हो गये। परन्तु अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण वह वहाँ अधिक दिनों तक नहीं जम सके। एक ही वर्ष बाद उन्होंने 'मतवाला-मंडल' का परित्याग कर दिया। इस एक वर्ष के कार्य-काल में उन्होंने अपनी कल्पना की ऊर्जास्विता और काव्य-प्रतिभा को नवीन जीवन प्रदान किया। इसके साथ ही उन्होंने काव्य का नया पथ भी आलोकित किया। अपने इस कार्य में उन्हें सेठजी से स्नेह भी मिला और प्रोत्साहन भी प्राप्त हुआ। सेठ जी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है--''उनकी तारीफ में मैंने जब-जब कलम उठाई है, लेखनी रुक गई है। वे मुझे कितना चाहते थे, उसका उल्लेख असंभव है और यह ध्रुव सत्य है कि वे न होते तो निराला भी न आया होता।'' वास्तव में निराला जी को 'निराला' बनाने वाले सेठ जी ही थे। सेठ जी ने निरालाजी की प्रतिभा को पहचाना और उन्हें अपनी प्रतिभा का विकास करने के लिए भरपूर अवसर दिया।

निरालाजी स्पष्टवादी थे। व्यक्तिगत मामलों में उन्हें कुछ कहते हुए संकोच होता था, पर वह सामाजिक और साहित्यिक मामलों में किसी से समझौता करना नहीं पसंद करते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के कारण उनका काफी विरोध हुआ। उन्होंने अपना कोई 'गुट्ट' नहीं बनाया। मान-अपमान की उन्होंने चिन्ता नहीं की। 'कहती है तुझको खल्के खुदा गायबाना क्या' पर उन्होंने कभी अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया। वह बराबर अपनी साधना में लगे रहे। वह आत्म-विश्वासी और आत्म-निर्भर थे। 'दिल में जो आये, कह गुजरता हूँ' के वह कायल थे। इसलिए हर तरह के विरोध और हर तरह की बौछार सहते हुए भी वह आगे बढ़ते रहे। 'मतवाला' के सम्पादक-मंडल से अलग होने के बाद सन् १९२८ ई० में वह कलकत्ता से लखनऊ चले आये और 'सुधा' के संपादन में योग देने लगे। सन् १९२९ ई० में उनका 'परिमल' प्रकाशित हुआ। इस समय तक पंत और 'प्रसाद' प्रकाश में आ चुके थे। लेकिन हिन्दी में उनका इतना विरोध नहीं हुआ, जितना निरालाजी का। निराला जी 'पंत' और 'प्रसाद' से सर्वथा भिन्न थे। 'पंत'

और 'प्रसाद' की रचनाओं में रोमानी भावनाओं का उद्रेक था। इसके विरुद्ध निरालाजी की रचनाएँ राष्ट्रीय और यथार्थवादी थीं। इन रचनाओं में विषय के वैविध्य के साथ-साथ कवि का पौरुष भी था। निरालाजी का हिन्दी में विरोध उनके वर्ण्य विषय के कारण नहीं बल्कि उनके नूतन मुक्त छंद और उनके नूतन सौन्दर्य-बोध के कारण हुआ। उनके मुक्त छंद को किसी ने 'रबर छंद' और किसी ने 'केचुआ छंद' की संज्ञा दी। इसी तरह उनके सौन्दर्यबोध पर कीचड़ उछाला गया। सन् १९३२ ई० में 'भारत' में उनका एक लेख 'वर्तमान धर्म' प्रकाशित हुआ। इस लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इसमें सामाजिक रूढ़ियों के प्रति खुला विद्रोह था। इस लेख की आलोचना करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति थे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी। उन्होंने अपने 'विशाल भारत' में 'साहित्यिक सन्निपात के शीर्षक से अपना लेख प्रकाशित किया। यह विवाद कई महीने तक चला। अन्त में निराला जी ने खीझकर सं० १९८९ मार्गशीर्ष के महीने में उसका उत्तर दिया। उनका उत्तर 'साहित्यकों तथा साहित्य-प्रेमियों से नम्र निवेदन' शीर्षक से 'सुधा' में प्रकाशित हुआ। लेकिन उनके इस 'नम्र निवेदन' से भी पुराने हिन्दी-साहित्यकारों का क्रोध शान्त नहीं हुआ। सन् १९३५ ई० तक उनका बराबर विरोध होता रहा। इसी वर्ष उनकी एकलौती पुत्री सरोज का स्वर्गवास हो गया। पुत्री के स्वर्गवास का उनके हृदय और मस्तिष्क पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। 'सरोज-स्मृति' (सन् १९३५ ई०) की मार्मिक पंक्तियाँ उनके आँसुओं से ओतप्रोत हैं।

लेकिन निरालाजी का हृदय वज्र का वना हुआ था। सन् १९१६ से सन् १९३५ तक उनके पारिवारिक, सामाजिक, साहित्यिक और आर्थिक जीवन में ऐसे-ऐसे तूफान उठे कि दूसरा होता तो कंधे डाल देता, मगर निरालाजी पर्वत की भाँति अपने लक्ष्य पर डटे रहे। सन् १९२८ ई० से सन् १९४२ ई० तक लखनऊ में रहकर ही उन्होंने साहित्य-साधना की। विरोध के बावजूद भी वह आगे ही बढ़ते रहे। उपन्यास, कहानी-संग्रह, निबंध-संग्रह, कविता-संग्रह आदि उनकी कई रचनाएँ लखनऊ-काल में ही प्रकाशित हुईं। सन् १९४२ ई० के बाद उन्होंने प्रयाग के दारागंज मुहल्ले को अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया। दारागंज के जिस घर में उन्होंने रहना आरम्भ किया उसी घर में १५ अक्तूबर १९६१ ई० को दिन के ९ बजकर २३ मिनट पर उनका स्वर्गारोहण हुआ। उनका अंतिम जीवन बड़े कष्ट से बीता। अपने बचपन में अपने पिता की और अपने साहित्यिक जीवन में अपने आलोचकों की मार खाकर वह इतने अन्तर्मुखी हो गये थे कि वह समाज से प्रतिशोध न लेकर अपने से ही प्रतिशोध लेने लग गये थे। अपने से ही प्रतिशोध लेते-लेते वह टूट गये, लेकिन झुके नहीं। बैसवाड़े के रक्त ने उनको झुकना सिखाया ही नहीं था। 'हजरात जोश' के शब्दों में उनका आदर्श था—

राहे खुद्दारी से मरकर भी भटक सकते नहीं।
टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं॥

निराला के इस आदर्श में दुराग्रह नहीं था। कबीर की भाँति वह उस बात को मानने

के लिए हमेशा तैयार रहते थे जो तर्क की तुला पर ठीक उतरती थी। वह अंधविश्वासी नहीं थे। वह आत्म-विश्वासी थे। शरीर की विशालता के साथ-साथ उनका हृदय और उनका मस्तिष्क भी विशाल था। वह एक असाधारण मानव थे। उनके व्यक्तित्व में कोमलता और पौरुष, भावुकता और चिन्तन, श्रृंगारिकता और वीरता, सहनशीलता और विद्रोह, संकोच और साहस तथा दरिद्रता और समृद्धता का अद्भुत समन्वय था। वह कोमल इतने थे कि दूसरों का दु:ख देखकर तुरन्त पसीज जाते थे। दूसरों की आवश्यकता के मुकाबले में उन्होंने कभी अपनी आवश्यकता को महत्व नहीं दिया। इसलिए वह आजीवन गरीब होकर भी अमीर और अमीर होकर भी गरीब बने रहे। मिज़ाज में उनके बादशाहत थी और बादशाहत के साथ जिंदादिली! पैसा है तो बादशाह हैं, नहीं तो फाकेमस्त फकीर। इत्र से उन्होंने स्नान किया, पाँच-पाँच सेर दूध उन्होंने हजम किया, बादाम का हलवा उन्होंने खाया, लेकिन जब पैसा नहीं रहा तो कई दिनों तक सूखी रोटियों पर ही उन्होंने संतोष किया। अपनी आर्थिक विपन्नता में उन्होंने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। उन्हें लोभ छू तक नहीं गया था। स्वाभिमानी वह अवश्य थे, लेकिन अपने व्यवहार में वह अत्यन्त उदार थे। अतिथियों और मित्रों की आव-भगत में वह अपने हृदय की सारी पूंजी लगा देते थे। स्वाभिमान उनका उसी समय जागता था जब उनके व्यक्तित्व पर कोई चोट करता था। उस समय वह बड़े-बड़ों को फटकार देते थे।

निरालाजी में और भी कई खूबियाँ थीं। एक उनमें यह थी कि उन्होंने अपने जीवन की किसी बात पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं की। उनके व्यवहार में कहीं भी गोपनीयता नहीं थी। माँस उन्होंने खाया, शराब उन्होंने पी, लेकिन छुपकर नहीं, खुलेआम और सबसे कहकर! दूसरी खूबी उनमें यह थी कि वह अत्यन्त उदार थे। उनके आलोचकों ने उन पर कीचड़ उछाला, लेकिन उन्होंने कीचड़ का जबाव कभी कीचड़ से नहीं दिया।उनका हृदय अत्यन्त शुद्ध और निर्मल था। किसी प्रकार का छल-कपट उनमें था ही नहीं। अपने विरोधियों का उन्होंने उतना ही सम्मान किया जितना अपने मित्रों का। तीसरी खूबी उनमें यह थी कि उन्होंने अपने दिल का दर्द बांटा नहीं, अपने ही तक उसे सीमित रखा और उस दर्द से वह आजीवन पीड़ित रहे। उसकी दवा न तो उनके मित्र कर सके और न वह स्वयं! उनका दर्द उनके साथ ही चला गया। हजरत मज़ाज ने लिखा है—

'सबका तो मुदावा कर डाला, अपना ही मुदावा कर न सके।
सबके तो गरेबाँ सी डाले, अपना ही गरेबाँ भूल गये।।'

निराला जी अपने व्यक्तिगत जीवन में सहृदय कुटुंबी, पितृभक्त प्रेमी पति, स्नेही पिता तथा विश्वसनीय मित्र और सामाजिक जीवन में करुणा की साकार प्रतिमा थे। उन्होंने कितनों का भला किया, कोई बता नहीं सकता। अपने साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिन्दी को क्या और कितना दिया यह सब के सामने है और उनकी देन के महत्व को सब स्वीकार करते हैं। उनके जीवन में उनका जितना सत्कार नहीं हुआ, उससे अधिक उनका सत्कार उनके निधन के बाद

हो रहा है। यह उनके लिए ही गौरव की बात नहीं, हिन्दी के लिए भी गौरव की बात है। हिन्दी का यह सौभाग्य ही था कि अपनी पत्नी की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी की सेवा करने का व्रत लिया और सेठ महादेवप्रसाद के प्रोत्साहन से वह बराबर आगे बढ़ते रहे। हिन्दी की सेवा में उन्हें अनेक बार विष के घूंट पीने पड़े, परन्तु उन विष के घूंटों को उन्होंने अमृत से परिणत कर हिन्दी को लौटा दिया। उनके निधन के पश्चात् उनसे हमें यही सबक लेना है---यदि हम सचमुच हिन्दी-प्रेमी हैं तो हमें वह सारा विष पीकर उसे अमृत में परिणत करना होगा जो उसके विरुद्ध उगला जा रहा है। ऐसे परीक्षा काल में हमारा कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति में बराबर प्रयत्नशील रहें और ऐसे साहित्य का सृजन करें जिससे उसका गौरव बढ़े। हिन्दी की सेवा निराला जी का सबसे बड़ा सत्कार है।

मैं कुकुरमुत्ता हूँ !

मैं कुकुरमुत्ता हूँ,
पर बेन्जोइन (Benzoin) वैसे,
बने दर्शनशास्त्र जैसे,
ओमफलस (Omphalos) और ब्रह्मावर्त,
वैसे ही दुनिया के गोले और पर्त
जैसे सिकुड़न और साड़ी,
कस्मोपालिटन व मेट्रोमालिटन,
जैसे ही फ्रायड, लिटन,
फैलसी और फिलसफा,
जरुरत और हो रफा,
सरसता में फ्राड,
कैपिटल में जैसे लैनिनग्राड,
सच समझ जैसे रकीब,
लेखकों में लंठ जैसे खुशनसोब !

--निराला
('कुकुरमुत्ता' का एक अंश)

डाक्टर पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

महाकवि निराला के काव्य में आत्म-व्यंजना

महाकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हिन्दी साहित्य की उन विरल विभूतियों में गणनीय हैं, जिन्होंने अपने जीवन का कण-कण मां भारती के पाद-पद्मों में निष्काम भाव से समर्पित कर दिया। छायावादी युग के स्तम्भ होने पर भी निरालाजी की आत्मा संतों जैसी थी। यदि विद्रोही और फक्कड़ स्वभाव की दृष्टि से उनकी समता किसी से की जा सकती है तो केवल कबीर से की जा सकती है। जैसे कबीर लकुटी हाथ में लेकर बाजार में खड़े हुये थे और अपने साथ चलनेवालों से घर फूंकने की आशा रखते थे, वैसे ही निरालाजी भी सामाजिक दृष्टि से विपन्न और सर्वहारा की कोटि के प्राणी थे। साहित्यिक दृष्टि से इतने महान व्यक्तित्व के धनी होने पर भी उनकी जो उपेक्षा हुई वह किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं कही जा सकती। उनके साहित्य--विशेष रूप से काव्य के अध्ययन--से उनकी जीवन-कथा के अनेक मार्मिक अंशों का उद्घाटन होता है।

किसी कवि के काव्य में आत्म-व्यंजना दो प्रकार से हो सकती है—एक **प्रत्यक्ष** और दूसरी **अप्रत्यक्ष**। प्रत्यक्ष रूप से होनेवाली आत्म-व्यंजना में कवि अपने जीवन में घटित होनेवाली घटनाओं का, रुचि-अरुचि और आशा-निराशा का चित्रण करता है। अप्रत्यक्ष रूप से होनेवाली आत्म-व्यंजना में वह अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं का परिचय देता है। उसका जीवन-दर्शन अप्रत्यक्ष रूप से होने वाली आत्म-व्यंजना में ही प्रकट होता है।

प्रत्यक्ष रूप से निराला के जीवन की गतिविधि का दिग्दर्शन करानेवाली कविताओं में 'सरोज-स्मृति' का महत्वपूर्ण स्थान है। कवि की पुत्री उपयुक्त चिकित्सा के अभाव में मर जाती है। उसकी स्मृति को सजीव करने के लिए कवि ने जो कविता लिखी है वह उसका आत्मचरित्र बन गई है। इस कविता के प्रारम्भ में कवि को अपने पिता होने की निरर्थकता की अनुभूति होती है और वह पुत्री के लिए कुछ भी न कर पाने पर आत्मग्लानि के साथ लिखता है--

> **धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,**
> **कुछ भी तेरे हित कर न सका।**
> **जाना तो अर्थागमोपाय,**
> **पर रहा सदा संकुचित काय**
> **लखकर अनर्थ आर्थिक पथपर**
> **हारता रहा मैं स्वार्थ - समर!**

अभिप्राय यह कि कवि जानता है कि किस प्रकार अर्थ का संचय किया जाता है पर वह अनर्थ से पूर्ण पथ है, अतः वह उस पर नहीं चल सकता। परिणामतः वह स्वार्थ-समर में हारता रहा। न केवल एक बार वरन् जीवन भर वह ऐसा ही बना रहा। उसने कभी किसी क्षीण का अन्न न छीना और न किसी के दृगों को विपन्न देखा। उसने दूसरों के आंसुओं में अपनी व्यथा का संधान पाया। ऐसे द्रवणशील कवि को कहां अवकाश मिलता कि वह अपनी पुत्री का उत्तम रीति से पोषण कर पाता ? केवल सवा साल तक वह कवि के साथ रही और मां की मृत्यु होने पर नानी की गोद पलने चली गई। पुत्री अपने भाई के साथ ननिहाल में रही और कवि सरस्वती की आराधना में लीन रहा—

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द
पर सम्पादक गण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक पंक्ति दो में उत्तर।

दो वर्ष बाद कवि अपनी पुत्री को देखने जाता है, जहाँ उसका (कवि का) दूसरा विवाह करने के लिए अनेक लोग आते हैं। तब कवि की उम्र छब्बीस की रहती है। वह विवाह टालने के लिए अपने को 'मंगली' बताता है। इस पर भी जब सासुजी आग्रह करती हैं तो कुण्डली ही फाड़ देता है। कारण यह है कि पुत्री को देखकर उसे विवाह बन्धन प्रतीत होता है। वह विवाह नहीं करता और पुत्री के बड़े होने पर उसे उसके विवाह की चिन्ता सताती है। विवाह करे तो कहाँ ? अपनी कान्यकुब्ज जाति में अर्थ की मांग का भीषण रूप उसे खलता है। दहेज और रूढ़ि की दास अपनी जाति को वह किस आक्रोश-पूर्ण घृणा से देखता है, यह इन पंक्तियों में देखिये—

ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद
इनके कर कन्या, अर्थ खेद
इस विषम बेलि में विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल नहीं सुजल

और वह निश्चय करता है कि इस रूढ़ि का पालन वह न करेगा। सौभाग्य से एक कान्यकुब्ज साहित्यिक युवक मिल जाता है। वह उसे अपनी स्थिति से अवगत कराता है। न दहेज न बारात, कुछ भी संभालना उसके लिए दुष्कर है। वह तो विवाह के मंत्र भी स्वयं पढ़ने को उद्यत है। युवक राजी हो गया और विवाह हुआ। विवाह भी ऐसा कि जिसमें कोई स्वजन न था क्योंकि निमंत्रण ही नहीं भेजा गया था। कवि की मनोदशा का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि पुत्री को शिक्षा देने के लिए उसे स्वयं ही प्रस्तुत होना पड़ा। वह कहता है—

मां की कुल शिक्षा मैंने दी
पुष्प - सेज तेरी स्वयं रची
सोचा मन में, वह शकुन्तला,
पर पाठ अन्य वह अन्य कला।

अपनी पुत्री को शकुन्तला की समता के लिए रखकर कवि ने जो 'पर पाठ अन्य वह अन्य कला' कहा है उसमें उसके निविड़ एकाकीपन की कसक निहित है। यदि यह सौभाग्य भी कवि को प्राप्त होता तो बहुत था किन्तु जिस पुत्री के लिए उसने विवाह नहीं किया वह भी न रही और कवि को लिखना पड़ा—

मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब ई विकल
दुख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही!

यह अनभ्र वज्रपात कवि ने सहा और मूक होकर सहा। किसलिये? मात्र साहित्य-सेवा के लिए और एक क्षण को भी उसकी लेखनी ने विराम न लिया। पूरी कविता कवि की बेबसी और विद्रोह का ऐसा मिश्रण है कि रोमांच हुए बिना उसका पढ़ना संभव नहीं।

'सरोज-स्मृति' के बाद 'हिन्दी के सुमनों के प्रति' शीर्षक कविता में कवि ने अपने आलोचकों के प्रति अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया है। इस कविता के द्वारा सहज ही कवि के सहिष्णु व्यक्तित्व की झांकी मिल जाती है। इसमें भी उसके मन की व्यथा उभर-उभर आती है और हम सोचते हैं कि इतने विरोध के बावजूद भी कवि आगे बढ़ता गया तो इसीलिये कि उसे आत्म-विश्वास था। व्यंग्यपूर्ण शैली में अपनी दृढ़ता का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है—

मैं जीर्ण - साज बहु छिद्र आज
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन,
मैं हूँ केवल पद-तल आसन
तुम सहज विराज महाराज।
ईर्ष्या नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि

यदि यह कहें कि अपने जीवन की उच्चस्तरीय तपस्या में कवि निराला विद्यमान कवियों में सर्वाधिक श्रद्धा के पात्र रहे हैं तो अत्युक्ति न होगी। लेकिन जैसे कवि को वन्दन-अभिनन्दन

से चिढ़ हो। प्रहार सहते-सहते उसका हृदय नितान्त निराश हो गया था और वह अपनी व्यथा को स्वयं ही झेलना चाहता था। वह अपनी 'हताश' शीर्षक कविता में चुनौती के स्वर में कहता है—

जीवन चिर कालिक कुन्दन।
मेरा अन्तर वज्र कठोर।
देना जी भरसक झकझोर
मेरे दुख की गहन अन्ध
तम-निशि का न कभी हो भोर
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता
इतना वन्दन - अभिनन्दन।

यह सन् २२ की कविता है। कवि आशा और निराशा के झूले में झूलता हुआ निरन्तर साहित्य-सर्जन में लीन रहा किन्तु कभी-कभी जब दूसरों से अपनी तुलना करता है तो उसे लगता है जैसे वह रण में हार गया हो—

हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण में गया हार
सोचा न कभी
अपने भविष्य की रचना पर चल रहे सभी

कवि ने जो पथ चुना है वह सबसे भिन्न था। उसमें योगक्षेम की व्यवस्था की चिन्ता न थी, हिन्दी की समृद्धि का लक्ष्य पूरा करना था और वह भी मौलिक अवदान के साथ। लेकिन हिन्दी वालों ने उसे न समझा और कवि अकेला पड़ गया। 'मैं अकेला' कविता इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—

देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सान्ध्य बेला
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती जा रही
हट रहा मेला
जानता हूँ नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ हँस रहा यह देख
कोई नहीं भोला।

अब तक जिन कविताओं के उद्धारण दिये गये हैं उनमें और उनसे मिलती-जुलती अन्य कविताओं में जो कवि-जीवन की झलक मिलती है वह प्रत्यक्ष रूप से उसकी आत्म-व्यंजना का रूप प्रस्तुत करती है। अप्रत्यक्ष रूप से कवि की आत्मव्यंजना का आभास उसकी अन्य कविताओं

में होता है। अप्रत्यक्ष रूप से आत्मव्यंजना करने वाली कविताओं में जो सबसे पहली बात लक्षित होती है वह है कवि की भक्ति-भावना। यह भक्ति-भावना किसी निश्क्रिय एकान्त सेवी भक्त की बैठेठाले की खिलवाड़ नहीं है। वह भक्ति-भावना संघर्ष-पथ पर अन्धविश्वास के पाश छिन्न-भिन्न कर निरन्तर आगे बढ़ती जाने वाली है और उसमें राष्ट्रप्रेम भी मिला हुआ है। कवि नरजीवन के समस्त स्वार्थों और अपने श्रमार्जित फलों को भारत मां के चरणों में चढ़ाने को प्रस्तुत होता है। उस वंदिनी मां की अश्रु-जल-धौत विमल मूर्ति से प्रेरणा लेकर वह क्रूर काल को चुनौती देते हुए बाधाओं की परवाह न करके अपने वलिदान का संकल्प करता है—

बाधाएं आएं तन पर
देखूँ तुझे नयन निर्भर
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक उर के शतदल पर
क्लेश-युक्त अपना तन दूंगा
मुक्त करूंगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय-श्रम-सिंचित फल।

इस कार्य के लिए वह किसी प्रकार के प्रलोभन में नहीं फँसना चाहता और सब कुछ सहने को उद्यत है। समस्त लांछना और तिरस्कार को सहते हुए वह बाधाओं को पार कर जाना चाहता है—

लांछन - इन्धन हृदय तल जले अनल
भक्ति नत - नयन मैं चलूं अविरत सबल
पार कर जीवन प्रलोभन समुपकरण।
प्राण संघात के सिन्धु को तीर मैं
गिनता रहूंगा न, कितने तरंग हैं
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण।

'जननि' और 'मां' के रूप में कवि ने चाहे भारत माता की वन्दना की हो या शक्ति की या श्यामा की, वह सदैव क्लीवता और दीनता से मुक्ति का अभिलाषी रहा है। उसने अपने वन्दना-गीतों में कभी व्यक्तिगत सुख की कामना नहीं की। समस्त दलित और पीड़ितों का सुख उसका लक्ष्य है। सन् ४५ में जब इन पंक्तियों के लेखक को इस युग-पुरुष का अतिथि होने का सौभाग्य मिला था तब आधुनिक कविता में प्रगतिवादी प्रवर्तन की चर्चा चलने पर उसने सहज भाव से कहा था—'यों प्रगतिवादी विचारधारा का सूत्रपात तो हिन्दी में हमने ही किया है, अब चाहे कोई माने या न माने।' और सचमुच 'तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक', 'विधवा' आदि कविताओं में दीन

और दलित के प्रति कवि की जो सहानुभूति प्रवाहित हुई है उसका उनके समकालीन कवियों में कहीं पता भी नहीं है। 'बेला' 'नये पत्ते' और 'अणिमा' की अनेक रचनाओं में तो उन्होंने पूँजीवादी विकृति का खुले रूप में चित्रण किया है। लेकिन निराला का हृदय सदैव प्रार्थना-रत रहा है, यह ऐसा तत्व है, जिसको विस्मरण नहीं किया जा सकता। उनकी 'अर्चना' और 'आराधना' में संग्रहीत रचनाएँ, जो उनके रुग्णावस्था की हैं, इसका प्रमाण है। सचमुच उनमें भक्त-कवि की आत्मा का निवास था। 'आराधना की एक कविता है—

भग्न तन, रुग्ण मन,
जीवन विषण्ण वन।
क्षीण क्षण क्षण देह
जीर्ण सज्जित गेह
घिर गये हैं मेह
प्रलय के प्रवर्षण
चलता नहीं हाथ
कोई नहीं साथ
उन्नत, विनत माथ
दो शरण, दो षरण।

('आराधना' पृष्ठ ६२)

इन पंक्तियों को पढ़कर लगता है जैसे कवि गोस्वामी तुलसीदास की भाँति रोग से विकल हों। अन्त में तो कवि का मन जैसे मोम हो गया था।' 'आराधना' की ही चार पंक्तियां और उल्लेख्य हैं। इनमें कवि की अन्तरात्मा का दर्शन होता है। वे पंक्तियाँ हैं—

आंखों के तिल में दिखा गगन
वैसे कुल समा रहा है मन
तू छोटा बन, बस छोटा बन,
गागर में आयेगा सागर:

('आराधना' पृष्ठ ८)

उनकी रचनाओं में ग्राम्यजीवन के प्रति उनकी तीव्र आसक्ति का भी दर्शन होता है। गाँव का मेला, गंगास्नान, जुते हुये खेत, लहलहाती फसलें, किसान-मजदूरों के आमोद-प्रमोद आदि का चित्रण करने में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। छायावादी कवि होने पर भी उनमें गाँव के प्रति यह जो स्वाभाविक लगाव दिखाई देता है वह उनकी अपनी विशेषता है। हमें निराला के काव्य का अध्ययन करते समय ग्राम्यजीवन के जो बहुविध चित्र मिलते हैं उनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कथाकारों में यदि प्रेमचन्द ने ग्राम को अन्तर की आंखों से देखा है तो छायावादी कवियों में निराला ने। 'देवी सरस्वती' शीर्षक कविता इस दृष्टि से बड़ी महत्व की

है। उसमें ऋतु के अनुसार ग्राम्यजीवन के विभिन्न चित्र हैं। उदाहरणार्थ शरद् ऋतु में ग्राम का यह चित्र देखिए—

सिमटा पानी खेतों का, ओट पर चले हल
पांस खेत किये जो गये जोत कर मखमल
डाले बीज चने के, जव के और मटर के,
गेहूं के, अलसी-राई सरसों के, कर से
ऐसे बाह-बाह की वीणा बजी सुहाई
पौधों की रागिनी सजीव सजी सुखदाई
सुख के आंसू दुखी किसानों की जाया के
भर आये आंखों में खेती की माया के।
हरी भरी खेतों की सरस्वती लहराई
मग्न किसानों के मन उन्मद बजी बधाई।
खुली चांदनी में डफ और मजीरे लेकर
बैठे गोल बांधकर लोग विछे खेतों पर
गाने लगे भजन कबीर के, तुलसीदास के
धनुष भंग के और राम के बनोबास के
कतकी में गंगा-स्नान की बढ़ी उमंगे
सजी गाड़ियां, चले लोग, मन चढ़ती चंगे।
मेले में खेती के कुछ सामान खरीदे
देखे हाथी घोड़े रब्बे, लौटे सीधे।

'हरी भरी खेतों की सरस्वती लहराई' कहकर कवि ने जैसे अपनी कविता का मूलमंत्र ही हमारे समक्ष रख दिया है। जन-जीवन के प्रति निराला जी की यह आसक्ति ही उनके जीवन का वह आकर्षण कही जा सकती है, जिसने उनके व्यक्तित्व को तरलता दी थी।

कवि निराला भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत थे और अपने अतीत पर उन्हें बड़ा गर्व था। 'जागो फिर एक बार' 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' 'यमुना के प्रति' 'तुलसीदास' 'सहस्राब्दि' और 'भगवान बुद्ध के प्रति' जैसी कृतिओं में उन्होंने बार बार भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रांकन किया है। इन कविताओं में उन्होंने भारतीय दर्शन और अध्यात्म की महत्ता को ओजपूर्ण शब्दों में व्यक्त करने के साथ साथ जड़वाद पर घोर प्रहार किया है। 'भगवान बुद्ध के प्रति' कविता में वे कहते हैं—

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिये खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे

आज लक्ष्य में हैं, मानव, स्थल-जल अम्बर
रेल तार बिजली-जहाज नभयानों से भर
दर्प कर रहे मानव, वर्ग से वर्ग गण
भिडें राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विलक्षण
हँसते हैं जड़वाद-ग्रस्त, प्रेत ज्यों परस्पर
विकृत नयन मुख, कहते हुए, अतीत, भयंकर
था मानव के लिये पतित था वहां विश्व मन
अपटु, अशिक्षित, वन्य हमारे रहे बन्धुगण
नहीं वहां था कहीं आज का मुक्त प्राण यह
तर्क सिद्ध है, स्वप्न एक है विनिर्वाण यह!

'जागो फिर एक बार' में सुप्त भारतवासियों को अपनी विस्मृत-वीरता का ज्ञान कराने और 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' में जयसिंह जैसे औरंगजेब के क्रीत दासों के कर्त्तव्य-ज्ञान कराने में कवि का भाव यही था कि हिन्दू अपने गौरव को पहचान लें। 'सहस्राब्दि' इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसमें कवि ने भारत के पुरातन गौरव का पूरा इतिहास समाहित किया है। बुद्ध, महाबीर, शंकर, रामानुज आदि ने भारतीय जनता के जीवन को दर्शन की जिस श्री से विभूषित किया है, उसका परिचय प्राप्त कर कवि का दार्शनिक रूप समझने में सुविधा होती है।

सारांश यह है कि निराला के काव्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की आत्म-व्यंजना मिलती है। उसके आधार पर एक ओर हम उनकी उस जीवन-गाथा को जान सकते हैं, जिसमें समाज के प्रति विद्रोह के कारण उन्हें एकाकी ही परिस्थितियों से लड़ना पड़ा तो दूसरी ओर उनके देशभक्त, जन-दुख कातर, दार्शनिक और अध्यात्म-प्रिय व्यक्तित्व का भी आभास पा लेते हैं। वैसे निराला का जीवन पौरुष का पुंजीभूत रूप था। पौरुष भी ऐसा था जो साहित्य की वेदी पर चढ़कर बलिदान की अक्षय सुगंध बिखेर गया है। उनकी मृत्यु जिस करुण स्थिति में हुई उसमें उन्हीं की ये पंक्तियां कितनी सटीक बैठती हैं।

मरण को जिसने बरा है
उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसी के
अंक सत्य यशोधरा है।

कुँवर सुरेश सिंह

युगप्रवर्त्तक कवि निराला : एक संस्मरण

श्री निराला जी को सर्व प्रथम देखने का सौभाग्य मुझे १९३० ई० में प्राप्त हुआ, जब लाहौर कांग्रेस से लौटने पर मैं लखनऊ में बीमार पड़ा था। एक दिन श्री दुलारेलाल जी भार्गव के साथ श्री निराला जी मेरे पूज्य भाई राजा अवधेश सिंह जी से मिलने लखनऊ की कोठी पर आए। भागर्व जी तो मुझे जानते थे लेकिन निराला जी से मैं परिचित नहीं था। भाई साहब से मेरी अस्वस्थता और हिन्दी-प्रेम के बारे में सुन कर भागर्व जी तो वहीं बैठे रहे लेकिन निराला जी उठ कर चुपचाप मेरे कमरे में चले आए और अपना परिचय देकर मेरे पास बैठ गए। उन्होंने मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूंछताँछ करने के बाद वहीं बैठे ही बैठे अपनी दो कवितायें एक कागज़ पर लिख कर मुझे आशीर्वाद स्वरूप दीं और कहा, "इन्हें स्वस्थ होने पर पढ़ियेगा। राजा साहब से आपके हिन्दी-प्रेम के बारे में सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।"

मुझे उनके इस स्नेह-पूर्ण व्यवहार से उनके विशाल हृदय का सहज ही में परिचय मिल गया, जिसके एक कोने में उनके जीवन-काल तक मुझे थोड़ा सा स्थान मिला रहा।

वैसे तो निराला जी के दर्शन अक्सर लखनऊ में हो जाते थे लेकिन जब से श्री सुमित्रा नंदन जी पन्त कालाकांकर में रहने लगे तब से वे यहां अक्सर आने का कष्ट करने लगे। यहां वे श्री पन्त जी के साथ "नक्षत्र" में रहते थे और गांववालों में ऐसे घुल मिल जाते थे जैसे यहीं के निवासी हों। एक बार वे होली पर आये तो जब हम लोग गांव घूमने निकले तो उन्हें हमलोगों की पार्टी से अलग होकर गाने-बजाने वाले होरिहारों के बीच ताल देते हुए चलना अधिक पसन्द आया। शाम को धमार की पार्टी जुटी तो निराला जी ने उसमें सब से प्रमुख पार्ट लिया।

एक साल उन्होंने दशहरा यहीं मनाया। किसी ने मज़ाक में उनसे कुम्भकर्ण बनने को कहा तो बड़े ज़ोर से हँस कर बोले "मैं तैयार हूं लेकिन यहां भी कहीं वही हाल न हो जो हमारे पड़ोस के गांव में एक बार हुआ था।" मेरे पूछने पर उन्होंने बताया, "मेरे पड़ोस में एक बहुत बन्नू पंडित थे जो अपने को बड़ा मज़ाकी लगाते थे, एक बार दशहरे पर मेरे पास आकर बोले—निराला जी ! क्या बताऊँ कुम्भकर्ण का पार्ट करने वाला अचानक बीमार पड़ गया है। यदि आप कष्ट करें तो रामलीला सफल हो जाये। मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कुम्भकर्ण बन कर राम-लक्ष्मण से युद्ध करने आ गया। दोनों भाइयों ने मेरे ऊपर तीर चलाये तो मैंने राम बने हुए लड़के को पकड़ लिया। वह बेचारा रुअंधा होकर हाथ जोड़ कर लक्ष्मण की ओर इशारा करके बोला—मेरा नहीं, इसी लक्ष्मण का तीर आपको लगा है, मुझ को छोड़ दो। लक्ष्मण बने लड़के

ने जब यह हाल देखा तो वह तीर-कमान फेंक कर भाग खड़ा हुआ। और मैंने जब हँस कर राम को छोड़ दिया तो वे भी मुकुट वगैरह उतार कर नौ दो ग्यारह हो गया। इतना होने पर मैंने पंडित जी की ओर मुड़ कर कहा—"आइये हनूमान जी अब आप से ही दो हाथ होजाये। उस बार जब आप लंका जला कर भाग गए थे तो मैं सो रहा था। पंडित जी की घिग्घी बँध गई और उनकी जान में जान तब आई जब मैं जोर से हँस कर अपनी जगह आ बैठा। लोग हँसते हँसते लोट पोट हो गए और पंडितजी का उसी दिन से मजाक करना छूट गया।"

यह किस्सा सुनकर हमारे यहाँ के विनोदी सज्जन चुपके से खिसक गए।

श्री निराला जी इतना अच्छा गोश्त पकाते थे कि बस न पूछिए। वे जब कालाकांकर आते तो हमलोगों की प्रार्थना पर एक दिन अपने हाथ का पका गोश्त अवश्य खिलाते थे। मेरे बड़े भाई साहब शाकाहारी थे इसलिए उन्हें इस 'प्रसाद' से वंचित रह जाना पड़ता था। एक बार निराला जी बरसात के मौसम में कालांकाकर आए तो उन्होंने "कुकुरमुत्ते" की तरकारी बना कर खिलाई। 'कुकुरमुत्ते' को गांव में खुम्भी कहा जाता है और वह स्वाद में गोश्त जैसा ही होता है। बरसात में उसे बोना नहीं पड़ता और वह अपने आप ही जंगलों और मैदानों में निकल आता है। निराला जी ने पकाते पकाते उसकी तारीफ के पुल बांध दिए और उसके स्वतंत्र रूप से उगने के गुण को सामने रख कर उसे सब पुष्पों से ऊंचा उठा दिया। इसके बाद बात आई गई खतम हो गई।

कई वर्षों बाद जब मैं अल्मोड़े में नज़रबन्द था तो उन्होंने अपने २६-६-४१ ई० के पत्र में मुझे लिखा :—

मारफत लीडर प्रेस, इलाहाबाद
२६-६-४१

प्रिय श्री कुँवर साहेब,

आप का पत्र लखनऊ से फिर भेजा जा कर मुझे यहां मिला। समाचार मालूम हुए। अब तक पन्त जी आप से मिल चुके होंगे। दिल्ली रेडियो का उनके सभापतित्व में होने वाला कवि सम्मेलन मैंने सुना, मुझे बहुत पसंद आया। मालूम नहीं १९ जुलाई को लखनऊ रेडियो में होने वाले कवि सम्मेलन में वे शरीक हो रहे है या नहीं। मेरे पास भी पत्र आया था जवाब में शरीक न हो सकने के लिए मैंने लिखा है। बहुत दिनों से अधूरी पड़ी किताबें "चमेली" और "बिल्लेसुर बकरिहा"—पूरी कर रहा हूँ। प्रेस से कड़ा तकाजा है, कुछ रुपये पेशगी ले चुका हूँ। "कुकुरमुत्ता" एक बड़ी रचना ४५० पंक्तियों की इधर लिखी है, आधुनिक ढंग की हास्य-रस प्रधान: शुरू की, १५० लाइनों के करीब मई के 'हंस' से निकल चुका है। जबान हिन्दुस्तानी है। मैं इसे अपनी 'तुलसीदास' रचना की कोटि की समझता हूँ।

सस्नेह आपका
"निराला"

मुझे "कुकुरमुत्ता" सचमुच बहुत पसंद आया और मैंने उसे पढ़ने के बाद उन्हें ऐसी सुन्दर रचना के लिए बधाई दी, जिसके उत्तर में उन्होंने लखनऊ से २९-७-४१ को लिखा :—

भूसामंडी, हाथी खाना, लखनऊ
२९-७-४१

प्रिय कुँवर साहेब,

आपका पत्र मिला। "कुकुरमुत्ता" आपको पसंद आया, श्रम सार्थक है। यहाँ का कवि-सम्मेलन साधारण अच्छा रहा। मैं फिर प्रयाग लौट जाना चाहता हूँ। 'हंस' के इस महीने में "खजोहरा" १३४ लाइन की कविता निकलेगी। साधारण है। पैर का दर्द बहुत बढ़ा है। काम बहुत कम होता है। यहाँ पं० अमरनाथ जी झा आये हैं। एक कवि सम्मेलन उनके सम्वर्धन से हो रहा है। मैं रहूँगा। अब कुछ ध्यान मैंने बंगला की तरफ भी दिया है।

भगवतीचरण वर्मा का एक पत्र आपके पत्र के साथ आया है, उसमें उन्होंने लिखा है—हमने सुना है कि आप का यह दावा है कि आप कहानी तगड़ी लिखते हैं। लिहाज़ा हमें कहना यह है कि पूजा के अवसर पर "विचार" का एक विशेषांक निकल रहा है उसके लिए एक कहानी और एक कविता आप भेजें। कहानी और कविता दोनों ही भेजनी होंगी, समझे आप।"

महादेवी वर्मा का गद्य-दर्शन रेखाचित्र या ऐसा ही नाम है, कुछ बड़े ठाट से भारती-भंडार से निकल रहा है।

मैं अब 'सुरुहटू' पर कविता लिखने वाला हूं, बिल्लेसुर बकरी चरा चुके, अब शादी कर रहे हैं। चमेली एक के साथ भाग गई।

आप प्रसन्न होंगे। बच्चों का कुशल चाहता हूं। नमस्कार। प्रकाश जी को—

पन्त जी की पायल इधर खूब बज रही है। पानी नहीं बरसा। खेती सूख गई।

आपका
सूर्यकान्त त्रिपाठी

नज़रबंदी से मुक्त होने पर एक दिन प्रयाग में उनसे भेंट हुई तो उन्होंने मुझसे मेरी फ़ोटो मांगी, मैंने कारण पूछा तो बड़े जोर से हँस कर बोले, "डरिये नहीं। आपकी शादी के लिए फ़ोटो नहीं मांग रहा हूं, मुझे "कुकुरमत्ता" के लिए उसकी आवश्यकता है। मैं वह संग्रह आपको देना चाहता हूँ।"

मेरी और कुछ कहने की हिम्मत न हुई और मैंने घर आते ही उनकी आज्ञा का पालन कर दिया; उसके थोड़े ही दिनों बाद मुझे "कुकुरमुत्ता" की कुछ प्रतियां उनके स्नेह-पत्र के साथ प्राप्त हुईं। और उनके स्नेह का प्रतीक कुकुरमुत्ता मेरे जीवन की अमूल्य धरोहरों में से एक हो गया।

'कुकुरमुत्ता' का यही संक्षिप्त इतिहास है। श्री बच्चन जी का यह अनुमान कि उस कविता में निराला जी ने अपने को कुकुरमुत्ता तथा श्री पन्त जी को गुलाब का रूप दिखाया है, ठीक नहीं है। यह सत्य है कि मेरी प्रार्थना पर श्री पन्त जी ने अपना कुछ समय यहां बिताया था लेकिन वे

यहां किसी के आश्रित नहीं थे। उनके यहां रहने से श्री निराला जी के मन में क्षोभ नहीं वरन् प्रसन्नता थी, ऐसा वे मुझसे अक्सर कहा करते थे। उन जैसा औघड़दानी महापुरुष, जो अपने तन का कपड़ा तक दूसरों के कष्ट को देख कर उतार कर दे देता था, अपने समकक्षी, और प्रिय सहयोगी को थोड़ी सुविधा पाते देख कर भला कभी डाह करेगा ? ऐसा सोचना उनका अपमान करना होगा।

श्री निराला जी जैसा स्पष्टभाषी, आत्माभिमानी तथा आनबानवाला निराला व्यक्ति, जो हिमालय की तरह सारे विघ्नबाधाओं को हँसते हँसते अपने ऊपर झेल लेने की क्षमता रखता था, मुझे अपने जीवन में दूसरा नहीं दिखाई पड़ा। उनके न जाने कितने संस्मरण मेरे मस्तिष्क में हैं लेकिन स्थानाभाव से यहां उन्हें पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना संभव नहीं है।

० ० ०

अबे सुन बे, गुलाब

अबे सुन बे गुलाब,
भूलमत गर पाई खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा है कैपटलिस्ट,
कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रखा है, सहाया जाड़ा घाम,
हाथ जिसके तू लगा,
पैर सर पर रख व पीछे से भगा,
जानिब औरत की मैदाने जंग छोड़,
तबेले को टट्टू जैसे तंग तोड़,
शाहों, राजों, अमीरों, का रहा प्यारा,
इसलिये साधारणों से रहा न्यारा,
करना क्या हस्ती है तेरी, पोच तू,
कांटों से ही है भरा, यह सोच तू,
कली जो चटकी अभी
सूखकर कांटा हुई होती कभी,
रोज पड़ता रहा पानी,
तू हरामी, खानदानी,
चाहिए तुमको सदा मेहरुन्निसा,
जो निकाले इत्र-रू, ऐसी दशा
बहाकर ले चले लोगों को, नहीं कोई किनारा
जहाँ अपना नहीं कोई भी सहारा,
ख्वाब में डूबा चमकता हो सितारा,
पेट में डंड पेलते चूहे, जबां पर लफ्ज प्यारा

—निराला
('कुकुरमुत्ता' का एक अंश)

डाक्टर कुसुम वार्ष्णेय

निराला के कथा-साहित्य में नारी

निराला के काव्य और कथा-साहित्य दोनों में नारी अत्यंत महत्वपूर्ण वर्ण्य-विषय रहा है। उनके लगभग प्रत्येक उपन्यास और कहानी में किसी-न-किसी रूप में नारी विषयक समस्याएं उभरी हैं। यही नहीं, उनके अधिकांश उपन्यास और कहानियों के शीर्षक भी नायिकाओं के नाम पर हैं, यथा 'अलका', 'निरुपमा' 'प्रभावती', 'पद्मा और लिली', 'ज्योतिर्मयी', 'कमला', 'श्यामा', 'सुकुल की बीबी, 'श्रीमती गजानंद शास्त्रिनी', 'देवी'; आदि। निराला के कथा-साहित्य में नारी का इतना गरिमामय स्थान होने का कारण एक ओर तो स्वयं निराला का उदारचित-स्वभाव था और दूसरी ओर तत्कालीन परिस्थितियां थीं। नारी विषयक मार्क्सवादी विचारधारा से तो निराला प्रभावित थे ही, साथ ही तद्‌युगीन समाज-'सुधारवादी आंदोलन ने भी उन्हें कम अभिभूत नहीं किया था। 'समाज सुधारवादी आंदोलन---आत्मीय सभा' (१८१५), 'ब्रम्हसमाज' (१८२८), 'आर्यसमाज' (१८७५) ईसाई मिशनरियों तथा गांधी जी द्वारा स्त्री संबंधी रूढ़ियों, कुसंस्कारों और अंधविश्वासों को आमूल नष्ट करने के भगीरथ प्रयत्न हुये। इन आंदोलनों के फलस्वरूप सतीप्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा तथा वेश्यावृति आदि पर कठोर नियंत्रण हुआ। इसके विपरीत विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्रीशिक्षा आदि को बल मिला। वस्तुतः सुधारवादी आंदोलनों द्वारा नारी-जागरण को जो प्रोत्साहन मिला, वह स्तुत्य है। इन्हीं आंदोलनों का परिणाम था कि एक दीर्घ युग के बाद नारी को समाज में महत्वपूर्ण और सम्माननीय स्थान मिला। अब पुरुष के समकक्ष नारी का अस्तित्व किसी भी दृष्टि से हीन नहीं रह गया। स्त्रियों के लिए शिक्षालय खुले। रूढ़ियों में पली साधारण अशिक्षित और विवेकहीन स्त्री में शिक्षा और नये विचारों के अभ्युदय ने स्वयं स्त्री में आत्म-गौरव और स्वाधीनता के भाव जाग्रत किये। पाश्चात्य समाज और वहां की स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करने से भारतीय नारी अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट हो गई। उसने घर में तो अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया ही, बाहर के कार्यों में भी वह सक्रिय भाग लेने लगी। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों में विपुल संख्या में स्त्रियों ने उत्साहपूर्ण भाग लिया और अपने अधिकारों की रक्षा हेतु अनेक संगठन बनाये। इन संगठनों में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन', 'स्त्रियों की राष्ट्रीय समिति', 'विश्वविद्यालय स्त्री संघ', 'कस्तूरबा राष्ट्रीय स्मारक समिति' प्रमुख हैं।

इसी काल में गांधी जी ने नारी को मिथ्याडम्बर और अंधविश्वासों से मुक्त कर नारी-जागरण को प्रोत्साहन मिला। उन्होंने बताया कि स्त्री पुरुष के आदर्श और अधिकार समान हैं। इनमें

किसी प्रकार की असमानता वर्जित है। नारी और पुरुष के कार्यक्षेत्र में भी वे किसी प्रकार का भेद नहीं मानते थे। गांधी जी ने नारी का पथ-प्रदर्शन किया और उसे रचनात्मक कार्य करने के लिये प्रोत्साहित किया। उन्हीं के अथक परिश्रम का परिणाम था कि तत्कालीन नारी ने विपुल संख्या में राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लिया था। नारी को पूर्ण स्वतंत्रता देने पर भी गांधीजी नारी को आर्थिक स्वतंत्रता देने के समर्थक न थे। इस विषय में भारतीय नारी ने विदेशी विचारकों से प्रेरणा ली। मार्क्स और लेनिन ने नारी को आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्र माना। उनका कहना था कि आर्थिक रूप से स्वतंत्र हुये बिना नारी की अन्य क्षेत्रों की स्वतंत्रता व्यर्थ है। यही कारण है कि तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकर्त्री महिलाएं क्रांतिकारी कार्यों में भी सक्रिय सहयोग देती थीं।

अतएव, तत्कालीन भारतीय समाज में नारी पूर्ण स्वाधीन हो गई थी। वह किसी रूप में पुरुष वर्ग की मुखापेक्षी नहीं रही। आर्थिक रूप से भी वह स्वावलम्बी बनी। निराला ने नारी स्वाधीनता और स्वावलम्बन का समर्थन एवं पोषण किया। 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियां' नामक लेख में निराला ने बताया कि नारी पुरुष के समानाधिकार की अधिकारिणी है और वह बिना पुरुष के भी स्वावलम्बी बनकर रह सकती है। "अब घर के कोने में समाज और धर्म की साधना नहीं हो सकती। जमाने ने रुख बदल दिया है। हमारे देश की लड़कियों पर बड़े-बड़े उत्तरदायित्व आ पड़े हैं। उन्हें वायु की तरह मुक्त रखने में ही हमारा कल्याण है। तभी वे जाति, धर्म तथा समाज के लिए कुछ कर सकेंगी। उन्हें दबाव में रख इस देश के लोग अपने जिस कल्याण की चिंतना में पड़े हैं, वह कल्याण कदापि नहीं, प्रत्युत निरी मूर्खता है[1]।" फलतः निराला के विचारानुरूप उनके कथा-साहित्य की समस्त नारियां सामाजिक, आर्थिक तथा प्रेम के क्षेत्र में पूर्ण स्वाधीन और स्वच्छंद हैं। उन्हें विवाह और प्रेम की पूर्ण स्वतंत्रता है। 'निराला' ने अपने समकालीन लेखकों की भांति नारी को दया एवं करुणा की दृष्टि से नहीं देखा, वरन् सम्मान एवं सहानुभूति की दृष्टि से देखा है। निराला के समकालीन लेखकों ने विधवा-विवाह इसलिए आवश्यक बताया कि स्त्रियों को रोटी-कपड़े के लिए दूसरों का मुंह न देखना पड़े। किन्तु निराला ने विधवा विवाह को आर्थिक नहीं, नैसर्गिक आवश्यकता बताया, जिससे नारी अकुंठित और सहज जीवन व्यतीत कर सके।

इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि निराला ने अपने ढंग से विधवा और वेश्याओं की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण सुधारवादी था, अतएव उनके समाधान की परिसमाप्ति आश्रमों में हुई है किन्तु निराला ने व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है। यहां हम निराला और बेचन शर्मा 'उग्र' के दृष्टिकोणों में साम्य पाते हैं। 'उग्र' के 'शराबी' (१९३०) का नायक मानिकलाल वेश्या जवाहर से विवाह कर सामाजिक मान्यताओं

---

१. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : 'प्रबंध प्रतिमा', पृष्ठ १३०-१३३, सं० १९९७, भारती भंडार, इलाहाबाद।

की अवहेलना करता है, निराला के 'अप्सरा' (१९३१) का नायक राजकुमार गंधर्वकुमारी कनक से विवाह करता है। इसी भांति निराला ने विधवा-विवाह की समस्या सुलझाई है। 'ज्योतिर्मयी' में लेखक एक युवक से विधवा का विवाह कराता है। इस संदर्भ में यह कह देना भी प्रसंगानुकूल है कि निराला के पुरुष-पात्र स्त्री-पात्रों के सम्मुख फीके पड़ गये हैं, क्योंकि वे समाज-भीरु हैं। 'अप्सरा' का नायक राजकुमार अनेक अंतर्द्वंदों के बाद, मित्र की पत्नी के अथक प्रयास के फलस्वरूप ही, कनक से विवाह करने को प्रस्तुत हो पाता है। उसमें बार-बार पूर्व संचित संस्कार जाग्रत हो उठते हैं और वह कनक से विवाह करने को कतराता रहता है; यद्यपि वह उसके अतुल सौंदर्य से अभिभूत हो चुका है।[२] 'ज्योतिर्मयी' का विजय तो ज्योतिर्मयी के सम्मुख और भी अधिक निस्तेज और दुर्बल प्रतीत होता है। विधवा-विवाह करते हुए उसे लाज लगती है।[३] और जब उसके मित्र के प्रयत्नों के फलस्वरूप छल से विजय के साथ ज्योतिर्मयी का विवाह हो जाता है, तो ज्योतिर्मयी के हृदय में इस स्यार पुरुष के लिए तीव्र घृणा मध्याह्न की ज्वाला की तरह भभक उठती है।[४] वस्तुतः निराला के पुरुष-पात्र तत्कालीन युवक-समाज की मनोवृत्ति और हृदयान्दोलन को प्रकट करते हैं। तद्युगीन युवकों में आत्मिक साहस का अभाव था। निराला ने इन युवकों पर प्रत्यक्ष व्यंग किया है।

अपने काव्य में निराला ने नारी के श्रृंगारी रूप का चित्रण ही अधिक किया है, यद्यपि 'विधवा'[५] तथा 'तोड़ती पत्थर'[६] में क्रमशः विधवा और श्रमजीवी नारी का करुण और सहानुभूति पूर्ण अंकन हुआ है। किन्तु कथा-साहित्य में हमें निराला की भिन्न प्रकार की नारी के दर्शन होते हैं। यद्यपि ये नारियां सोलह या अठारह वर्ष की 'ज्योति के चन्द्र पुष्प की तरह'[७] 'एकान्त कुंज की कली-सी'[८] 'अप्सराओं सी',[९] 'अधखिली कलिका'[१०] हैं, फिर भी इन कोमलांगियों में विद्रोह और आत्माभिमान

---

२. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला': 'अप्सरा', पृष्ठ ६०-६२, सं० २०१७, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

३. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला: 'ज्योतिर्मयी' ('लिली' कहानी संग्रह) पृष्ठ २५, सं० २०१३, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

४. वही, पृष्ठ ३६।

५. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला: 'अपरा' (कविता संग्रह) पृष्ठ ५६-५७, सं० २००३, साहित्यकार संसद, प्रयाग।

६. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला: 'अनामिका' (कविता संग्रह) पृष्ठ ७९-८०, सं० १९-९४, भारती भंडार, इलाहाबाद।

७. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला: 'अप्सरा', पृष्ठ ११-१२, सं० २०१७, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

८. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला: 'लिली', पृष्ठ ९ सं० २०१३, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

९. वही, पृष्ठ २६।

१०. वही पृष्ठ ३८।

की अग्नि प्रज्वलित है और उनके विचार 'समाज के तिनके के लिए आग हैं।' वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक ही नहीं, उनके लिए जी-जान से लड़ने वाली हैं। वे चाहे सुशिक्षित हों या अर्ध-शिक्षित या बिना पढ़ी, सभी समाज की रूढ़ियों और कठोर बंधनों को तोड़ने का साहसपूर्ण उद्योग करती हैं। ऊँच-नीच और जाति-बंधनों को वे स्वयं तो तोड़ती ही हैं, इसके लिए वे पुरुषों को भी साहस और बल देती हैं। 'निराला' के कथा-साहित्य के अध्ययन से हमें यह भी अवगत होता है कि वे जाति-बंधन के घोर विरोधी थे। यही कारण है कि उनकी नारियां जाति-बंधन की श्रृंखला तोड़कर प्रेम-विवाह करती हैं। 'श्यामा' कहानी में लेखक ने एक लोध बालविधवा का विवाह कुलीन ब्राह्मण-पुत्र बंकिम से कराया है। 'सुकुल की बीबी' मुसलमान है, किन्तु वह साहस के साथ ब्राह्मण सुकुल से विवाह कर लेती है। 'निराला' ने विजातीय विवाह का एक और समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'लिली और पद्मा' के नायक-नायिका परस्पर हार्दिक प्यार करते हैं और विजातीय होने पर भी विवाह-संबंध स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु नायिका के पिता मरते दम तक यह नहीं होने देते और मृत्यु-शय्या पर भी अपनी पुत्री से वचन ले जाते हैं कि वह विजातीय विवाह नहीं करेगी। अब एक ओर नायिका पद्मा अपने वचन पर अटल रहती है और दूसरी ओर अपने प्यार को विघटित नहीं करना चाहती। अतः वह आजन्म अविवाहित रहकर अपने विचारों का संचार बालिकाओं में करती है। "जिस जाति के विचार ने उसके पिता को इतना दुर्बल कर दिया था, उसी जाति की बालिकाओं को अपने ढंग पर शिक्षित कर, अपने आदर्श पर लाकर, पिता की दुर्बलता से प्रतिशोध लेने का उसने निश्चय कर लिया।"[११]

पुरुषों के पाशविक अत्याचार और निरंकुशता के प्रति भी निराला की नारियां क्रांति-कारिणी और प्रतिद्वन्द्विनी हैं। 'कमला' कहानी की एक पात्री, कमला के अपने पति के अत्याचारों को सहन करने के विरोध में कहती है "मैं होती, तो चपत का जबाब दूने कस की चपत कसकर देती——उन्हीं की तरह अपना भी दूसरा विवाह साथ-साथ करती, ऊपर से न्योता भेजती कि आइए जनावमन्, मेरे शौहर से मुलाकात कर जाइए"।[१२] निराला की क्रांतिकारी और विद्रोही प्रकृति जैसे इन शब्दों में फूट पड़ी है। इसीलिए प्रायः आलोचक कहते हैं कि निराला का व्यक्तित्व पुरुष के पात्रों के माध्यम से नहीं, स्त्री पात्रों के माध्यम से अधिक मुखर गया है।

निराला की नारियां प्रबुद्ध भी हैं और प्रगतिशील भी। सभी नारियां उन्मुक्त-प्रेम की पोषक हैं। 'कनक' (अप्सरा) 'अलका' 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'पद्मा', 'ज्योतिर्मयी', 'श्यामा', 'सुकुल की बीबी', 'श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी' आदि स्वच्छंद प्रेम की स्पष्ट व्याख्या करती हैं। ज्योतिर्मयी तो विधवा होते हुए भी अपनी बहन के देवर को प्यार करने लगती है। 'पद्मा और लिली' में पद्मा स्वच्छंद-प्रेम की स्पष्ट व्याख्या करती है कि विवाह और प्यार एक बात नहीं है। विवाह करने

---

११. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : 'लिली', पृष्ठ २१, सं० २०१३, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

१२. वही, पृष्ठ ४९।

से होता है, प्यार आप होता है। कोई किसी को प्यार करता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उससे विवाह भी करता है।[13] इस व्याख्या से यह ध्वनि निकलती है कि विवाह का अर्थ यह नहीं कि पति-पत्नी में परस्पर प्रेम भी हो। 'सुकुल की बीवी' के सुकुल विवाहित होने पर भी दूसरी स्त्री से उन्मुक्त-प्रेम करते हैं। वास्तव में निराला से पूर्व नारियों द्वारा स्वच्छंद-प्रेम का पोषण इतने सशक्त ढंग से नहीं हुआ था। निराला की नारी अपने उन्मुक्त-प्रेम का तिरस्कार नहीं सह सकती और जो उसके प्यार का तिरस्कार करता है, उसके प्रति वह प्रतिहिंसा से भर उठती है। 'ज्योतिर्मयी' की नायिका अपने प्यार के मूल्य को न समझने वाले नायक को घृणा की दृष्टि से देखती है। 'श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी' भी नायक मोहन की समाज-भीरुता की खिल्ली उड़ाती है, क्योंकि मोहन की भीरुता के कारण ही अधेड़ से विवाह कर, उसे अपना जीवन अपने हाथों ही नारकीय बनाना पड़ता है। समाज-विहित विवाह को निराला ने अधिक प्रश्रय नहीं दिया क्योंकि, उससे समाज में विकृति तथा युवक-हृदयों में कुंठाएं पनपती हैं। यही कारण है कि निराला ने स्त्रियों को अन्य सामाजिक समानाधिकार देने के साथ रोमांस की भी पूरी छूट दी है। इसीलिए उनकी नायिकाओं की सहेलियां भी उनके उन्मुक्त-प्रेम में सहायक हुई हैं। 'अप्सरा' की तारा, 'निरुपमा' की कमल, 'प्रभावती' की यमुना 'सखी' की जोत ऐसी ही सखियां हैं, इन सब सखियों में स्नेह और उत्सर्ग की भावना सन्निहित है।

निराला की समस्त नारियां प्रबुद्ध, प्रगतिशील और विद्रोहिणी अवश्य हैं, फिर भी निराला ने कहीं भी उनके शील को बिखरने नहीं दिया है।[14] कमला आत्माभिमानिनी होते हुए भी पति-परायण है और पति-परित्यक्त होकर भी कभी पति का अनिष्ट नहीं चाहती। इसी भांति 'अप्सरा' की कनक वेश्या-पुत्री होते हुए भी शीलवती है। सुशिक्षित निरुपमा में अपार शील है और अलका अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिए हत्या तक करती है। यहां निराला में हमें भारतीय संस्कार बोलते हुए दीखते हैं। निराला पुरातन भारतीय-संस्कृति के अनन्य उपसक थे। इसीलिए वे भारतीय नारी का पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से अभिभूत होना बुरा समझते थे। आधुनिक नारियों के संबंध में उनका विचार था कि "वे इतना बहिर्मुख तथा दूसरे राष्ट्रों की ऐश्वर्यवती महिलाओं के रूप-रंग, हाव-भाव, केश-वेश आदि की तरफ बढ़ी हुई हैं कि उन्हें अपनी आत्मा की ज्योति की तरफ देखने का अवकाश ही नहीं मिलता"। स्पष्ट है कि निराला नारी को केवल उन बातों में प्रगतिशील देखना चाहते थे, जो कल्याणकारी हैं, शुभ हैं।[15] जिस आचरण को अपनाने से नारीत्व का हनन हो, उसे वे त्याज्य कहते थे। कदाचित् इन्हीं विचारों का परिणाम है कि निराला

---

१३. वही, पृष्ठ १६।

१४. 'चोटी की पकड़' (१९४६) की मुन्ना बांदी अवश्य अपवाद है, किन्तु वह एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करती है, सामान्य नारी का नहीं।

१५. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : 'प्रबंध पद्म', पृष्ठ १५०-१५१, सं० १९९१, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ।

की नारी अत्यंत स्वस्थ है और उसका चित्रण सूक्ष्म, तटस्थ एवं संयमित हुआ है। निराला के कथा-साहित्य में नारी का स्थूल चित्रण कहीं नहीं मिलता। उनकी कविताओं में यद्यपि नारी के शृंगार पक्ष का यथेष्ट अंकन है, किन्तु उसमें भी वासना तथा अश्लीलता का अभाव है। यही कारण है कि निराला के नारी-चित्र हमारे हृदय में अत्यंत सात्विक भाव जाग्रत करते हैं।

अस्तु, निराला के कथा-साहित्य में हमें नारी का सत् रूप ही मिलता है। वर्ग की दृष्टि से निराला ने उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग, एवं शिक्षा की दृष्टि से शहरी और ग्रामीण नारी की मनोवृत्तियों, मनोदशाओं और विद्रोह को स्वर दिया है। निराला की ग्रामीण नारी में विद्रोह तथा प्रतिशोध की अद्भुत क्षमता है। उनके अधूरे उपन्यास 'चमेली' में दो नारी-पात्र प्रमुख हैं और दोनों ही में प्रतिकार की वह उत्कट भावना है, जो पुरुषों में नहीं है। चमेली के बाप में अन्याय तथा शोषण का विरोध करने की शक्ति नहीं है, किन्तु स्वयं चमेली और उसकी मां में वह आत्म-चेतना तथा जागरूकता है, जिनके सामने समाज के ठेकेदारों को भी मुंह की खानी पड़ती है। स्पष्टतः निराला की नारी दुर्बल और क्षीण मनोबल की नहीं है।

अतएव निराला के कथा-साहित्य की नारी और उसका चित्रण, अपने में पूर्ण और स्वस्थ है। तथापि निराला के नारी-चित्रण में एक न्यूनता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता है। निराला ने राजनीतिक तथा तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेने वाली महिलाओं को अपने कथा-साहित्य का वर्ण्यविषय नहीं बनाया, जबकि तद्युगीन परिस्थितियों में ऐसी नारी अपना विशिष्ट आकार निर्मित कर रही थी। इस नारी के महत्व को भुला देना, बड़े आश्चर्य की बात है। राजनीति में भाग लेने के लिए उसे किन-किन सामाजिक तथा पारिवारिक संघर्षों का सामना करना पड़ता था, यह कथा-साहित्य के लिए एक महत्वपूर्ण विषय हो सकता था; किन्तु निराला इस गौरवशाली नारी के प्रति उदासीन रहे। संभवतः इसके मूल में निराला की राजनीति संबंधी उदासीनता है। कारण चाहे कुछ भी हो, किन्तु उपर्युक्त न्यूनता निराला के नारी-चित्रण के महत्व को किसी भी भांति कम नहीं करती, क्योंकि उन्होंने जिस प्रकार की भी नारी का अंकन किया है, वह स्वंय में पूर्ण है।



डॉक्टर रामलाल सिंह

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का व्यक्तित्व

सूर्यकान्त त्रिपाठी का व्यक्तित्व यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करता है। उनका व्यक्तित्व उनके उपनाम के अनुसार आधुनिक हिन्दीसाहित्य में सूर्य के समान तेजस्वी तथा ओजस्वी है, उसमें सूर्य के समान चमक, पौरुष, महानता, विराटता, महाप्राणता तथा जीवन की अन्यतम शक्तियां वर्तमान हैं। उनके उपनाम के अनुसार उनका व्यक्तित्व निराला था, इस कारण उनका निरालापन उनके व्यक्तित्व के प्रत्येक अंग में प्रतिविम्वित हुआ। सच्चे आर्यों के समान उनका सुदीर्घकाय रूप, विशाल लोचन, वृषभ स्कंध, उन्नत मस्तक, प्रशस्त वक्षस्थल, आजानु वाहु आदि सभी में निरालापन वर्तमान था। उनका वेश, उनकी रहन-सहन, उनका भोजन, तथा उनकी दिनचर्या का ढंग भी निराला था। उनके वाह्यजीवन के अनुसार उनके आन्तरिक जीवन के सभी गुण, सभी विशेषताएँ तथा सभी तत्व निराले थे। उनका चिन्तन-मनन तथा दर्शन, उनकी श्रद्धानिष्ठा, त्याग, प्रेम, स्मृति, विश्वास तथा धैर्य, उनका स्वाभिमान, संघर्ष, अनासक्ति, तथा पौरुष, उनकी उग्रता, नम्रता, प्रौढ़ता तथा गंभीरता, उनकी सहनशीलता, दीनवन्धुता, निर्भीकता, दृढ़ता, संकल्पशीलता, निस्पृहता, संवेदनशीलता, अपराजेयता, उनकी बौद्धिकता, तथा निश्छलता, उनकी क्रान्तिकारिता, कान्तदर्शिता, सहृदयता तथा तन्मयता सभी कुछ निराला था।

उनके व्यक्तित्व के प्रत्येक अंग में निरालापन बसने के कारण उनकी साहित्यसर्जना का प्रत्येक तत्व––क्या प्रतिभा, क्या व्युत्पत्ति, क्या अभ्यास, क्या शैली, क्या भाषा, क्या छन्द, क्या कल्पना, क्या चिन्तन, क्या अनुभूति, क्या भाव, क्या संगीत, क्या संवेदन सभी कुछ निराला था।

निराला जी का व्यक्तित्व निराला होते हुए बहुमुखी भी था। वे कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, रेखाचित्रकार, अनुवादक, संपादक, समीक्षक, व्यंग्यकार, संगीतकार, दार्शनिक, वक्ता, पहलवान, तैराक, पाचक, खिलाड़ी तथा साधक थे। इन सभी दिशाओं में उनका व्यक्तित्व निराला था। अर्थात् उनके व्यक्तित्व में अनेक व्यक्तियों के अनेक गुण समाहित थे। वे सच्चे अर्थों में एक सफल कलाकार, तत्वाभिनिवेशी, द्रष्टा, युग-स्रष्टा, क्रान्तदर्शी एवं क्रान्तिकारी रूप में वाणी के अवतार थे।

सदा संवेदन-शील तथा संघर्षमय एवं व्यापक जीवन व्यतीत करने के कारण निरालाजी ने अपनी कृतियों में तत्कालीन जीवन के प्रायः प्रत्येक प्रमुख पहलू पर प्रकाश डाला है। वे अपने युग की सभी समस्याओं के प्रति जागरूक थे। उन्होंने अपने काव्य तथा कथा-साहित्य में ग्राम-नगर,

स्त्री-पुरुष, किसान-मजदूर, जमीदार-साहूकार, हिन्दू-मुसलिम, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, सम्मिलित कुटुम्ब तथा व्यक्तिवादी जीवन, अछूत तथा सवर्ण हिन्दू, अन्तर्जातीय विवाह तथा वेश्या-समस्या आदि अनेक युगीन समस्याओं का यथाप्रसंग निरूपण करते हुए उनका उचित समाधान प्रस्तुत किया है। यथा, 'बादलराग' में राजनीतिक क्रान्ति की भावना निहित है, 'भारति जय विजय करे', में सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान की आत्मा वर्तमान है, 'कुकुरमुत्ता' में सामंत-वादी तथा पूंजीवादी सभ्यता से उत्पन्न समस्याओं पर व्यंग्य हैं और उसका यह संदेश है कि देश की उन्नति के लिए सांस्कृतिक तत्वों के सन्तुलन की महान् आवश्यकता है। पूंजीवादी तथा शोषित-वर्ग के वैषम्य को मिटाये बिना समाज का उन्नयन असम्भव है। 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास', तथा भगवान बुद्ध के प्रति कविताओं में उन्होंने भारतीय ऐतिहासिक चेतना के स्वर को प्रतिष्ठित किया है, अणिमा तथा परवर्ती काल की अन्य व्यंग्यमूलक रचनाओं में समाज की दुर्बलताओं, कुरीतियों तथा वैषम्यों की ओर संकेत है, 'विधवा' नामक प्रगीत में विधवा की कारुणिक समस्याओं की ओर संकेत है, 'वह तोड़ती पत्थर', 'भिखारी', आदि प्रगतिशील रचनाओं में शोषण का मार्मिक, द्रावक तथा कारुणिक चित्र है। परवर्ती काल के प्रार्थनापरक गीतों में कवि समाज की विकृतियों से क्षुब्ध होकर उनकी दूरीकरण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है।

कहानियों में नारी की तत्कालीन सभी समस्याओं पर उन्होंने प्रकाश डाला है। उनके उपन्यासों में भी नारी-समाज में रूढ़ि से विद्रोह करने की भावना भरी है पर भारतीय संस्कृति से च्युत होकर नहीं, उससे संयुक्त होकर ही क्रान्ति करने की भावना है जैसे, 'अप्सरा' उपन्यास में वेश्या-विवाह की समस्या का स्वस्थ समाधान है; 'अलका' में आदर्श नारी की समस्याओं का चित्रण है, 'कुल्ली-भाट' में नारी की पारिवारिक समस्याओं का समाधान है। उनके अन्य उपन्यासों में भी सामाजिक ढोंग, अर्थिक शोषण, अछूत समस्या, सवर्ण हिन्दू समस्या का स्वस्थ समाधान कलात्मक ढंग से निरूपित किया गया है।

वे दीनों, दुखियों, शोषितों, पीड़ितों, भिखारियों, किसानों, मजदूरों तथा अछूतों और विधवाओं की पीड़ा से दुखी होकर उन पर कविता, कहानी या उपन्यास ही नहीं लिखते थे वरन् प्रत्यक्ष जीवन में उन्हें गले भी लगाते थे और उस समय उनके पास जो भी होता उसे न्यौछावर कर देते थे और स्वयं भिखारी बन जाते थे। इस प्रकार उनके हाथ में कर्ण की दानशीलता वर्तमान थी। उपर्युक्त पंक्तियाँ यह भी बताती हैं कि उनका साहित्य तत्कालीन वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क रखता था। उनके पात्र जैसे, कुल्लीभाट, बिल्लेसुर बकरिहा, चतुरी चमार, भिखारी, इलाहाबाद पर तोड़ती पत्थर, आदि तथा कहानी एवं उपन्यासों के अन्य पात्र तत्कालीन वास्तविक जीवन से निरीक्षण के पश्चात् चयन किये गये हैं। इससे उनके साहित्य में आदर्शवादिता के साथ यथार्थवादिता का भी समन्वय हो गया है।

उनका व्यक्तित्व बहुत ही व्यापक था। इसी कारण वे छायावाद के मूर्धन्य कवि होते हुए भी उस धारा के सैद्धान्तिक पक्ष के गुलाम नहीं बने बल्कि उससे आगे बढ़कर उन्होंने एक ओर प्रगति-वादी धारा के उपयोगी तत्वों को अपनाया, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात

किया। अन्य छायावादी कवियों के समान उनकी कविताओं में न तो कहीं पलायन का स्वर है और न साम्प्रदायिकता की गंध। अपनी साहित्यिक कृतियों में कहीं वे आदर्शवादी हैं तो कहीं यथार्थवादी। उनमें कहीं स्वस्थ परम्परा का समर्थन है तो कहीं प्रगतिवादी संतुलित दृष्टिकोण का चित्रण। कहीं राष्ट्रीय चेतना का निरूपण है तो कहीं अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन। यद्यपि वे अपनी कविताओं में प्रमुख रूप से एक स्वच्छन्दतावादी विचारधारा को लेकर चलते हैं पर अद्वैतवादी दर्शन अपनाने के कारण भारतीय संस्कृति के उदात्त धरातल से वे कहीं स्खलित नहीं होते। इसी कारण वे युगस्रष्टा होते हुए शाश्वत ज्योति-द्रष्टा भी हैं।

अपराजेयता उनके व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता है। इसीलिए उन्होंने हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के विषय को लेकर महात्मा गान्धी तथा नेहरू से भी चर्चा की और हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी-भाषा के विषय में उनकी कतिपय धारणाओं का विरोध भी किया। गान्धी जी ने एक बार कह दिया कि आज भी हिन्दी-साहित्य में कोई बड़ा कवि नहीं है और रवीन्द्र के सामने तो कोई है ही नहीं। निरालाजी उनके इस मत का प्रतिवाद करने के लिए उखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन में पहुँचे और उन्होंने गान्धी जी से निर्भीकतापूर्वक स्पष्ट पूछा कि आपने यह बात किस आधार पर कही है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ के टक्कर के कुछ हिन्दी की रचनाओं को भी सुनाना चाहा किन्तु समयाभाव के कारण वे नहीं सुन सके और फिर कभी उन्हें सुनाने के लिए वर्धा बुलाया। इस धटना से यह विदित होता है कि वे किसी महत्वाकांक्षावश गान्धी जी के पास नहीं गये वरन् वे हिन्दी भाषा एवं साहित्य की अवमानना सहन नहीं कर सकते थे। इसीलिए गान्धी जी के पास गये। अपने साहित्य, अपनी भाषा के प्रति उनमें अगाध श्रद्धा एवं आदर की भावना थी। वे साहित्य में ही जीवित रहते थे। साहित्य-साधना ही उनकी चरम साधना थी। साहित्य-साधना में ही उनका सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हुआ। साहित्य का ऐसा अनन्य उपासक आधुनिक हिन्दी साहित्य में कोई दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। उनका व्यक्तित्व पाठकों को अपनी साधना, अपने लक्ष्य तथा अपने कर्म के प्रति एकनिष्ठ एवं अनन्य रहने का संदेश देता है। अपनी साहित्य-साधना में अनन्य रहने के कारण ही वे समाज के विष को सदा पचा ले गये और स्वयं विषपान कर हमें अमृत दे गये जिसमें हमारी भाषा, हमारे साहित्य, हमारे राष्ट्र तथा हमारी संस्कृति को अमर करने की शक्ति है।

निरालाजी को जीवन भर कठोरतम संघर्षों का सामना करना पड़ा। वे अपने अभावों, कष्टों, अपमानों से पूरे संकल्प और अटूट आत्मबल के साथ लड़ते रहे। पारिवारिक विपत्तियों, साहित्य-जगत की अवहेलनाओं तथा प्रकाशकों की प्रवंचनाओं ने उनका तन जर्जर तथा मन क्षुब्ध कर दिया किन्तु उनकी दिव्य आत्मा कभी परास्त नहीं हुई। उनके अजेय आत्मा की ज्योति उनके दुःख, कष्ट तथा निराशा की भयंकर आंधियों तथा तूफानों के क्षणों में कभी कम्पित नहीं हुई। वे एक युगान्तरकारी कवि के रूप में ही नहीं वरन् एक आत्म सम्मानी महापुरुष तथा असाधारण संवेदनशील व्यक्ति के रूप में सदा स्मरणीय रहेंगे।

आधुनिक हिन्दी में उनके द्वारा आविष्कृत तथा सर्वाधिक मात्रा में प्रयुक्त उनके मुक्त छन्द का विरोध रबड़ छन्द तथा केचुआ छन्द कहकर उस समय के अनेक श्रेष्ठ समीक्षकों ने किया किन्तु

निरालाजी इस विरोध से कभी विचलित नहीं हुए। . उनकी छायावादी कविता, उनके द्वारा प्रयुक्त नूतन प्रतीक तथा नई पदावली का विरोध उस समय के मूर्धन्य समीक्षकों ने यह कह कर किया "कि छायावादी कविता से हृदय तो प्रसन्न होता है पर मस्तिष्क के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, छायावादी कविता की अनुभूति झूठी होती है उसकी पादावली अधिकांश रूप में अस्पष्ट होती है" इत्यादि किन्तु निरालाजी इन विरोधों से कभी विचलित नहीं हुए। अपने व्यक्तित्व की अपराजेयता के कारण वे कभी किसी के सामने झुके नहीं, तत्कालीन समीक्षकों का विरोध तथा संघर्ष उन्हें साहित्य-सर्जना से कभी विरत नहीं कर सका। वीर अर्जुन के समान उनकी भी दो प्रतिज्ञायें थीं—"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न च दैन्यं न पलायनम्" इसीलिए उन्होंने जीवन में न तो कभी किसी के सामने दीन वचन निकाला और न कभी किसी प्रकार के कर्मक्षेत्र से पलायन किया। वे अपने विरोधियों की ललकारों या विरोधों को सुनने पर शेर के समान छाती खोलकर उनका विरोध करते थे और उनके दांत खट्टे कर देते थे।

निराला जी अपनी संस्कृति, अपने देश, अपनी भाषा (हिन्दी) अपने साहित्य (हिन्दी) तथा अपने को हर क्षण महान समझते थे। इसीलिए किसी सभा, किसी परिषद आदि में उपयुक्त वस्तुओं की अवमानना सुनने या देखने पर सिंह जैसी गर्जना करते हुए तड़प कर उसका विरोध करते थे। निरालाजी के व्यक्तित्व का यह अंश संदेश देता है कि अपने को अवमानित करनेवाला तथा अपनी भाषा, साहित्य, देश एवं संस्कृति को हीन समझने वाला कभी महान नहीं बन सकता।

समाज से स्वीकृति न मिलने पर व्यक्ति दीन हो जाता है, झुक जाता है, टूट जाता है, अपनी अवमानना करने लगता है, विध्वंसात्मक वृत्ति धारण कर लेता है किन्तु निराला जी का व्यक्तित्व बहुत दिनों तक अपने काव्य की स्वीकृति तत्कालीन सामाजिकों द्वारा न पाने पर भी कभी किसी पाठक या समीक्षक के सामने झुका नहीं, कभी अपने प्रति आस्थाहीन नहीं हुआ, कभी अपनी कविता या जीवन के प्रति निराश नहीं हुआ, कभी ध्वंसात्मक वृत्ति में लीन नहीं हुआ। इसीलिए उनकी कृतियों में आशा एवं आस्था का वरेण्य स्वर सुनाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास' को लिया जा सकता है।

अर्थाभाव से जीवन भर नाना प्रकार के कष्ट सहने पर भी वे अपनी जीविका के लिए जीवन में किसी पूंजीपति, किसी राजा, किसी राजनीतिक की छत्रछाया में नहीं गये, जीवन के अन्तिम क्षणों में लोगों के लाख कहने पर भी वे अस्पताल नहीं गये, क्योंकि वे अपनी आन को अपने जीवन से भी श्रेष्ठ समझते थे। ऐसी आन वाला कवि या लेखक आधुनिक हिन्दी-संसार में आज दुर्लभ है।

जिस व्यक्ति में विरोधी गुणों का जितना अधिक समन्वय रहता है उसका व्यक्तित्व उतना ही अधिक आकर्षक, असाधारण एवं मौलिक आभा से मंडित हो जाता है। निरालाजी के व्यक्तित्व में जितने अधिक विरोधी गुणों का समन्वय दिखाई पड़ता है उतने अधिक विरोधी गुणों का समन्वय कबीर को छोड़कर किसी दूसरे हिन्दी-कवि में नहीं दिखाई पड़ता। निराला जी के व्यक्तित्व में मृदुता के साथ कठोरता, सघनता के साथ परिव्याप्ति, उदात्तता के साथ उर्मिलता, गंभीरता के साथ

विनोदप्रियता, क्लिष्टता के साथ स्वाभाविक्ता, उन्मुक्तता के साथ अनुशासनप्रियता, निस्पृहता के साथ कर्तव्यपरायणता, भावुकता के साथ विचारशीलता, आध्यात्मिकता के साथ प्रगतिवादिता, क्रान्तिकारिता के साथ क्रान्तिदर्शिता, फकीरी के साथ शाहंशाही मिजाज, विनम्रता के साथ मनस्विता, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के साथ वहिर्मुखता, युगस्रष्टा के साथ शाश्वत दृष्टि, आदर्शवादी होने के साथ साथ यथार्थदृष्टि, आदि—विरोधी गुण पाये जाते हैं। इन्हीं विरोधी गुणों के कारण उनके व्यतित्व में अनेकरूपता, प्रौढता तथा विशदता का समावेश हुआ है, और व्यक्तित्व की अनेकरूपता के कारण उनकी काव्य-कृतियों में विषयगत तथा शैलीगत अनेकरूपता आ गई है। उनके व्यक्तित्व के नाना गुण उनकी आत्मा में एक ओर उद्‌बोधन एवं जागरण का स्वर मुखरित करते हैं, तो दूसरी ओर उनके मन में महापुरुष की महानता ला देते हैं; उनकी वाणी में एक तरफ विजली की कड़क भरते हैं तो स्वभाव में बालक की सरलता ला देते हैं तथा एक ओर उनकी बुद्धि में सूर्य की तेजस्विता प्रस्फुटित करते हैं तो हृदय में नवनीत जैसी कोमलता भर देते हैं। व्यक्तित्व के नाना गुणों के कारण उनकी कविता में नाना प्रकार के गुण समाविष्ट हो गये हैं। उनकी कविता में एक ओर कीट्स की सरसता है तो दूसरी ओर शेली की शक्तिमत्ता, एक ओर वर्डसवर्थ की उदात्तता है तो दूसरी ओर महाकवि रोजटी की दार्शनिकता वर्तमान है। कालिदास जैसी कल्पना, भारवि का अर्थ-गौरव, दण्डी का पद-लालित्य तथा कवीर की निर्भीकता एक स्थान पर निराला के गीतों में एकत्र हो गई है। उनके व्यक्तित्व के विरोधी गुणों का अद्‌भुत मिश्रण उनके व्यक्तित्व को असाधारण परिव्याप्ति तथा मौलिक आभा से मंडित कर देता है। व्यक्तित्व की असाधारण परिव्याप्ति के कारण ही उनके साहित्य की पृष्ठभूमि में भारतीय दर्शन, ऐतिहासिक चेतना, सांस्कृतिक आत्मा, सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति-सभी एक जगह एकत्रित हो गये हैं। इन गुणों के कारण उनका काव्य शताब्दियों तक जीवित रहेगा और इसी कारण दिवंगत होने के बाद हिन्दी के प्रबुद्ध पाठक तथा मूर्धन्य समीक्षक उन्हें शताब्दी का कवि मानने लगे हैं। उनके गीतों से हिन्दी के काव्य का अभूतपूर्व उन्नयन हुआ है। विश्व-कविता के मानचित्र में हिन्दी को एक सम्मानपूर्ण स्थान दिखाने-दिलाने में निराला का अपूर्व योग है।

श्री गोपीकृष्ण गोपेश

निराला की शुभ्र स्मृति : डायरी के चार पृष्ठ

९ जुलाई, '५५

आज सुबह भैया-साहब (पंडित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी) के यहां से लौटा तो साइकिल जाने कैसे बांध की ओर मुड़ गई, बांध पर पहुँचा, देखा कि निराला जी एक कोने में उकड़ूं बैठे हैं, पास में झावा भर आम हैं, पास में आमों का बूढ़ा मालिक है और निराला जी के पास ही आम के छिलके और गुठलियों का ढेर है। सुयोग से उनसे आंखें चार हो गईं। मैं साइकिल से उतरा। मैंने चरण छुए। आशीर्वाद मिला और साथ ही आम खाने का आमंत्रण––बैठो रस भरे आम हैं . . खाओ . . . । मैंने अपना सफ्फाफ पैजामा, कुरता और जैपुरी नाग्रा देखा, पर दृष्टि का संकेत कि साइकिल स्टैंड पर खड़ी कर पास ही जा बैठा उकड़ूं। पर दूसरे ही क्षण निराला जी उठे और बिना कुछ कहे सुने चलते बने। मैं बड़ा हैरान हुआ कि नमाज पढ़ने चले रोजा पल्ले पड़ा। अपना हिसाब तो अलग रहा, पहले इन ३५-४० आमों के दाम अदा कीजिये ! जेब देखी। कोई खास रकम नजर न आई। इसी समय मुहल्ले के एक खत्री सज्जन बगल से निकले। दोआ सलाम के बाद मैंने उन्हें रोका, भैया एकाध रुपये होंगे ? घर पर दे दूँगा ! . . .वे बड़े आदमी थे। उन्होंने मेरी मांग पर आश्चर्य तो किया पर दो रुपये फौरन ही जेब से निकाल कर दे दिये। मैंने बूढ़े बाबा से कहा––बाबा कितना हुआ तुम्हारा? कितने आम खाये पंडित जी ने ? बाबा एकदम चमक उठे। बोले, जाओ जाओ बड़े आये हो धन्नासेठ, पंडित जी जौन चाहें तौन खायं जांय हम कबौ गिनते नहीं, आये हो भुगतान करै. . .देबो, पंडित जी की तरह ? पंडित जी चार दिन आम खइहैं, पांचवें दिन आइके २० रुपया दै जइहैं . . .देबो तुम ? . . . जाओ आपन रस्ता लेव . . . ।

मैं तो निराला जी के ऐसे अनगिन किस्से जानता था, मैंने उन्हें मन ही मन प्रणाम किया, साथ ही बूढ़े की ओर भी श्रद्धा से देखा और साइकिल पर सवार हो अपनी राह ली ! . . . .

२१ फरवरी, '५८

मास्को से आया, इने गिने दिनों के लिये सो इधर-उधर घूमते रहने पर भी पुष्पा-बेटी की शादी ने कई दिन ले लिये। उसके पिता राजामुनुआ जी को शिकायत ही रही कि आप मास्को से शादी के लिये आये हैं, आपकी शक्ल तक तो देखने को मिलती नहीं ? यानी तमाम मित्रों से मिलना, पुराने सम्बन्धों के तकाजों को उसी तरह दुलारते रहना ऐसा कुछ सहज नहीं, इस पर भी निराला जी के यहां तो जाना ही था. . .तीर्थयात्रा के पुण्य से वंचित होना कौन चाहेगा ! तैयार हुआ तो पत्नी भी तैयार और अपने नैपाली कुत्ते के साथ साहबजादे भी तैयार !

हम दारागंज पहुँचे। मैंने कमलाशंकर जी की बैठक के अन्दर कद्म रक्खा तो निराला जी अपनी चारपाई पर आसन जमाये दीखे। मैंने प्रणाम किया और नीचे बैठ गया। पत्नी भी पास ही बैठने लगी। निराला जी ने अपने पैर समेटे और बोले, वहां नहीं, बहू बेटियां नीचे नहीं बैठा करतीं, इधर बैठो।...

मैंने ताज्जुब किया कि निराला जी के विषय में तो जाने क्या क्या सुनता रहा हूँ, यह क्या, यह तो अच्छे अच्छे सरेखों को भी चुनौती हैं! इतने में अपना कुत्ता सहेजे बेटे साहब नजर आये। मैंने झिड़का और कहा, यहाँ यह कुत्ता लिये कहां चले आ रहे हो? बाहर रक्खो इसे! पर, निराला जी मेरी ओर तनें, बोले--वाह वाह यह खूब रही, बच्चे को अन्दर बुलाओगे और उसके खिलौने को सड़क पर छोड़ दोगे, नहीं बेटे, इधर आओ और अपना कुत्ता भी ले आओ, देखें तो, तुम्हारा कुत्ता बड़ा ही अच्छा है।......

फिर तो निरालाजी की गोदी में मास्टर-गोपेश भी विराजे और उनके नीलू भी, घटना छोटी है, पर बात बड़ी है, मन पर गहरी छाप छोड़ गई है।

१६ अक्तूबर, '६१

मस्को की सर्दी बहुत ही अनिश्चित हो गई है। अभी से तापमान १५ से २० डिगरी के बीच रहने लगा है। कल रात घूमघाम कर आया और कम्बलों में लिपटकर सोया ही कि टेलीफोन की घंटी बजी, बजी कि बजती चली गई, आखिर को नींद टूटी, मन ही मन मित्रों को कोसा, कम्बख्त मस्ती की भी हद करते हैं, सोने तक नहीं देते, इतनी रात गये टेलीफोन करते हैं, काश कि यह टेलीफोन होता ही नहीं!

मगर आलस्य ने हार मान ली, जब घंटी ने कहा, बाबा सुनो, यह मामला यहां का नहीं, बाहर का है, फिर सोचा---बाहर से क्या मतलब? भारत से टेलीफोन आने का तो यह समय ही नहीं है-हो न हो, लन्दन से बी० बी० सी० के डाक्टर कौशिक या गौरीशंकर जोशी ने फोन किया होगा, वहां का क्या, वे लोग तो आराम से खाना खाकर जुटे होंगे, कहीं सोचा होगा, चलो, नींद हराम करो, पंड़ित जी की...पौडों का उनके पास टोटा नहीं, यानी यह कि जो मूड आ जाये वह होगा, आज जेब गरम है, कल की बात कल से है....,

इतनी देर में घंटी फिर घनघनाई...
आखिरकार उठा---टेलीफोन की मेज के पास गया---रिसीवर उठाया, हलो...
आवाज आई-इज इट मिस्टर गोपेश---क्या यह श्री गोपेश बोल रहे हैं?
मैंने कहा---येस, गोपेश स्पीकिंग---जी हां, गोपेश ही बोल रहा हूँ...

कुछ गड़बड़ी के बाद कानों में स्वर पड़े हियर इज ए मैसेज फौर यू...निरालाजी नो मोर कन्वे टु पंत जी---आपके लिये एक सन्देश है---निराला जी नहीं रहे, पंत जी को समाचार दे दें।

अजब हालत हुई—रिसीवर ठीक जगह रक्खा कि नहीं, याद नहीं है . . . हां, इतना याद है कि पास के सोफे पर ही ढह पड़ा . . . . क्या गजब कि बांह पकड़नेवाला भी कोई नहीं—

रात भर असमंजस में रहा कि पंत जी यानी साईंदा सुमित्रानंदन जी पंत कल ही लैनिनग्राद से आयेंगे और आते ही योरोप और इंग्लैड के लिये रवाना हो जायेंगे, इतने-इतने वर्षों का साथ, हजार बातों के बाद भी साथ साथ लिये जानेवाले दो नाम, उनमें एक नाम सूरज के सोने में घुल गया-दूसरा उस विशेष अर्थ में अकेला रह गया, सो भी सफर में है . . . सफर लम्बा है . . . . प्रतिक्रिया जाने कैसी हो, क्या करूँ ? . . . .

सुबह ८ बजा कि टेलीफोन आया —पंत जी की इन्टरपेटर इरीना का फोन था—'एयरोफ्लोत' यानी हवाई कम्पनी के दफ्तर से। बातें की पंतजी से और फिर उनसे कहा कि कृपया (राजकमल प्रकाशन लिमिटेड के सर्वेसर्वा) ओमप्रकाश जी को फोन दे दें। ओमप्रकाश जी से निराला जी के दिवंगत होने की बात कही और पूछा कि यात्रा के बीच पंत जी को यह समाचार दिया जाये या नहीं ? वे कुछ क्षणों तक फोन पर भी ठिठके और फिर बोले —मैं तो समझता हूँ कि आप चुप ही रहिये। भारत पहुँचने पर तो ज्ञात हो ही जायेगा।

पर, मेरे दिमाग में कशमकश चलती ही रही। थोड़ी देर बाद फिर इरीना का फोन आया कि पंत जी आपको लेने आ रहे हैं, आप अमुक स्थान पर सड़क पर आ जायें तैयार होकर, यानी मुझे लेने के लिये आने का मतलब था ६-६।। मील उलटी दिशा में आना, पर पंत जी के अपार मोह की इस गाथा ने भी उस समय मुझे इतना न उलझाया और मैं बात कहूँ कि कुछ न कहूँ–इस परेशानी में पड़ा रहा, लगा कि न कहना पंत जी के प्रति विश्वासघात भी होगा, समाचार देनेवाले ने बड़ा बल दिया था। कि कन्वे टु पंत जी—पंत जी को समाचार दे दें, बताना ही चाहिये।

सो कोई ३० मिनट में मोटर आई तो मैं पंत जी की बगल में बैठा और बिना अधिक उलझे बोला–पंत जी एक बड़ा दुखद समाचार आपको देना है, पंत जी एक दम चौंक पड़े, क्या समाचार है ? मैंने दूसरे ही क्षण सीधे कहा—निराला जी का देहान्त हो गया, कल रात खबर मिली है, खबर विश्वसनीय है—इस पर पंत जी इस तरह मौन हुये कि मैं तो कुछ पलों को बिल्कुल घबड़ा सा गया। ओमप्रकाश जी ने भी चिन्ता की निगाहों से पंत जी को सहेजा और मेरी ओर यों देखा गोया मेरे रवैये का समर्थन न करते हों। खैर, अब तो तीर तरकश से निकल ही चुका था।

इसी बीच पंत जी का मौन टूटा—देखिये, अंतिम बार मिल भी नहीं सका—और फिर चुप हो गये। हम सभी को जैसे काठ मार गया और कर्तव्य-भार से मुक्त होने पर अब दर्द को मैंने असली शक्ल में सामने पाया।

'शेरोमेनोवों' हवाई अड्डा आया, पंत जी बिल्कुल अन्यमनस्क से रहे, इरीना, ओमप्रकाश जी और मैंने सारी सरकारी कार्रवाइयां पूरी कीं। इरीना बोली—पंत जी, लेट अस गो ऐंड हैव सम ब्रेकफास्ट प्लीज—आइये-चलें और थोड़ा नाश्ता कर लें। पंत जी ने छूटते ही कहा-नहीं, देखिये, मेरी जरा भी इच्छा नहीं है– . . . . अब इरीना ने मेरी ओर देखा। मैंने कहा-पंत जी, आप कुछ तो ले ही लीजिये, अधिक कुछ नहीं तो एकाध टोस्ट और एक प्याला चाय या

काफी. क्योंकि आप फ्रेंकफोर्ट जा रहे हैं, मंजिल लम्बी है, जहाज काफी उंचाई पर उड़ेगा और खाली पेट रहने पर आपको तकलीफ होगी।

ओमप्रकाश जी ने मेरा सहज समर्थन किया और हम हवाई अड्डे के रेस्तोरां में गये। इरीना ने आर्डर दिया, अब बातचीत के नाम पर एक सन्नाटा, पंत जी का चेहरा एकदम उतरा हुआ, उदासी का साकार चित्र आखों में लहराते, अतीत के इतने इतने वर्ष. . . .ओमप्रकाश जी जितने व्यथित उतने ही किंकर्तव्यविमूढ़. . . .मैं तरह-तरह की भावनाओं के ज्वार-भाटे के बीच डूबता-उतराता, इरीना अतिथियों की भावनाओं के साथ आतिथ्य के प्रति सर्वथा सजग और यह सोचती हुई कि ऐसे समय मुंह खोलना शायद किसी दृष्टि से ठीक नहीं।

नाश्ता समाप्त हुआ कि आवाज कानों में पड़ी, फ्रैंकफोर्ट के यात्री जहाज में जाकर बैठें, जहाज कुछ मिनटों में ही छूटेगा, हम उठे और व्यथा के आवेश में कानून तोड़ता मैं भी जहाज के गैंगवे तक चला गया, पंत जी ने सीढ़ियों पर कदम रक्खा और फिर ओमप्रकाश जी सामने आये तो मैंने कहा-ओमप्रकाश जी, चिन्ता कीजियेगा, आप हिन्दी-काव्य-जगत के महामानव को साथ लिये जा रहे हैं।

थोड़ी देर में जहाज रनअवे पर दौड़ा और फिर जमीन छोड़कर देखते देखते अदृश्य हो गया। अब मैं रह गया हूँ और रह गई है निराला जी की अनगिनत स्मृतियाँ।

'निराला जी' ने उत्तराधिकार में हमें कैसी इन्सानियत और कितनी मिठास दी है, किस्से हैं कि दोहराते जाइये——**हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता।**

५ सितम्बर, '६२

दिल्ली आया था अपने काम से, शाम को डॉ० बच्चन से मिला, प्रयाग की चर्चा चली तो बात निराला जी पर आ गई——बच्चन जी गौरव से तने-बोले——आदमी तो केवल एक ऐसा था जो जिसके बारे में जो सोचता कह देता निर्भय होकर, दिमाग की खराबी के कारण जजमेंट में गलती हो सकती थी, पर किसी की चापलूसी या भय तो उसने कभी जाना ही नहीं, कुछ अपना जाये तो भी नहीं, सारी दुनिया अपनी तरफ आती हो और अपनी होती हो तो भी नहीं, अपने लिये तो उस व्यक्ति ने कभी कुछ चाहा ही नहीं।

हिन्दी ने इस किस्म का एक ही आदमी पैदा किया, दुर्भाग्य रहा कि वह व्यक्ति पागल हो गया।

अब यह है कि हमें उसके व्यक्तित्व में ही न उलझे रहकर उसके साहित्य की गहराई में भी उतरना चाहिये, मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो निराला के गुण गाते थकते नहीं, पर निराला की चार कृतियाँ उन्होंने आंखों से भी नहीं देखीं. . . .

बच्चन जी की बानी में जितना अपनापन लगा उतनी ही गहराई और उतनी ही सच्चाई भी।

इस सिलसिले में जाने कैसे निराला जी के कुछ विशिष्ट वाक्य याद हो आये। एक बार हिन्दी

के तरुण गीतकार श्री उमाकांत मालवीय ने निराला जी से हिंदी जगत की दलबंदी और दलदल की चर्चा की। निराला जी बोले—तुम तरुणों को क्या चिन्ता है, इस दलदल के बीच एक पुराना बड़ा पत्थर पड़ा है—निराला, तुम इस पत्थर पर पैर रक्खो और उस पार लांघ जाओ।

मैं लगभग छः वर्ष बाहर रहकर स्वदेश आया हूँ, सोचता हूँ कि आज दलबंदी भी है और दलदल भी पर वह पुराना बड़ा पत्थर कहां है ?



डॉक्टर बच्चन सिंह

'राम की शक्ति पूजा' एक नई व्याख्या

कवि अत्यधिक संवेदनशील प्राणी है। युगीन चेतना की जितनी गहरी और व्यापक अनुभूति उसे होती है उतनी निश्चय ही और किसी को नहीं होती। उसका व्यक्तित्व जितना गरिमामय होगा उसकी अनुभूति भी उतनी ही गौरवपूर्ण और महनीय होगी। अनुभूतियों का मूलस्रोत यथार्थ में निहित है और किसी अन्य की अपेक्षा कवि यथार्थ के अधिक निकट संपर्क में रहता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के ऊपर यथार्थ की प्रतिक्रियाएँ अलग अलग होती हैं। ये प्रति-क्रियाएँ ही अनुभूतियों का रूप लेती हैं और अनुभूतियाँ यथार्थ का पुनर्निर्माण करती हैं। यह कवि का अपना यथार्थ है जो वाह्य यथार्थ से संवद्ध होते हुए भी वहुत कुछ उससे भिन्न हो जाता है। प्रश्न उठता है कि यह भिन्नता किस रूप में दिखाई पड़ती है? वाह्य यथार्थ निरपेक्ष वस्तु है, लेकिन द्रष्टा का यथार्थ सापेक्ष होता है। प्रत्येक द्रष्टा वास्तविकता को अनुकूल वेदनीय मूल्यों से संवद्ध करता है। यथार्थ की जो कुछ प्रतिक्रिया होगी वह 'मूल्य' के रूप में ही होगी। इसलिए महान् कविता मूल्यगत औदात्य से रिक्त हो नहीं सकती। महान् कवि इन मूल्यों को अर्थ-गर्भ-छवियों के रूप में अभिव्यक्त करता है। मूल्य मानवीय होते हैं। अतः उनके संबंधों को काव्य में ही व्यक्त किया जा सकता है। मानवीय मूल्यों की ये अभिव्यक्तियाँ एक ओर युग-चेतना से संयुक्त रहती हैं तो दूसरी ओर उनका अतिक्रमण भी कर जाती हैं। अर्थात् युगीन मूल्यों में ही शाश्वत मूल्य अनुस्यूत रहते हैं। मेरे ख़याल में 'राम की शक्ति पूजा' की महत्ता युगीन चेतना तथा व्यक्तित्व-गौरव के आधार पर ही विश्लेषित की जा सकती है।

राम-रावण के युद्ध को इसमें 'न भूतो न भविष्यति' नहीं कहा गया है। वल्कि युद्ध की पीठिका पर घोर अन्तर्मथन को बड़ी ही सशक्त वाणी दी गई है। राम, रावण और उनका युद्ध तीनों प्रतीक हैं। यह युद्ध जीवन और जगत में बराबर चलता रहता है, मनुष्य के अन्तर्जगत में चलने वाले इस युद्ध की विभीषिका कम उद्वेगजनक नहीं होती। यह युद्ध सामयिक भी है, सनातन भी। परिस्थिति विशेष में इसके रूपाकार में भेद हो सकता है पर मूलभूत तत्त्व युद्ध-वही रहता है। रावण असामाजिक, असांस्कृतिक, अधार्मिक (इसे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जा रहा है) वर्ग या मनोवृत्ति का प्रतीक है तो राम ठीक उसके विपरीत वर्ग या मनोवृत्ति के। समाज और संस्कृति इनके द्वंद्व से ही गत्यात्मक होते हैं।

निराला ने इस युद्ध को देखा ही नहीं वल्कि क्रियात्मक रूप से अनुभव भी किया। दर्शक की अनुभूति की अपेक्षा सैनिक की युद्ध-जन्य अनुभूति कहीं अधिक गहरी होती है। राम की तरह

निराला ने भी अनुभव किया था कि–'वे शर हो गए आज रसा में श्रीहत, खंडित।' वे भी तो समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियों से जूझ रहे थे, काव्यगत रूढ़ियों को तोड़ रहे थे। समस्त देश साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध लड़ रहा था। किंतु प्रगतिशील शक्तियाँ संशयग्रस्त थीं–'रह-रह उठता जग-जीवन में रावण जय-भय।' निराला ने इस यथार्थ को अनुभूत किया। लेकिन यथार्थ का तात्पर्य मूल्य से होता है। इसे उन्होंने मूल्य से संबद्ध कर अर्थ-गर्भ मार्मिक छबियों में व्यक्त किया।

वह मूल्य क्या है?–शक्ति का आराधन। यह आराधन आंतरिक है, इसलिए मौलिक भी है–'शक्ति की करो मौलिक कल्पना।' राम के पास वाह्य शक्ति की क्या कमी थी? जिसके पास लक्ष्मण, हनूमान तथा जांबवान जैसे सेनानी तथा प्राणों की बलि देने के लिए कृतसंकल्प सैनिक हों उसे विशेष विकल होने की आवश्यकता नहीं है। मंत्रपूत दिव्य शरों से उनका तूणीर भरा हुआ था। अनेक अवसरों पर उन दिव्यास्त्रों की परीक्षा भी हो चुकी थी। किन्तु आज उनकी विफलता क्यों? इसलिए कि मनोबल में कमी आ गई। युद्ध में चाहे वह आंतरिक हो चाहे वाह्य जीत उसी की होती है जिसका मनोवल अडिग होता है। राम जिस स्थिति (सिचुवेशन) में चित्रित हुए हैं उसमें उनका मनोबल अतिशय दुर्बल और अगतिशील हो गया है। देश जिस स्थिति से गुजर रहा था उसमें वह निराश हो चुका था। स्वयं निराला परिस्थितियों से लड़ते हुए श्रान्त से प्रतीत हो रहे थे। राम का शक्ति-आराधन इन सब का शक्ति-आराधन है।

ऊपर यह कहा गया है कि महान् कविता का मूल्यों से, उच्चतर मूल्यों से, अनिवार्यतः बँधी रहती है। किन्तु केवल इतने से ही किसी काव्य को महत् नहीं कहा जा सकता। मूल्य कवि के अपने संस्कारों और मान्यताओं से निर्मित होता है, लेकिन उसकी शक्तिमत्ता अर्थ-गर्भ मार्मिक विंबों के सृजन में निहित है। यदि यह अर्थ-गर्भ मार्मिकता काव्य के खंडों में होगी तो उसकी पूर्णता भी स्वतः खंडित हो जायगी। काव्यात्मक पूर्णता उसके रूप-विन्यास में समाहित रहती है। 'रूप' काव्य का वाह्याकार नहीं है बल्कि उसकी आंतरिक अभिव्यक्ति है। यह कवि के अन्दर से उगता है और वह उसमें अपने को पूर्णतर पाता है। पूरा काव्य कवि के व्यक्तित्व की भाँति एक ओर अखंड होगा। यह एकपन (सिंगिलनेस) किसी न किसी भाव से अनुशासित रहता है। इसलिए आलोचक के लिए आवश्यक होता है कि वह कवि के मुख्य भाव के साथ उसके पूरक भावों का अन्वेषण करे तथा उनके अन्तर-संबंधों को भी पाठकों के सम्मुख रखे। ऐसा करने के लिए काव्य की तंतु-रचना (टेक्श्चर) की सूक्ष्म छानबीन करनी होगी। यह कार्य काफी जटिल किंतु बहुत ही आवश्यक है।

काव्य पाठक के मर्म को छूता है, वह उसके आवेग को जगाता है, उसकी संवेदना को दर्द देता है और उसकी बुद्धि को झकझोरता है। बौद्धिकता नई कविता की देन है, किंतु आवेग और संवेदन तो काव्य के सार्वकालिक गुण हैं। पाश्चात्य आलोचकों में से कुछ ने आवेग (इमोशन) और संवेदन (फीलिंग) को अलग-अलग माना है। अलक्जेन्डर और सी० डे लेविस उनमें मुख्य हैं। आवेग में जो वेग जागरित होता है उसका शमन भी शीघ्र हो जाता है, किंतु संवेदना में कवि स्वयं उस पीड़ा का भोक्ता है। भोगता तो वह आवेग में भी है, पर उसमें उसका रेचन हो

जाता है। किंतु संवेदना की मीठी कसक से उसे शीघ्र छुटकारा नहीं मिल पाता है। 'राम की शक्ति पूजा' में भावाभिव्यक्ति की इन दोनों विधियों का प्रयोग किया गया है, यद्यपि मूलतः यह संवेदनात्मक ही है।

आरंभ की १८-१९ पंक्तियों में युद्ध का अत्यन्त आवेगपूर्ण जीवंत चित्रण है। यदि इन पंक्तियों का स्वर-बद्ध पाठ किया जाय तो शब्द-ध्वनि, टोन, और तीव्र गत्यात्मकता के कारण युद्धजन्य आवेगपूर्ण वातावरण प्रत्यक्षाकृत हो उठता है। स्थानाभाव से उदाहरणार्थ केवल एक पंक्ति ली जाती है—'विद्धांग—बद्ध को दंड-मुष्टि-स्वर-रुधिर-स्राव।' ये शब्द मर्मस्पर्शी रूपकात्मक दृश्य प्रस्तुत करते हैं, युद्ध की विभीषिका में राम की स्थिति का आवेगात्मक चाक्षुष बिंब देते हैं। यह दृश्य एक विशेष दृष्टिकोण की भी सूचना देता है—अत्यन्त पराक्रमशील दुर्जेय राम के ह्रासोन्मुखी मनोबल की सूचना। इस आवेगपूर्ण चित्रण के वाद संवेदनामूलक काव्य-सृष्टि हुई है—

वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति चरण चिन्ह
चल रही शिविर की ओर स्थविर दल ज्यों विभिन्न

इन पंक्तियों में जो दर्द है, वह युद्धजन्य वातावरण से कार्य-कारण रूप में संबद्ध है। राम का विपर्यस्त रूप-विन्यास, प्रशमित वातावरण आदि सभी कुछ संवेदनात्मक हैं। इसलिए इनकी गति मंथर, टोन मंद, धुनि शैथिल्य व्यंजक है। हनूमान का क्षोभ पुनः आवेगात्मक वातावरण निर्माण करता है। इसके अनन्तर शेष काव्य संवेदनात्मक है। संवेदना के घनत्व को उभारने के लिए, उसे और भी घनीभूत बनाने के लिए अनुभावों का सहारा लिया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

सब सभा रही निस्तब्ध राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए शीतल प्रकाश देखते विमन,

+ + +

हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृग-जल
रुक गया कंठ, चमका लक्ष्मण—तेजः प्रचंड,
धंस गया धरा में कपि गह युग पद मसक दंड

× × ×

मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।

ये दोनों अनुभाव गहरे अर्थों से अनुप्राणित हैं फिर भी दोनों की संवेदनाएँ दो स्तर की हैं। दूसरे की अपेक्षा तो पहला अधिक गहन (कांप्लेक्स) है। पहले में विभीषण के भावोत्तेजक कथन की जो प्रतिक्रिया राम पर हुई उसका चित्रण है तो दूसरे में राम के दृगजल की जो प्रतिक्रिया पार्षदों पर हुई उसकी रागात्मक योजना। 'स्तिमित' और 'शीतल' विशेषण राम की मनोदशा को समग्र परिस्थितियों में व्यक्त करते हैं। पाठक युद्ध की भूमिका से लेकर राम की चिन्ता की अनेक स्थि-

तियों से गुजर जाता है। दूसरे में अत्यन्त संक्षेप में लक्ष्मण और हनूमान की चारित्रिक विशेषताओं को उद्घाटित किया गया है। इसमें एक खास स्थिति में, आवेग द्वारा संवेदना को पुष्ट किया गया है। लक्ष्मण और हनूमान की आवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ राम के दृगजल को अर्थ-गर्भित बना देती हैं। यदि ये प्रतिक्रियाएँ यहाँ न व्यक्त की गई होतीं तो 'राम का दृगजल' इतना अवसादपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इनके कारण अनुभूति की सान्द्रता बढ़ जाती है।

राम की इस मनःस्थिति को–उनके अवसाद को–प्रगाढ़ बनाने वाले केवल दो अप्रस्तुतों का उल्लेख पर्याप्त होगा–

वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज पति चरण-चिन्ह,
चल रही शिविर की ओर स्थविर दल ज्यों विभिन्न;

× × ×

उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएँ ज्यों कहीं पार।

सादृश्य मूलक अप्रस्तुतों में सादृश्य महत्त्वपूर्ण होता है, उसके साथ विसादृश्य का महत्त्व भी कम नहीं है। इस संदर्भ में उनके मूल में निहित कवि का दृष्टिकोण भी निहित होता है। यह दृष्टिकोण ही अप्रस्तुत को जीवंत और शक्ति संपन्न बनाता है। अधिक समर्थ अप्रस्तुत वह है जो स्थानीय सौंदर्य को ही अभिवृद्ध न कर कविता की पूरी चेतना को जागरित करता है। वानर-वाहिनी और 'स्थविर' में पर्याप्त अन्तर है। यह पार्थक्य और वैचिञ्य पाठक को आकृष्ट करता है। दोनों में जो सादृश्य दीख पड़ता है वह सहज नहीं है बल्कि एक विशेष स्थिति का भी द्योतक है। वानरवाहिनी जो अभी-अभी प्राणपण से लड़ रही थी वृद्धों के दल की भाँति क्यों लौट रही है? स्थविर दल उनकी खिन्नता को उनके क्षयशील मनोबल को पूर्णतः व्यक्त करती है। उनकी मनोदशा पर राम की मनोदशा की गहरी छाप है जो एक सीमा तक कविता में व्याप्त है। पर दूसरे उदाहरण का अप्रस्तुत संपूर्ण काव्य-चेतना को अपने में समाहित किए हुए है। संपूर्ण पंक्ति आशा-निराशा के गहन द्वंद्व को मूर्तिमान कर देती है। यह स्थानिक (लोकल) न होकर काव्य के संपूर्ण 'टेश्चर' से संबद्ध है। राम का अन्तश्चेतन पराजित नहीं था, उसमें आशा की, विजय की एक क्षीण ज्योति जल रही थी। और अन्त में—

'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!'
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।

किस तथ्य का द्योतक है? राम के मुख में लीन होने का क्या प्रयोजन? ये समस्त व्यापार पौराणिक नहीं मानसिक हैं। हनमान का क्षोभ भी मानसिक है। राम ने अपनी शक्ति का साक्षात्कार किया, उसे साधना द्वारा उपलब्ध किया। यह शक्तिसंपन्नता सहज उपलब्ध नहीं है बल्कि इसके लिए साधना और तपश्चर्या आवश्यक है। वाह्य साधनों के साथ-साथ मनुष्य का

अन्तर्मन भी शक्ति-संपन्न होना चाहिए। उसकी दृढ़ता, निर्भीकता, आत्मविश्वास जयमार्ग का प्रथम सोपान है।

इस कविता में कोई चक्करदार दर्शन नहीं है। इसमें सशक्त जीवन-दर्शन है जो व्यक्ति को, उसके नाते समाज को भी उच्चतर मूल्य प्रदान करता है। यह इसकी बड़ी उपलब्धि है।

इस उपलब्धि को और भी अधिक विश्लेषित करने की आवश्यकता है—कविता के टेक्श्चर को और भी अधिक विवेचित करना जरूरी है। पर कुछ तो मैं अन्यत्र कर चुका हूँ और उन्हें दुहराना मुझे अभीष्ट नहीं था तथा कुछ और के लिए यहाँ अवकाश नहीं मिला। लेकिन मैं यहाँ कहना चाहता हूँ कि इसके महत्त्व का आकलन करने के लिए इसके टेक्श्चर (तंतुरचना) का विस्तृत विश्लेषण अनिवार्य है।



डाक्टर शिवगोपाल मिश्र

निराला-साहित्य के निष्पक्ष अध्ययन की आवश्यकता

महाकवि 'निराला' उच्चकोटि के काव्यकार होने के साथ ही एक समर्थ गद्यकार भी थे परन्तु विचित्र बात तो यह है कि हिन्दी जगत में उनकी ख्याति कवि के रूप में ही अधिक हुई। उन्हें 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित किया जाता है। 'जुही की कली' के लेखन-काल से (सन् १९१६ से) जीवन के अन्तिम समय तक अधिकांश जनों के मस्तिष्कों पर 'कवि निराला' की ही अमिट छाप बनी रही। निराला जी के जीवन-काल में शायद ही उनके गद्य साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ हो। यदि कोई ऐसा वर्ग रहा है, जो उनकी गद्य-प्रतिभा से प्रभावित था, तो वह था उनका शिष्यवर्ग। सच तो यह है कि हिन्दी-संसार ने उनके जीते-जी उनके इस पक्ष का ठीक से मूल्यांकन नहीं किया। यदि ऐसा हुआ होता तो हिन्दी में गद्य-साहित्य के सृजन को बड़ा बल मिला होता। उसे एक नवीन चेतना, स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्राप्त हुई होती; परन्तु हिन्दी-केहरि 'निराला' से आंतकित हिन्दी-संसार उन्हें गद्य में भी मान्यता प्रदान कर उनके पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए यथार्थता के पथ पर अग्रसर होने का दुःसाध्य प्रयास नहीं करना चाहता था क्योंकि निराला जी की मुक्तशैली से नये युग के सूत्रपात द्वारा न जाने कितनों की रूढ़िवद्ध लेखनियां कुण्ठित हो चुकी थीं और कवियों में नवोन्मेष भर चुका था। आलोचकगण निष्पक्ष भाव से निराला की गद्यशैली की मौलिकता को उभाड़कर रखे होते, तो सम्भावना यही थी कि गद्य-क्षेत्र में भी काव्य-क्षेत्र की सी कायापलट हो गई होती। तात्पर्य यह कि निराला-साहित्य के निष्पक्ष अध्ययन के समय इस तथ्य को नहीं भूल जाना चाहिए कि निराला में गद्य-साहित्य के क्षेत्र में भी क्रान्ति ला देने की अनुपम शक्ति विद्यमान थी।

बहुधा निराला जी के व्यक्तित्व को उनके साहित्य से पृथक रखने की बात दुहराई जाती है परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि निराला-साहित्य की बारीकियों के समझने के लिए निराला के व्यक्तित्व की ठीक ठीक जानकारी अपेक्षित है। वह उसकी आत्मा है और साहित्य उसकी काया। न जाने कितने नवोदित कवि-कवियत्रियां, लेखक-लेखिकायें एवं हिन्दी के प्रेमीजन निराला जी के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित हुए हैं और उनके जीवन-आदर्शों से अपना पथ-प्रशस्त करने की प्रेरणा प्राप्त की है। यदि हिन्दी के विगत ५० वर्षों के इतिहास का विहंगावलोकन किया जाय तो पता चलेगा कि निराला जी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने को विशुद्ध साहित्यिक मानते तथा घोषित करते रहे। अपने जीवन में इस साहित्यिकता के पीछे उन्होंने जितने कष्ट सहे और उससे अविचलित हो कर जिस भावना से साहित्य-सृजन करते रहे, उसकी गाथा हिन्दी के उत्थान

की गाथा है। एक अकेला व्यक्ति साहित्य का कितना कल्याण कर सकता है, यदि इसकी जानकारी करनी है तो हम निराला के जीवन से ग्रहण करें और विपत्तियों को झेलते हुए किस प्रकार के कंचन-साहित्य की सृष्टि होती है उसके लिए हम निराला-साहित्य का अध्ययन करें। यह एक ऐसा तथ्य है जिसके बल पर युग-युगों तक निराला का नाम अमर रहेगा। साम्यवादी राष्ट्र सोवियत संघ में निराला जी की कृतियों के समादर का यही रहस्य है।

निराला जी ने अपने साहित्यिक जीवन-काल में ५ दर्जन से अधिक ग्रंथ, विविध विषयों पर लिखे। उनके काव्य-ग्रंथों में परिमल, अनामिका, अणिमा, बेला, नए पत्ते, कुकुरमुत्ता, अर्चना, आराधना तथा गीतगुंज प्रमुख हैं। उनका गद्य-साहित्य विविध शाखाओं से सम्बन्धित है यथा, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, निबन्ध, आलोचना आदि। उपन्यासों में अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती, चोटी की पकड़ तथा काले कारनामे प्रमुख हैं। निराला जी की कहानियों की संख्या अधिक नहीं—दो दर्जन से भी कम कहानियां होंगी परन्तु दुर्भाग्यवश प्रकाशकों से अनबन के कारण ये कहानियां घूम फिर कर कई संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। वे हैं—लिली, सखी, देवी, सुकुल की बीवी तथा चतुरी चमार। उनके रेखाचित्रों में बिल्लेसुर बकरिहा तथा कुल्लीभाट हैं। निराला जी के निबंधों की संख्या बहुत बड़ी है किन्तु दुर्भाग्यवश आज तक केवल पांच संग्रह ही प्रकाशित हो सके हैं—वे हैं, प्रबन्ध प्रतिमा, प्रबन्ध पद्म, चाबुक, चयन तथा संग्रह। अभी भी इतने निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित दबे पड़े हैं कि उनसे दो संकलन प्रकाशित हो सकते हैं। आलोचना के क्षेत्र में भी निराला जी की देन महत्वपूर्ण है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के काव्यों की सम्यक् आलोचना "रवीन्द्र-कविता-कानन" में प्राप्त होती है। इन सब ग्रन्थों के अतिरिक्त निराला जी ने स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द एवं वंकिमचन्द्र की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद भी किये। उन्होंने बालकों को प्रेरणा एवं जीवन-दिशा प्रदान करने के लिए अनेक जीवनियां भी लिखीं। गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' का अवधी से खड़ीबोली में पद्यान्तर भी किया जो सचमुच ही बड़े साहस का काम था, परन्तु खेद कि वह अधूरा ही रह गया। उन्होंने "महाभारत" की संक्षिप्त कथा, स्त्रियों के पढ़ने के लिये तैयार की। कुछ रचनायें अब भी अप्रकाशित रूप में पड़ी हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में सम्यक् जानकारी नहीं है।

बारह वर्ष पूर्व जब मुझे निराला जी के संपर्क में आने का सुयोग प्राप्त हुआ तो मैं उनकी कृति, "तुसलसीदास" से अपरिचित था और उनके कुछेक पद्य ही पढ़े थे। उनके दर्शनमात्र से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं उनके सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ूँ। मैं विज्ञान का विद्यार्थी था अतः हर रचना को पढ़ लेने के उपरान्त ही मैं किसी निष्कर्ष पर पहुंच पाता था। फल यह हुआ कि एक एक करके मैंने निराला जी की समस्त रचनायें पढ़ डालीं। जितना ही अधिक पढ़ता गया, उतनी ही मेरी यह धारणा बलवली होती गई कि निराला जी पर जितने आक्षेप हुये थे या हो रहे थे, वे यथार्थ एवं तर्कसंगत न होकर मनगढ़ंत थे। मुझे ऐसा लगता था कि यदि अमुक रचना से निराला नाम निकाल कर हिन्दी वाले पढ़ते तो शायद उनके हृदयों का भ्रम निकल भागता। निराला जी के जीते जी उनके प्रति जो अन्याय बरता जाता था, उससे मुझ पर प्रतिक्रिया होती थी। इसीलिए मैंने निराला

जी के कतिपय निबंधों एवं कतिपय गीतों के संकलनों के प्रकाशन में सक्रिय भाग लिया और उनकी भूमिकायें तक लिख डालने का दुःस्साहस किया। मैं जानता हूं कि यह मेरी अनधिकार चेष्टा हिन्दी के कुछ साहित्यिकों को बेमौके की शहनाई जैसी लगी परन्तु मैं कृतसंकल्प था कि यदि निराला जी के जीवनकाल में ही उन्हें उनके कृतित्व के यश का भागी नहीं बना सका तो इतना तो अवश्य कर सकूंगा कि उनका साहित्य सर्व-उपलब्ध हो सके। सम्भवतः निराला-साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि वह सर्वत्र सुगमता से उपलब्ध भी नहीं हो सकता---फिर भला वह कैसे समझा जा सकेगा ? मुझे लगातार यही अनुभव होता रहा कि निराला-साहित्य को जानबूझ कर दुर्बोध घोषित किया जाता है। उच्चकोटि का साहित्य भाव-प्रवण होता है और यह प्रवणता शैली पर आश्रित रहती है। अतः निराला जी का साहित्य ऊपर ऊपर दुर्बोध एवं दुर्गम अवश्य लगेगा परन्तु यदि एक बार भी उसका अवगाहन किया जाय तो फिर उसी में उत्तरोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती रहेगी। वस्तुतः निराला का समस्त साहित्य कठिन साधना से अर्जित हिन्दी की अमूल्य निधि के रूप में है। उसके उचित मूल्यांकन के अभाव में हम उसे थोथा कहकर ठुकरा दें, या एक तरफ रख दें, उचित नहीं प्रतीत होगा। न्याय यही है कि निष्पक्षता बरती जाये।

प्रस्तुत निबन्ध में व्यक्तिगत अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही निराला-साहित्य की कुछ विशेषतायें प्रस्तुत की जा रही हैं। पाठक वृन्द इन्हें अन्तिम वाक्य न मानकर उनके सम्बन्ध में अपनी स्वतः धारणा बनाने के लिए स्वतन्त्र हैं।

यह सभी को ज्ञात है कि निराला जी ने बंगाल प्रान्त में रहकर हिन्दी-सेवा का कार्य प्रारम्भ किया। हिन्दी के प्रति उनका अनुराग पत्नी मनोहरा देवी के कारण हुआ और आश्चर्य तो यह है कि अल्प समय में ही यह अनुराग उन पर इस प्रकार से हावी हुआ कि वे सदा के लिए हिन्दी के आराधक बन गये। उनकी प्रथम कविता "जुही की कली" उतनी ही प्रौढ़ एवं भावपूर्ण है जितनी कि परवर्ती अन्य कोई भी कविता। निराला-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है। उनमें अन्तर्निहित कवि प्रारम्भ से ही सजग था कि लक्ष्य तक पहुंचने की क्षमता के साथ ही उसके समक्ष दायित्व भी सुस्पष्ट था। वे यह जानते थे कि जिस 'मुक्त छन्द', के वह सृष्टा हैं, वही परिणति नहीं है। वे सदैव नवीन प्रयोग करते रहे—कुतूहलवश नहीं वरन् स्वानुभूति से प्रेरित होकर। यही कारण है कि उनके काव्य में विविध शैलियों का समान रूप से निर्वाह हुआ है। उन्होंने कामना भी तो यही की थी कि—

नव नभ के नव बिहग वृन्द को नव स्वर, नव पर दे।

काव्य के क्षेत्र में अपनी इस मौलिक देन से वे भलीभांति भिज्ञ थे। समय पड़ने पर निःसंकोच भाव से वे यह घोषित करने में चूकते न थे कि हिन्दी काव्य-क्षेत्र में उनकी देन अपूर्व है। 'मुक्त छन्द' को रबड़ छन्द, केंचुवा छन्द या कंगारू छन्द कहकर मजाक उड़ाने वालों से वे घबड़ाये नहीं। अपने काव्य-साहित्य में अपनी दृढ़ता को "गर्वोक्तियों" के रूप में व्यक्त करते रहे जो विपक्षियों को उनकी 'अहम्मन्यता' एवं 'प्रमाद' के रूप में प्रतीत होतीं रहीं। किंतु निराला जी की ये गर्वोक्तियां सार्थक हैं, और कविता में प्राण फूंकने वाली हैं, आशावादिता एवं कर्मण्यता के लिए

वे ध्रुवतारा की भांति किसी भी पथ पर प्रदर्शक स्वरूप हैं। अपने प्रबल विरोध के कारण ही निराला में आत्मविश्वास जगा था जिसे वे अपने समूचे काव्य में मुखरित करते रहे—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत,
फल के भी उर का कटु त्यागा
मेरा आलोचक एक बीज,

× × ×

मैं कवि हूं, पाया है प्रकाश।
क्षीण का न छीना कभी अन्न
मैं लख न सका वे दृग विपन्न
अपने आँसुओं अतः बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुखचित
सोचा है नत हो बार बार
यह हिन्दी का स्नेहोपहार
यह नहीं हार मेरी भास्वर
यह रत्नहार लोकोत्तर वर।
अन्यथा जहां है भाव शुद्ध
साहित्य कला कौशल प्रबुद्ध
हैं दिये हुये मेरे प्रमाण
कुछ वहां, प्राप्ति को समाधान,
पार्श्व में, अन्य रख कुशल हस्त
गद्य में पद्य में समाभ्यस्त।

× × ×

मैं न रहूंगा जब, सूना होगा जग
समझोगे तब, यह मंगल कलरव सब
था मेरे ही स्वर से सुन्दर जगमग
चला गया सब साथ।

निराला जी के काव्य की दूसरी विशेषता है नारी जाति के प्रति अगाध श्रद्धा। जिस प्रियतमा से उन्होंने हिन्दी सीखी, वे उसे कभी विस्मरण नहीं कर पाये। क्या कविता में और क्या गद्य-लेखन के समय, वे निःसंकोच भाव से अपनी सम्पूर्ण सफलता का श्रेय अपनी पत्नी को ही प्रदान करते हैं। युवावस्था में ही पत्नी की मृत्यु एवं तदुपरान्त पुत्री सरोज की अकाल मृत्यु से उनके

हृदय को जो चोट लगी वह आजीवन ताजी ही रही। इसकी प्रतिक्रियावश वे आजीवन नारी की श्रेष्ठता के कायल रहे। सम्भवतः छायावादी युग में नारी की महत्ता को जिस पावनता के साथ निराला ने अपने काव्य में स्थान दिया, वह भक्तिकाल के कवि भी नहीं कर पाये। यह ऋषियों का सा आचरण न केवल निराला को भारतीय साहित्य में सर्वोपरि स्थान प्रदान करता है, वरन् यह उनके जीवन का अभिन्न अंग होने के कारण सभी के लिये अनुकरणीय भी बन जाता है। निराला काव्य में भारतीयता की यह पुट विशेष रूप से दृष्टव्य है। "राम की शक्ति पूजा" में सीता का स्वरूप तथा 'तुलसीदास' में 'रत्नावली' का 'अनलवामा' के रूप में चित्रण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अनेक गीतों में नारी के आदर्श रूपों का भी चित्रण मिलता है।

तन की मन की धन की हो तुम
नव जागरण शयन की हो तुम।

× × ×

काम कामिनी कभी नहीं तुम
स्वर्ग दामिनी नदी बहीं तुम
हास तुम्हारा शाप विमोचन
मुनि की मान मनन की हो तुम।
गहरे गया तुम्हें तब पाया
रहीं अन्यथा कायिक छाया।

नारी-चित्रण के इस प्रसंग में निराला जी द्वारा अव्यक्त नारी के चित्रण का भी उल्लेख किया जा सकता है। कभी वे उसे पुलिन पर स्नान करती श्यामा, कभी प्रियतमा और कभी वाग्देवी के रूप में चित्रित करते हैं—

दूर ग्राम की कोई वामा, मन्द चरण आवे अभिरामा
उतरे जल में अवसन श्यामा, अंकित छवि उर सुंदर तर हो।
बांधो न नाव इस ठांव, बन्धु, पूछेगा सारा ग्राम बन्धु
वह यहीं नहाती थी धंस कर, देती थी सबके दांव बन्धु

× × ×

निराला की दानवृत्ति से सामान्य से सामान्य जन प्रभावित हैं। उनके काव्य में भी यह दानवृत्ति कई रूपों में देखने को मिलती है। कभी वे भिक्षुक की दशा देख कर अपने हृदय के अमृत को काढ़कर उसे देना चाहते हैं, तो कभी भिखारिन बुढ़िया 'देवी' को मां कहकर पुकारते हैं :—

ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत
मैं सींच दूंगा

अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुख मैं अपने हृदय में
खींच लूंगा।

वे उन दानवीरों की खिल्ली उड़ाने से भी नहीं चूकते जो गोमती के किनारे बन्दरों को अन्न बाँटते हैं और भिक्षुक को दुत्कार देते हैं। समाज की ऐसी ही विरोधी प्रवृत्तियों के कारण उनकी पटरी उससे कभी नहीं बैठी और यही कारण है कि वे उसे बदल देने के लिए कटिबद्ध थे। वे प्रत्येक रूढ़िवादी परम्परा के विरोधी थे--

जला दे जीर्ण शीर्ण प्राचीन,
क्या करूंगा तन जीवन-हीन।

शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने में भी निराला जी अग्रणी थे। उन्होंने कृषकों की दशा एवं इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ने वाली मेहनतकश नारी को अपने काव्य में स्थान दिया। इसीलिए धनपतियों से उनकी कभी न बनी--

खुला भेद विजयी कहाये हुए जो
लहू दूसरों का पिये जा रहे हैं--

× × ×

अट्टालिका नहीं रे, आतंक भवन
सदा पंक पर ही होता जल विप्लव प्लावन
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी वज्र गर्जन से बादल
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।

"कुकुरमुत्ता" में ऐसे ही वर्ग-वैषम्य एवं शोषण का व्यंगात्मक शैली में चित्रण है। यदि उनके कतिपय आलोचकों को यह पन्त जी के ऊपर लिखी गई व्यंगात्मक कविता प्रतीत हो तो उनकी बुद्धि की बलिहारी है--और कवि को उसके महदुद्देश्य से नीचे गिराना होगा। यह भलीभांति ज्ञात है कि निराला जी अपने दैनिक जीवन में भी कितने विनोदी थे एवं उनके वार्तालापों में कितना व्यंग्य रहता था। पूंजीवाद के प्रतीक गुलाब एवं शोषित वर्ग के प्रतीक कुकुरमुत्ता को क्रमशः यदि 'पन्त' एवं 'निराला' मान कर 'कुकुरमुत्ता' का मूल्यांकन किया गया तो भय है कि उन्होंने हिन्दी-काव्य-साहित्य में जिस व्यंगात्मक शैली का सूत्रपात किया था, उसका अनर्थ ही होगा।

निराला जी प्रगति की जीती जागती मूर्ति थे। 'प्रगतिवाद' उन्हीं की काव्य-शैली के द्वारा प्रवर्तित हुआ था। एक ओर जहाँ छायावादी युग की रहस्यात्मक अनुभूति को भारतीय आधार-

शिला पर आरूढ़ करते हुए "तुम और मैं" शीर्षक कविता लिखी, वहीं राष्ट्रीयता से अभिभूत हो उन्होंने "जागो फिर एक बार", "शिवाजी के पत्र", "बादल-राग" जैसी वीररस से पूर्ण कवितायें भी लिखीं। काव्य में वीररस की सृष्टि निराला जी की काया के अनुरूप ही हुई। सन्तों जैसी विनयशीलता एवं ईश्वर में अटूट श्रद्धा भी निराला जी के काव्य में है। 'अर्चना' और 'आराधना' के गीत इसके प्रमाण हैं जो जीवन के अन्तिम क्षणों में लिखे गये। "बेला" और "नये पत्ते" में उन्होंने नवीन प्रयोग किये—भाषा बदल दी और शैली भी। फारसी के छन्दशास्त्र के अनुकरण पर उन्होंने 'बेला' की सृष्टि की। स्वतंत्रता की ओर तीव्रगति से बढ़ती हुई जनता ने निराला जी के इस मोड़ को पसन्द किया और न जाने कितने कवि 'प्रगतिवादी' या 'प्रयोगवादी' बन उनका अनुसरण करने लगे। यदि उचित मूल्यांकन किया जाय तो, पता चलेगा कि "नयी कविता" के जनक निराला जी ही थे। अपने कवि-कर्म का उन्हें सदैव ध्यान रहा है और उस दिशा में वे सदैव प्रगतिशील रहे हैं, उन्हें किसी भी दशा में पलायनवादी नहीं कहा जा सकता। वे एक प्रबुद्ध कवि थे। उन्हें अपने देश, अपनी भाषा एवं भाषा की अधिष्ठात्री देवी "सरस्वती" पर बड़ा गर्व था। परन्तु भारतीयता, राष्ट्रीयता एवं प्रगतिशीलता के अतिरिक्त निराला-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी संगीतात्मकता। बहुत से आलोचकों का मत है कि निराला जी के काव्य का यह गुण अंग्रेजी के गीतिकाव्यों से उधार लिया गया है परन्तु सच बात तो यह है कि सुजला-सुफला-शस्यश्यामला वंगभूमि के रवीन्द्र-संगीत ने उन्हें मुग्ध कर रखा था। वे खड़ीबोली में संगीत-तत्व लाने के लिये प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहे और हर्ष की बात यह कि वे उसमें सफल हुये। निराला जी ही हिन्दी के एक ऐसे कवि थे जो स्वयं कुशल संगीतज्ञ थे और खड़ीबोली में संगीत के अभाव के प्रति जागरूक थे।

"मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है।"—
('गीतिका' की भूमिका।)

निराला जी ने गद्य-लेखन विकट परिस्थितियों में प्रारम्भ किया। कवि-जीवन के प्रभात काल में उनकी कविताओं का न तो प्रकाशन ही हो पा रहा था और न उनका सत्कार ही क्योंकि वे जिस युग में अवतरित हुए थे, उससे पचास वर्ष आगे की बातें कह रहे थे। फल यह हुआ कि जीवन-निर्वाह के लिए तरुण निराला को नौकरी ढूंढ़नी पड़ी। मिलते मिलते मिली तो 'समन्वय' की सम्पादकी। यहां उन्हें रामकृष्ण मिशन के साधुओं एवं संन्यासियों के साथ रहना पड़ा। इसी समय उन्होंने भारतीय दर्शन, विशेषतः अद्वैतवाद पर चिन्तन और मनन किया और "एक दार्शनिक" नाम से लेख लिखने प्रारम्भ किये। उन्हें तुलसीदास कृत 'रामायण' सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ रचना जान पड़ी। फलतः उन्होंने तुलसीदास जी की भक्ति एवं साधना पर लेख लिखे। बाद में उन्होंने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ एवं तुलसीदास पर लेख लिखा। यह लेख 'मतवाला' में प्रकाशित हुआ। इसी समय वे स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द जी के साहित्य से भी प्रभावित हुए। उर्दू के सन्त कवियों एवं हिन्दी के सन्त कवियों की रचनाओं से तुलना भी की। तात्पर्य यह कि निराला जी पूर्ण रूप से भारतीय दर्शन के चिन्तक बन गये। यह चिन्तन

उनके काव्य एवं गद्य-साहित्य में समय समय पर प्रस्फुटित होता रहा। बंगाल में रहकर निराला जी ने एक काम और किया। उन्होंने हिन्दी की निहित प्रभूत शक्ति को पहचाना और उसके राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत किये जाने के लिये अनेकानेक तथ्यपूर्ण निबन्ध लिखे। वे हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनने एवं उसमें 'विश्व साहित्य' जैसा साहित्य उपलब्ध होने की क्षमता पर बहस छेड़ने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। यही कारण है कि राष्ट्र के अग्रणी नेताओं से उन्हें भिड़ना पड़ा। क्या गांधी जी, क्या जवाहरलाल नेहरू, क्या टंडन जी और क्या सम्पूर्णानन्दजी—सभी से लड़ते रहे। राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में निराला जी के भाव पहले से ही इतने सुस्पष्ट थे कि आज उन्हें इस रूप में पढ़कर उनकी दूरदर्शिता पर हमें गर्व होता है। यदि हिन्दी कवियों में कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए अपने स्वार्थों, हितों एवं प्राणों की बाजी लगाई तो वह निराला ही था। वस्तुतः निराला जी के अधिकांश निबन्ध ऐसी ही परिस्थितियों के द्योतक हैं.....“जीव, जाति या भाषा के प्राणों (की प्रगति) पर जभी बाधा डाली गई तभी हम उसे, इतिहास में, एक दूसरी ओर मुड़ते देखते हैं।....भाषा के पैरों में बेड़ी पड़ी कि उसने झट अपना स्वरूप बदला या यों पूर्णता की ओर किसी नये रास्ते से चल पड़ी।”

“......वर्तमान भारत में व्यापकता के लिहाज से राष्ट्रभाषा का पद हिन्दी को मिल रहा है। कितने ही विद्वानों ने जाँच करके उसे संस्कृत की जेठी लड़की बताया है।..... हिन्दी को यह स्वरूप तो अभी उस दिन मिला है। हिन्दी और उर्दू की लड़ाई बन्द हुए अभी ज्यादा दिन नहीं हुये। यह सभी जानते हैं कि अंग्रेजी विद्वानों के प्रभाव और कुछ विदेशी शिक्षितों की चेष्टा से संस्कृत और देहाती प्रचलित शब्दों द्वारा उर्दू का नवीन संस्कार करके हिन्दी का उद्धार किया गया है। हिन्दी के पत्रों या पुस्तकों में जो भाषा लिखी जाती है वह तो उनके सम्पादकों और लेखकों को भी बोलते हमने नहीं सुना, परन्तु दो चार आचार्यों की बात हम नहीं कह सकते ? अस्तु, यह निर्विवाद है कि संस्कृत-प्रचुर हिन्दी न किसी के मुँह से निकली है और न वह किसी की मादरी जबान है। .....कुछ लोग दिल्ली के आसपास की भाषा को हिन्दी का यथार्थ रूप मानते हैं........फिर भी हमें दिल्ली के इलाके में न तुलसी मिलते हैं न हरिश्चन्द्र। अस्तु, हमारे बिना जाने ही जब कि भाषा ने इतना विस्तार कर लिया तो उस पर प्रान्तीयता का इलजाम न लगाना चाहिए।.....”(—चयन, निराला कृत)

“अंग्रेजी, बंगला, उर्दू या किसी भी उन्नत भाषा की ओर हिन्दी की रुचि का होना उसकी प्राथमिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक था। इसके बिना उसके संकीर्ण शब्द-भण्डार की पूर्ति असम्भव थी।......विदेशियों की बनाई हुई ऐसी बहुत-सी चीजें हैं—शिक्षा की बहुत-सी शाखायें हैं—जिन्हें अपनाइये तो विदेशी शब्दों को ही साहित्य में जगह देनी पड़ेगी। बंगाल ने तो ऐसा ही किया । हिन्दी के लेखक भी अब इसी उपाय का आदर करने लगे हैं। यह उपाय स्तुत्य है।....**हमें भी जीवन को कर्ममय बनाने के लिए भाषा की गति को बढ़ाना चाहिये। भाषा** की शिथिलता जीवन को भी शिथिल कर देती है। हिन्दी की मन्दगति का प्रधान कारण यह है

कि गद्य का जमाना उसमें अभी कुछ समय से प्रारम्भ हुआ है। **कविता की भाषा से मनोरंजन होता है परन्तु वह जीवन-संग्राम के काम की नहीं होती।**"

"खड़ीबोली के गद्य में कर्मजीवन के चिन्ह और पद्य में हृदय की सुकुमार भावनायें व्यक्त कर हिन्दी के इस काल के प्राचीन स्तम्भ, साहित्यिकों ने अपूर्व दूरदर्शिता दिखलाई है।"

"खड़ीबोली में जो कुछ भी कठिन-शुष्क तथा रूढ़ दिखलाई पड़ रहा है, वह केवल भाषा को अधिक काल तक स्थायी रखने के लिए है।....**खड़ीबोली की यह कठोरता ही अब आगे चलकर सरस कवियों की काव्य-साधना का कारण होगी।** भाषा की गति के साथ ही हमारी मातृशक्ति का उत्थान होगा और उनके मुखों से सुनकर खड़ीबोली के बालक क्रमशः अपनी भाषा समाज और राष्ट्र का कल्याण-साधन करेंगे। इस भाषा के द्वारा इस जाति के जीवन ने एक दूसरा ही प्रवाह लिया है, जो अधिक से अधिक क्षिप्रगामी होता जा रहा है। और **कभी ऐसा भी समय आवेगा जब समस्त भारतवर्ष एक ही भाषा-शक्ति के प्रवाह में बहने के लिये राजी हो जावेगा।**" ('चयन' से)

"मैंने अनेक बार लिखा है कि कार्लाइल और रस्किन, शेली या रवीन्द्रनाथ हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु नहीं बन सकते। उनकी अनुवादित भावनाएँ दूसरी जगह के लिखे हुए फूलों को लाते लाते मुरझाने की तरह हिन्दी में निष्प्रभ हैं। विकास अपने ही भीतर का विकास है और वही विश्व-विकास है।"

× × ×

"....पेट में जब तक दीनता के पिल्ले कूं कूं करते रहेंगे, मनुष्य को अपनी पहचान अपने आप न होगी, वह किसी ऊँची बात का अर्थ नहीं समझ सकता।"—

('प्रबन्ध पद्म' से)

"भाषा-क्लिष्टता से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हिन्दी की तरह अपर भाषाओं में नहीं उठते। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा मानने वाले या बनाने वाले लोग साल में तेरह बार आर्त चीत्कार करते हैं—भाषा सरल होनी चाहिए जिसे आबालवृद्ध समझ सकें। **मैंने आज तक किसी को यह कहते नहीं सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए,** जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढ़े।

"उन प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने में चार आने जनता के लायक रहना, साहित्य का स्वभाव है।" ('प्रबन्ध पद्म' से)

निरालाजी के निबन्धों में समकालीन कवियों एवं लेखकों की आलोचनायें भी हैं। ये आलोचनायें प्रशंसात्मक न होकर गुण-दोष को प्रकट करनेवाली होती थीं जिसके कारण अनेकानेक कवि एवं लेखक उनके शत्रु बनते गये। परन्तु उन्होंने दोस्ती बनाये रखने की अपेक्षा आलोचक के दायित्व को ही निबाहना श्रेयस्कर समझा। 'पन्त और पल्लव' एक ऐसी ही आलोचना है जिससे कोमल प्रकृति के कवि पन्त जी ऐसे तिलमिलाए कि आजीवन वे इस आलोचना को नहीं भूले।

जिन लोगों ने निराला के काव्य को 'कठिन' 'थोथा' एवं 'अमौलिक' बताया और निराला स्वयं को दम्भी, हठी एवं विक्षिप्त, उनके प्रत्युत्तर में निरालाजी ने अपने काव्य की विशेषताओं से परिचित कराने वाले लेख भी लिखे। यदि हिन्दी के गद्य-विकास का ठीक से अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि निरालाजी को अपने काव्य की उत्कृष्टता बताने के लिए गद्य की नवीन शली का सूत्रपात करना पड़ा। छायावादी युग में कविता-क्षेत्र की उपलब्धियों की सम्यक विवेचना वाद-विवाद के रूप में ऐसी ही गद्यशैली में निराला जी ने प्रस्तुत किया।

निरालाजी के कथा-साहित्य की विशेषता है समाज की दुर्बलताओं को लक्षित करके उन्हें दूर करने का नैतिक प्रयास। समाज में फैली वर्ग-विषमता, दरिद्रता एवं धार्मिक रूढ़िवादिता पर निरालाजी ने कस कस कर प्रहार किया हैं क्योंकि स्वयं भी वे इसी के शिकार हुए थे। देश में फैली बेकारी एवं कृषकों के उत्पीड़नों के चित्रण 'निरुपमा', 'अलका' तथा 'काले कारनामे' उपन्यासों में मिलते हैं। 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' में न केवल रेखाचित्र प्रस्तुत हैं वरन उनमें गद्य की नवीन शैली का जन्म हुआ है।

निराला का गद्य-साहित्य कटुसत्य को प्रस्तुत करने में तनिक भी संकोच नहीं करता। निराला के, व्यक्ति के आदर्शों का वास्तविक प्रतिबिम्ब, निबन्धों में है। पद पद पर हम निराला के व्यक्तित्व को अस्खलित पाते हैं। वह अपने पथ पर अडिग है—न वह झुकना जानता है न चूकना। भाषा की शक्ति द्वारा उन्होंने जिस कर्मण्यता की ओर लक्ष्य किया है वह मानव और समाज को गिरने से बचाने वाला है।

निराला-साहित्य की इन विशेषताओं के साथ जो दो एक अभाव हैं उनकी ही और लोगों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट होता है। एक तो विचारों में असम्बद्धता एवं दूसरे भावों की अस्पष्टता। प्रथम प्रकार का दुर्गुण 'वर्तमान धर्म' जैसी गद्य रचना में और दूसरा उनकी कविता में सर्वत्र बताया जाता है। वास्तव में इस प्रकार के आक्षेप एकांगी हैं। जिस व्यक्ति ने हिन्दी की सेवा में अपना तन, मन और धन सर्वस्व स्वाहा कर दिया हो, उससे सभी प्रकार की कामनाओं की आशा दुराशा मात्र होगी। फिर निराला जी तो निराले थे ही।

उनका अध्ययन अत्यन्त विस्तृत न होने पर भी किसी भी विषय के सम्बन्ध में उनकी अर्न्तदृष्टि इतनी सूक्ष्म थी कि वे किसी भी सम्बन्ध में मौलिकता का परिचय दिये बिना नहीं रह सकते थे। उन्होंने जो कुछ भी रचना की, मौलिकता के ही ध्येय से की। अन्यथा यदि वे अर्थ-लोलुप होते तो सभी प्रकार का साहित्य लिखकर मालामाल हो सकते थे।

निराला-साहित्य प्रतिनिधि साहित्य है और उसमें विश्व-साहित्य के समस्त गुण पाये जाते हैं। हां, इसके लिए निष्पक्ष आलोचना की आवश्यकता है।

डॉक्टर हरिशंकर शर्मा 'हरीश'

महाप्राण निराला : एक व्यक्तित्व और संस्मरण

महाकवि निराला के निधन से हिन्दी काव्याकाश में सूर्यास्त हो गया। महाप्राण निराला विगत १५ अक्टूबर १९६१ को चले गए। उनका यश:शरीर हमारे साहित्य में हमारी साँसों के साथ अमर रहेगा। उनका पार्थिव शरीर अब नहीं रहा, पर वे अमर हो गए। यह सच है कि उस महान् विभूति को महाकाल ने अपने में समा लिया लेकिन इससे उस विराट् के जीवन, यश और कीर्ति में क्या कुछ कमी आई? मनुष्य का पार्थिव शरीर तो मृत्यु के चिरशिवत्व में लीन है-यही उसका सौन्दर्य है। शायद यही सोचकर कविवर स्वर्गीय श्री सुधीन्द्र ने लिखा था—'अमर जन्म बनता मरण की कथा से'—और महाकवि अब अमर हैं।

निराला की क्षति हमारे लिए असह्य है। वे हिन्दी के रवीन्द्रनाथ थे। उनका एक एक गीत महाकाव्य के उच्छ्वासों की तरह है। उनकी कविता में उल्लास है। ऐसा लगता है कि विराट अनुभूतियां उनमें आकर सम्पुंजित हो गईं हों। बड़ा निराला व्यक्तित्व था उनका। विशाल देह, प्रशस्त भाल, उन्नत शीर्ष और ओजस्व-वर्चस्व से निर्मित पेशल सुगठित भुजायें। सबसे आकर्षक उनके विशाल नेत्र थे। उनमें सागर का विस्तार था। एक ओर उनमें पौरुष का समुद्र ठाटें मारता था तो दूसरी ओर करुणा का मेघ-वर्षण होता। पुरुषत्व और मसृणता का ऐसा पूंजीभूत व्यक्तित्व दूसरा देखने में नहीं आया।

निराला हिन्दी के हिमालय थे। ऐसे हिमालय, जो लगता है, रिस रिस कर बहता है। उसे गंगा-यमुना और ब्रह्मपुत्र जैसी नदियाँ अनुस्यूत हैं। अब लगता है कि हिन्दी का हिमालय गल गया, काव्य का शीर्ष टूट गया। उनमें वाल्मीकि का सौन्दर्य, कालिदास की प्रेषणीयता और भवभूति की करुणा थी। तुलसीदास की भाँति उनके काव्य में प्रवाह है, एक विचित्र प्रकार का।

निराला वाणी के वरद पुत्र थे। वीणापाणि ने उनको राशि राशि सौन्दर्य से आपूरित वरदान दिए थे। उनके हर गीत में सरस्वती की वीणा का तार तार झंकृत है। जैसा उनका आकार था, डीलडौल था, जैसा उनका वाह्य परिवेश था, उनका बोलने, समझने और लिखने का रूप-स्वरूप था, वैसा ही उनका काव्य भी था। व्यक्तित्व और काव्य का ऐसा सहज साम्य अन्यत्र दुर्लभ है। सरस्वती का यह उपासक निर्द्वन्द्व भाव से, दुर्निवार सत्य की भाँति बढ़ता गया। किरणों की प्रखरता की भाँति, बादल राग की भाँति। हिन्दी का एक ऐसा वट-वृक्ष जिसके नीचे सब आश्वस्त थे।

निराला नीलकण्ठ थे। ऐसे नीलकण्ठ, जिन्होंने विष को पचा लिया। विष पीकर भी वे कल्याण के देवता की भाँति शिव ही बने रहे। अनामिका (१९२३) परिमल (१९३०) गीतिमा (१९३६) अनामिका द्वितीय (१९३७) बेला (१९४६) कुकुरमुत्ता (१९४२) अणिमा (१९४३) नये पत्ते (१९४६) अपरा (१९४८) अर्चना (१९५०) आराधना (१९५३) और गीत-गुंज (१९५३-५६) आदि उसके प्राणों के स्वर हैं जो उन्होंने माँ भारती को गीतांजलि के रूप में भेंट दिए थे। भारती उन्हें पाकर आल्हादित थी और वे उसे पाकर न्योछावर।

हमने इस कवि को संघर्षों में उभरते देखा है। उनकी काव्य-ज्योति गंध की भाँति दिग्दिगंत में विकीर्ण हो गई। समाज की एक ऐसी इकाई, जिसने 'स्व' से चलकर अपने को 'पर' में पर्यवसित कर दिया। सूर्य चन्द्र की ज्योति-अन्विति की भाँति उनकी कविता ठोस राजमार्ग बनाती चली। कौन कहता है निराला अकेले थे। उनके बोल सबके बोल थे। प्रकृति के प्रांगण से आशीर्वचन पाकर यह ज्योतिदूत उभरा और प्रगति और परम्परा का अनूठा समन्वय कर प्रयोगों के बेजोड़ एवं जीवन्त आयाम स्थापित किये। चिलचिलाती धूप, कड़कती दुपहरी, अंधियारी सांझ में शूलों पर चलना ही उन्हें इष्ट था। उनका सर्जन उस सान्द्र संगीत की भाँति है जो जनजीवन के कोलाहल से विदग्धता का वरदान लेकर उठता है और मूसलाधार मेघों की अजस्र धाराओं की भाँति शत शत कंठों में फूट पड़ता है। उसमें सारल्य और शास्त्रीयता का अपूर्व संयोग है।

निराला शब्दों के असाधारण शिल्पी थे। उनके शब्द सार्थकता, नादात्मक-व्यंजना और ध्वन्यात्मक प्रासादिकता की सुषमा से अभिमंडित हैं। उनमें एक ओर समुद्र-गर्जन का उद्‌घोष विद्यमान है तो दूसरी ओर मेघराज की गरिमा। उनका एक एक शब्द अनुभूति में आकण्ठ निमग्न है। भावोन्मेष उनकी प्रासादिक कविता का प्राण है और उसमें मानव के अप्रतिम गुणों की मिठास है। वे दानी थे, ओढरदानी। कोई भी उनके वरदहस्त से निराश नहीं लौटा।

निराला जी का 'अहं' उनका अपना अहं है। अछूता अभेद्य। लोग उसको भले ही उद्धत कहें पर वह उद्धत अहं तो उनकी कविता की प्राण-धारा है। उस अहं को हम लांछित क्यों कहें। वही महाकवि को आज शीर्ष स्थान दिला सका। यह अवश्य हुआ कि वे संघर्षों से अकेले जूझे। तूफानों के प्रबल असामयिक थपेड़ों से कश्ती टकराई, शीर्ण हो गई पर वे झुके नहीं, रुके नहीं। बढ़ते गये------बढ़ते गए। चरेवैति चरेवैति।

महाप्राण निराला ऋषि थे। उन्होंने सत्यं शिवं और सुन्दरम् का विश्लेषण किया है। ऐसे जीवन और असाधारण महामानव के निर्वाण से सबके सामने अंधेरा छा गया। उस अदम्य व्यक्तित्व की द्युलोक में भी आवश्यकता रही होगी। उसके ऐसे निराले व्यक्तित्व के लिए शत शत नमन, शत शत वन्दन।

खूब पढ़ना संघर्षों से घबराना मत

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त करने को मैं जब पहुँचा तो महाप्राण

निराला के दर्शनों की अदम्य आकांक्षा मन में थी। मेरे एक साथी रामपाल उपाध्याय भी थे। निराला जी के लिए तरह तरह की बातें सुन रखी थीं। बड़े विचित्र हैं वे। अजीब व्यक्तित्व है उनका। भीमकाय पुरुष हैं। निर्द्वन्द्व, निर्विकार और स्वच्छन्द। लोगों ने कहा प्रयाग तीर्थराज में ऐसे महाकवि का दर्शन न करने से तीर्थ अधूरा है। निराला को पाकर प्रयाग धन्य है। बस एक दिन सुबह हम दोनों साहस करके उनके दर्शन करने चले गये।

दारागंज पहुँचे । देखा महाकवि एक बड़ी कुर्सी पर बैठे थे। विशालकाय। वेदों के स्तोता महर्षि की भाँति, एक पैर पर दूसरा पैर रखकर धीरे धीरे उसको हिला रहे थे। मैंने उनके दर्शन पहली बार ही किए थे। यह सन् १९५४-५५ की बात है। मुझे उनके परिचय के लिए किसी की आवश्यकता नहीं हुई। लगा जैसे हिन्दी का रवीन्द्रनाथ बैठा हो। उन्नत ललाट, आजानुबाहु और विशाल नेत्र, जिनमें विश्व की सारी वेदना और उल्लास भरा हो। पहुँचकर हमने प्रणाम किया पैर छूकर, श्रद्धा से।

वे बोले—"**कहाँ से आए हो ?**" मैंने कहा—पंडितजी, राजस्थान से अध्ययन करने के लिए आया हूँ। यहाँ प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० हिन्दी का स्नातक हूँ। वह बोले—"**अध्ययन एक तप है। खूब पढ़ना संघर्षों से घबराना मत।**" मैं बोला—पंडितजी आप के आशीर्वाद से सब ठीक हो जायेगा। वे फिर गम्भीर होकर बोले—"**हमने भी हिन्दी के पीछे सब कुछ लगा दिया है। यहाँ कई बाहर के विद्यार्थी आते हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय में अच्छे अध्यापक हैं।**"

मैं बोला—आपके काव्यों का थोड़ा सा अध्ययन किया है। बड़े कठिन लगते हैं। वे बोले—'**यही तो खराबी है। हम बोलते सरल पर लिखते कठिन हैं। फिर हमारे काव्यों को पढ़नेवाले हैं ही कितने। उसके लिए मेहनत चाहिए।**" और वे गंभीर हो गए, अच्छा कहकर वे मौन हो गए। हम दोनों मित्र उनके चरणों में पुष्प चढ़ाकर चले आये।

तुम लेट आए राजस्थानी

प्रथम दर्शन से महाकवि के प्रति जो अगाध श्रद्धा व भक्ति हुई मैं बराबर १५वें दिन जाकर उनके दर्शन कर आता। एक दिन शाम को ५ बजे पहुँचा। वे ध्यान-मग्न बैठे थे। हाथ में 'दी वर्क्स आफ शेक्सपीयर' ग्रन्थ था। मौन। नेत्रबंद। लगता था महाकवि किसी विशिष्ट भाव में डूबे हैं। मैंने पैर छूकर ज्योंही प्रणाम किया उन्होंने तपाक से कहा—

You are late Rajasthani. I was talking to Shakespeare. Had you been come five minutes earlier. I would have made you to talk to him.

अर्थात्, ओह तुम लेट आये राजस्थानी मैं शेक्सपीर से बातें कर रहा था। तुम पांच मिनट पहले आते तो मैं तुम्हारी उससे बातें करवा देता।

मैं दंग रह गया। भावना और कल्पना के ललित उन्मेष में इतना अधिक खो जानेवाले

इस महाप्राण को देखकर मेरे मुँह से यही निकला––दुर्भाग्य है पंडित जी मैं देर से पहुँचा। इसके बाद उन्होंने पुनः नेत्र बन्द कर लिए। मैंने मन ही मन प्रणाम किया और चला आया।

सांचा ही तोड़ दिया

आदरणीय डा० भगवतशरण उपाध्याय एक बार पण्डित जी के जन्म-दिवस पर बोल रहे थे। उन्होंने कहा––मैं पंडित जी के लिए क्या कहूँ ? इतना ही कह सकता हूँ कि विधाता ने एक सांचा बनाया। अपूर्व। जिसमें निराला जी को ढाला। बस निराला जी को उसमें ढालकर उसने वह सांचा ही तोड़ दिया। पंडित जी यह सुनकर गंभीर हो गए, बोले कुछ भी नहीं। मीटिंग खत्म हुई और इसके बाद.....

रात के दो बजे। अँधेरी रात। किसी ने डा० भगवतशरण उपाध्याय का द्वार खटखटाया। साँय साँय हवा चल रही थी। डा० उपाध्याय चकित हुए। इस समय कौन आया होगा। उन्होंने धीरे से दरवाजा खोला। देखा––सामने महाकवि खड़े थे। वे बोले—पंडित जी आप। वे अट्टहास करके बोले––**"तुमने बहुत अच्छा कहा––साँचा ही तोड़ दिया।"** डा० उपाध्याय ने चाहा कि वे रुकें पर––"साँचा ही तोड़ दिया ! "साँचा ही तोड़ दिया।" कहते हुए वे चल दिये।

साला गरीब बनता है

१९५६ के मार्च की एक शाम। मैं कुछ गीत लेकर पंडितजी के पास गया। सुनाने और निर्देशन पाने के लिये। पंडितजी ने आशीर्वाद देकर कहा––**तुम्हारा वो दोस्त नहीं आया।** मैंने कहा ––पंडितजी वह बाहर गया है। मेरी पढ़ाई की चर्चा कर ही रहे थे कि उसी समय एक यूनिवर्सिटी में पढ़नेवाला एक छात्र आया। प्रणाम करके बोला––पंडितजी बहुत गरीब हूँ। यहाँ बी० ए० फ़ाइनल में पढ़ता हूँ। दो दिन से कुछ नहीं खाया है। पंडितजी ने दुलार-भरी नजरों से उसे देखा और कहा––पैसा लो और पढ़ो। हम दोनों उनके मुँह की ओर देखते ही रहे। पंडितजी ने अन्दर जाकर इधर-उधर से कुछ सिक्के और नोट निकाल कर नीचे डाल दिये, बोले––**ले जाओ।** कुल ३५ रुपये रहे होंगे। लड़का घबराया। जब उसने रुपया नहीं लिया तो वे थोड़े से चौंके। मैंने उनकी उपस्थिति में उसे आँख से इशारा किया कि उसकी खैर इसी में है कि वह रुपया लेकर चलता बने। पर इतने में पंडित जी ने एक हल्का सा तमाचा लगा दिया और झुझलाकर बोले **"साला गरीब बनता है और रुपया नहीं लेता।"** लड़का रुपया उठाकर भागा। पंडितजी बोले–– **वह चला गया न ?** मैंने कहा जी। **उसे बुलाओ तो।** मैं गली में दौड़ा गया। लड़का घबरा गया, उन्होंने उसे जोर से चिपका लिया और बोले-**हिन्दुस्तान में विद्यार्थियों की स्थिति चिन्त्य है, पर रुको नहीं जाओ, पढ़ो और जब पैसा न हो हमसे लो।** मैंने देखा महाकवि की आँखें सजल थीं।

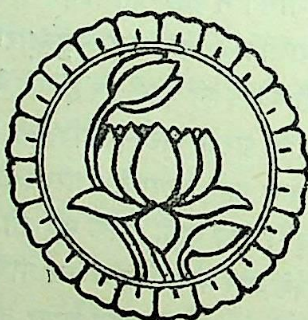
पसे मर्गन समझ में आयेंगे

'प्रयाग पत्रिका प्रेस' में मैं एक साथी के साथ बैठा था। वह कुछ गुनगुना रहा था, उर्दू का कोई शेर रहा होगा—मैंने पूछा तो वह बोला--पंडितजी से मैंने खुद उनके बारे में राय पूछी थी, वे बोले—

पसे मर्गन समझ में आयगे ये कौन हमदम थे,
समर औ गुल खिजां में गरमियों में आबे जमजम थे;

मैंने कहा भाई ! पंडितजी इतनी अच्छी उर्दू भी लिख लेते हैं न ? पर अपने तो बंधु कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा। पंडितजी ने इसे अपने ही बारे में लिखा था। आज भी यह शेर याद है। पर अभी तक भी उनके इस शेर का यही मतलब समझ पाया हूँ—

"मरने के बाद ही लोग याद करेंगे कि वे क्या थे। तब उन्हें वे ऐसे ही याद आयेंगे जैसे पतझड़ में फल-फूल और गर्मियों में सुस्वादु शीतल जल !"



श्री नंदजीप्रसाद

महाकवि निराला : एक महान् व्यक्तित्व

जब कोई महापुरुष इस संसार से प्रयाण करता है तो उसका अभाव लोगों की चेतना को झकझोर देता है। चाहे उसके जीवन-काल में उसे यथोचित सम्मान और प्रतिष्ठा भले ही न मिली हो, उसके मरणोपरान्त लोग अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित करने को आतुर हो उठते हैं। निरालाजी उन्हीं एक महान् व्यक्तियों में से थे। वे अब इस संसार में नहीं रहे, इस बात को ध्यान कर आज भी हिन्दी संसार शोकग्रस्त है। हिन्दी के लेखक तथा विद्वज्जन् उनकी विलक्षण काव्य-प्रतिभा और उनके नवीन साहित्यिक प्रयोगों की स्तुति करते हैं। निस्संदेह निरालाजी एक असाधारण काव्य-प्रतिभा लेकर हिन्दी संसार में आये थे। 'वीणा-वादिनी' की आराधना करनेवाले इस कवि के ऊपर सचमुच सरस्वती की विशेष कृपा थी। निरालाजी के काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जिन्हें पढ़कर ऐसा लगता है जैसे स्वयं 'कविता' ने कवि की आत्मा में पैठकर कविता की निर्झरी बहाई हो। उनकी वाणी में जो शक्ति, जो सौष्ठव और जो स्वर-लहरी है वह दुर्लभ है। हिन्दी कविता को छन्दों के बन्धन से मुक्त कर उन्होंने उसे एक नया रूप दिया। यह तो निश्चित है कि हिन्दी साहित्य के काव्य-गगन में निरालाजी उज्ज्वल नक्षत्र बनकर सदा अपनी कांति बिखेरते रहेंगे परन्तु भय यह है कि काव्य-क्षेत्र में उनकी महत्ता के सामने उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने में कहीं हम पीछे न रह जायँ। क्योंकि उनके व्यक्तित्व में उनके काव्य से भी अधिक निराला-पन था। वास्तव में हिन्दी साहित्य में कबीर के बाद ऐसा अनोखा व्यक्तित्व लेकर अवतरित होने वाले केवल निराला जी ही थे।

निरालाजी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उन्होंने अपने जीवन में सच्चे मानव-मूल्यों को प्रतिष्ठित किया। मनुष्य अपने जन्म-काल से ही अनेक संस्कारों से बंधा आता है। फिर वह जिस परिवार, समाज और देश के वातावरण में पलता है उससे प्रभावित होता रहता है। उस देश का धर्म और दर्शन एवं उस देश की सभ्यता नित्यप्रति किसी न किसी रूप में उसके जीवन की दिशा को एक विशेष गति देते रहते हैं। आज के युग में मनुष्य बाहर के अन्य देशों की सभ्यता तथा विचारधारा से भी प्रभावित हुए बिना भी नहीं रह सकता। ऐसी दशा में उसके लिए कठिन हो जाता है कि अपने संस्कारों तथा बाहरी प्रभावों के बन्धन को काटकर वह जीवन के वास्तविक मूल्यों को आँक सके, सत्य को ठीक से पहचान सके। निरालाजी इन संस्कारों तथा प्रभावों से केवल मुक्त ही नहीं थे प्रत्युत जहाँ भी रूढ़िवादिता, स्वार्थपरता, परम्परागत विचार, छल, कपट और बनावटीपन का उन्हें सामना करना पड़ा वहाँ उन्होंने कड़ा प्रहार किया।

कहते हैं, मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है और उनसे लड़ना एक साहस का काम है—प्रायः ऐसा होता है कि जो मनुष्य उनसे लड़ने को ठान लेता है तो वह इस युद्ध में परास्त ही हो जाता है। निरालाजी निरन्तर अपनी परिस्थितियों से लड़ते रहे हैं, और कभी हार नहीं मानी। सदा अजेय बनकर खड़े रहे।

आज के युग में पैसे का बहुत महत्व हो गया है। जितनी पूजा पैसे की होती है उतनी और किसी वस्तु की नहीं। अर्थसाधन होने के बदले साध्य हो गया है, यहाँ तक कि मनुष्य का आदर निरादर उसके पैसे के अनुसार किया जाता है। निरालाजी ने इस विचारधारा के प्रति घोर विद्रोह किया। वे सतत दरिद्रता में ही जीवन व्यतीत करते रहे परन्तु पैसे के सामने झुके नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि अर्थाभाव ने निराला जी को विक्षुब्ध बना दिया था। यह भी कहा जाता है कि हिन्दी संसार ने उनका समुचित सम्मान नहीं किया और इससे उनको बहुत निराशा मिली। कुछ लोगों का यह विचार है कि दुःखों के घात-प्रतिघात ने निरालाजी के व्यक्तित्व को तोड़ दिया था और उन्हें सहन न कर सकने के कारण बाद में ये विक्षिप्त हो गये थे। मेरी राय में ऐसा कहना या सोचना निरालाजी के व्यक्तित्व का गलत मूल्यांकन होगा। तीन दिन का भूखा व्यक्ति प्रकाशक द्वारा दिये गये १२५ रुपये को किसी भिखारिन को क्षण भर में दे डालता है इसलिए कि वह भीख मांगना छोड़ दे, क्या यह इस बात का द्योतक नहीं है कि उसे इन चाँदी के टुकड़ों के प्रति कोई ममता थी ? इसके विपरीत इस बात से क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि निरालाजी अर्थ-देवता से यह कहना चाहते थे कि 'संसार तुम्हारी कितनीभी पूजा कर ले, मुझसे तुम्हें वह सत्कार नहीं मिल पाएगा।' जाड़े की कँपा देनेवाली रात्रि में जो व्यक्ति अपना नया ओवरकोट किसी भिखारी को याचना पर उसे दे डालता है और स्वयं शीत की ठिठुरन की ओर से उदासीन होकर गर्व के साथ इलाहाबाद के पथ पर चलता है, उसके मन में संसार के भौतिक साधनों के प्रति क्या कोई चाह हो सकती है ? यह भी मानने को जी नहीं करता कि हिन्दी के साहित्यिकों तथा आलोचकों ने जो उनका समुचित सम्मान नहीं किया और उसी से निरालाजी के मन में एक आक्रोश रहता था। इस बात को मानना कठिन है कि यशोपार्जन के ध्येय से उन्होंने काव्य-रचना की थी। कविता तो स्वयं उनकी आत्मा की पुकार थी——स्वान्तः सुखाय लिखी गयी थी। उनके मन में आक्रोश इसलिये था कि आज का मनुष्य सच्चे मानवता का आदर्श भूलकर दूसरे झूठे आदर्शों के पीछे पागल होकर दौड़ रहा है। वे विक्षुब्ध इसलिए रहते थे क्योंकि हमारे वातावरण में सच्चाई के स्थान पर सर्वत्र बनावटीपन दिखाई देता है। उनका मन इसलिए तिक्त हो उठा था कि वे देखते थे कि मनुष्य के आपस के सम्वन्ध में प्रेम, सौहार्द्र, सहानुभूति एवं सद्भावना के स्थान पर छल, कपट, लोलुपता तथा स्वार्थपरता की प्रधानता है।

आज की सभ्यता की एक और मुख्य देन है बुद्धिवाद का प्रभुत्व। मानव के अधिकतर क्रियाकलाप लाभ-हानि की तराजू पर तौले जाते हैं। यह सत्य है कि मनुष्य को पशु की श्रेणी से अलग करनेवाली वस्तु उसकी बुद्धि है किन्तु बुद्धिवाद के इस युग में एक खतरा है कि कहीं मनुष्य अपना हृदय न खो बैठे—अपनी आत्मा को न भूल जाय ? मनुष्य को 'मानव' बनाने के लिए उसकी

बुद्धि के भी परे आवश्यक है उसके हृदय का स्पन्दन, उसकी आत्मा की निर्मलता। निरालाजी भावना के साकार रूप थे। उनके हृदय के तार को यदि किसी ने स्नेह से स्पर्श किया तो संगीत की धारा फूट निकलती थी परन्तु उस पर यदि किसी ने प्रहार किया तो वह झनझना उठता था।

यह सच है कि उन्होंने मूर्तिभंजक का ही काम अधिक किया, मूर्ति संस्थापक का नहीं, किन्तु इससे उनके व्यक्तित्व की गरिमा कम नहीं होती। इसके पहले कि मानव के सच्चे मूल्यों की स्थापना हो, यह आवश्यक है कि उसके सड़े-गले निर्जीव मूल्यों को समूल उखाड़ कर फेंक दिया जाय। यदि कुश एवं कांटों से भरी भूमि में हमें पाटल के फूल उगाने हैं और उसे एक रम्य वाटिका में परिवर्तित करना है तो पहले यह आवश्यक है कि उस भूमि से कुश और कांटों को पहले समूल नष्ट कर दिया जाय। निर्माण के पहले विनाश की आवश्यकता होती है। सृष्टि के पहले प्रलय का आगमन होता है। निरालाजी ने अपने लिये यही कार्य चुना। परन्तु इसके साथ ही साथ वे एक प्रकार से मूर्ति-संस्थापक भी थे। जिस दिन अपनी पेट की ज्वाला का ध्यान न कर एक भिखारिन बुढ़िया को उन्होंने अपनी सारी पूंजी दे डाली थी उस दिन उन्होंने क्या यह नहीं कहा था कि "लानत है उस समाज पर जिसमें एक अबला को बाध्य होकर भीख मांगना पड़ता है।" क्या उनका यह कार्य धनवानों से पुकार पुकार कर यह नहीं कहता कि वे दीन दुखियों और अकिंचनों की झोली भर दें। क्योंकि मनुष्य के लिए यह शर्म की बात है कि एक ओर तो किसी के पास सुख, वैभव और विलास के अतुल साधन हों और दूसरी ओर कोई पेट की ज्वाला से तड़प-तड़प कर मर जाय।

मनुष्य अपने सुख की खोज में न जाने कहाँ कहाँ भटकता फिरता है। भले ही सबके सुख के केन्द्र अलग अलग होते हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख को पाने के लिए लालायित रहता है और उसकी प्राप्ति के लिए हर प्रकार के प्रयत्न करता है। निरालाजी ने अपनी इच्छा से सुख को त्याग कर दुख से चिर सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। संसार की कटुता को अपने अन्दर छिपाये हुए अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को वे अमृत पान ही कराते रहे। वे शिव का एक अंश थे जिन्होंने गरल तो स्वयं पान कर लिया और विष के लिए अमृत छोड़ दिया। भगवान् करे, संसार में निराला जैसे ही व्यक्तित्व अवतरित हों जो किसी देश, काल की सीमा में न बंध कर सारी मानवता के पथ-प्रदर्शक हों।



श्री कमलाशंकर सिंह

पूज्य निरालाजी के कुछ स्मृति-चित्र

पूज्य निरालाजी के सम्बन्ध में जब कभी भी मैं दो शब्द लिखने बैठता हूँ, चलचित्र की भाँति एक-एक करके उनके अनेक चित्र मेरी दृष्टि में उभरने लगते हैं। उनके जीवन की स्मृतियों के जगने से मेरे मन में क्या-क्या प्रतिक्रिया होती है वह शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं की जा सकती। निरालाजी इस देश की उन विभूतियों में से एक हैं जिनका निर्मल चरित्र और पावन प्रसंग भुलाया नहीं जा सकता। इन्सान का हारा हुआ मन स्मृतियों को नहीं रोक पाता। निश्चय ही कुछ प्यारी स्मृतियाँ मन को गुद्‌गुदाने लगती हैं और कुछ कड़वी स्मृतियाँ हृदय को झकझोर देती हैं। दुनिया में अक्सर देखा जाता है कि जो भले आदमी हैं उन्हें अधिक मुसीबत उठानी पड़ती है। सुकरात को जहर पीना पड़ा, ईसा को सूली पर टंगना पड़ा, मीराबाई को विष का प्याला मिला, गांधीजी को पिस्तौल की गोली मिली और तुलसीदास को काशी के पण्डितों का कोपभाजन बनना पड़ा। इसी प्रकार हमारे निराला रूपी पुष्प को भी मधुमक्खियों के तीखे डंकों का ही कटु अनुभव करना पड़ा। उन्होंने—

दोस्तों से इस कदर सदमे उठाए जान पर,
दिल से दुश्मन की अदावत का गिला जाता रहा,

निरालाजी को जन्मकाल से ही दुःख-दैन्य का जो साहचर्य प्राप्त हुआ, वह मरणपर्यन्त बना रहा। उनका सारा जीवन दुःख-दैन्य के साथ संघर्ष में व्यतीत हुआ। निरालाजी ऐसे भाग्यहीन रहे कि जो-जो चाहा, वही न मिला। मैं नहीं जानता ऐसे समर्थ कवि तथा साहित्यकार को, जिसकी मृत्यु पर साहित्य-संसार में इस प्रकार हाहाकार मचा हो, जैसा निराला के मरने पर मचा, किन्तु जब तक उनकी सांस चलती रही वह पैसे की मार सहते रहे। अपने कहे जाने वालों के द्वारा ही वे उपेक्षित रहे। उनके दुःख में आंसू बहाना सहज था पर अपने दोनों हाथ बढ़ाकर उनकी सेवा में जुट जाना जरा कठिन था। निरालाजी का जीवन एक करुण-प्रसंग है—

दुःख ही, जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।

निरालाजी से मेरा प्रथम परिचय का सौभाग्य १९३६ में हुआ। निरालाजी के कवि-जीवन का सबसे अच्छा समय वही था, पर मैं उनके व्यक्तित्व से ही अधिक प्रभावित हुआ। उनको

देखते ही अजंता और एलोरा की भव्य मूर्तियाँ मुझे स्मरण हो आईं। ६ फीट का विशाल पुरुष लहराते हुए केश, उन्नत ललाट, नुकीली ऊँची नाक, उन्नत वक्ष, प्रबल मांसल भुजाएँ, तेजपूर्ण गौर मुखमण्डल, परिपुष्ट शरीर देखकर मैं भगवान् बुद्ध की मूर्ति की कल्पना करने लगा। उनका व्यक्तित्व ही ऐसा आकर्षक था कि एक बार उनके सम्पर्क में आ जाने पर स्नेह की श्रृंखला में बंधकर रह जाना पड़ता था। उनका व्यक्तिगत जीवन तो ऋषियों का-सा था। सत्य आचरण, बड़ों का आदर, मित्रों से सम व्यवहार, छोटों से प्रेम तथा स्त्रियों को पूज्य दृष्टि से देखना—ये कुछ बातें उनके जीवन की विशेषता बन चुकी थीं। ऐसे साधु-प्रकृति व्यक्ति के सम्पर्क में आकर अपने हृदय के अन्दर मैंने एक अपूर्व प्रेरणा का अनुभव किया। उन्हीं दिनों निरालाजी की अध्यक्षता में 'भारतीय कलाकार संघ' नामक संस्था की मैंने स्थापना की और 'कला' नाम की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। कुछ दिन बाद 'कला' का सम्पादन भी वही करने लगे। उसी समय 'सुधा' के सम्पादन के लिए ३०० रुपया मासिक लेना निरालाजी ने अस्वीकार कर दिया और 'कला' का सम्पादन अवैतनिक रूप से करते रहे। उनको रुपये की आवश्यकता न थी ऐसी बात नहीं—वह 'कला' का सम्पादन छोड़कर नवोदित कलाकारों के उत्साह को भंग नहीं करना चाहते थे। निराला जी का चरित्र कितना उदार था। दरिद्र कलाकारों के ही बीच उन्होंने शाश्वत सत्य का साक्षात्कार किया, शिवत्व को जाग्रत किया, सुन्दर को उपलब्ध किया।

निराला जी के लिए लेखनी के सिवाय जीविकार्जन का अन्य कोई साधन नहीं रहा। अपनी काव्य-प्रतिभा को व्यावसायिक रूप उन्होंने नहीं दिया। उनकी पुस्तकों की रायल्टी तथा पारिश्रमिक का कोई हिसाब अथवा लेखा-जोखा नहीं था। साहित्यिक क्षेत्र में उनकी वृत्ति सात्विक ही रही। उन्होंने जो कुछ लिखा अपने प्रकाशकों को सौंपकर विरत हो गए। इस कारण उन्हें आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। प्रकाशकों ने भी उनके साथ अच्छा सलूक नहीं किया। असल बात यह है कि उनका जीवन-मार्ग ही विषम था। जीवन की साधारण पगडण्डी से वह नहीं चल सके। उनकी जीवन की रेखायें टेढ़ी-मेढ़ी थीं। वे ऊँचाइयों या गहराइयों में केन्द्रित और डूबे हुए, अपने को खोकर, अन्तर के आनन्द को जगाते हुए अथवा श्रेष्ठतर अतृप्ति को लेकर चले। स्पष्ट है कि इस प्रकार की असाधारण अवस्थाओं में लेखनी की व्यावसायिक व्यवस्था की जिम्मेदारियों के प्रति वे पूर्णतः सजग नहीं रह सकते थे। जीवन के ब्योरे की छोटी-मोटी बातों में रस लेना, उन पर समय एवं शक्ति व्यय करना अथवा उपयुक्त महत्व प्रदान करना उनकी क्षमता के बाहर था। उनके जीवन में निश्चिन्तता तथा स्थिरता का अभाव था जिसके कारण उन्हें भयंकर कष्ट, पीड़ा और दुःख सहना पड़ा। उनकी पत्नी पहले ही मर गयीं थीं, जवान ब्याही बेटी जब मरी तब वह पैसे के अभाव में दवादारू करने की तड़प लिए बावले बने डोला किए। निरालाजी के वे दिन भी मैंने देखे हैं जब वह एक प्याली चाय के लिए तरसते रहते थे, फाके पर फाके हो रहे थे और दो-दो तीन-तीन दिन उपासे रहकर कुर्ते की जेब में अखबारी कागज में लिपटी रोटियाँ धरे हुए किसी होटल में पहुँचते और वहाँ दो आने की सब्जी लेकर खाने बैठ जाते थे। उन्हीं दिनों की बात है कि एक दिन उनके निवासस्थान पर बेढबजी अपने एक दो मित्रों सहित

पहुँचे और एक साहित्यिक आयोजन में पधारने के लिए उन्होंने निराला जी से आग्रह किया। निरालाजी ने अपनी स्वीकृति दी और साथ ही अपनी टेंट से निकालकर एक रुपया बेढबजी के हाथ पर उस आयोजन के लिए चन्दे के रूप में रख दिया। बेढबजी ने बार-बार कहा कि वे लोग उनके पास इस आशय से नहीं आये हैं और उन्होंने वह रुपया लौटा देना चाहा पर पंडितजी नहीं माने––बेढबजी को वह रुपया बरबस लेना ही पड़ा। आपको शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि निरालाजी ने जिस रुपये को उस समय अपनी टेंट से दिया था उसे वह तीन दिन से बिना खाये-पिये बचाकर किसी आकस्मिक कार्य के लिए रखे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में भी साहित्यिक आयोजन के लिए रुपया देना उन्होंने आवश्यक समझा। अवश्य ही ऐसे लोग एक औसत आदमी की अपेक्षा मानव जाति के लिए अधिक स्फूर्तिप्रद एवं स्पष्टतः कल्याणकारी सन्देश और आदर्श छोड़ जाते हैं।

जीवन भर दुःख एवं अभाव की ताड़ना सहन करते रहने पर भी निरालाजी ने अर्थ का मूल्य कभी नहीं समझा। जब उनके पास धन होता तो मुक्तहस्त होकर खर्च किया करते थे, दिल खोल कर दान करते, मानों कोई राजा-महाराजा हों। धन-संचय की प्रवृत्ति एकदम नहीं थी। एक दिन किसी पुस्तक-प्रकाशक से उन्हें यथेष्ट धन मिला। इससे पहले कई दिन तक चाय-पान पर गुजर करते रहे। फटा-चिटा कुर्त्ता और मैली लुंगी पहने बैठे रहते थे। कुर्त्ते की जेब में रुपये भरकर बाजार करने निकले, नये कपड़े लिये, सारे दिन आवश्यक-अनावश्यक, जहाँ जो वस्तु पायी, खरीदते रहे। दूकानदार लोग उन्हें बड़ा आदमी समझकर मनमाने मूल्य पर चीजें देने लगे। कुछ चीजें लेकर उन्होंने अपने मित्रों को उसी समय बाँट दिया। कुछ गरीबों को दान दे दिया। सिर पर इत्र की शीशी उंड़ेलकर रिक्शा पर बैठकर जब घर लौटे तो रिक्शावाले को मजदूरी देने के लिए भी पैसे नहीं थे। एक मित्र से उधार लेकर रिक्शावाले को पैसे दिये।

निरालाजी का आर्थिक कष्ट व्यक्तिगत नहीं था। एक भी भूखे, नंगे या दुःखी व्यक्ति को देखकर वे उद्विग्न हो उठते थे। दुखियों का दैन्य-अभाव उनके समक्ष मूर्त्त हो उठता था। यदि कुबेर का कोष भी उनके पास होता तब भी वे संसार से कष्ट, दुख और अभाव को दूर नहीं कर सकते थे और इसी कारण वे कभी सुखी नहीं हो सकते थे। किन्तु उनका हृदय पीड़ित मानवता के प्रति कितना संवेदनशील था यह स्पष्ट है। वह स्वयं विष के प्याले पीकर औरों के लिए सुधा-दान करते रहे।

सन् १९४२-४३ की बात है। निरालाजी दारागंज में एक तंग गली में एक छोटा-सा मकान किराये पर लेकर रहा करते थे। वे अकेले ही थे। पारिवारिक जीवन में पत्नी के स्वर्गवास के बाद उनका व्यवस्थित क्रम नहीं था। जब जहाँ जमे वहीं जमें रहे। जब तक पैसा और परिस्थितियों ने बाध्य नहीं किया तब तक कहीं पर भी वह चुपचाप पड़े रहते थे। पैसों के नाम पर उनको कितना कष्ट झेलना पड़ा इसकी कल्पना भी कोई कहाँ तक करेगा? आदमी अपने को आखिर हर परिस्थिति के अनुकूल बना ही लेता है।

निरालाजी का सब काम उस समय उधार-खाते में ही चल रहा था। कुछ दूकानदारों

से परिचय हो गया था, इसलिए उनकी दूकान से निरालाजी जो वस्तु चाहते उठा ले आते थे। कोई दूकानदार उनसे कीमत नहीं मांगता था। निराला के पास जब कभी रुपया आ जाता तब वह सब दूकानदारों से पूछते चलते कि तुम्हारा कितना बाकी है और जितना जो मांगता बिना किसी हिसाब-किताब के वह उतना पा जाता था। ये सब दूकानदार जान गये थे कि पैसा हाथ आते ही वे स्वयं ही बांट जायेंगे, इसलिए कोई कुछ उनको देने में आनाकानी नहीं करता था। इस प्रकार उनकी वह गृहस्थी जैसे-तैसे चल रही थी। वह दारागंज की तंगवाली गली के मकान की एक कोठरी में रहते थे। एक तखत था उसी पर वह बैठते-सोते थे, तखत पर एक फटी हुई पुरानी रजाई रखी रहती थी जिसको पंडित जी आधा बिछाकर सो जाते और उसी का आधा भाग ओढ़ लेते थे। तखत के बगल में खिड़की के पास एक तीन पाँव का मेज भी रखा था। जिधर का पाया टूटा था उधर ही दीवाल के सहारे वह खड़ा था। उसी पर अखबार बिछाकर दो चार मोटी-मोटी पुस्तकें भी रक्खी थीं और सामने बहुत सा कागज और कलम-दवात थी। खर्च का हिसाब बेतुका था। एक दिन निरालाजी ने आकर मुझसे कहा कि १००) रु० महीना खर्च करने पर भी किसी-किसी दिन नमक-रोटी भी नहीं मिलती। पूछने पर बताया कि तीन व्यक्तियों का भोजन बनता है। निरालाजी का, रसोइये का और महेरी का और उनको कपड़ा आदि अलग। मैंने उनसे निवेदन किया कि मेरा घर निकट ही है, आप दोनों वक्त मेरे यहाँ भोजन कर लिया करें और यथासम्भव कुछ व्यवस्थित रूप से रहा करें। उस दिन से जब-तब निरालाजी मेरे यहाँ भोजन करने चले आते थे। दो-ही चार दिन बाद उनको कहीं से कुछ रुपये मिल गए थे। फिर क्या था वे मुझे ले गए दिखाने के लिये अपनी व्यवस्था। निरालाजी के घर पहुँचा तो मैंने देखा कि कोठरी के दरवाजे पर दो-तीन टूटे हुए ताले पड़े थे। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि उन तालों को उन्होंने ही तोड़ कर फेंका है।

"तालों को तोड़ने की ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी पंडित जी!" मैंने पूछा!

"क्या करूँ ताली ही गायब हो जाती है" निरालाजी कहने लगे—"वह पत्थर का टुकड़ा रख लिया है, जब जेब में ताली नहीं मिलती तो उसी पत्थर से ताला तोड़ देता हूँ।"

मैंने देखा कि टूटे तालों के बगल में एक पत्थर का टुकड़ा भी पड़ा है। महाकवि उसे उठाकर ताला तोड़ने लगे। ताला टूट गया पर उसे भी वहीं फेंक कर निरालाजी मेरे साथ अपनी कोठरी में गये। वहाँ मैंने देखा कि तखत पर नया गद्दा बिछा है, नई चादर और तकिया से उसे सजाया गया है। रजाई भी नई बनी है। ताक पर लवेण्डर की दो शीशियाँ रखी हैं। एक खाली थी। उन्होंने बताया कि साढ़े तीन रुपये की एक शीशी है और पूरी शीशी को सिर पर उड़ेंल लिया था। मैंने देखा कि दरवाजे के ऊपर जो आला है उसमें एक जोड़ा नया काला जूता भी रखा हुआ था।

"यह जूता भी खरीदा है क्या पंडितजी?"

तखत के नीचे पड़े हुए एक कैन्वस के जूते को दिखाकर निरालाजी ने कहा—"हाँ, देखो न यह पुराना हो गया है! इसीसे वह बूट खरीदना पड़ा।" और सचमुच

कैन्वस के जूते की एंड़ियाँ ऐसी घिस गयी थीं कि निरालाजी जब उसे पहनकर घसीटते हुए चलते थे तो पीछे का आधा पाँव उनका जमीन पर ही पड़ता था। इतने ही में उनका रसोइया आया और उन्होंने नये जूते को उतारकर मुझे दिखाने को कहा। रसोइया जब जूता उतार रहा था तो निरालाजी उसके पाँव को देखने लगे। उसके पाँव में बहुत बेवाई फटी थी, निरालाजी ने उससे पूछा कि "तुमने ऐसा जूता कभी पहना है या नहीं ?" उसने कहा --"जूता और वह भी ऐसा कहाँ मैं पाऊँ महाराज !"

"जरा इन्हें पहनकर देखो तो तुम्हारे पाँव में ठीक बैठते हैं ?" निरालाजी ने फिर कहा।

"मैं यह अंग्रेजी जूता क्या करूँगा, महाराज ! यह बड़ा कीमती है।" रसोइये ने निराला जी की ओर देखते हुए कहा।

"पहनकर देखो भी--हाँ ठीक तो है। ले जाओ इनको तुम्हीं पहन डालो। अब तुम्हारे पाँव की बेबाई ठीक हो जायगी।" निरालाजी ने कहा। देखते-देखते उस जूते को उन्होंने दान कर दिया।

चलते समय मैंने पंडित जी से निवेदन किया कि अब ताली ठीक से रखा करें और इसी प्रकार सुव्यवस्थित ढंग से रहने का प्रयत्न करें। उन्होंने कहा "ठीक कहते हो।"

दूसरे ही दिन जब निरालाजी बनियायन और लुंगी पहने हुए चाय पीने के लिए सुबह मेरे यहाँ पहुँचे तो मैंने देखा, उनकी बनियायन के नीचे एक यज्ञोपवीत भी शोभायमान था। मैंने पूछा--"आज आपने जनेऊ भी धारण कर लिया पंडित जी ?"

जनेऊ में बंधी एक ताली दिखाते हुए निरालाजी ने कहा--"हाँ, यह ताली ससुरी तो बार बार खो जाती है। देखता हूँ अब यह कहाँ जायगी।"

"यह अच्छा किया आपने" कहकर मैंने उनको चाय दी। उसके दूसरे ही दिन फिर वही बनियायन पहिने निरालाजी चाय पीने आए। उसी समय भैया साहेब (पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी) का आदमी आया और उसने कहा कि हम लोगों को उन्होंने बुलाया है। उनका मकान हमारे बगल में ही है। वहाँ पहुँचने पर निरालाजी को देखते ही भैया साहब बोले--"आइए, आइए महाराज ! जरा चाय पी लीजिए" और भैया साहब चाय बनाने लगे।

"एक नई बात सुनाऊँ भैया साहेब, आपको।" मैंने कहा।

"क्या ?" भैया साहेब ने पूछा।

"निरालाजी अब जनेऊ पहनने लगे हैं।"

"हाँ ! निरालाजी ! सचमुच !! देखूं जरा, देखूं महाराज।"

निरालाजी ने कहा "देखिए न !"

यह कहकर वह दाहिना हाथ गले की ओर से बनियायन में डालकर जनेऊ टटोलने लगे। जनेऊ नहीं मिला तो कमर के पास से बनियायन के नीचे पेट पर हाथ घुमाने लगे। फिर भी जनेऊ का कहीं पता न लगा तो दोनों हाथों से कमर के पास से बनियायन को पकड़कर ऊपर की ओर

उसे उठाकर निकाल बाहर किया। फिर भी जब जनेऊ नहीं मिला तो बहुत ही गम्भीर मुद्रा में वे बोले—"जनेऊ भी गया और साली ताली भी गई।" इस पर हम सब हँस पड़े। निरालाजी गंगास्नान करने गये थे। वहीं पर बनियायन निकालते समय जनेऊ ताली सहित शायद गिर गया था।

दो-तीन दिन बाद निरालाजी को भोजन के लिए बुलाने मैं जब उनके घर गया तो क्या देखता हूँ कि तखत का गद्दा, रजाई, चादर, तकिया सब गायब—वही फटी रजाई, आधी बिछाए हुए और आधी ओढ़े हुए बैठे वह तखत पर पड़े हैं। पूछने पर उन्होंने बताया कि उनके कोई मित्र जो गरीब और बाल-बच्चे वाले हैं उनको सर्दी में कपड़ों की अत्यन्त आवश्यकता थी, उनको ही सब कपड़े दे दिये हैं। वह फिर फकीर के फकीर ही रह गये। निरालाजी की अनियमितता, विशृंखलता की अनुभूति उनके जीवन की अन्य सब सुविधाओं को मिट्टी कर देती थी। उन्होंने अपना ही दुःख नहीं झेला, दूसरों के दुःख से वह और भी व्यथित हुए हैं। इस व्यथा ने उन्हें और भी जर्जर कर दिया था, पर वह अपने अन्तर को स्नेह एवं ममता से सदैव भरपूर रखते थे।

निरालाजी विचार, रहन-सहन, भोजन-पान में सर्वथा मुक्त थे, किन्तु अपने यहाँ आए हुए अतिथि के आचार-विचार का बहुत ध्यान रखते थे। अपने मेहमानों की खातिरदारी के लिए बहुत ही सतर्क रहते थे। उनके पास जो भी आता था, चाहे बड़ा हो या छोटा, उसका पूरा सत्कार करते थे। उन्हीं दिनों श्री मैथिलीशरण गुप्त उनके यहाँ पधारे। गुप्त जी परम वैष्णव हैं। निरालाजी उनके जलपान के लिए एक नया मिट्टी का घड़ा खरीदकर ले आये और उसे लेकर गंगाजी गये और वहाँ से घड़ा भरकर गंगाजल स्वयं ले आकर गुप्त जी को जल पिलाया। उनके काम करने के सभी ढंग अनूठे थे।

जिसके लिए लेखनी के सिवा जीविकार्जन का अन्य कोई साधन न हो, आर्थिक दृष्टि से जो हीन हो, पारिवारिक-व्यवस्था जिसकी छिन्न-भिन्न हो, जो व्यक्ति आजीवन संघर्ष और परिशोध करता आ रहा हो, उसके लिए अपने दिमाग को दुरुस्त रखना सचमुच कठिन है। निराला जी की मनःस्थिति भी बिगड़ने लगी। उनकी मानसिक परिधि के चारों ओर एक प्रकार की खिन्नता और अवसाद का वातावरण छा गया। उनकी ऐसी परिस्थिति को देखकर श्रीमती महादेवी वर्मा ने साहित्यकार संसद में उनके रहने की समुचित व्यवस्था कर दी थी और निरालाजी वहाँ कुछ दिन रहे भी। और तभी सन् १९४९ में एक दिन गेरुए रंग में रंगी हुई लुंगी पहने हुए निराला जी आकर मेरे दरवाजे पर खड़े हो गए। उनके साफ और सफेद मस्तक पर दुःख-दर्द की कितनी ही सलवटें उभरी हुई देखकर मैं चकित रह गया। उनकी आंखें लाल और चढ़ी हुई थीं। अजीब बेचैनी और हैरानी उनके मन में थी। लग रहा था, जैसे, उनके हृदय में एक विकल वेदना छिपी हुई है और मस्तिष्क में प्रचण्ड झंझावात की लहरें टकरा कर उनके कण-कण में फैल रही हैं।

निरालाजी कमरे में आकर फर्श पर जूट की दरी पर लेट गए। पूछने पर कहने लगे "मैं विलायत से आ रहा हूँ। अभी तक मैं विलायत में रहता था, लेकिन अब हिन्दुस्तान में चला आया हूँ। विलायत में रहने को लम्बी-चौड़ी कोठी, फुलबगिया, बिजली की बत्ती, पंखा और

चढ़ने को मोटर गाड़ी थी और यहाँ हिन्दुस्तान में रहने को छोटा-सा घर, घूमने को तंग गली, रोशनी के नाम पर लालटेन तथा बिछाने के लिए जूट की चटाई और ताड़ का पंखा है।"

तभी से निरालाजी मेरे साथ पूरे बारह वर्ष रहे। निश्चय ही यह समयावधि छोटी नहीं थी। लेकिन मुझे लग रहा है कि जैसे १२ वर्ष के विस्तार में फैला यह समय अब सिमट कर शून्य में विलीन हो गया है।

सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए, धार्मिक दृष्टि से नैतिक पतन की गहरी खाई में गिरे हुए, भाग्य तथा भगवान् के भरोसे सब कुछ छोड़कर पुरुषार्थ से मुँह मोड़े हुए तथा सर्वसाधारण जिन्हें नीच, पतित और अछूत समझकर घृणा एवं अवज्ञा की दृष्टि से देखा करते हैं, वे ही निरालाजी के समादर एवं गम्भीर अध्ययन के पात्र थे। समाज की निम्नतम श्रेणी के लोगों के चिन्तन में उन्होंने कितनी ही रातें जाग कर बिता दीं। उन्होंने मानव-जीवन के अभावों को पूर्ण रूप से अनुभव किया। असहाय और दरिद्रों के लिए वे खून के आंसू रोते थे। पीड़ित मानवता के प्रति सेवा-निष्ठा का अजस्र-स्रोत उनके हृदय में फूट निकलता था।

> **"ठहरो अहा! मेरे हृदय में अमृत**
> **मैं सींच दूंगा,**
> **अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम**
> **तुम्हारे दुःख, मैं अपने हृदय में**
> **खींच लूंगा।"**

विजयदशमी का त्यौहार था। घर में पकवान बना था। अनेक प्रकार के व्यंजनों से भरी थाली उनके सामने रखी गई। निरालाजी थाली के सभी पकवान अपनी लुंगी के छोर में लपेटकर बाहर निकल पड़े। साथ में एक लोटा पानी भी लेते गए थे। उनका बाहर जाना हम लोग साश्चर्य देख रहे थे पर उनसे यह पूछने की हिम्मत किसी की भी न पड़ी कि वह पकवान कहां लिए जा रहे हैं। थोड़ी देर बाद वह खाली लोटा लिए हुए लौटे तब मैंने पूछा कि पंडितजी आप कहाँ गये थे ? उन्होंने बताया कि "पास ही स्टेशन के प्रतीक्षालय में एक बुढ़िया पड़ी हुई है उसे खाने-पीने को कोई नहीं पूछता। असमर्थता के कारण वह कहीं भिक्षावृत्ति के लिए भी नहीं जा पाती। उसी बुढ़िया को पकवान खिला आया हूं और आज से मैं एक ही वक्त भोजन करूंगा। एक वक्त का भोजन मैं उस बुढ़िया को दे आया करूंगा।" यह सुनकर पंडितजी के लिए दूसरी थाली लगकर आई पर उन्होंने भोजन नहीं किया और एक गिलास पानी पीकर लेट गए।

होली के दिन घर में फिर मालपुए बनें। निरालाजी के सामने चार पुए परसे गए। उन्होंने दो पुए खाये और शेष दो को हरिजन महिला को, जो शौचालय साफ करने आती थी, दे दिये और कहने लगे कि "जब मैं पूआ खा रहा था तो वे मुझे बड़े ही स्वादिष्ट लगे और जी चाहा कि चारों पुए खा जाऊं तभी मुझे यह ध्यान आया कि मेहतरानियों को लोग प्रायः अच्छी चीज खाने को त्यौहार के दिन भी नहीं देते, इसलिए दो मालपुए मैंने उसे दे दिये। नाश्ते से दो पूड़ियाँ

भी उसके लिए मैंने बचाकर रख ली थीं और पुओं के साथ ही पूड़ियां भी दे दीं।" बहुत कहने पर भी दूसरे पुए तथा पूड़ियां उन्होंने नहीं खाई। उनको सदा इस बात का ध्यान रहता था कि उनकी वजह से घर के किसी और व्यक्ति को खाने-पीने में असुविधा न हो।

मेहतरानी को वह अपनी बिटिया कहा करते थे और जब कभी उसकी बूढ़ी सास आती थी तो बड़े आदर से उसे सुरती बनाकर देते थे। एक दिन वह प्यासी थी। निरालाजी लोटा भर-कर पानी आंगन से ले आए और उसे ऊपर से जल पिलाते हुए कहने लगे कि, यह लोटा कमलाशंकर का है नहीं तो मैं इसे तुम्हारे हाथ में दे देता। ऊपर से जल पिलाने में उनको बड़ा ही संकोच हो रहा था।

उनकी मनुष्यता ने ही समस्त लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया था। यदि वह निष्कपट हृदय और उदात्त चरित्र के व्यक्ति न होते तो केवल प्रतिभा के बल से साहित्य-समाज के हृदय पर एकाधिपत्य स्थापित न कर पाते। उनकी महाप्राणता का अनुभव सभी ने किया है। मनुष्यता के दीपक को जलाए रखने के लिए उनकी जिंदगी जलती रही। उनके हृदय में अधम से अधम मनुष्य के लिए श्रद्धा एवं सम्मान था, उनके विशाल प्रेम की परिधि में नीच से नीच पतित से पतित व्यक्ति के लिए स्थान था। मनुष्य होना ही उनके लिए पर्याप्त था।

जीवन के द्रष्टा उस कलाकार को लोग इधर कुछ दिनों से अर्द्धविक्षिप्त कहने लग गए थे, पर वास्तव में किसी प्रकार का उन्माद उनमें नहीं था। लोग बाहरी चीजों को परखते हैं, भीतर कोई नहीं झांकता। उनकी आंखों को किसी ने नहीं देखा जिनमें प्रकट रूप में प्रसन्नता और आनन्द का सागर उमड़ रहा था, परन्तु साथ ही सैकड़ों दर्दनाक दास्तानें भी उनमें छिपी हुईं थीं। उनके होठों की क्षीण मुस्कुराहट को किसी ने नहीं देखा जिसमें कितने शिकवे, कितनी आहें दम तोड़ रही थीं। निराला की कहानी एक दर्द है। जीवन में कितनी ही मुफलिसी की घड़ियां योंही बिता दीं, उफ् तक न की, अनेक कष्ट हँसते-हँसते झेले, कितनी ही विपत्तियों और बाधाओं को नतमस्तक होकर मंजूर किया। विष पीते रहे और अमृत लुटाते रहे। परिस्थितियों से पलायन करना तो वे सीखे ही न थे। लक्ष्मी-पुत्रों की उन्हें परवाह न थी। राजनीतिक महापुरुषों की चाटुकारिता उन्होंने नहीं की, किसी नेता का द्वार उन्होंने नहीं खटखटाया, सिक्रे-टेरियट का चक्कर नहीं काटा, विपन्नावस्था में भी अपना मस्तक ऊँचा रखा। मृत्यु के सामने भी उन्होंने हाथ नहीं फैलाया, पागलपन के यदि यही लक्षण हैं तो वे अवश्य पागल थे।

वे ऊँचे दर्जे के मस्तमौला और मनमौजी व्यक्ति थे। वे अपने ही मन की करते थे। यही उनकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति उनके लिए घातक सिद्ध हुई। अपने फक्कड़पन और अलमस्ती के कारण ही वे उपेक्षित थे, किन्तु जीवन की सारी उपेक्षाओं और तुच्छताओं का उनके पास एक ही उत्तर था—ठहाकापूर्ण अट्टहास। इसे भले ही आप पागलपन कह लें।

निरालाजी का अहंभाव अधिक प्रखर था। उनकी अहम्मन्यता को लेकर भी कटु आलोचना हुई। उनकी अहम्मन्यता को ही कुछ लोगों ने पागलपन बताया। अत्यधिक दाम्भिकता और अहम्मन्यता प्रतिभाशाली व्यक्तियों की एक बीमारी है अथवा गुण इसका विवेचन करना

कठिन है। पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'कवि, पागल और प्रेमिका की कल्पना समानधर्मा होती है।' महाकवि शेक्सपीयर के शब्दों में —

The poet the lunatic and the lover
Are of imagination all Compact.

विख्यात दार्शनिक नीत्शे ने एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था "मैं संसार में सबसे बढ़कर विद्वान् क्यों हूं।" उस लेख में उसने अपने को सबसे अधिक प्रतिभाशाली तथा विद्वान् सिद्ध करने की चेष्टा की थी। गेटे ने कई बार अपने को मनीषी-प्रवर सिद्ध करने की चेष्टा की थी। रवीन्द्रनाथ ने भी बहुत पहले अपने सम्बन्ध में एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि उनकी लिखी हुई एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसे उन्होंने किसी प्रयत्न या उद्देश्य से लिखी हो। ईश्वर-शक्ति ही आकर उनकी इच्छा के विरुद्ध बरबस उनसे अपनी रुचि के अनुसार लिखावा देती है। और गालिब का भी अन्दाजे बयां सुनिए—

हैं और भी दुनिया में सुखनवर बहुत अच्छे,
कहते हैं कि गालिब का है, अन्दाज़े बयां और।

ठीक इसी प्रकार की अहम्मन्यता निरालाजी में भी पायी जाती थी, बल्कि वह कुछ इन व्यक्तियों से बढ़कर ही थे, क्योंकि जीवन के हर क्षेत्र में चाहे पहलवानी हो, सांस्कृतिक कार्य हो अथवा बौद्धिक तथा वैज्ञानिक वह सब में बाजी मारे हुए थे।

प्रतिभाशाली व्यक्ति स्वप्नद्रष्टा होते हैं। उनके लिए स्वप्न की दुनिया जितनी सत्य होती है, उतना वास्तविक पार्थिव जगत् नहीं। पूर्ण जाग्रतावस्था में प्रतिभाशाली व्यक्ति अक्सर बीच-बीच में ऐसे भ्रामक स्वप्नों के मोह से ढँक जाते हैं कि उन स्वप्न-दृश्यों को पार्थिव दृश्यों की तरह वास्तविक समझने लगते हैं और ऐसी स्थिति में वे विचारमग्न होकर अपने-आप ही अकेले बातें करने लगते हैं। निरालाजी जब तक सो नहीं जाते थे वह अकेले अपने से ही बातें किया करते थे। उनके साथ रहकर उनकी असंलग्न बातें सुनने में रात-रात भर मैंने बिताया है। स्वप्नावस्था ही में अनेक प्रतिभाशालियों ने अपनी युग-प्रवर्तनकारी रचनाओं का निर्माण किया है। निरालाजी भी ऐसी मानसिक स्थिति में जिस क्षण कुछ लिखने बैठ जाते थे तब सारा अवसाद काफूर हो जाता था, वह बहुत ही ऊँची धरातल पर पहुंच जाते थे और एक साथ ही कई गीत लिख डालते थे।

हमारे यहाँ प्रतिभा के पूर्ण प्रतीक भगवान महादेव जनता में भोलानाथ के नाम से विख्यात हैं और 'भोला' शब्द एक प्रकार से पागलपन का ही द्योतक है। श्मशानचारी शंकर का आचरण भी पागलों की भांति बताया जाता है। यदि वे पागल थे तो प्रतिभासम्पन्न निराला भी पागल ही थे, और वह पागल ही अच्छे थे —

इन्हीं बिगड़े दिमागों में,
भरे खुशियों के लच्छे हैं।

हमें पागल ही रहने दो,
कि हम पागल ही अच्छे हैं।

प्रारम्भिक जीवन में जब कवि ने मां भारती के प्रांगण में पांव रखा तब उनका विरोध और उपहास हुआ। उनको बेदर्दी से तोड़ा गया पर वे टूटे नहीं, तप-तप कर अपने पथ पर वे अडोल रहे। अपने हृदय के रक्त से साहित्य-ज्योति को प्रज्वलित रखा। अपने जीवन-सागर को मथ-मथ कर युग के विष को जब नीलकण्ठ की तरह पी लिया और जब पथ में अपमान तथा असम्मान के शूल, यातना के काँटों पर अपने को मिटाकर वे आगे बढ़े, जब उनके स्वागत के लिए पथ में पलकें बिछीं और उन दिनों जब उन्हें यश मिलने लगा तब वह कर्मयोगी अपने ही बन्धु-बान्धवों द्वारा पागल-पागल कह कर साहित्य-जगत् से निर्वासित कर दिया गया। हिन्दी जगत् में जब उनका राज्याभिषेक होना चाहिए था तभी उनका आजीवन निर्वासन किया गया।

त्रिवेणी तट पर स्थित दारागंज के मुहल्ले की एक तंगगली की एक छोटी-सी कोठरी में निर्वासन का जीवन उन्हें व्यतीत करना पड़ा। प्रसिद्ध विचारक बर्टण्ड रसल का कथन है—

We still honour the artist
But we isolate him.

अर्थात् हम साहित्यकार का सम्मान अब भी करते हैं किन्तु उसे अलग रखकर।

निरालाजी निराश्रित ही यदि छोड़ दिए गये होते तो मुझे किसी प्रकार की शिकायत नहीं थी क्योंकि—

जब उम्मीदें ही उठ गई 'गालिब',
क्या किसी का गिला करे कोई।

किन्तु बात इतनी ही नहीं थी। मुझ पर निरालाजी को लेकर नाना प्रकार के आरोप लगाए गए, मेरा अविश्वास किया गया, ऐसी आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न की गईं जैसे निरालाजी की उस विपन्नावस्था में सेवा-शुश्रूषा करना गुनाह था। सच बात तो यह है कि उनके जीवन के अन्तिम बारह वर्ष की निर्वासित अवधि के बीच किसी ने भी उनकी सेवा-सुश्रुषार्थ किसी प्रकार की सहायता नहीं दी। हजारों रुपए निरालाजी की रायल्टी की निधि जिन प्रकाशकों के पास पड़ी रही वे भी मौन रहे। जब तक उनकी सांस चलती रही किसी ने एक पैसा भी उनके इलाज के लिए नहीं दिया। 'साहित्यकार को पैसा मत दो, पर उसके आत्माभिमान को तो सुरक्षित रहने दो—' यह बात निरालाजी बार बार कहते रहे पर उनकी यह बात भी अनसुनी ही रह गयी। राह-चलतों की बात यदि छोड़ दें तो किसी ने उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछ-ताछ भी नहीं की। ऐसी दशा में मैं राजनीतिक वन्धुओं से तो कुछ कह ही नहीं सकता था, क्योंकि हमारे राजनीतिज्ञ यह जानते ही नहीं कि लोकोत्थान में कवि और कलाकार का भी स्थान है, लेकिन दुःख मुझे यही है कि निरालाजी साहित्यिक वर्ग द्वारा भी उपेक्षित ही रहे। वह वर्ग भी अपने सर्वाधिक

आत्मीय के विघटन के प्रति तटस्थ रहा और उन्हें अनस्तित्व की ओर जाते हुए चुपचाप देखता रहा।

निरालाजी पैसे से नहीं, प्यार से जिन्दा थे। फिर भी आज के युग में, सेवा की भावना में चाहे कितनी भी गहरी आत्मीयता हो, धन के बिना सेवा चल नहीं पाती। अतः मेरी प्रार्थना पर इधर छः वर्षों से उत्तर प्रदेशीय सरकार की ओर से निरालाजी की सेवा-शुश्रूषा तथा चिकित्सा आदि के लिए मासिक पेंशन मिलती रही। परन्तु अत्यन्त दुःखमय स्थिति में भी वह आत्मविश्वास नहीं खोये और घोर से घोर विपन्नावस्था में भी उन्होंने अपना ऊंचा मस्तक किसी के आगे तनिक भी नहीं झुकाया। अकिंचन से अकिंचन परिस्थितियों में भी वह सम्राट् की तरह गर्वोन्नत रहकर औघड़दानी बने रहे फिर वह इलाज के लिए सरकारी वृत्ति कैसे स्वीकार करते ? मासिक वृत्ति के लिए जो सरकारी आज्ञापत्र उनके पास आया था उसे फाड़कर उन्होंने फेंक दिया। पर मजबूरी थी, गोपनीय रूप से वह अनुदान मुझे लेना पड़ा और अन्तिम क्षण तक उनकी भावनाओं का आदर करते हुए मैंने कभी भी यह प्रकट नहीं होने दिया कि उनकी चिकित्सा सरकारी पैसे से हो रही है। यदि वे यह जान पाते कि उनकी दवाएं सरकारी पैसे से सहायतार्थ आ रही हैं तो वे शायद दवा की एक घूंट भी न पीते। इलाज के लिए वह सरकारी अस्पताल तक भी नहीं गए और उसी कोठरी में दम तोड़ दिया। उनकी इच्छा थी कि अपने ऊपर वह अपना ही पैसा खर्च करते और उन्हीं के पैसे से उनका इलाज होता पर उनके प्रकाशनों में उन्हें अन्त समय तक उनका पावना नहीं दिया। यह उनके प्रति न्याय नहीं हुआ। वह घायल हृदय लेकर चले गए।

ईसा बड़ी बेदर्दी के साथ सूली पर चढ़ा दिए गए थे तब भी वह जाते-जाते अपराधियों को क्षमा करते गए, निरालाजी ने भी उनको आशीर्वाद ही दिया जिन्होंने उनकी इस प्रकार उपेक्षा की —

"हम रहें न रहें
तुम सलामत रहो हजार बरस।"

दर्द इस बात का नहीं है कि उनके साथियों ने, खुदाई खिदमतगारों ने, उनको इस प्रकार मरने दिया, उनका इतना अनादर, इतना अपमान और उनके साथ अन्याय किया। दर्द इस बात का नहीं है कि मां भारती की वेदी पर निराला को शहीद होना पड़ा; दर्द है तो महज इस बात का कि उन्हें बार-बार शहीद होना पड़ा। बेहद दर्द की बात यह है कि जो महामानव इस देश में सैकड़ों और हजारों वर्ष बाद संयोग से एक बार अवतरित हुआ और जिसके सान्निध्य में रहने का दुर्लभ सौभाग्य जिनको प्राप्त हुआ था वे उसके प्रति उदासीन से थे। सहयोगियों, सहधर्मियों के बीच बातें-ही बातें रहें, व्यवधान पार न हो, तट परस्पर छू न सकें—यह सहानुभूति का, स्नेह का, सप्राणता का कितना क्रूर उपहास है। जिस योद्धा ने हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए अविरल संग्राम किया और अपनी छाती पर गहरे से-गहरे घाव सह कर भी सेवा और साधना का पथ नहीं छोड़ा, वह अपने सहकर्मियों की ही शिथिलताओं और लापरवाहियों के कारण टूटता गया।

हिन्दी-साहित्यकाश का वह प्रखर नक्षत्र आखिर १५ अक्टूबर १९६१ को टूट ही गया। निरालाजी ने उसी कोठरी में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी ! कोठरी शून्य हो गई। कुछ दिन पहले तक एक विराट मानव का विराट शरीर अपनी उपस्थिति से जिस कोठरी के कोने कोने को परिपूर्ण रखता था वह अनाथ हो गई। उस युगप्रवर्तक कवि के लीला संवरण के साथ ही हिन्दी का एक युग भी समाप्त हो गया।

महात्मा गांधी के स्वर्गवास पर आइंस्टीन ने कहा था कि आने वाली पीढ़ियाँ विश्वास नहीं कर पाएंगी कि इस शती में गांधी भी इसी भूमि पर विचरे थे। निराला जी के सम्बन्ध में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा है कि आने वाली पीढ़ियाँ इस महान कलाकार की प्रतिभा के बारे में कितनी ही कल्पनाएं करेंगी, किन्तु वह उसके सरल, निष्कपट, उदार जीवन की झांकी कहां पा सकेंगी ?

उस महाज्योति को नमन करने के साथ ही एक बात और क्षमा-याचना के रूप में कहना चाहता हूं कि जो बातें मैंने कही हैं वे कुछ कटु हैं, पर सत्य हैं। सम्भव है हमारे कुछ साहित्यकारों और निराला-प्रेमियों को इससे कुछ चोट पहुंचे पर मेरा अभिप्राय उनको कष्ट पहुंचाने का नहीं है। हमारे लिए सभी कवि, कलाकार और साहित्यिक अभिनन्दनीय हैं ! वास्तव में हमने वर्षों तक निरालाजी का जो-जो त्याग और जो-जो कष्ट देखे और भोगें हैं उसकी यह प्रतिक्रिया है। मैंने अनुभव किया है कि किसी भी स्वाधीन साहित्यिक और स्वाभिमानी कलाकार का दर्जा किसी राजनीतिक नेता से नीचा नहीं है और इसे हम अभिशाप ही मानेंगे यदि किसी साहित्यकार को राजनीतिक नेताओं का द्वार खटखटाना पड़े और जीवनवृत्ति के लिए उसे सरकारी दफ्तरों या सिक्रेटेरियट का चक्कर काटना पड़े अथवा ऐसे व्यक्तियों का वह दया-पात्र बन जावे जिनके हाथ में देश का नेतृत्व है। हमारे लिए तो यह दुर्भाग्य की बात है। कलाकार यदि ऐसी राह चलता है तो वह अपनी आत्महत्या करता है। साहित्यिक होकर साहित्यकार का यह अपमान और लाचारी हम देख रहे हैं फिर भी आँखें बन्द किए हुए हैं। इस अशान्ति और विवशता के प्रति हमारा भी कुछ कर्तव्य है, यह हम नहीं सोचते।

जियत बाप का लातन मारें और खवावें बहुरी।
मरे बाप का पिंडा पारें, बाह्मन खायें कचउरी॥

आज साहित्यकार और कलाकार का सम्मान स्वयं उसके ही वर्ग में नहीं है। हर साहित्यकार की जिव्हा आत्मप्रशंसा करती है, उनके कान केवल अपना ही यश सुनने में गुदगुदी महसूस करते हैं और यही उसके पराजय का कारण है। इसीलिए उससे अधिक परमुखापेक्षी कोई नहीं है। वह भूल गया है कि वह वाल्मीकि, व्यास और चाणक्य की संतति है। यदि हिन्दी-जगत् के दस-पन्द्रह ऐसे सुयोग्य व्यक्ति निकल आएं जो साहित्यकारों के हित को अपने स्वार्थ से ऊँचा स्थान दें तो यह निराशामय वातावरण जो चारों ओर व्याप्त है दूर हो सकता है। निराला जैसे परिवार के बुजुर्ग को खोकर भी यदि हम नहीं चेते तो हमारा निश्चय ही दुर्भाग्य है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

भक्त कवि निराला

हिन्दी की काव्य-कला को निराला ने नित-नए सुरों से मुखर किया था। अनासक्ति ऐसी थी कि जिस मुक्त छंद को स्वीकृति दिलाने के लिए वह वर्षों लड़े, अन्तिम दिनों में उसे कतई छोड़ दिया था। वह आवृत्ति मात्र के विपक्ष में थे, अपनी आवृत्ति करते रहना भी उनकी उर्वरा उद्भावना-शक्ति को असह्य था।

'परिमल' के मुक्त छन्दों के प्रतिष्ठित होते ही, 'गीतिका' के माध्यम से, उन्होंने लय-ताल-निबद्ध शास्त्रीय गीत प्रस्तुत किए थे। फिर 'अनामिका' में 'मित्र के प्रति', 'सरोज-स्मृति', 'दान', 'वनवेला', और 'राम की शक्ति-पूजा' ऐसी प्रौढ़ भाषा, भाव, छन्द की एक अपूर्व प्रवाहमयी विधा प्रदर्शित की, ऐसी कि 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' न केवल उनकी प्रतिभा की प्रतिमान कृतियां मानी गईं, बल्कि उस युग की महत्तम उपलब्धि के रूप में उन्हें अनुपम गौरव दे गईं। विराट चित्रों और उदात्त अनुभूतियों के वह प्रतीक-शिल्पी मान लिए गए।

किन्तु निराला यहाँ भी कायम नहीं रहे। 'कुकुरमुत्ता' लिख कर उन्होंने 'राम की शक्ति-पूजा' के प्रशंसकों के कान खड़े कर दिए, फिर 'अणिमा' की अन्तिम रचनाओं द्वारा उन्होंने जमीन की सादगी ही नहीं दरसाई, नई कविता के लिए नई संवेदनाओं के वातायन भी खोल दिए।

'वेला' में उच्चकोटि के गीतों के साथ गज़लें भी पिरो दीं; 'नएपत्ते' में सामाजिक चेतना के जनवादी धरातल उभारे और फिर अन्तिम दिनों में 'अर्चना' 'आराधना', 'गीत-गुञ्ज' तथा शेष गीतों में ज्ञानी-भक्तकवियों की परम्परा को आगे बढ़ाते, भक्ति और ज्ञान की गङ्गा बहाते हुए दीख पड़े। क्रान्तिकारी कवि की, ऊबड़-खाबड़ विविध भावभूमियां पार करती हुईं, तेजस्विनी काव्य-धारा अन्ततः शान्त, समतल में पहुंच कर, जैसे शाश्वत विश्राम की स्थिति में, शेष हो गई।

निराला का युग-प्रवर्तन या नेतृत्व विशुद्ध साधना का महार्घ परिणाम था। उनके जीवन और साहित्य में सन्त कवियों-सी आश्चर्यजनक एक रूपता थी। वास्तविक जीवन में आर्थिक, और सामाजिक कष्टों को उन्होंने जिस रूप में झेला, उनकी प्रबुद्ध सामाजिक चेतना अनुकृत नहीं हो सकती। वह समकालीन (देश-विदेश की) काव्य-प्रवृत्तियों के समानान्तर हिन्दी में समाजवादी विचारों को उछालने की हौंस भर नहीं हो सकती। साहित्य पढ़ कर निम्न मध्यवर्गीय समाज में उसी धरातल का जीवन-जीना फैशन नहीं हो सकता। निराला बैरक में जन्मे और एक तंग कोठरी में मरे, उनकी सामाजिक चेतना जन्म से ही जागरूक थी। छायावाद के वायव्य वितान में उन्होंने 'विधवा', 'दीन', 'भिक्षुक' की वास्तविकता देखी थी और क्रान्ति

के 'बादल-राग' गाए थे। 'गीतिका' में भी यह पक्ष कहीं उपेक्षित नहीं रहा। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का 'सर्वे' करते हुए 'तुलसीदास' में भी सूत्ररूप में कुछ टिप्पणियां दीं। फिर 'अनामिका' में तो जैसे मेघ-निर्घोष ही सुनाई दिया :—

"मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक!"

+ + +

वह तोड़ती पत्थर!
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

+ + +

पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रच कर उन पर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन-स्वर,
हिन्दी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग!

+ + +

नहीं जानतीं जो अपने को खिली हुई—
विश्व-विभव से मिली हुई,—
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को,—
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें!

+ + +

सहज सहज पग धर आओ उतर;
देखें वे सभी तुम्हें पथ पर।
वह जो सिर बोझ लिए आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस-उस से बतला रहा,
देखूँ, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर?

'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा', 'रानी औ' कानी' के व्यंग्य आकस्मिक नहीं हैं, उनका बीज परिमल-काल में भी ढूंढ़ा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की 'विजयिनी' से 'खजोहरा' की और ईलियट के The love song of J. Alfred Prufrock से 'प्रेम-संगीत' की तुलना करने पर रसना का स्वाद भर नहीं बदलता। निराला की बहुमुखी प्रतिभा के एक अनदेखे शिखर का उभार दूर से ही दीख पड़ता है। 'नए पत्ते' में कुरूप और सामान्य को सुन्दर और असामान्य का दर्जा दिया गया है। लगभग सारी-की-सारी रचनाएं राजनीतिक हैं। अवश्य वे दरबारी सरकारी कवियों-सी राजनीतिक नहीं हैं। उनके निगूढ़ व्यंग्यों में ईमान की ज्वाला है, विद्रोह की चिनगारियां हैं, 'पोलसन' की कहीं गुंजाइश नहीं है। खपत की तो बात ही क्या ?

शैली और वस्तुगत जिन विविध विधाओं ने उन्हें "समकालीनों" में "आधुनिक" प्रख्यात किया उन नवीन उद्भावनाओं को समग्रता में न स्वीकारना नास्तिकता है। ऐसे ही उनका विश्वजनीन मानवतावादी दृष्टिकोण 'परिमल' से 'गीत गुंज' तक स्पष्ट है। व्याख्याता चाहे उसे समाजवादी सिद्ध करें या साम्यवादी पर तर्क और युक्तियां उन व्याख्याताओं की निजी छाप लिए हुए हों तो अजब नहीं। मैं अपनी पच्चीस-सत्ताईस वर्षों की अपरोक्ष अनुभूति के बल पर यही दावा कर सकता हूं कि निराला नास्तिक न थे, युक्तिवादी आधुनिक दार्शनिक भी न थे। वह आत्मा की अतल गहराइयों से एक भक्त-जैसे थे, अनासक्त ज्ञानी भक्त—जैसे जिसके त्रिविध तापों की तीव्र अनुभूति हो और जो उनसे मुक्ति भी प्राप्त करना चाहता हो।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह बौद्ध-दर्शन से प्रभावित थे। 'दुख ही (उनके) जीवन की कथा रही' अवश्य, 'देख चुका, जो आए थे चले गए' का निर्वेद भी कम निविड़ न रहा पर "मैं ही क्या ? सब तो ऐसे ही छले गए ?" की मस्ती उन्हें 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' के प्रति जागरूक बनाए रही। कारण, उनका दुःख भी अनात्म न था, विभु के व्यक्त रूप विश्व की आनन्दमयता का तो उन्हें अद्भुत बोध था। निराला की तीव्रतम संवेदनशीलता ही जब-जब उनके चेतन-गगन में दुःखों की घन-घटा उमड़ाती थी : 'दुःखसंवेदनामैव रामे चैतन्यमर्पितम्' वह दुःखवादी न थे। विपरीत परिस्थितियों में वह जीवन के उन्चतर तथा श्रेष्ठतर रूपों को पूरी प्राणवत्ता में प्रतिष्ठित न कर सकने के कारण भले ही असन्तुष्ट तथा दुःखी दिखलाई देते हों पर, उनकी दूरारूढ़ आस्था मूल में अविचल थी। उनकी अवरुद्ध शक्तियां भी कुण्ठित न थीं, अनन्त संभावनाओं की मूक-मुखर पुकारें उनकी उन्निद्र चेतना प्रतिध्वनि-विहीन नहीं लौट पाती थीं।

उनकी मानवता को वाद के दायरे में न लाना ही उचित होगा। सर्जनात्मक मानववाद हो या उच्छल उल्लासमूलक मानववाद, गुणात्मक मानववाद हो अथवा समन्वयात्मक मानववाद, निराला इनके चक्कर में पड़ कर व्यग्र हुए नहीं दीख पड़ते। उनकी कृतियों में व्यक्त मानवता मानववादी सिद्धान्त-सूत्रों की व्यावहारिक समीक्षा नहीं है, उनके भोगे हुए, खोए हुए, त्यागे और लुटाए हुए की सीधी अनभूति से उद्बुद्ध हुई हैं और समवेदना के सरल-तरल तत्वों से ओतप्रोत चोट करनेवाली अभिव्यक्ति में तथा रूपायित हुई है।

इसी प्रकार—'सुमन भर न लिए, सखि, वसन्त, गया' की चिन्ता, 'एक दिन होगा, जब न मैं हूँगा' की निराशा और—

मैं अकेला !

देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सान्ध्य-वेला !

के एकाकीपन को लक्ष्य कर निराला में आध्यात्मिक अनास्थामूलक अस्तित्ववाद की खोज भी (सन्धादाताओं की ओर से) कम ओज-चोज-भरी न होगी, पर उसी क्षण यदि उनकी, अन्यत्र अनसुनी, ये ध्वनियां कर्ण-कुहर को भर सकें तो आस्था की प्रत्यञ्चा से छूटे हुए सुवर्ण स्वरशरों से कुहरा-भरा दिशाकाश जैसे नई छवियों में खुल कर खिल उठे :—

"जानता हूँ, नदी झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ।"
"भाव जो छलके पदों पर,
न हों हलके, न हों नश्वर ।"

डार्विन, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र के झंझावाती विचारों से विकम्पित विश्व के वातवारण में अकेले निराला का यह भारत कैसा है :—

"भारत ही जीवन-धन !
तपःपुंज गिरि-कन्दर,
निर्झर के स्वर पुष्कर,
दिक्प्रान्तर मर्म-मुखर,
मानव मानव-जीवन !
नहीं कहीं जड़-जघन्य,
नहीं कहीं अहम्मन्य,
नहीं कहीं स्तन्य-वन्य
चिन्मय केवल चिन्तन !"

कहना अनावश्यक है, कम-से-कम निराला अपने इसी भारत के कवि हैं। उनकी कृतियों में धर्म, नीति-दर्शन और परम्परा का अद्भुत समारोह है (यद्यपि उसी सामर्थ्य से, पाषाणी कारा तोड़ कर आगे बढ़ने का सबसे साहसी कदम उन्हीं के गर्जित-जीवन-निर्झर ने उठाया था। यह विरोधाभास नहीं, समन्वय है, अनेक पगडंडियों से चल कर एक लक्ष्य पर पहुँचने का सफल प्रयास। ऐसा ही समन्वय गीता और रामचरितमानस में भी है। सर्वत्र ही भौतिक से आध्यात्मिक सोपानों से बँधा है। यदि यहाँ झोल है तो मैं दावा करता हूँ, वहाँ भी है। यदि वहाँ नहीं है तो यहाँ भी नहीं है यह निश्चित है।)

तभी निराला ने लिखा :—"हूँ दूर, सदा मैं दूर !"

मैं किसी संकीर्ण दायरे का कायल नहीं हूँ, विराट को क्षुद्र में न ढूँढ़ा जाय; धर्म सम्प्रदाय नहीं है; जीवन जीना भर नहीं है, ज्ञान अज्ञान का अभाव मात्र नहीं है; कोई मुझे अपनी हथेली का आंवला न समझे; मुझे करीब से क्या देखना ? मैं स्थूल से सूक्ष्म की ओर और अणु से विराट की ओर बढ़ता चला गया हूँ। काया और माया की निकटता को पार कर आलोक के अनन्त प्रसार में—उच्चतर और वृहत्तर जीवन की असीमता, में मुझे ढूँढ़ना चाहिए ! —'हूँ दूर सदा मैं दूर !'

तू तो कल्लोलिनी की कला देख रहा है, जल की कलध्वनि सुन रहा है ! तभी चेतना के अनन्त-विस्तार सागर में जीवन की उत्ताल तरंगों का उत्थान-पतनाघात अनदेखा रह गया है।

फूलों की भीनी-भीनी गन्ध जो झीनी झीनी हवाओं में तैरती है, तू उसीके सुख का अनुभव करता रहा ! तभी ऊर्म्मि-घूर्णित झञ्झावात, खनखनाती पत्तियाँ उड़ाते, धूल के गुब्बारे उछालते, चक्कर काटते, अन्धड़ और ढाँचे की हड्डियाँ छेद कर पार कर जाने वाले वर्फीली हवाओं में फैली हुई तीव्र तीक्ष्ण गन्ध की विविध विधाएँ अनसूंघी ही रह गई हैं।

आलोक का खेल भी देखा तो बस चंदा और चाँदनी की आँख-मिचौनी का ! अरे मरु की रेत में दहकती हुई धूप भी देखी होती और नहीं, प्रचण्ड मार्तण्ड की आग्नेय किरणों की स्फुलिङ्ग पिङ्गल कुञ्ज-क्यारियों में खिलखिलाता हुआ एक कोमल कमल को ही देखा होता ! पर तू कायर नहीं-नहीं, बहादुर जो ठहरा, बस लघु-लघु लहरों, कोमल कलरव, मीठी गन्ध, चन्दा और चाँदती ही में बहता रह गया; और यह सब कुछ यों भूल कर, विभोर हो कर देखता रहा है कि मैं कहीं न दिखा !

कल्लोलिनी—कला, जल - कलरव,
सुमन - सुरभि, समीर - सुख - अनुभव,
कुमुद - किरण - अभिसार - केलि नव —
देख रहा तू भूल, - शूर !
हूँ दूर, सदा मैं दूर !!

जैसे दूधिया भाषा और अंगूरी भावों के सहारे निराला ने गीत नहीं लिखे, जिस कारण गीतिका के—

नव गति, नव लय, ताल - छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद - मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग - वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे !

* * *

लंका पदतल - शतदल
गर्जितोर्म्मि सागर - जल

धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे!

*　　　*　　　*

मेरा दुख अरण्य, किसलय-दल—
ज्वाल, जली काली तुम कोयल,
दैन्य-डाल पर बैठी प्रतिपल
सुना रही हो तान!
व्यर्थ मैं पाता हूँ, सम्मान!!

(ऐसे रस-भाव-भरे उदात्त गीतों को 'ठूँठ' कहा गया) उसी प्रकार भक्त कवि निराला की भक्ति भी असाम्प्रदायिक थी, उसे शैव, गाणपत, सौर, शाक्त, वैष्णव—किसी भी साम्प्रदायिक कोठे में नहीं अटाया जा सकता। यों उनमें कबीर का फक्कड़पन भी था, तुलसी का शील भी, सूर का रस भी था, मीरा की वेदना भी। किन्तु वह हू-ब-हू किसी के रूपान्तर न थे। शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क का ज्ञात-अज्ञात प्रभाव उनमें ढूँढ़ा जा सकता है, पर ऐसे ही शाक्त धर्म-दर्शन की ज्योति-ज्वाल भी उनके पञ्चप्राण-प्रदीप में पाई जा सकती है। दिल बहलाने के लिए उनके दो कर्म-क्षेत्रों के संस्कार बंगाल के रामकृष्ण-विवेकानंद और अवध के तुलसीदास से ढूंढ़ निकाले जा सकते हैं पर कुल मिला कर निराला निराले भक्त थे, यही कहना उचित प्रतीत होता है। बहुतेरे छोटे गीतों से लेकर 'पञ्चवटी' 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' तक उनके एक प्रकार के भाव लक्ष्य किए जा सकते हैं, 'यमुना के प्रति' से दूसरे प्रकार के और मातृ-रूप में वन्दित छन्दों में तीसरे प्रकार के। भौतिक अतिशयता के इस वैज्ञानिक युग में रस्किन और टालसटाय क्या, रामधुन और प्रार्थना के आग्रही गाँधी विनोबा के समान वह 'आधुनिक' के निष्प्राण प्राण-यन्त्र में 'परम्परा' के अमृत-मन्त्र गुञ्जरित करते जान पड़ते थे। बस केवल पंथ-पंथ के भेद से वह अन्यों से भिन्न प्रतीत होते थे। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

मन की निर्विशेषता अकल्पित है। चाहे वह जड़ से जुड़े, चाहे चेतन में लहरे। निराला गौतम की मुक्ति नहीं चाहते थे। उनका ज्ञान अकर्मण्य न था। इस कारण—

"यावत् क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीर-बन्धः।"

वह भरत की भांति एक हिरने के छौने के लिए आत्मज्ञान के उच्चतर शिखर से उतर कर संवेदना की सजल घाटियों में भूखे-प्यासे विचर सकते थेः—

"मैंने 'मैं'-शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई।

उसकी अश्रु भरी आँखों पर मेरे करुणाञ्चल का स्पर्श।"

तभी उन्होंने कहा:—

"सलिल - प्रवाह में ज्यों बहता शैवाल - जाल
गृह - हीन, लक्ष्य - हीन, यन्त्र - तुल्य,
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से
मिलता है अन्त में असीम महासागर से
हृदय खोल——मुक्त होता,
मैं भी त्यों त्याग कर सुखाशाएँ
घर - द्वार——धन - जन,
बहता हूँ माता के चरणामृत - सागर में;
मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।"

'परिमल' के प्रारम्भ में कवि की प्रार्थना है कि अरी ओ ज्योतिर्मयी, अग-जग में जो तम का वितान तना हुआ है उसे तुम अपनी ज्योति से जगमग कर दो! तुम हल्के पाँवों, हौले-हौले, जीवित हो कर भी निर्जीव- से जड़ तरु-तृण-गुल्मों की इस धरती पर उतर आओ और जिन गैलों, वीथियों, पंगडंडियों से गुजरो, उन पर फूलों की सुगन्ध की किरणों की हँसी बिखेरती आओ, जिससे सब समझें, तुम इन्हीं आलोकित लकीरों से हो कर आई हो; जड़ों और जीवन्मृतों में तुम्हीं नया जीवन, नई आत्मा प्रतिष्ठित कर रही हो!

अरी, यह तो तुम्हारा बार-बार का किया हुआ उदार उपकार है। जब-जब जड़ता जग-जीवन को, आक्रान्त करती है तुम प्रिय और कोमल पदों से धरती पर उतरती हो, झञ्झा की तरह झकझोरती और वज्र की तरह कड़कती हुई नहीं बल्कि हल्के-हल्के, अणु-परमाणुओं के सन्धि-रन्ध्रों तक को गुद-गुदाती हुई।

(छाती में लात मार कर कोई प्राणागार में प्रवेश भी तो नहीं पा सकता! ज्योति की तन्वी मृदु पदों से, मन्द-मन्थर गति से चलेगी ही।)

एक बार फिर वैसा ही करो।

मैं तुमसे बीरान-बंजर में जुही की कली खिलाने नहीं कह रहा। जहाँ ये बेलें पहले से मचल रही हैं; जहाँ यह घास पहले से दूर दूर तक पसरी-पसरी, फैली-फैली हुई हैं; जहाँ ये पेड़ जाने कब से गड़े खड़े हैं, मैं तुम्हें वहीं से आमन्त्रित कर रहा हूँ। बात यह है कि हैं तो सब, पर ये अपना अस्तित्व भर जुगोए हुए हैं; अर्थवत्ता भूल गए हैं, इनका यह निर्विशेष जीना नई जीवन-ज्योति पा जाए, इनके बने रहने में नया बनाव-श्रृंगार आ जाए, यदि तुम आ जाओ।

अरी, यह तो कोई 'वक्रः पन्थाः' नहीं, तुम्हारे सदा से आने-जाने का अपना ही पथ है। इधर सदियों से नहीं आई इस कारण फूल कुम्हला गए हैं, मखमली घास पर धूल जम गई है। तुम एक बार आई नहीं कि धुंधलका छँटा, किरणें बिछलीं, सुगन्ध की लपटें फैलीं।

जग ने अपने लिए बहुत से पंथ-कुपंथ ढूंढ़ लिए हैं, सिर्फ तुम्हारा रास्ता वह भूल गया है। उसके नाना पंथों पर उसीके आविष्कृत अज्ञान का अन्धकार फैल गया है। तुम ठहरी ज्योतिर्मयी, इस अलौकिक आलोक में एक दिखे तो अनेक का भ्रम मिटे। तुम हँस-हँस कर अपना आलोक-पथ दिखा-ला दो, फिर देखो उसकी विविध शाखा-प्रशाखाओं में फैली हुई निर्व्यवसाय बुद्धि की जड़ता कैसे अपने आप कट जाती है! क्यों न तुम उसमें नई उमंग-तरंगें जगा देतीं? उसे लक्ष्य का बोध करा, उसमें नई प्रबुद्ध चेतना भर देतीं? मेरी प्रार्थना पर कान दो, प्राण-भूमि पर भूमा की ज्योति-धार एक बार फिर बरसाओ। यदि शंकर की प्रलयंकरी तीसरी दृष्टि खुले तो पथ आलोकित ही न हो, जल भी जाए!

ठीक है कि वह ज्ञान की आग होगी जिससे कर्म की रजोमय पगडंडियाँ लहकेंगी, जल कर क्षार हो जायँगी किन्तु मेरी यह प्रार्थना तो नहीं है। मैं तुम्हारी ज्वलित दृष्टि का नहीं आनन्दमयी हँसी का प्रार्थी हूँ। तुम्हारी इसी आलोक फैलाए—प्रिय प्राणस्पर्शी प्रकाश, मेरी यही प्रार्थना है। मैं नूतन जीवन का आकांक्षी अमरण मरण क्यों चाहूँ?

हँस-हँस कर ही तो, तुम सोचती होगी, प्रार्थियों के मारे हाट-बाट पार करना कठिन है; ये मँगते एक दूसरे को ठेलते धकियाते बढ़े चले आते हैं, प्रार्थनाओं की आपाधापी मची हुई है, जैसे मैं कुछ समझती ही नहीं! नहीं-नहीं, ज्योतिर्मयी, तुम्हें काहे की जल्दी है! तुम निरुद्वेग मन्द-मन्थर गति से मुझ-जैसों की आकुल प्रार्थनाओं की खुली-फैली झोलियों में हँसी के कुछ कण छोड़ती छिड़कती हुई अपनी राह चलती जाओ! मैं तुम्हें तुम्हारे कर्त्तव्य की याद नहीं दिलाता, तुम क्या भूलनेवाली हो? मैं तो अपना ही कर्तव्य पूरा कर रहा हूँ। दखल नहीं दे रहा, प्रार्थना कर रहा हूँ।

डा० देवराज ऐसे कृतविद्य कवि और आलोचक इस ऐसी ज्योतिर्मयी किरणमयी का अर्थ नहीं समझते। वह अपनी असमर्थता को सर्व-समर्थ कलाकार की असमर्थता बतलाते हैं। वह प्राच्य-पाश्चात्य दर्शनों के स्वीकृत अध्येता जो हैं, उन्हें कोई ऐसी ऊटपटांग कविताओं को दार्शनिक कह कर कैसे चरका दे सकता है? रहस्यवाद की तो 'खैर' यहां गुंजाइश है भी नहीं। न गगन-गुफा में अजस्र स्वर झर रहा है, न चदरिया ही झीनी-बीनी जा रही है। इस कारण वह 'प्रार्थना' शीर्षक, निराला की, भक्ति-रसाप्लुत महान गीत-कविता को निरर्थक शब्दाडम्बर कह कर चलता कर देते हैं, काव्य-कला का कोई प्राथमिक विद्यार्थी भी अपनी असमर्थता को इस सामर्थ्य से कदाचित ही व्यक्त करता।

कवि प्रार्थना करता है:—

> **"जीवन प्रात-समीरण-सा लघु, विचरण-निरत करो!**
> **तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता छवि-मधु-सुरभि भरो!!"**

डा० देवराज के शब्दों में—'पहली पंक्ति साफ है, दूसरी पंक्ति घण्टों सिर खरोंचने पर भी समझ में नहीं आती।' अवश्य वह यह नहीं बताते कि पहली पंक्ति कैसे साफ है और दूसरी क्यों घंटों

सिर खरोंचने पर भी समझ में नहीं आई ! मैं समझता हूँ, वस्तु की दुर्बोधता उसकी निराधारता नहीं प्रमाणित करती।

> जग को ज्योतिर्मय कर दो !
> प्रिय कोमल-पद गामिनि ! मन्द उतर
> जीवन्मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
> हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
> नूतन जीवन भर दो !

जो कवि अपना जीवन सुबह की हवा की तरह हल्का, दूर-दूर तक फैल जाने वाला चाहता है, जो प्रात-समीरण के हल्केपन और उसके स्वस्थ, प्रवेशकारी गुण, एवं 'चरैवेति' की सी तीव्र प्रसार-शक्ति का साक्षात्कार करता हुआ अपने अद्भुत सौन्दर्य्य-बोध का मौलिक परिचय दे रहा है वही तरु-तोरण-तृण-तृण की छवि-मधु-सुरभि-भीनी सहज, सुन्दर, स्वस्थ कविता हल्के बहते प्रात-पवन-से अपने प्रसारकामी जीवन में भरने की प्रार्थना कर रहा है।

सुबह की हवा टटके खिले फूलों की शबनमी गन्ध भर कर दूर-दूर तक बहती और जर्रे-जर्रे को तरोताजा कर देती है। कवि चाहता है, उसका जीवन भी उसी सुबह की हवा-जैसा हो जो प्रकृति के अणु-परमाणुओं तक की छवि उतार ले, मिठास और खुशबू भर ले और उसे सम्पूर्ण वातावरण में बिखेरता हुआ दूर-दूर तक फैलाता चला जाय ! यह जो तरुओं के पल्लव-कुसुम-गुम्फित बन्दनवार से हरी घास की एक-एक पत्ती तक की छवि, मधु, सुरभि है, वह उसे ही कविता कह रहा है। छवि, मधु, सुरभि उसकी सौन्दर्य्य-सर्जक दृष्टि में तरु-तोरण - तृण-तृण की कविता ही है जिसे वह अपने उन्मुक्त, अकुण्ठित कवि-जीवन में सहज ही समो लेना चाहता है। जीवन पवन है तो छवि-मधु- सुरभि भर कर बहना चाहता है; व्याप्ति की सामर्थ्य रखनेवाला संक्रमण-शील 'कवि'-जीवन है तो वह प्रकृति के विराट से सूक्ष्म तक का कवित्व न केवल आत्मसात् करना चाहता है प्रत्युत उसे मानवीय परिवेश में एक ओर से दूसरे छोर तक फैला देने का प्रार्थी भी है।

> चली सुभग कविता सरिता सी
> राम-विमल जस-जल-भरिता सी

में कविता के सहज प्रवाह को चाहे जैसी सुन्दर व्यञ्जना मिली हो पर दूसरे किस कवि ने अपने रूप-रस-गन्ध-भीने उच्छ्वास को जीवन की व्यापकता में उड़ान भरनेवाली ऐसी पवन-पंखी वाणी दी है? नाद तथा शब्द के ऐसे गुंथे-से व्यञ्जक प्रयोग का प्रयोजनीय चमत्कार दिखलाया है ?

> अंचल-सा न करो चंचल, क्षण-भंगुर,
> नत नयनों में स्थिर दो बल, अविचल उर !

डा० देवराज कहते हैं, 'अञ्चल-सा न करो चञ्चल' यह तो ठीक है, पर क्षणभंगुर विशेषण की क्या सार्थकता है ? अञ्चल में क्षण भंगुरता की प्रतीति विशेष रूप में नहीं होती !'

विदित हो कि क्षणभंगुर पृथक् विशेषण है और वह भी अञ्चल का न हो कर उसी जीवन का है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

'किरणमयी' चिर युवती है (—"न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति", ऋग्वेद की उषा की तरह— "एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः"), यह उसके अञ्चल की चञ्चलता से व्यञ्जित होता है। कवि कहता है, तुम मेरे जीवन को अपने लहराते हुये आँचल की तरह, उत्थान-या चढ़ाव-उतार के द्वन्द्व से अशान्त न करो और न उसे क्षणभंगुर ही बनाओ कि वह संस्पर्शज क्षणिक सुख भोग कर शीघ्र ही सदा के लिए समाप्त हो जाए। सुस्पष्ट शब्दों में: उसे निर्द्वन्द्व, शान्त और अमर बनने का वर दो!

मैं समझता हूँ, अब विशेषण की सार्थकता पानी की तरह साफ हो गई होगी।

पूरी-की-पूरी कविता को ही निरर्थक शब्दाडम्बर कहने के साहसी डा० देवराज का आगे की पंक्ति पर यह अन्तिम अहृदय, असाहित्यिक आरोप है कि 'नयनों के नत' विशेषण की सार्थकता स्पष्ट नहीं है।

अब कोई ऐसी दिव्य दृष्टि को क्या कहे? आराध्या के प्रति प्रणति या भक्ति-भावना के अतिरिक्त नयनों की नति का दूसरा क्या कारण हो सकता है? हाँ, इस प्रणति में आर्त की विह्वलता नहीं है, ज्ञानी की उदात्त आकांक्षा है;

> **"बाँधी थी मूठ मैंने संचय की चिन्तना से,**
> **मुद्रा दरिद्र की है, तुमने किया इशारा!"**

के तेजस्वी का अपराजेय पौरुष है तभी वह कहते हैं—

> **'नत नयनों में स्थिर दो बल, अविचल उर'।**

कि मेरे भक्तिनत नयनों में शाश्वतशक्ति दो; मेरे मन को दृढ़ निश्चयी एवं अटूट निष्ठावान् बनाओ! कि मेरे नयन-हीनता की भावना से, कदर्यता से या संदिग्ध प्रकाश की ग्लानि से झुके हुए न हों प्रत्युत जैसे विद्या विनीत बनाती है अथवा फूल फलों से लदे हुए विटप विनम्र हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम्हारी अनपायिनी भक्ति से नत मेरे इन नयनों में अपने उन्नत स्थायी प्रकाश का बल दो। साथ ही, ('चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि' के रूप में सर्व-विदित) चल-विचल होते रहने वाले मन को अविचल कर दो।

श्वास उच्छ्वास के हल्के झकोरे से भी खुलने और बंद हो जाने वाले नयन जैसे भीतर से खुलने वाले मन के बाहरी वातायन हैं। और मन संकल्प-विकल्पात्मक होने के कारण धड़कने-वाला चिर चञ्चल है। नयन-मन की इस बाहरी चञ्चलता में पहले बाहरी और फिर भीतरी का कलात्मक क्रम लक्ष्य करने के योग्य है। मन की अटूट आस्था ही नयनों का स्थिर बल हो सकती है; किन्तु मन को देखने का क्या उपाय है? अतः नयनों में झाँक कर मन की झाँकी लेनी होगी।

'स्थिर बल' और 'अविचल उर' आध्यात्मिक उन्नयन से ही उपलब्ध हो सकता है, कोई इसे भौतिक विकास में ढूंढ़ कर न भटके; बिजली की कौंध से चकाचौंध में न आए; प्रभुता को ही विभुता न मान बैठे, इसलिए कवि और अधिक स्पष्टता से अपनी आन्तरिकता अभिव्यक्त करता है :—

'स्वर - सा कर दो अविनश्वर, ईश्वर - मज्जित
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर, मन्दर-सज्जित!'

नाद को नित्य अतः ब्रह्म माना गया है। वह सब प्राणियों का चैतन्य है, यह समस्त चराचर-प्रपञ्च उसी का विवर्त है।[1]

वह अद्वितीय है और आनन्दमय है :—

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे।

उस ईश्वर मज्जित—ऐश्वर्य्य-भरे स्वर के समान मेरे जीवन को अविनश्वरता में रूपायित कर दो और उसे चन्दन-वन के नित्य-वन्दन से सुन्दर तथा पवित्र मन्दराचल की भाँति अचल एवं दृढ़ बना दो।

ब्रह्म तो चिदानन्द, सर्वज्योति, निरंजन, ईश्वर, अद्वितीय, निर्विकार, निराकार, सर्वेश्वर, अनश्वर, सर्वशक्ति और सर्वज्ञ है ही, किन्तु उसके अंश जीव की और जीव से अभिन्न जगत् की उस सम्पूर्णता की समग्र उपलब्धि का आग्रह शास्त्र-सिद्ध है। शुचि-सुन्दर मन्दर की-सी बद्धपरिकरता कदाचित उसी समग्रता की उपलब्धि के लिए पूर्व-तत्परता को व्यञ्जित करती है। यों तो स्वर मात्र अविनश्वर है पर कवि की प्रार्थना है कि उसका जीवन उस स्वर-सा अविनाशी हो जो प्रणव के समान ईश्वर-मज्जित है।

जैसे विनय-पत्रिका के प्रारम्भिक पदों में प्रत्येक देवी-देवता से राम-भक्ति की भिक्षा माँगी गई है, कुछ उसी प्रकार किरणमयी देवी से ईश्वर-मज्जित जीवन की प्रार्थना प्रतीत होती है। भौतिक उद्रिक्त आकांक्षाओं के अभाव में प्रार्थना के स्वर में कहीं दैन्य नहीं है, सर्वत्र उत्तोलित उदात्तता ही उदात्तता दृष्टिगोचर होती है।

---

१. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदात् वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥

नाद से वर्ण व्यञ्जित होता है, वर्ण से पद, पद से वाणी और वाणी से समस्त लोक-व्यवहार। इसलिए यह जगत् ही नाद के अधीन है।

ईश्वरत्व में डूबे हुए स्वर के समान जब जीवन ऐश्वर्य्य-सिद्धि-सम्पन्न हो तभी उसमें चन्दन-वन्दित मन्दराचल की ऐश्वर्य्य-पूर्ण निष्कम्पता आ सकती है।

जो भी जीवन ईश्वरत्व की अडिग अटूट आस्था में अचल होगा उसमें मन्दर की अचलता और चन्दन की शुचिता एक साथ ही, निःसंशय, उपलब्ध होगी —

"मेरे गगन-मगन मन में अयि किरणमयी, उतरो !"

जैसे गंगावतरण के लिए धूर्जटि के जटा-जूट की व्यापक कल्पना है, उसी प्रकार यह अपार विस्तार गगन ही है जिसमें किरणमयी सहज-सहज उतर सकती है। मन की व्यापकता ही पर्याप्त नहीं है —मरु का सा धूम्र, रेतीला प्रसार या अवन्ध अन्धकार-सा सर्वग्रासी प्रसार नहीं, आलोक-तरल फैलाव चाहिए। 'सा-सा-सा-सा' वाला अद्वैत नहीं, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' वाला द्वैत। मन-मन्दिर सा सीमित नहीं कि बस उसमें एक छोटी सी प्रतिमा भर बैठे, यह तो जैसे असीम आकाश में डूब गया है, तदाकार हो गया है। अब वह किरणों का अधिवास हो सकता है।

मन का 'गगन-मगन' होना पार्थिवता का विरोधी नहीं, व्यावहारिकता से पलायन नहीं है। वह तो जैसे उठान है—भूमि से भूमा की ओर। वह स्वस्थ विकास है—बीज से विटप की भाँति। बीज भूमि में रहे पर प्राकृतिक विकास का तकाजा है, तना आकाश में सिर उठायेगा, फुनगी आकाश चूमना चाहेगी। किरण पहले फुनगी पर उतरेगी, फिर वह चाहे डाल-पात से छन कर भूमि को भी आलोकित कर दे, उसकी तीक्ष्ण करुणा की बलिहारी।

मन अपनी सूक्ष्मता में विराट् है। वह तन के —मिट्टी के दायरे में नहीं अटता। ठूँस-ठाँस कर रखने से घुटता रहता है। खुलता नहीं है; खिलता नहीं है। उसे खुलने-खिलने के लिए अनन्त अवकाश चाहिए—आकाश चाहिए।

मिट्टी का मोह त्यागे विना मन गगन में मँडला सकता है, 'मगन' नहीं हो सकता। और जब तक वह 'गगन-मगन' नहीं है, तब तक उसे विशुद्ध ज्ञान का आलोक नहीं प्राप्त हुआ है, समझना चाहिए।

प्रार्थी कवि का मन उस आध्यात्मिक स्तर तक उठ चुका है, जहाँ किरणमयी सहजभाव से उतर सकती, अपना आवास बना सकती है।

कवि की प्रार्थना के कितने ही प्रकार हो सकते हैं। होमर कह सकते हैं :—

"Achilles' wrath, to Greece the direful spring, Of woes unnumber'd heavenly heavenly godden sing !

× × ×

Declare, O muse ! in what ill-fated hour, Sprung the fierce strife, from what offended bower."

—Pope's Homer's Iliad.

मिल्टन देवी सरस्वती का इस स्वर से आवाहन कर सकते हैं :—

Of man's first disobedience and the fruit

Of the forbidden tree, whose mortal taste
Brought death into the world and all our woe

× × ×

Sing heavenly muse....
And chiefly thou, O spirit......

शङ्कराचार्य नगपति-किशोरी गौरी का यों भजन कर सकते हैं :—

मुखे ते ताम्बूलं नयन युगले कज्जलकला
ललाटे काश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता
स्फुरत्कांचीशाटी पृथुकटितटे हाटकमयी
भजामस्त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्।

किन्तु प्रस्तुत प्रार्थना का स्वर रवीन्द्रनाथ के—

"अन्तर मम विकसित् करो अन्तरतर हे!"

की जाति का है, यद्यपि यह सौन्दर्य्य और माधुर्य्य में रवीन्द्रनाथ की नैतिक दार्शनिकता को बहुत पीछे छोड़ देता है।

पार्थिव प्रेम प्रतिदान-प्राप्ति का आकांक्षी होता है। इस प्रकार प्रेम अमर्यादित हो जाता है। प्रेम का मौलिक सौन्दर्य विकृत एवं कलुषित हो जाता है। विकार, स्वार्थ और द्वन्द्व-कालुष्य से भरे हुए मन में निःस्वार्थ अपार्थिव प्रेम का कोई घुंधला-सा चित्र भी नहीं उभरता। किन्तु मूलतः पार्थिव अपार्थिव प्रेम में इतना ही अन्तर है कि स्वार्थ के साँचे में ढला हुआ प्रेम पार्थिव है, क्षुद्र है, सीमित है और वह बन्धन, दुःख तथा अनुताप में पर्य्यवसित होता है, इसके विपरीत जब प्रतिदान एवं स्वार्थ की भावना से नहीं संचालित होता तब वह निर्विकार होता है, दिव्य होता है, मुक्ति और अनन्त आनन्द से एकात्म हो जाता है, जैसे बहता हुआ पानी समुद्र से।

प्रेम की परिपूर्णता का सन्धान सब करते हैं पर एकात्मता की अनुभूति—गगन-किरण-मिलन की अनुभूति—निरालों को ही होती है। आत्मदृष्टि का उन्मेष हुए बिना देहासक्ति नहीं मिट सकती; इन्द्रिय-केन्द्रित प्रेम भक्ति के ऊर्ध्व-उन्मुक्त गगन में ज्ञान की कनक-रजत-किरणों से पुलक-प्रकम्प का असीम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता।

भक्ति के द्वारा ही आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति संभव है। सत्य स्वयं प्रकाश है, भक्ति मन को गगन का उन्नयन भी देती है, विस्तार भी। भक्ति-हीन ज्ञान और ज्ञान-हीन भक्ति—दोनों अपूर्ण हैं। भक्ति की नीलिमा और ज्ञान की ज्योति में एकात्मता चाहिए।

१. "प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योति-धार
मेरे जीवन पर, प्रिय यौवन-वन के बहार!"

२. भर देते हो,
बार बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो!

इस प्रकार के, अहैतुकी करुणा की आनन्दमयी अनुभूति के, कितने ही पद कण्टकित प्राणों के आँसुओं-धुले इंगित-से नयन-मन में तरंगित होते हैं। अञ्जलि चाहे अलक्ष्य हो, पर फूलों की मधुर गन्ध छिपाए नहीं छिपती।

लक्ष्य करने योग्य 'प्रिय' की आवृत्ति है। 'ब्रह्म-संस्पर्श' की उत्कटता का अनुभव सर्व-वेद्य नहीं है; किन्तु सामीप्य और साहचर्य्य की निविड़ अनुभूति के विना—

—प्रिय कोमल - पद - गामिनि,
—प्रिय करुणा की किरणों से
—प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत - मन्त्र नव

की ऐसी सरस अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

'गाने दो प्रिय, मुझे भूल कर
अपनापन — अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती - जल नित बरसाओ!'

की असंग तन्मयता में निराला का स्वतन्त्र आमन्त्रण गूंजता है।

इस 'प्रिय' को—

'पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव, सोढुम्!'

के-से क्षमापन की अपेक्षा नहीं है। यह तो कवीन्द्र रवीन्द्र की Drunk with the joy of singing I forget myself, and call thee friend who art my lord. -सी विसुध आनन्दानुभूति है।

"समाधि - निर्धूत - मलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।"

भक्त कवि निराला सूर-तुलसी की भक्तिभावना का नहीं अनुवर्तन करते, इस कारण श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि की नवधा भक्ति या सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य की पञ्चधा मुक्ति उनमें रूढ़ रूप में नहीं ढूंढ़नी चाहिए। यों आग्रही पर वह सर्वत्र अनुग्रह करते देखे जा सकते हैं। भक्ति की तरलता और मुक्ति की गम्भीरता स्थिर रूप में प्रकाशित हुई है, साम्प्रदायिक उद्वेग या प्रचारात्मक तार स्वर में नहीं।

वह तो सगुण निर्गुण, देव, देवी—सब को अपनी अभिव्यक्तियों में समान समादर से समेट कर अपने को खोलते हैं। उनकी उदार-उन्मुक्त, भक्ति, निश्चय ही, अशास्त्रीय नहीं है:—

"ज्ञाज्ञौ द्वै अजौ ईशानीशौ"
"त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी।"

उपनिषदों की ऐसी कितनी ही उक्तियाँ उनकी उपलब्धि के साथ हैं। सात्त्विक, राजस और तामस-तीनों गुणों में उनकी आस्था एक सी रमी है। जहाँ पुरुष प्रकृति, योग-सिद्धि, शिव-शक्ति की प्रतीकात्मक अनन्यता है, वहाँ रघुकुल-गौरव रामचन्द्र के साथ सीता अचला भक्ति और राधा के मनमोहन और उनके अधरों की वेणु का चिर साहचर्य्य भी है। इतना ही नहीं सत्त्व के उद्रेक में यहाँ तम भी वर्जित नहीं रहा है, व्यापक प्रकाश—बहिरन्तश्चर तिमिर से अपरिचित नहीं है:—

"तुम सुरा-पान घन अन्धकार'
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति !"

यह भक्ति तम में भी साथ नहीं छोड़ती।"गर्ज गर्ज क्षण मूढ़, मधु यावत् पिवाम्यहम्।" सृष्टि हो या संहार, सब कहीं, सब रूपों में अनन्यता है। भक्त जानता है:—

"विराजिता शव आसने, कभु प्रमत्ता आसवपाने,
ओ मा त्रिगुणधारिणि, गुणातीता त्रिनयनि !"

संहार जब नवीन सृष्टि का उपादान बन जाता है तब वह भक्ति के उदात्त स्वर-विस्तार से वञ्चित नहीं रह पाता।"लैहों मैं करवट-काशी" में भक्ति की व्याकुलता ने ही प्रशान्त वाणी पाई है। जीवन और जगत् को विभु की विभा का क्षेत्र समझ जिसने आँसुओं से भक्ति की बेल सींची वही वहाँ रज उड़ते और तम छाते देख कर परिवर्तन की शक्ति का यों आवाहन कर सकता है:—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
अट्टाहास - उल्लास - नृत्य का होगा जब आनन्द,
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बंद हो जाएँगे ये जितने कोमल छन्द,
सिन्धु-राग का होगा तब आलाप...."

यों तो आचार्य शकंर ने 'विवेक चूड़ामणि' में भक्ति के सम्बन्ध में अपनी मान्यता व्यक्त की है कि मुक्ति प्राप्त करने के जितने उपाय हैं, उनमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है :—

"मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।"

वस्तुतः भक्ति और कुछ नहीं, जीव द्वारा अपने ही स्वरूप का अनुसन्धान है; किन्तु कुछ अभिज्ञों का अभिमत है कि जीवात्मा द्वारा परमात्मा के अनुसन्धान का नाम भक्ति है :—

"स्व-स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे विदुः।"

आत्म-रति में नित्य रहने को शाण्डिल्य ने भी भक्ति माना है, परन्तु परमप्रेमरूपा भक्ति के व्याख्याता देवर्षि नारद ने परमव्याकुलता को भी लक्ष्य किया है जिस कारण भक्त का दैन्य भगवान् को प्रिय है—

"केहि अति दीन पियारे?"

निराला का चिरपरिचित 'अहं' दैन्य से सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है तो केवल इसी कारण कि वह मौलिक रूप में सहज-सरल थे; भवभूति की भांति उनका अहंकार विश्व की निर्ममता के पंकज में पंकज-सा फूला था।

अपने कर्तृत्व का विनम्र परिहार उन्होंने फिर फिर किया है:—

'तुम्हीं गाती हो अपना गान
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान!'

—गीतिका

\+ \+ \+

'तुमने स्वर के आलोक-ढले
गाये हैं गाने गले गले'!

—अर्चना

\+ \+ \+

'नर-जीवन के स्वार्थ सकल!
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-संचित सब फल!

—गीतिका

उनकी दैन्य-सजल आर्त पुकार बहुत ही बेधक है:—

"दुरित दूर करो नाथ,
अशरण हूँ, गहो हाथ!
हार गया जीवन-रण,
छोड़ गए साथी जन,
एकाकी, नैश-क्षण
कण्टक-पथ, विगत पाथ!"

—अर्चना

पूरे परिवेश में करुण-कातर स्वर प्रतिध्वनि के लिए विकलता बिखेर रहा है। पाप को दूर कर, ग्रहणीय बना कर मेरा हाथ पकड़ लो, क्योंकि मैं अशरण-हूँ; आश्रय-हीन हूँ।

जीवन-समर में मैं पराजित हो गया—अर्थ के पथ पर अनर्थ होते देखकर मैंने स्वार्थ की लड़ाई में अस्त्र-शस्त्र डाल दिए। फिर हारे का साथी कौन हो? जो संघर्ष करते समय दाएँ-बाएँ खड़े थे, उन्होंने भी मुझे छोड़ विजयी से साँठ-गाँठ कर ली। यों मुझे दूसरों का लहू पीनेवाले विजयी का भेद मालूम हो गया था, पर इससे क्या? साथियों का स्वार्थ जिससे साफ सधता था, उसे छोड़ वह सर्वथा असमर्थ के पास क्यों रहते?

अब तो मैं अकेला रह गया हूँ। रात का वक्त है, रास्ते में काँटे बिछे हैं, पाथेय नदारद है। ऐसे में तुम नहीं, तो और कौन मेरा हाथ गहेगा?

"In the busy moments of the noontide work I am with the crowd, but on this dark lonely day it is only for thee that I hope."—Tagor

ऐसा लगता है जैसे इस युग का गजेन्द्र भी ग्राह से अकेला युद्ध करते करते थक कर असहाय हो कर उद्धार के निमित्त कातर स्वर की पूरी तीव्रता से प्रभु को पुकार रहा हो।

कितने बार पुकारा,
खोल दो द्वार, बेचारा!
मैं बहुत दूर का, थका हुआ,
चल दुखकर श्रम-पथ, रुका हुआ,
आश्रय दो आश्रम-वासिनि,
मेरी हो तुम्हीं सहारा!

—गीतिका

मैंने कितनी-कितनी बार पुकारा! अब भी तो अपनी कुटी का द्वार खोल दो! मैं बेचारा हूँ; मेरा कहीं और ठिकाना नहीं।

बहुत दूर चलते-चलते—एक जन्म से दूसरे जन्म की यात्रा करते—एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव की ओर बढ़ते बढ़ते अब मैं बहुत बुरी तरह थक गया हूँ। क्यों नहीं थकता भला— आखिर इस मरु-भूमि में कहीं सिमटी-सिमटी-सी भी हरियाली दिखती! यह थका देने वाला पथ केवल दुःख-दायी ही तो रहा, जिस कारण अब और आगे बढ़ने का उत्साह हमेशा के लिए जाता रहा। अरी ओ आश्रम-वासिनि अपनी कुटिया का द्वार खोल दो; मुझे आश्रय दो; अब मुझे सिर्फ तुम्हारा ही भरोसा है!

"सर्व-साधन-हीनस्य पराधीनस्य सर्वथा
पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम।"
डोलती नाव, प्रखर है धार,
संभालो जीवन-खेवनहार।

—परिमल

धारा का प्रवाह प्रखर है, नाव डोल रही है, ओ जीवन के खेनेवाले, इसे सँभालो।

यों अपनी शक्ति भर नैया तैर रही है; किन्तु उत्ताल तरगें हैं, जो इसे बार-बार अपनी लपेट में ले लेती हैं। अब यह डगमग-डगमग करने और भँवर में चकराने लगी है, इसकी पतवार जो टूट गई है! ओ जीवन के खेवनहार, इस अतल जल पर मेरे तो पाँव काँपने लगे हैं।

इस भय की घड़ी में मुझे तुम्हारी बहुत याद आ रही है। ज्यों-ज्यों दिल की धड़कन बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मैं तुम्हारे ध्यान में डूबता जाता हूँ; मुझे तुम्हारे सहारे के अलावा कुछ सूझ ही नहीं रहा है। भय और धड़कन का क्या कहना? कहीं कूल-किनारा दिखे तो हृदय आश्वस्त हो, मगर यहाँ तो अपार पारावार उमड़ रहा है! अतिशय भय में अतिशय तन्मय होकर—अरे ओ मेरे जीवन के खेनेवाले—मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ।

कवीन्द्र रवीन्द्र के—

लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा
देखि नाइ कभु देखि नाइ एमन तरणि वावा।

का ठीक विलोम चित्र उक्त गीत में अंकित हुआ है। रवीन्द्रनाथ की नाव अमल-धवल पाल में मन्द-मधुर हवा के लगने से कुछ यों झिर-झिर तिर रही है कि वह आनन्द-विभोर हो उठे हैं; निराला की नाव प्रखर धारा में कुछ यों डोल रही, डगमग कर रही है कि वह आर्त स्वर से जीवन-खेवनहार को पुकार उठते हैं।

देवि, तुम्हें मैं क्या दूँ?
क्या है, कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना-भार,
एक विफल रोदन का है यह हार, - एक उपहार;
भरे आँसुओं में हैं असफल कितने विफल प्रयास,
झलक रही है मनोबेदना, करुणा, पर - उपहास;

क्या चरणों पर ला दूँ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ?

साधक की सबसे बड़ी शक्ति साधना है क्योंकि वही उसे इष्ट-सिद्धि के शिखर तक पहुँचाती है। निराला पाँच क्लेशों से पीड़ित मन जब उसे भी भार ढोने-जैसा समझे तो यह दैन्य की पराकाष्ठा है। दैनन्दिन अपनी साधना में ज्यों-ज्यों समृद्ध होते गए त्यों-त्यों उनकी वाह्य अकिञ्चनता बढ़ती गई। ऐसे में, गगन-जीवन की अनिवार्य्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें क्या क्या न करना पड़ा! अनुभव-मन में अन्ध कुहासे-सी निराशा का प्रसार कैसी वेदना और दंशन का कारण हो सकता है, गम्य है। कवि की व्यथा उस भारी साधना को भार ही नहीं समझती, उस भार-वहन की क्रिया को भी व्यर्थ बताती है! कवि समझता है, जिस साधना ने उसे ऐसा अलौकिक अकिञ्चन बना दिया कि वह अपनी इष्टदेवी के चरणों में चढ़ाने योग्य कुछ भी न सँजो सका, वह साधना किस काम की?

न सही अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति, कम-से-कम ऐसा तो होता कि ऐश्वर्य्य-सम्पन्न सर्व समृद्ध कवियों की भाँति वह भी कल्पित वेदना के कलात्मक छन्द रचकर——

"तोमार सोनार थालाय साजाबो आज दुखेर अश्रुधार
जननी गो, गाँथ्बो तोमार गलार मुक्ताहार !"

सोने के थाल में आँसुओं का मुक्ताहार सजाता; किन्तु यहाँ तो स्थिति ही दूसरी है, जैसे व्यर्थ साधना का बोझ ढ़ोया गया वैसे ही उसका रोदन भी प्रभावहीन, अतः विफल रहा। बस वही एक हार-उपहार उसके पास है जिसके आँसओं के कण-कण में उसके व्यर्थ प्रयास, वेदना, करुण और उपहास प्रतिबिम्बित हैं। कहाँ कविराजों के हाथों गुंथी गलहार और कहाँ यह एक निरर्थक आँसुओं का हार-उपहार ! कवि अपने स्वर में मर्म की समग्र करुणा घोल कर पूछता है कि क्या उसका ऐसा चिर-उपेक्षित हार-उपहार देवी के चरणों में भी स्वीकृति प्राप्त कर सकेगा। गले तक हाथ उठाने का हौसला नहीं है केवल चरणों तक पहुँचने की विनम्र चाह है। यदि यहाँ भी "ठाई नाई, ठाई नाइ" हो तो फिर वह निःस्व-निर्धन और क्या अर्पित करे ?

इस अन्तर्वेदना में वेद-वेदान्त डूब जाते हैं; ज्ञान-वैराग्य-युक्त भक्ति की सुधि नहीं रहती; वैष्णवों, विरक्तों, संन्यासियों और ब्रह्मचारियों की चर्चा अप्रासंगिक प्रतीत होती है। यह——

'राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो,
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो !'

का सा शास्त्रीय दास्य या बौद्धिक लघुता नहीं प्रकट करता, इसमें तो

"निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः !"

× × ×

"कस न दीन पर द्रवहु उमावर"

× × ×

"जाऊँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे !"

का-सा अन्तर्नाद है।

भक्ति-मार्ग में सत्संग की बड़ी महिमा है। कहते हैं, विषय से निवृत्ति के अतिरिक्त श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि प्रकार भी सत्ससंग से सधते हैं। "भागवत" में कहा गया है:—

'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।'

"रामचरितमानस" में इसी की प्रतिध्वनि है:—

'तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिअ तुला इक अंग
तुलै न ताही सकल मिलि जो सुख लव-सतसंग !'

निराला ने सत्संग के तत्त्व-महत्त्व को भलीभाँति आत्मसात् किया था। वह उसकी दुर्लभता, अगमता और अमोघता के कायल ही न थे, एक अद्वितीय निदर्शन भी थे। वह कहते थे:—

"दो सदा सत्संग (मुझको)!
अमृत से पीछा छुटे,
तब हो अमृत का रंग (मुझको)।

अनृत से=मिथ्या से, माया से पीछा छूटे और तन-मन में अमृत की निर्मलता छा जाए, ज्ञान के आलोक से वाह्य और आभ्यन्तर एक समान जगमगा उठे, इसलिए मुझे सदा सत्संग मिले!

शान्त हों कुल धातुएं ये,
बहे एक तरंग
रूप के गुण गगन चढ़ कर
मिलूं, तुमसे ब्रह्म!

—अर्चना

समर्थ स्वामी रामदास ने 'मनाँचे श्लोक' में बताया है कि भौतिक या तात्त्विक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, यज्ञ-याग, तप-त्याग भी पर्याप्त नहीं है, पराशान्ति तो सत्संग से ही प्राप्त हो सकती है। जिसे स्वदेहात्मकता का ही ध्यान है, उसे सर्वात्मा का किस प्रकार ज्ञान हो सकता है? जो देहबुद्धि है, उसे आत्मबुद्धि होना है और इसका सब से समर्थ माध्यम सत्संग है।

रूप से अरूप की ओर बढ़ना कैसे हो? उपनिषद् ने कहा है—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।"

निराला कहते हैं, रूप के कच्चे धागे के सहारे मैं गगन चढ़ कर ओ ब्रह्म तुमसे आ मिलूं। रूप निर्गुण नहीं हो सकता, पर रूप के गुण से निर्गुण तक पहुँचा तो जा सकता है।

अपने त्रिगुणात्मक रूप का पर्यवसान निस्त्रैगुण्य में हो, इसका शाश्वत निश्चय सत्संग में प्रकाशित होता रहे।

प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण—त्रिविध कर्मों का क्षय उस ब्रह्म से साक्षात्कार होने पर ही संभव है:—

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे!"

कीर्तन का स्वर भी निराला की प्रखर भक्ति में मन्द नहीं है:—

हरि का मन से गुण-गान करो
तुम और गुमान करो न करो!

और इस स्वर का चरमबिन्दु तो महावाणी में ही परिगणित होने योग्य है:—

"ठग को जग-जीवन-दान करो,
तुम अन्य प्रदान करो न करो!"

यह प्र+दान=प्रकृष्ट दान है, भूमि-दान, पशु-दान, स्वर्ण-दान आदि परम्परा प्रतिष्ठित दान। ज्ञानी कहता, ज्ञान-दान करो! भक्त कवि की उपलब्धि है, जो ठग है, जग को ठगता है, अपने को ठगता है, उसे जग-जीवन का दान दो, सहज मानवीय स्तर पर जीने का दान दो; सामाजिक मर्य्यादा से च्युत कर असामाजिक तत्त्व बनने से बचा लो। 'ला मिजरेब्ल' के जेल से भागे हुए कैदी को चोरी करने पर भी धर्म-गुरू के उदार-उदात्त भाव देकर मानव बनने दो। यदि तुम ऐसा कर सके तो फिर दूसरे प्रकृष्ट समझे जानेवाले दान करो, न करो, कुछ नहीं आता जाता।

भजन कर हरि के चरण, मन!
पार कर मायावरण, मन!!

—अर्चना

माया का आवरण पार करना यहाँ 'अहन्ता' का परिहार है। 'कर्त्ताऽहमिति मन्यते', अपने कर्तृत्व का अभिमान छोड़े बिना हरि के चरणों का स्मरण या भजन संभव ही नहीं है।

'हरि - भजन करो भू - भार हरो,
भव - सागर निज उद्धार तरो।"

—आराधना

निराला की ऊर्ध्वमुखी भक्ति के विभाव विभिन्न हैं, अनेक आलम्बनों ने उसे तरलता दी है। "भारति जय विजय करे—" में भक्ति का आलम्बन भारत माता है तो—

"बन्दूँ पद सुन्दर तव
छन्द नवल स्वर गौरव
जननि, जनक - जननि - जननि, जन्म - भूमि - भाषे!"

—गीतिका

में राष्ट्रभाषा हिन्दी। विस्तार और घनत्व का लेखा-जोखा लेना कठिन है। फिर भी मोटे तौर पर उनकी प्रारम्भिक प्रार्थनाओं में निर्गुण-सगुण रूप की प्रधानता है; परवर्ती प्रार्थनाओं में सगुण-निर्गुण रूप की। उदात्तता में अन्तर न आने देने पर भी प्राथमिक पदों में सौन्दर्य्य का महत्व स्वीकृत हुआ है, परवर्ती पदों में आन्तरिकता अधिक है। दूसरे शब्दों में, 'परिमल' गीतिका' के गीतों में सपक्ष कल्पना की उड़ान भी लक्ष्य की जा सकती है; किन्तु 'अर्चना' 'आराधना' में ढल-ढल अनुभूति ही है। पहले में आलोक-सृष्टि है किन्तु पिछले द्रवित तेज ही हैं।

आलम्बन के विस्तार में शिव-शक्ति, राम-सीता, कृष्ण-राधा—सब सिमट आए हैं—

१. नाचो हे, रुद्रताल;
आँचो जग ऋजु - अराल।

२. [illegible]
[illegible]
३. फिर भी [illegible]
वन्दूँ निर्भय
[illegible]।

—'[illegible]'

४. 'दे मैं करूँ वरण !'
जननि, दुख-हरण [illegible]

—'[illegible]'

५. कामरूप, हरो काम;
जपूं नाम, - राम - राम !
६. कृष्ण - कृष्ण, राम राम,
जपे हैं हजार नाम !

—'आराधना'

७. 'श्याम - श्यामा के युगल पद
कोकनद मन के विनिर्मद !'

—'अर्चना'

प्रकृति-पुरुष के सहज विवेकी, माया और मायी के अद्भुत ज्ञानी निराला की वैष्णवी भक्ति में भी जयदेव, रूप-जीव गोस्वामी–वाला रसीला स्वर कहीं नहीं है। हाँ, शुकदेव, लीलाशुक, कबीर और तुलसी का आत्मिक धरातल सर्वत्र प्रत्यक्ष किया जा सकता है। कवित्व और तत्त्व-बोध में होड़ सी लगी दिखती है। परिमार्जित अन्तःकरण से जो स्वर फूटते हैं उनमें संगीत के राग, और जो भाव छलकते हैं उनमें काव्य-रस अकृत्रिम रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं।

सूर-तुलसी, कबीर-मीरा आदि के भक्ति-गीतों, संस्कृत की महान् स्तुतियों और विश्व भर के दार्शनिक कवियों की प्रथित कृतियों से तुलना करने पर भक्त कवि निराला के स्वत्व-महत्त्व स्वतः प्रमाणित हो जायँगे :—

"कनक-कसौटी पर कढ़ आया;
स्वच्छ सलिल पर कर की छाया !"

—'अर्चना'

श्री शिवनारायण खन्ना

महाकवि निराला और उनकी साहित्य-रचना

युग-कवि जिस समय नवीन काव्य-सृजन के लिए लालायित था, उसी समय निराला क्रान्तिकारी भावनाएँ और निराले गीत गाते हुए प्रकट हुए। रूढ़िग्रस्त छंद के बन्ध को तोड़कर मुक्त छन्दों का निर्बाध प्रयोग देखकर हिन्दी जगत् स्तंभित रह गया। बँधी-बँधाई धारा में बहने वाले कवियों ने कोपदृष्टि से देखा, आलोचकों ने आलोचना की और आचार्यों ने भर्त्सना। पर निराला पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा, वे अपने पथ पर हिमालय की तरह अडिग डटे रहे।

वह भ्रम कि काव्य-सृजन छंद के बंधन में ही हो सकता है, निराला ने दूर किया। भावाभिव्यक्ति छंद के शरीर में ही फिट करने की मान्यता और आस्था दूर हुई। निराला ने भावों के अनुरूप, उन्हीं के संकेत पर छंदों का सृजन किया और उन्हें संजोया-सँवारा। निराला की यह भावाभिव्यक्ति संगीत के स्वर में स्वर मिलाकर चली है।

सन् १८९६ की बसंतपंचमी के दिन वैसवाड़ा प्रदेश के गढ़ाकोला ग्राम में निराला का जन्म हुआ था। इनका बचपन का नाम सूर्यकुमार है। बाद में इन्हें सूर्यकान्त कहा जाने लगा। पिता बंगाल के महिषादल राज्य में नौकरी करते थे। तीन वर्ष की अवस्था में ही मां का स्वर्गवास हो गया। छोटे-छोटे अपराधों पर भी पिता इन्हें कठोर दण्ड देने से न चूकते थे। बंगाल में रहने के कारण निराला ने बंगला का अध्ययन किया। पिता के असमय निधन के कारण पढ़ना छोड़कर नौकरी करने लगे।

पत्नी मनोहरा देवी के हिन्दी-ज्ञान से प्रभावित हो हिन्दी अध्ययन में जुट गए। रामायण बड़ी रुचि और लगन के साथ पढ़ते थे। इसका उल्लेख निराला ने 'गीतिका' के समर्पण में किया है—"जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आंख नहीं मिला सका—लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस दीन हिन्दी प्रान्त में, बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद-साधना की और हिन्दी सीखी थी, जिसका स्वर गृहजन, परिजन और पुरजनों की सम्मति में मेरे संगीत के स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षणमात्र में मेरी रुक्षता को देखकर मुस्करा देती थी; जिसने अंत में अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण-परिणीता की तरह मिलकर मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य शृङ्गार की पूर्ति की उस सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रिया प्रकृति श्रीमती मनोहरा देवी को सादर।" विवाह के कुछ दिनों बाद ही पत्नी का स्वर्गवास हो गया।

निराला की प्रथम प्रौढ़ रचना 'जुही की कली' है। १९१६ ई० में रची 'जुही की कली' मुक्त छंद-प्रकरण की प्रथम कड़ी है। जुही की कली का मानवीकरण करते हुए कवि ने उसे प्रोषित-पतिका के रूप में चित्रित किया है। प्रारम्भिक पंक्तियों में सोती हुई कली का चित्र बड़ा सजीव और स्वाभाविक है—

'विजन - वन - वल्लरी पर
सोती थी सोहाग भरी स्नेह - स्वप्न - मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी - जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक में
बासन्ती निशा थी।'

विजन-वन-वल्लरी पर पत्रों के अंक में सोती हुई जुही की कली किसी तरुणी से कहीं अधिक आकर्षक है। पत्रांक शयन-स्थल होने से कली और भी सुकोमल हो उठी है। और प्रियतम मलयानिल

'विरह - विधुर - प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।'

इस कविता में रूपकों के साथ बनावटी कारीगरी अथवा खिलवाड़ नहीं किया गया है। स्वाभाविक रूप से श्रृंगार रस की निष्पत्ति होती है। रस के सभी अवयव विभाव, अनुभाव और संचारी आवश्यकतानुसार स्वयं उपस्थित हैं। कविता की सरसता, सहज-सरल प्रवाह और सौन्दर्य दर्शनीय है।

कवि ने यह रचना आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास 'सरस्वती' के लिए प्रकाशनार्थ भेजी थी। छन्द मुक्त होने के कारण द्विवेदी जी इसे स्वीकार न कर सके और लौटा दिया। सूर्यकान्त को दुःख तो बहुत हुआ पर आप निराश न हुए। कवि को चिढ़ाने के लिए इनसे एक साहित्यकार ने पूछा कि इनकी यह 'जुही की कली' किस वाद के अन्तर्गत है। कवि का मजाक भरा उत्तर था कि छायावाद है। इस कविता में नायक-नायिका की छाया पवन और कली के रूप में है, तभी से इस भावधारा का नाम छायावाद पड़ गया।

'अधिवास' भी १९१६ ई० की रचना है। इसमें कवि ने प्रश्न उठाया है कि मनुष्य के कर्मों की समाप्ति भी क्या सम्भव है?

'फँसा माया में हूँ निरुपाय;
कहो फिर कैसे गति रुक जाय।'

जब तक मनुष्य में सहानुभूति, करुणा और परदुःखकातरता है; तब तक भावुक व्यक्ति हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ सकता।

'हिन्दी बंगला का तुलनात्मक व्याकरण' १९१९ में सरस्वती के लिए प्रकाशनार्थ भेजा। द्विवेदी जी ने इसे शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया। 'कविवर श्री चण्डीदास' प्रबन्ध १९२० में लिखा गया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और विवेकानन्द की रचनाओं का छन्दबद्ध अनुवाद इन्हीं दिनों किया। 'रवीन्द्र-कविता-कानन' के अधिकतर प्रबन्ध इन्हीं दिनों लिखे गए। 'अध्यात्मवल' कविता कानपुर की 'प्रभा' में प्रकाशित हुई।

स्वभाव से मेल न खाने के कारण सूर्यकान्त ने महिषादल राज्य की नौकरी छोड़ दी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से मिलने प्राय: आप कानपुर जाने लगे। द्विवेदी जी ने इनकी आर्थिक कठिनाइयाँ देख बाबू शिवप्रसाद गुप्त को परिचयात्मक पत्र लिखा कि वे ज्ञानमण्डल में कुछ काम दे दें पर कुछ कारणों से सूर्यकान्त इसका उपयोग न कर सके। १९२१ में प्रताप प्रेस, कानपुर की बात चली, मालिक लोग २० रुपये प्रतिमाह ही देना चाहते थे; अतएव यहाँ भी कुछ न हो सका।

रामकृष्ण मिशन, मायावती, अलमोड़ा के अध्यक्ष हिन्दी में एक पत्रिका निकालना चाहते थे। द्विवेदी जी ने 'प्रभा' में प्रकाशित 'अध्यात्मवल' के आधार पर ही उन्हें सूर्यकान्त का नाम सुझाया। पर तब तक अन्य सम्पादक मिल जाने से 'समन्वय' प्रकाशित होने लगा। निराला पुनः महिषादल वापस आ गए। इन्होने 'समन्वय' के लिए 'युगावतार श्री रामकृष्ण' लेख भेजा। 'समन्वय' के मैनेजर स्वामी आत्मबोधानन्द के अनुरोध पर १९२२ में वे कलकत्ते आ गए और लगभग एक वर्ष 'समन्वय' का सम्पादन किया।

इस समय कलकत्ते में रामकृष्ण तथा विवेकानन्द-साहित्य का मनन-पठन किया। दार्शनिक तथा अध्यात्म विषयक लेख लिखे। तुलसी के रामचरितमानस पर प्रबन्ध लिखा। यह दार्शनिक चेतना काव्य के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

कलकत्ते में सूर्यकान्त का परिचय महादेवप्रसाद सेठ से हुआ। सेठ जी ने १९२३ से 'मतवाला' निकालना प्रारम्भ किया। निराला के साहित्यिक कार्यों से ये बहुत प्रभावित हुए। इस समय सूर्यकान्त की प्रतिभा को सबसे अधिक महादेव बाबू ने ही पहचाना। सूर्यकान्त को इनसे बड़ा उत्साह मिला। 'सुकुल की बीवी' में इसका स्पष्ट निर्देश है ––

"बहुत दिनों की बात है, तब मैं लगातार साहित्य-समुद्र-मन्थन कर रहा था। पर निकल रहा था केवल गरल, पान करने वाले अकेले महादेव बाबू 'मतवाला' सम्पादक। शीघ्र रत्न और रम्भा निकलने की आशा से अविराम मुझे मथते जाने की सलाह दे रहे थे। यद्यपि विष की ज्वाला महादेव बाबू की अपेक्षा मुझे ही अधिक जला रही थी। फिर भी मुझे एक आश्वासन था कि महादेव बाबू को मेरी शक्ति पर मुझसे भी अधिक विश्वास है। इसी पर वेदान्त विषयक नीरस एक साम्प्रदायिक पत्र का सम्पादन-भार छोड़कर मनसा-वाचा-कर्मणा भरसक कविता कुमारी की उपासना में लगा।"

इन दिनों प्राय: अन्य पत्र-पत्रिकाओं से इनकी रचनाएँ वापस लौट आती थीं। महादेव बाबू ने, जिससे यह निराश न हों इसलिए, १९२३ में 'मतवाला' में बुला लिया। 'मतवाला' के

अनुप्रास पर इनका 'निराला' नामकरण हुआ। निरालाजी स्वयं लिखते हैं—"वे (महादेव बाबू) चाहते थे, इसका उल्लेख असम्भव है, और यह ध्रुव सत्य है कि वे न होते तो निराला भी न आया होता।"

लगभग १ वर्ष निराला 'मतवाला' में रहे। निराला की विरोधों से दबी प्रतिभा और कुंठा के विकास से 'मतवाला' निकलता रहा। इनकी मुक्त छंद की रचनाएँ मतवाला के प्रमुख पृष्ठों पर छपने लगीं। 'मतवाला' की तीसरी संख्या में १७ वें पृष्ठ पर प्रथम बार इसका 'निराला' नाम प्रकाशित हुआ। अठारहवें अंक में 'जुही की कली' प्रकाशित हुई। यहाँ प्रथम बार पूरा नाम सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला छपा। छद्म नामों से हिन्दी आचार्यों की व्याकरण और मुहावरों संबंधी भूलें दिखाईं। गरगर्जसिंह वर्मा 'साहित्य-शार्दूल' नाम से 'चाबुक' स्तंभ में लिखते रहे। इसके कुछ लेख 'चाबुक' में संग्रहीत हैं। कहानियाँ 'जनाबआली' नाम से भी लिखीं। मतवाला के बाद निराला की रचनाएँ यत्र-तत्र प्रकाशित होने लगीं।

मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने १९२३ में कलकत्ते से कुछ प्रारम्भिक कविताओं का संकलन 'अनामिका शीर्षक से निकाला। अनामिका की 'प्रगल्भ प्रेम' कविता में छन्द के बंधन-मुक्त होने की आवश्यकता पर जोर दिया है—

"आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये छोड़ बन्धनमय छन्दों की छोटी राह।
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण कंटकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार।"

प्राचीन भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन इस संग्रह में बड़े अच्छे रूप में हुआ है। यमुना के प्रति, दिल्ली, यहीं, खण्डहर के प्रति इसी प्रकार की अतीत-गौरव संबंधी रचनाएँ हैं। कवि खण्डहर से पूछता है कि क्या तुम जानते हो—

"अति भारत जनक हूँ मैं
जैमिनि - पतंजलि - व्यास ऋषियों का
मेरी ही गोद पर शैशव विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम - कृष्ण - भीमार्जुन - भीष्म नर देवों ने।
भूले वे मुक्त पान, साम-गान, सुधा - पान।

दिल्ली में देश की अवनति का बड़ा करुण वर्णन है—

"क्या यही वह देश है?
पृथ्वी की चिता पर

नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहाँ विजित स्वजातियों को
आत्म बलिदान से।"

अतीत वन्दना के साथ साथ नवीन का स्वागत है। उद्बोधन की पंक्तियाँ हैं—

"आँखों में नवजीवन का तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।"

'अनामिका' की कुछ कविताओं में वर्तमान सामाजिक स्थिति का चुटीला वर्णन तथा कुछ में शुद्ध व्यंग्य भी है।

उस युग में साहित्य को आजीविका का साधन बनाना सरल न था। फिर कलकत्ते का जीवन। अगले पांच वर्ष आर्थिक चिन्ता, शारीरिक और मानसिक रोग तथा अस्थिरता में व्यतीत हुए। 'सरोज-स्मृति' में कवि स्वयं कहता है—

'दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।'

आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए निराला ने जीवनी तथा प्रबन्ध आदि लिखने का निश्चय किया। **भक्तध्रुव, भक्त प्रह्लाद, भीष्म** तथा **महाराणा प्रताप** इन्हीं दिनों की रचनाएँ हैं। द पापुलर ट्रेडिंग कम्पनी कलकत्ता ने इन्हें १९२६-२७ में प्रकाशित किया। यह सभी जीवनियाँ १०० पृष्ठों के आसपास और १२ सेन्टीमीटर लम्बे आकार की हैं। १९२५ में कलकत्ते के 'श्रीकृष्ण सन्देश' में 'चरखा' प्रवन्ध प्रकाशित हुआ। यह लेख रवीन्द्रनाथ और गांधी जी के चरखे संबंधी विवाद पर है। इसमें भोजन, वस्त्र तथा रोजी जैसी समस्याओं पर विचार किया गया है। १९२६-२८ के बीच निराला जी बराबर बीमार से ही रहे।

निहालचन्द एण्ड कम्पनी, कलकत्ता ने रवीन्द्र संबंधी सामग्री का संग्रह **'रवीन्द्र कविता कानन'** शीर्षक से प्रकाशित किया। इस 'कानन' में रवीन्द्र की कुछ चुनी हुई कविताओं को आलोचना सहित हिन्दी पाठकों के सामने रखा गया है। गद्य का सतर्क, सचेतन तथा मार्जित रूप है। 'रवीन्द्र कविता कानन' में कवि का परिचय यों दिया गया है—"जागरण के प्रथम प्रभात में आवेश भरी भैरवी बंगालियों ने सुनी,—वह संगीत, वह ताल, वह स्वर, बस जैसा चाहिए वैसा ही।.....प्रकृति ने प्रकृति का अभाव पूरा कर दिया। ये सौभाग्यवान पुरुष बंगाल के जातीय महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं।"

'हिन्दी बंगला शिक्षक' तथा **'रामकृष्ण वचनामृत'**—(अनुवाद) इन्हीं दिनों की रचनाएँ हैं। श्री गुलाबरायजी के आमन्त्रण पर चण्डीदास के ग्रन्थों के अनुवाद के सिलसिले में छतरपुर गए; पर स्वास्थ्य विगड़ने तथा अन्य कारणों से शीघ्र ही वापस आ गए। तुलसी के रामचरितमानस की टीका लिखने का विचार किया; पर बाबू शिवपूजन सहाय ने कहा कि हिन्दी में अभी

ऐसा कार्य करने से अधिक पैसा न मिल सकेगा। अतएव यह कार्य स्थगित कर दिया गया।

कलकत्ता में निराला के जामाता पं० शिवशेखर द्विवेदी ने 'रंगीला' मासिक पत्र निकाला। इसका सम्पादन कुछ दिनों निराला जी ने किया। पर स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण १९२७ में यह कलकत्ते से काशी चले आए। यहाँ कुछ दिनों प्रसाद जी के यहाँ भी ठहरे। १९२९ से गंगा-पुस्तक-माला का सम्पादन प्रारम्भ किया। कोई बन्धन न होने के कारण इन्हें यह कार्य पसन्द था। 'सुधा' का सम्पादकीय भी लिखा करते थे।

इन दिनों की रचनाएँ गंगा-पुस्तक-माला से ही प्रकाशित हुईं। इन दिनों की प्रमुख रचनाए 'अप्सरा' और 'अलका' उपन्यास तथा 'लिली' कहानियाँ हैं। गंगा-पुस्तक-माला से प्रकाशित होनेवाली रचनाओं में प्रथम **'परिमल'** काव्य-संग्रह है। यह संग्रह १९३० में प्रकाशित हुआ। अधिकतर कविताएँ समन्वय और मतवाला-काल की हैं। 'परिमल' पर रामकृष्ण मिशन के अद्वैतवाद का प्रभाव पड़ा है। 'भिक्षुक' और 'दीन' आदि कविताओं में करुणा को उभारते हुए विकसित किया है। अनेक कविताओं में वेदना है। कहीं थके हुए पथिक की तरह विश्राम की कामना की है तो कहीं प्रकृति ही विश्राम के लिए प्रेरित करती है। 'परिमल' का कवि प्रेम और सौन्दर्य का कवि भी है।

'परिमल' की प्रथम कविता जुही की कली है। जागृति में सुप्ति में कवि अपने पिछले स्वप्न भूलने के साथ साथ नये स्वप्न की कल्पना करता है। पंचवटी में सूर्पनखा अन्य किसी पर विश्वास न करके स्वयं अपनी प्रशंसा करती है। उसे लगता है कि संसार भर का सौन्दर्य ब्रह्मा ने उसी के अंगों में भर दिया है। प्रकृति भी उसका सौन्दर्य देखकर लज्जित हो उठती है—

> "देख यह कपोल कंठ
> बाहु बल्ली कर सरोज
> उन्नत उरोज पीन-क्षीण-कटि—
> नितम्ब-भार चरण सुकुमार—
> गति मन्द मन्द,
> छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का,
> देवों भोगियों की तो बात ही निराली है।"

काल की दृष्टि से 'परिमल' के द्वितीय खण्ड की कविताएँ प्रथम खण्ड से पहले की हैं। सौन्दर्य की अपेक्षा कवि का ध्यान प्रेम और परिणति की ओर अधिक है। 'परिमल' के कुछ प्रकृति-चित्रण हिन्दी कविता में बिलकुल नए हैं। निराला बरसते हुए मूसलाधार पानी में बहुत भींगे। अतः इस संग्रह में बादलों पर कई कविताएँ हैं। बादल को आकाश का चंचल शिशु, समुद्र का आंसू, खिन्न दिवस का राहू, सूर्य का चुना हुआ फूल और स्वर्ग को खोलने वाला आदि बनाया है। कलेजे के दो टूक करनेवाला भिक्षुक भी इसी संग्रह में है। भिक्षुक का लकुटिया टेक कर चलना,

फटी-पुरानी झोली का मुँह फैलाना, साथ के बच्चों का पेट मलना और हाथ फैलाना और कुछ न मिलने पर आंसुओं के घूंट पीकर रह जाना, बड़े सजीव चित्र हैं।

'कण' न जाने कितने दिनों से कुचला जा रहा है—

'पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद पद पर सदियों के पद-प्रहार।'

'हमें जाना है जग के पार' जैसी कविताएँ पलायनवादी कही जा सकती हैं। रहस्यवादी कविताओं में रवीन्द्र और विवेकानन्द का पर्याप्त प्रभाव है। देवि तुम्हें मैं क्या दूं, एक बार बस और नाच तू श्यामा आदि रचनाएँ ऐसी ही हैं। पर इन रहस्यवादी कविताओं में कवि अपनी व्यथा नहीं भूला है। यमुना और पंचवटी-प्रसंग पौराणिक, शिवाजी का पत्र और जागो फिर एक बार राष्ट्रीय गीत हैं। भाषा और छन्द की दृष्टि से बहुत कुछ अलग हैं।

सन् १९३१ के प्रारम्भ में गंगा-पुस्तक-माला से प्रथम उपन्यास 'अप्सरा' प्रकाशित हुआ। भूमिका में हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों पर व्यंग्य किया गया है। कथानक प्रेम के साथ साथ राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी भावनाओं से ओतप्रोत है। देश सेवा के साथ साथ रोमान्स भी चलता है। सम्पूर्ण रूप से उपन्यास घटनाप्रधान कहा जा सकता है। विरोधियों ने इस उपन्यास पर अनेक आक्षेप किए, पर इसके पाठक काफी रहे और इसने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की।

'अप्सरा' के बाद **'अलका'** लिखा गया। गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ से यह उपन्यास १९३३ में प्रकाशित हुआ। कथानक ग्रामीण-जीवन पर आधारित है। नायक विजय राजनीति से रुचि रखनेवाला विद्यार्थी है। अलका अर्थात् शोभा "पिता के सुखकर वृन्त पर प्रस्फुट कली सी कल्पना के समीर से अपनी ही हद में हिल रही है।" पिछली 'अप्सरा' का इस 'अलका' पर पर्याप्त प्रभाव है। जमींदार स्नेहशंकर बहुत सीधे, साधु प्रकृति के व्यक्ति हैं। विजय और स्नेहशंकर का सुधार संबंधी लक्ष्य स्पष्ट नहीं है। किसानों को संगठित करने के बाद उनका क्या कार्य और उद्देश्य होगा, ये लोग स्वयं नहीं जानते।

'अलका' निराला के संक्रमण काल की रचना है। कला-विकास के लिए रोमान्स के साथ-साथ जनसाधारण का दुःख-दर्द भी है। ताल्लुकदार मुरलीधर के संबंध में निराला कहते हैं—"जब से मुरलीधर पैतृक सिंहासन पर अपने नाम की मुरली धारण कर बैठे, बराबर सनातन प्रथा के अनुसार सरकारी अफसरों की सुहावनी छेड़ते जा रहे हैं।" पात्र अधिक होने के कारण सभी को विकसित होने का अवसर नहीं मिल सका है। यथार्थवादी पात्र समूह में शोभा ही एक आदर्श है। 'अलका' में स्नेहशंकर और शोभा, अजित और वीणा और मुरलीधर तथा उसके साथियों के गुट हैं। यह गुट एक दूसरे से मिलते-छूटते कथानक को आगे बढ़ाते हैं।

पहला कहानी संग्रह **'लिली'** १९३३ में गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। 'लिली' "प्रिय श्री दुलारेलालाजी के दक्षिण यशोवर्द्धन साहित्य-कर को" सर्मपित है। भूमिका में निराला जी कहते हैं—"मुझसे पहले वाले हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक इस कला को किस

दूर उत्कर्ष तक पहुँचा चुके हैं, मैं पूरे मनोयोग से समझने का प्रयत्न करके भी नहीं समझ सका। समझता तो शायद उनसे पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर लेता, और पतन के भय से इतना न घबराता।"

'लिली' में पद्मा और लिली, ज्योतिर्मयी, कमला, श्यामा, अर्थ, प्रेमिका परिचय, परिवर्तन और हिरनी कहानियाँ संग्रहीत हैं। 'पद्मा और लिली' के नायक-नायिका जाति-बन्धन के कारण परस्पर विवाह नहीं कर पाते और वे देशसेवा का व्रत ले लेते हैं। ज्योतिर्मयी में अन्तर्जातीय विवाह का अच्छा समाधान है। कमला और श्यामा में प्रतिशोध की भावना है। अर्थ में अध्यात्म के सहारे आर्थिक समस्याएँ सुलझाई गई हैं। हिरनी में व्यंग्य के सहारे सामन्ती जीवन का चित्रण है। प्रेमिका परिचय और परिवर्तन यथा नाम तथा गुण हैं।

निराला की अधिकतर कहानियाँ अप्सरा और अलका का ही लघु चित्रण कही जा सकती हैं। कहानियों के नायक शिक्षित, बड़े बाप के बेटे, राजनीतिक और क्रान्तिकारी हैं। नायिकाएँ १६ वर्ष की खिलती हुई कलियाँ हैं। कहानीकार के सामने देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्यायें हैं। इनका समाधान यथार्थ की भूमि पर अध्यात्म के भवन से किया गया है।

केवल कविता लिखने या गीत गाने से ही जीविका नहीं चल सकती। अतएव समय समय पर निराला फुटकर लेख भी लिखते रहते थे। गंगा-ग्रंथागार के दुलारेलाल भार्गव ने इनके कुछ निबन्धों का संग्रह **'प्रबन्ध पद्म'** शीर्षक से १९३४ में प्रकाशित किया। यह निराला का प्रथम निबन्ध-संग्रह है। इस संग्रह में शून्य और शक्ति, साहित्य और भाषा, मुसलमान और हिन्दू कवियों में विचार-साम्य, एक बात, पन्तजी और पल्लव, राष्ट्र और नारी, रूप और नारी, हमारे साहित्य का ध्येय, काव्य में रूप और अरूप और साहित्य का फूल अपने ही वृत्त पर, निबन्ध संग्रहीत हैं।

'पन्त और पल्लव' लेख पहले एक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में भेजा था। पल्लव की भूमिका में कुछ आक्षेप होने के कारण यह वापस कर दिया गया। 'प्रबन्ध पद्म' के निबन्ध गम्भीर तथा साहित्यिक हैं।

'सखी' कहानी संग्रह गंगा-ग्रंथागार ने १९३५ में लखनऊ से प्रकाशित किया। १९३६ के प्रारम्भ में पहला ऐतिहासिक उपन्यास समाप्त हुआ। **'प्रभावती'** शीर्षक से गंगा-ग्रंथागार ने इसे इसी वर्ष प्रकाशित किया। निराला ने इसे अपनी सलहज को समर्पित किया है। यमुना वहुत कुछ सलहज की ही तरह है। प्रारम्भिक वातावरण बैसवाड़े का है। वैसवाड़े के वन-उपवन, नदी-नाले, रीति-रिवाज आदि का बड़ा सजीव चित्र है। इस उपन्यास को आधुनिक आंचलिक कथाओं का प्रारम्भ कहा जा सकता है। 'प्रभावती' की घटनाएँ बड़े चमत्कारिक ढंग से घटती हैं। कथानक कुछ उलझता हुआ सा आगे बढ़ता है। कथानक दुखान्त है।

आदर्श पात्र यमुना कहती है—"वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा में बौद्धों पर विजय पाने वाले क्षत्रिय कदापि इस धर्म की रक्षा न कर सकेंगे क्योंकि साधारण जातियाँ इनके तथा ब्राह्मणों के घृणा-भावों से पीड़ित हैं। यह अ.पस में कटकर क्षीण हो जायेंगे।"

'निरुपमा' के दो अध्याय 'सुधा' में प्रकाशित हुए थे। पर 'सुधा' छोड़ने के कई वर्ष बाद यह उपन्यास पूर्ण हुआ। भारती-भण्डार, इलाहाबाद ने इसे १९३६ में प्रकाशित किया। इस उपन्यास में निराला ने मुक्तप्रेम (गम्भीर) का समर्थन किया है। विदेश जाने के कारण नायक कृष्णकुमार के परिवार को जातिच्युत कर दिया जाता है। मां और छोटे भाई को अनेक अत्याचार सहने पड़ते हैं। सारी जायदाद रेहन रख दी जाती है। नौकरी न मिलने के कारण कृष्णकुमार बूट पालिश करने लगता है। निरुपमा से प्रेम और फिर विवाह होने पर उसे जमीन-जायदाद आदि सब कुछ मिल जाता है। वस्तुतः 'निरुपमा' एक यर्थवादी उपन्यास है।

'निरुपमा' का गद्य देखिए—"गुरुदीन तीन बिस्वेवाले तिवारी हैं, सीतल पांच बिस्वे वाले पाठक, मुन्नी दो बिस्वे के सुकुल, ललई गोद लिए हुए मिसिर. . . ।"

भारती भण्डार, इलाहाबाद से 'गीतिका' १९३६ में प्रकाशित हुई। इसे इन्होंने अपनी प्रियतमा 'मनोहरा देवी' को सर्मपित किया है। भूमिका प्रसाद जी ने लिखी है तथा परिचय श्री नन्ददुलारे बाजपेई का है। 'गीतिका' गीतात्मक तथा संगीतात्मक गीतों का संकलन है।

हिन्दी संगीत की शब्दावली तथा गाने का ढंग निराला को खटका। खड़ीबोली में संगीत के लिए शब्दावली बदलना आवश्यक समझा। 'गीतिका' की भूमिका में निराला लिखते हैं—

"प्राचीन गवैयों की शब्दावली, संगीत की संगति की रक्षा के लिए, किसी तरह जोड़ दी जाती थी, इसलिए उसमें काव्य का एकान्त अभाव रहता था। आज तक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से ही मुखर करने की कोशिश की है।"

निराला ने संगीत का ही ध्यान न रखकर काव्य की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। निराला के गीत उस्तादी गीतों की तरह रूढ़िग्रस्त राग-रागनियों से आबद्ध नहीं हैं। ये गीत एक अलग नींव पर ही बनाए गए हैं। निराला के गीतों का स्वर, लय और ताल बंगला तथा अंग्रेजी गीतों से प्रभावित है। अधिकतर गीतों में उद्बोधन तथा माधुर्य-भाव से आत्म-निवेदन है। मूल भावना श्रृंगारिक है। विषय की दृष्टि से 'गीतिका' के गीत प्रार्थनाप्रधान, प्रकृतिचित्रण, राष्ट्रीय, दार्शनिक और नारीसौन्दर्य संबंधी हैं।

'गीतिका' का प्रथम गीत सर्वपरिचित है—

> **"वरदे, वीणावादिनि वर दे।**
> **प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मन्त्र नव भारत में भर दे।**
> **कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे।"**

कवि की कामना है—

> **"मेरे प्राणों के प्याले को भर दो,**
> **प्रिये दृगों के मद से मादक कर दो,**
> **मेरी अखिल पुरातन-प्रियता हर दो,**

मुझको एक अमर वर दो,
मैंने जिसकी हठ ठानी।"

कामना-प्रधान गीतों में जागरण तथा सम्पूर्ण विश्व की मंगल कामना की है। प्रकृति-वर्णन बिलकुल सहज और स्वाभाविक है—

"डूबा रवि अस्ताचल
संध्या के दृग छल छल
स्तब्ध अंधकार सघन
मन्द गन्ध-भार पवन,
ध्यान-लगन नैश गगन
मूँदे पल नीलोत्पल।"

नाना रूप जगत में एक ही ब्रह्म की सत्ता है—

"जग का इक देखा तार
कंठ अगणित, देह सप्तक, मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन, बहुरंग, निर्मित एक सुन्दर हार।
एक ही कर से गुंथा, उर एक शोभा भार।"

निराला कबीर के निर्गुण से भी प्रभावित हैं—

"पास ही रे हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान?"

नारी-सौन्दर्य का चित्रण बड़े मनोयोग से किया है। सोकर उठती हुई नायिका का चित्र है—

"हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल,
वासना की मुक्ति, मुक्ता त्याग में तागी।"

नायिका अपने उर पर बिखरे अस्त-व्यस्त बालों को देखती है; बिखरे बालों को हटाती है; फिर चारों ओर देखती है कि किसी ने उसे देखा तो नहीं। वासना से दूर कितना मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक चित्रण है।

संयोग श्रृंगार का वर्णन होली के रूपक में बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है—

"नयनों के डोरे लाल गुलाब भरे, खेली होली।
जागी रात सेज पति संग रति सनेह रंग घोली,

प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस-कस कसक मसक गई चोली
एक बसन रह गई मन्द हँस अधर दशन अनबोली-
कली सी काँटे की तोली।"

निराला की राष्ट्रीय कविताएँ भी निराली ही हैं। निम्न भारत वन्दना बंगला से प्रभावित है—

"भारति, जय, विजय करे।
कनक शस्य कमल धरे।

गीतिका का शब्द-चयन बड़ा उपयुक्त है, पर कहीं कहीं कला प्रवल होने से भावपक्ष दब गया है। अर्थ में दुरूहता तथा अनगढ़ शब्दों के प्रयोग का भी यही कारण है। पूर्ण साहित्यिक तथा दुरूहता के कारण निराला के गीत अधिक प्रचलित नहीं हो सके।

काव्य-ग्रन्थ 'तुलसीदास' इलाहाबाद के भारती-भण्डार ने १९३८ में प्रकाशित किया। इसका रचना-काल १९३५ और ३८ के बीच का है। आकार की दृष्टि से निराला की काव्य-रचनाओं में 'तुलसीदास' का प्रथम स्थान है। 'तुलसीदास' में अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का बहुत ही सुन्दर तथा स्पष्ट निरूपण हुआ है। वैराग्य-प्रवेश के प्रचलित कथानक में तुलसी का मानसिक द्वन्द्व, मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ और उनका उद्घाटन स्वाभाविक पर साहित्यिक रूप से बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

आरम्भ में कवि ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के ह्रास और उनके कारणों का निर्देश किया है—

"भारत के नभ का प्रभा सूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे-तमस्तूर्य दिङमंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण।
शासन करते हैं मुसलमान।"

दासता स्वीकार करनेवाले हिन्दुओं को कवि फटकारता है—

"भारत के उर के राजपूत,
उड़ गए आज वे देवदूत,
जो रहे शेष, नृप-वेश सूत बंदीगण।"

कवि कहता है—

"करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार।"

पर रत्नावली-मिलन होने पर—

> "यह वही प्रकृति, पर रूप अन्य,
> जगमग जगमग सब वेश वन्य।"

तुलसी का सारा ज्ञान पत्नी के मोह में बंध जाता है—

> "रति रहित कहाँ सुख ?
> केवल क्षति केवल क्षति।"

ससुराल पहुँचने पर रत्नावली धिक्कारती है—

> "धिक् ! धाए तुम यों अनाहूत,
> धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत,
> राम के नहीं काम के सूत कहलाए।
> हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
> वह नहीं और कुछ हाड़, चाम,
> कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए।"

और तुलसी के जगने पर सारी प्रकृति जाग जाती है—

> "जागो, जागो, आया प्रभात
> बीती वह, बीती अन्ध रात।"

'तुलसीदास' में कहानी की अपेक्षा चिन्तन अधिक है। तुलसी-मानस-उद्घाटन का ही प्रयत्न किया गया है। इस उद्देश्य में कवि को बहुत कुछ सफलता भी मिली है। भाषा संस्कृत-बहुल तथा दुरूह है।

रेखाचित्र 'कुल्लीभाट' गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ से १९३९ में प्रकाशित हुआ। पहले यह धारावाहिक रूप से 'माधुरी' में निकलता रहा था। निराला जी यह कथा अपनी मित्र-मण्डली में बड़े मनोयोग और नाटकीय ढंग से सुनाया करते थे। इस रेखाचित्र में निराला ने दिखलाया है कि अनेक कमजोरियाँ होते हुए भी साधारण जन समाज की भलाई कर सकते हैं। बने हुए महापुरुष समाज के सेवक भी नहीं बन सकते।

समर्पण में निराला लिखते हैं—"इस पुस्तिका के समर्पण के योग्य कोई व्यक्ति हिन्दी साहित्य में नहीं मिला, यद्यपि कुल्ली के गुण बहुतों में हैं, पर गण के प्रकाश से सब घबराए। इसलिए समर्पण स्थगित करता हूँ।"

भूमिका में 'कुल्लीभाट' का स्पष्टीकरण है—"पं० पथवारीदीन जी भट्ट (कुल्लीभाट) मेरे मित्र थे। उनका परिचय इस पुस्तिका में है। उनके परिचय के साथ मेरा अपना चरित

भी आया है, और कदाचित् अधिक विस्तार पा गया है। रूढ़िवादियों के लिए यह दोष है, पर साहित्यिकों के लिए, विशेषता मिलने पर, गण होगा।"... "पुस्तिका में हास्यरस की प्रधानता है, इसलिए कोई नाराज होकर अपनी कमजोरी न साबित करें...।"

'कुल्लीभाट' हास्यरस की जीवनी ही नहीं वरन् एक सामाजिक व्यंग्य है। पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने जीवनी लिखनेवालों पर व्यंग्य किया है। निराला के मत से जीवनियों में जीवनी की अपेक्षा 'चरित' अधिक रहता है। कुल्ली का चरित्र लिखकर निराला ने एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है।

निराला जब १६ वर्ष के कुमार थे, उस समय से कुल्ली की कथा आरम्भ होती है। इस रेखाचित्र में निराला ने अपनी पत्नी के सम्बन्ध में कहा है––संगीत और साहित्य पर उनका यह अधिकार देख "मेरा दम उखड़ गया।" अछूतों के संबंध में निराला लिखते हैं––"इनकी ओर कभी किसी ने नहीं देखा है। ये पुश्त दर पुश्त से सम्मान देकर नतमस्तक ही संसार से चले गए हैं। संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नहीं। ये नहीं कह सकते कि हमारे पूर्वज कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणादि थे।...फिर भी ये थे और हैं।"

'कुल्लीभाट' का व्यंग्य सम्पूर्ण युग पर है। इसमें निराला ने कुल्ली, सासुजी, चन्द्रिका, अपने पिता और अपना स्वयं का चित्रण बड़ी कुशल तूलिका से किया है। भाषा सरल तथा प्रवाहमय है।

इन्हीं दिनों इण्डियन प्रेस से बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों के सम्बन्ध में बात हुई। निराला ने अनुवाद-कार्य प्रारम्भ कर दिया। **आनन्दमठ, कपाल कुण्डला, चन्द्रशेखर** और **राधारानी** आदि अनुवाद १९३८-३९ में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुए। **'संक्षिप्त महाभारत'** गंगा-ग्रंथागार, ने १९३९ में लखनऊ से प्रकाशित किया।

निबंध संग्रह **'प्रबन्ध प्रतिमा'** १९४० में भारती भण्डार, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। ये निबन्ध १९२५ और १९३८ के बीच लिखे गए थे। चरखा, गांधीजी से बातचीत, नेहरूजी से दो बातें, महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर, नाटक समस्या, साहित्यिक सान्निपात या वर्तमान धर्म, रचना सौष्ठव, भाषा विज्ञान, बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ, सामाजिक पराधीनता, विद्यापति और चण्डीदास, कविवर श्री चण्डीदास, कवि गोविन्ददास की कुछ कविताएँ, कला के विरह में जोशी बन्धु, हिन्दी साहित्य में उपन्यास, वर्तमान हिन्दू समाज, प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन––फैजाबाद, मेरे गीत और कला, बंगाल के वैष्णव कवियों का श्रृंगार वर्णन और हमारा समाज प्रबन्ध इस संग्रह में है। 'प्रबन्ध पद्म' के बाद यह निराला का दूसरा निबन्ध-संग्रह है।

'वर्तमान धर्म' निबंध 'भारत' में प्रकाशित हुआ था। इसी लेख को श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक से कलकत्ते के 'विशाल भारत' में प्रकाशित किया। इस लेख पर काफी वादविवाद तथा पत्र-व्यवहार भी हुआ। इसकी प्रसिद्धि का श्रेय 'विशाल भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को है, वरना लोग इसे भूल जाते। निराला-चतुर्वेदी विरोध में इस निबन्ध का काफी हाथ है। 'मेरे गीत और कला' में निराला ने छायावादी

कविताएँ और अपने गीत को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। निराला-साहित्य को समझने की दृष्टि से यह लेख बड़ा उपयोगी है।

'बिल्लेसुर बकरिहा' युग मन्दिर, उन्नाव से १९४१ में प्रकाशित हुआ। 'कुल्लीभाट' की तरह यह भी व्यंग्यात्मक रेखाचित्र है। इसमें अवध के कृषक जीवन की झाँकी है। उन्नाव का रहनेवाला बिल्लेसुर बकरियाँ पालने के कारण बकरिहा हो जाता है। बिल्लेसुर और उसके भाई मन्नी, ललई तथा दुलारे का चित्रण बड़ा रोचक तथा मनोरंजक है। मन्नी ने आधी रात को अपनी "भावी पत्नी को गले लगाया।" विल्लेसुर का जीवन बड़े जीवट का जीवन है। सत्तीदीन की पत्नी से वचना उसके लिए सबसे अधिक टेढ़ी खीर होती है। फिर भी वह अपने सिद्धान्तों पर अडिग जमा रहता है। परिस्थितियाँ आस्तिक बिल्लेसुर को नास्तिक बना देती हैं।

विवाह की बात चलने पर "एक दफा भी बिल्लेसुर ने नहीं सोचा कि बकरी की लेंड़ियों की बद्बू में ऐसी औरत एक दिन भी उस मकान में रह सकेगी।" पर बिल्लेसुर की मेहनत और उसके धैर्य से अंत में उसे सफलता मिलती है। निराला ने इस रेखाचित्र में यथार्थवाद को नई दिशा दी है।

कहानी-संग्रह **'सुकुल की बीबी'** १९४१ में भारती भण्डार, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में चार कहानियाँ हैं--सुकुल की बीबी, गजानन्द शास्त्रिणी, कला की रूपरेखा और क्या देखा। 'क्या देखा' निराला की पहली कहानी है। १९२३ में यह 'मतवाला' में छपी थी। इस संग्रह में यह कुछ परिवर्तन के साथ आई है। आरम्भ उत्तम पुरुष से होता है फिर तृतीय पुरुष में बदल जाता है। निराला के मतानुसार पाठक इसे गुण या दोष, जो चाहें वह मान सकते हैं। कथानक विवाह-संबंध पर आश्रित है। लेखक सम्भवतः स्वयं 'विहारी' के रूप में है। कहानी में दिखाया है कि वेश्यायें भी सच्चा प्रेम कर सकती हैं।

'सुकुल की बीबी' कहानी में हिन्दू-मुसलमान के विवाह-संबंध की समस्या है। कहानी कवि के अपने अनुभवों पर आधारित कही जा सकती है। लेखक का अपना व्यक्तित्व उभर कर आया है। 'कला की रूप-रेखा' व्यक्तिगत स्केच है। कहानी के माध्यम से लेखक ने कला की परिभाषा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी व्यंग्यप्रधान कहानी है। इसका स्थान निराला की श्रेष्ठ कहानियों में है। श्रीमती के सुझाव और उनकी मदद से शास्त्रीजी कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। इस कहानी के सभी क्रिया-कलाप "धर्म की रक्षा के लिए" होते हैं। कहानी में बड़ा तीखा व्यंग्य है।

'रूपाभ' पत्रिका में 'चमेली' उपन्यास का प्रथम परिच्छेद १९४१ में प्रकाशित हुआ। बाद में यह पूर्ण न हो सका।

१९४२ में व्यंग्य काव्य **'कुकुरमुत्ता'** युग मन्दिर, उन्नाव से प्रकाशित हुआ। काव्य के क्षेत्र में यह एक नवीन प्रयोग है। कहीं कहीं प्रगतिवाद के विरोध में ही तर्क उपस्थित किए गए हैं। 'कुकुरमुत्ता' के प्रथम भाग में गुलाब और कुकुरमुत्ता का वार्तालाप है। यहाँ गुलाब पूंजीपतियों का प्रतीक और कुकुरमुत्ता सर्वहारा का प्रतीक है। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है—

"अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट'
"रोज पड़ता रहा पानी,
तू हरामी खानदानी।"

'कुकुरमुत्ते' के दूसरे भाग में साम्यवादी सिद्धान्तों पर प्रहार किया है। बाग के मालिक की पुत्री गोली और नवाब की पुत्री बहार इसी के प्रतीक हैं।

"साथ साथ ही रहती दोनों,
अपनी अपनी कहती दोनों,
दोनों के थे दिल मिले,
आँखों के तारे खिले।"

'गर्म पकौड़ी' और 'प्रेम-संगीत' रोमान्स विरोधी कविताएँ हैं। 'प्रेम-संगीत' में कवि पनिहारिन की कुरूप लड़की से प्यार करता है। 'रानी और कानी' यथार्थवादी कविता में कवि कहता है—

"लेकिन था उल्टा रूप
चेचक मुंह दाग, काली, नाक चिपटी,
गंजा सर, एक आँख कानी।"

'खजोहरा' टैगोर के 'विजयिनी' की पैरोडी है। 'मास्को डायलाग्ज' विनोदी तथा 'स्फटिक शिला' यथार्थवादी कविताएँ हैं।

'कुकुरमुत्ता' विशेषकर शैली की वस्तु है। 'तार सप्तक' और 'कुकुरमुत्ता' का रचना-काल प्रायः एक ही है। 'कुकुरमुत्ता' में अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया गया है। मुहावरों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है।

काव्य-संग्रह **'अणिमा'** युग मन्दिर, उन्नाव से १९४३ में प्रकाशित हुआ। 'अणिमा' के गीत उपालम्भ या व्यंग्य की अपेक्षा शान्तिप्रद हैं। 'अणिमा' में संसार के लिए सन्देश, आत्म-निवेदन, महापुरुष-वन्दना है। बादल में प्रकृति का मानवीकरण है—

"बादल छाये
ये मेरे अपने सपने
आँखों से निकले मंडलाये।"

कवि भक्त बन कर दीन-हीन जनों पर करुणा करने की विनय करता है—

"दलित जन पर करो करुणा

दीनता पर उतर आये
प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा।"

इस प्रकार के गीतों में प्रार्थना अधिक और कवित्व कम है। प्रथम गीत की छन्द योजना और गाने की अनुकूलता बरबस ही मन आकृष्ट कर लेती है—

'नूपुर के सुर मन्द रहे'

विषादमय गीत कवि के करुण हृदय के सच्चे उद्‌गार हैं—

"मैं अकेला,
देखता हूँ, आ रही,
मेरे दिवस की सांध्य वेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुये निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आरही
हट रहा मेला।"

सूखे आम की डाल के माध्यम से कवि का अपना जीवन उभर आया है—

"स्नेह निर्झर बह गया है,
रेत ज्यों तन रह गया है।"

इस संग्रह में रविन्द्रनाथ, आचार्य शुक्ल, प्रसाद तथा महादेवी पर भी कविताएँ हैं। 'प्रसाद के प्रति' में अन्य अनेक साहित्यिकों को स्मरण किया गया है। विजयलक्ष्मी पंडित पर भी दो कविताएँ हैं। 'भगवान् बुद्ध के प्रति' में बौद्ध-दर्शन के साथ साथ गांधी-विचारधारा का भी समावेश है। भिखमंगों की ओर से कवि कहता है—

"तुम्हें चढ़ाता वह भी सुन्दर
जो द्वार द्वार फिर कर
भीख माँगता कर फैलाकर।"

कवि ने आधुनिक भौतिकता का विरोध किया है—

"आज लक्ष्य में मानव के, स्थल जल अम्बर
रेल-तार-बिजली, जहाज नभयानों में भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्ग गण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।"

इस प्रकार 'अणिमा' का विषयवस्तु मानव-मानव की समता, जाति-बन्धन, भर्त्सना, रंग-भेद में एकता आदि हैं। कुछ अन्तिम कविताओं में उर्दू शब्दों का प्रचुर प्रयोग है।

'चतुरी चमार' कहानी-संग्रह १९४५ में किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में चतुरी चमार, सखी, न्याय, राजा साहब को ठेंगा दिखाया, देवी, स्वामी सारदानन्द जी महाराज और मैं, सफलता तथा भक्त और भगवान् कहानियाँ हैं। इनमें 'चतुरी चमार,' 'देवी' और 'सखी' बहुत प्रसिद्ध हैं। 'चतुरी चमार' और 'देवी' कहानियाँ परस्पर बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। दोनों की शैली तथा रचना-काल लगभग एक ही है। लेखक स्वयं दोनों कहानियों में पात्र के रूप में आता है। जीवन की विविधता 'चतुरी चमार' में अधिक और 'देवी' में कम है। चतुरी का ज्ञान देख लेखक कह उठता है—"तुम पढ़े-लिखे होते तो पाँच सौ की जगह पाते।" चतुरी निम्न अछूत वर्ग का प्रतीक है।

'देवी' कहानी में लेखक ने स्वयं अपने ऊपर ही व्यंग्य किया है। देवी एक साधारण पागल सी स्त्री है पर मातृत्व की भावना उसमें बहुत तीव्र है। कवि का अहंकार उसके सामने ठहर नहीं पाता। पगली का जीवन सम्पूर्ण समाज पर व्यंग्य है। 'सखी' कहानी का नायक सरकारी अफसर है। लीला एम० ए० में पढ़ती है और ट्यूशन करके अपना खर्च चलाती है। गुण्डों के पीछा करने पर नायक अधिकारी उसकी रक्षा करता है। 'न्याय' का नायक एक घायल आदमी की मदद करने के कारण पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है। उसकी सहपाठिनी प्रेमिका बुद्धि-युक्ति से उसे छुड़ा लेती है।

साहित्यिक नरेन्द्र 'सफलता' का प्रधान पात्र है। गुजारे के लिए धन की व्यवस्था न होने के कारण आभा को साथ नहीं रख पाता। फिर आभा के सहयोग से फिल्मी दुनिया में प्रवेश कर कम्पनी का मालिक बन जाता है। अन्त में वह अपने पुराने प्रकाशक से बदला लेने में सफल होता है। 'भक्त और भगवान' में लेखक ने दिखाया है कि ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा होने पर भी जन-साधारण की समस्याएँ हल नहीं होतीं।

'अपरा' काव्य-संग्रह साहित्यकार संसद, प्रयाग ने १९४६ में प्रकाशित किया। इस संकलन में निराला की विभिन्न कालों की प्रकाशित-अप्रकाशित कविताओं का संग्रह है। 'अपरा' का प्रारम्भ भारती-वन्दना से होता है—

"भारति जय विजय करे
कनक-शस्य-कमल धरे।"

दूसरी 'बादल राग' कविता निराला का प्रसिद्ध क्रान्तिगीत है।

"झूम झूम मृदु गरज-गरज घनघोर
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।"

'जागृति में सुप्ति थी' शृंगारिक कविता है। निम्न पंक्तियों में सोई हुई प्रिया का चित्रण है—

"जड़े नयनों में स्वप्न
खोल बहुरंगी पंख विहग से,

सो गया सुरा-स्वर
प्रिया के मौन अधरों में
क्षुब्ध एक कम्पन सा निद्रित सरोवर में।"

प्रिया के मौन अधरों में उसकी मादक वाणी उसी प्रकार सो गई है, जैसे निद्रित सरोवर में एक लहरी। 'जागो फिर एक बार' प्रसिद्ध जागरण-गीत है—

"गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हज़ार —
जागो फिर एक बार।"

जूठी पत्तलों के लिए मानव और कुत्तों की लड़ाई पर सर्वप्रथम निराला की ही दृष्टि गई—

"चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए।
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"

'राम की शक्ति पूजा' में पौराणिक कथा को नवीन आधार पर प्रस्तुत किया है। पूजा में एक फूल कम होने पर—

"यह है उपाय कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन –
कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

नयन निकालने को उद्यत होते ही देवी प्रकट हुई—

"साधु साधु साधक धीर, धर्म धन-धन्य राम।
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।

देवी वरदान देती है—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।"

सम्पूर्ण कविता में वीररस के अनुकूल शब्द-योजना है।

'सरोजस्मृति' हिन्दी का सर्वोत्तम शोकगीत कहा जा सकता है। कथानक पुत्री सरोज के निधन पर आधारित है। भावगहनता और अनुभूतियों की गहराई विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आर्थिक कठिनाइयों के सम्बन्ध में कवि कहता है—

"अस्तु, मैं उपार्जन को अक्षम,
कर नहीं सका पोषण उत्तम।"

पुत्री के बचपन को याद कर कवि कहता है—

"खाई भाई की मार विकल
रोई उत्पल दल-दृग छलछल।"

समय व्यतीत होने पर—

"धीरे धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज तारुण्य सुधर
आदि लावण्य-भार धर-धर!"

कान्यकुब्जों में विवाह के संबंध में कवि कहता है—

"ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार,
खाकर पत्तल में करें छेद।"

और फिर—

"ऐसे शिव से ही गिरिजा विवाह
करने की मुझको नहीं चाह।"

और अन्त में—

"दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।"

नवीन काव्य-संग्रह 'बेला' १९४६ में हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद ने प्रकाशित किया। इसका रचनाकाल निराला की मानसिक अस्वस्थता तथा द्वितीय महायुद्ध का काल है। इसके विषय में निराला स्वयं कहते हैं—"बेला मेरे नये गीतों का संग्रह है। प्रायः सभी तरह के गेय गीत इसमें हैं। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं। देश-भक्ति के गीत भी हैं।.....प्रायः सभी दृष्टियों से फायदा पहुँचाने का विचार रखा गया है।

'बेला' के गीत आध्यात्मिक, राष्ट्रीय तथा साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

आज अमीरों की हवेली, किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली खोलेंगे अंधेरे का ताला।
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ।"

ऐसे स्थलों में कला-पक्ष तथा भावगहनता का लोप है। मुहावरों का 'बेला' में बड़ा उपयुक्त प्रयोग है।

"साहस कभी न छोड़ा आगे कदम बढ़ाए।
पट्टी पढ़ी कब उनकी झाँसे में हम कब आए।"

'नये पत्ते' भी १९४६ का हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन का प्रकाशन है। इस संग्रह में 'कुकुर-मुत्ता' की भी कुछ कविताएँ संकलित हैं। वर्ग-संघर्ष तथा चुटीले व्यंग्य का काफी प्रभाव है। मिलमालिकों, पूंजीपतियों और नेता बननेवालों पर कोप-दृष्टि रही है। "थोड़ों के पेट में बहुतों का आना पड़ा" और "इस प्रकार जनता पर जादू चला राजे के समाज का।" 'देवी सरस्वती' में जमींदारों और महाजनों पर क्रोश है। 'खुशखबरी' में रूपक निर्वाह के साथ-साथ सिने-प्रेमियों पर व्यंग्य किया है—

"कैद पासपोर्ट की नहीं तो कभी
देश आधा खाली हो गया होता,
देविकारानी और उदयशंकर के
पीछे लगे लोग चले गये होते।"

'डिप्टी साहब आये हैं' में बेगार का बड़ा अच्छा चित्रण है। अन्त में कवि कहता है—

"दगा की इस सभ्यता ने दगा की।"

सम्पूर्ण रूप से व्यंग्य अधिक चुभते हुए न होकर मनोरंजक हैं।

'चोटी की पकड़' उपन्यास का प्रथम भाग १९४७ में किताब महल, इलाहाबाद ने प्रकाशित किया। दूसरा भाग लिखा ही न जा सका।

देवी कहानी-संग्रह राष्ट्रभाषा विद्यालय, बनारस ने १९४८ में प्रकाशित किया। इस संकलन में कुछ नई, कुछ पुरानी, कुल १० कहानियाँ हैं--देवी, भक्त और भगवान, चतुरी चमार, हिरनी, सुकुल की बीवी, अर्थ, श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी, क्या देखा, प्रेमिका-परिचय और जानकी।

भारत में विवेकानन्द श्री रामकृष्ण आश्रम, धनतोली, नागपुर से १९४८ में प्रकाशित हुई। **विनयखण्ड** इसी वर्ष बनारस के संस्कृत राष्ट्रीय विद्यालय ने प्रकाशित किया।

गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ से १९४९ में **पंत और पल्लव** साहित्यिक समीक्षा प्रकाशित हुई। "उसके इस समीक्षात्मक प्रबन्ध में सुकुमार कवि पंत पर रोष और संत कवियों का समर्थन है। (पल्लव के) 'विज्ञापन' तथा 'प्रवेश' भाग में पंत जी की सार्वभौमिकता के गज से कविता-कामिनी का शयन-जीर्ण प्राचीन कंथा नपा हुआ तथा उनकी 'प्रतिभा के बछड़े' के हुत्थे से कवि-समुदाय को पलायन-पंथा पर श्वासावरुद्ध भागता हुआ देखकर बड़ा आनन्द आया, जैसे क्षण-मात्र में किसी ने 'पुंगव' को पोंगा कर दिया। दूसरे कवि को ही टीकाकार के आसन पर देखकर मुझे विश्वास हो गया कि आजकल के दवाओं के विज्ञापक वस्तु प्रसिद्ध के कौशल-ज्ञान से बिलकुल ही कोरे हैं।"

अर्चना काव्य-संग्रह कला मन्दिर, प्रयाग से १९५० में प्रकाशित हुआ। यह निराला के तत्कालीन लिखे गीतों का संग्रह है। स्वयोक्ति में कवि कहता है—"परीक्षण में उत्तीर्ण होने पर हम श्रम को सार्थक समझेंगे।" . . . . "अन्तरंग विषय यौवन से अति क्लान्ति कवि के परलोक से सम्बद्ध है।" गीतों के संबंध में कवि का विचार है—"खड़ीबोली की गाड़ी के और चलते रहने की आवश्यकता है; ये गीत जैसे उसी की पूर्ति करते हैं।" 'अर्चना' का प्रारम्भ निम्न पंक्तियों से होता है—

"भव-अर्णव की तरणी तरुणा,
बरसीं तुम नयनों से करुणा।"

द्वितीय गीत है—

"तनकी, मन की, धन की हो तुम।
नव जागरण, शयन की हो तुम।"

कवि भगवान् से विनती करता है—

"दुरित करो नाथ,
अशरण हूँ, गहो हाथ।"

और फिर—

"लगी लगन, जगे नयन;
हटे दोष, छुटा अयन।"

तत्पश्चात—

"नयन नहाए
जबसे उसकी छबि में रूप बहाए।"

× × ×

"आँख लगाई
तुमसे जब से हमने चैन न पाई।"

× × ×

"दे न गये बचने की,
साँस, आस ले न गये।"

'काले कारनामे' उपन्यास कल्याण साहित्य मन्दिर, इलाहाबाद से १९५० में प्रकाशित हुआ। प्रारम्भ में प्रकृति का नज़ारा देखिए—"सावन का महीना आंख पर तरी बरसा रहा है। खेत लहालोट हैं, हरे-भरे, ज्वार, अरहर, उड़द, सन, मक्का और धान लहरा रहे हैं। आम, जामुन के दूर तक फैले हुए बागीचे फल दे चुके हैं, इस समय विश्राम की साँस ले रहे हैं। चिड़ियों के पर भीगे हुए हैं।"

इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का विशुद्ध सजीव चित्रण है। यह चित्रण स्वाधीनता प्राप्ति के पहले का है। कथानक में जमींदारों की कारतूतें, उनके घात-प्रतिघात और स्वार्थ तथा किसानों का धैर्य, पौरुष उभर कर आया है। भाषा स्वस्थ तथा मुहावरेदार है।

'चाबुक' अगला प्रवन्ध-प्रकाशन है। कला साहित्य मन्दिर, प्रयाग से १९५१ में यह प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में पत्नी के स्वर्गवास का उल्लेख है। मौन कवि, कविवर बिहारी और कवीन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेई, काव्य-साहित्य कला और देवियाँ , वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति, बहता हुआ फूल, चरित्रहीन और चाबुक आदि प्रवन्ध इस संकलन में हैं।

'आराधना' काव्य-संग्रह १९५३ में साहित्यकार संसद, इलाहाबाद ने प्रकाशित किया। इसकी भूमिका में महादेवी ने कहा है––"जीवन में जो कुछ सत्य, सुन्दर और मंगलमय है, वही निराला का आराध्य रहा है। 'आराधना' भी उसी जीवनव्यापी अर्चन की एक कड़ी है।" प्रथम कामना गीत है––

"पद्मा के पद को पाकर हो
सविते, कविता को वह वर दो।
× × ×
उठें ऊर्ध्व मन से जो ओंछे,
मिलें निलय में एक प्रकर दो।"

अव ऐसा समय आया कि––

"आईं कल जैसी पल
खिचे खिचे रहे सकल।"

फिर––

"मरा हूँ हजार मरण,
पाई तब चरण शरण।"

राम के वनने पर––

"राम के हुए तो बने काम,
संवरे सारे धन, धान धाम।"

गीत-स्वर के फूटने के समय––

"नहीं रहते हैं प्राणों में प्राण,
फूट पड़ते हैं निर्झर-गान।"

कवि की कामना है––

"सुख का दिन डूबे डूब जाय।
तुमसे न सहज मन ऊब जाय।

दुख भी सुख का बन्धु बना—
पहले की बदली रचना—।"

"गीतगुंज" १९५४ में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में १९५३-५४ में रचे गीतों का संकलन है। सर्वश्री जयगोपाल, शिवगोपाल का कथन है कि "पाठक स्वतः बोल उठेगा कि इसके सामने कबीर के सबद और साखी न टिक सकेंगे।" सीधी राह चलना ही निराला पसन्द करते हैं—

"सीधी राह मुझे चलने दो।
अपने ही जीवन फलने दो।"

'कविश्री' साहित्य सदन, चिरगांव झाँसी से १९५५ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में अब तक लिखी कवि की २२ कविताओं का संकलन है।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने १९५७ में **'चयन'** शीर्षक से कुछ प्रबन्धों का सम्पादन किया। बनारस के कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स ने इसका प्रकाशन इसी वर्ष किया। यह कवि का चौथा प्रबन्ध-ग्रन्थ-संग्रह है। इस संग्रह के प्रबन्ध हैं, भाषा की गति और हिन्दी की शैली, खड़ीबोली के कवि और कविता, काव्य-साहित्य, हिन्दी कविता-साहित्य की प्रगति, हिन्दी के आदि युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कवि अंचल, साहित्य की समतल भूमि, महाकवि रवीन्द्रनाथ की कविता, ज्ञान और भक्ति पर गोस्वामी तुलसीदास, तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि, अर्थ-अर्थान्तर, महादेवी के जन्म दिवस पर, शक्ति परिचय, पं० बनारसीदास का अंग्रेजी-ज्ञान, बंगभाषा का उच्चारण, छत्रपुर में तीन सप्ताह, मनसुखा को उत्तर, कामायनी महाकाव्य-परीक्षा, बोलचाल, श्रीरामकृष्ण आश्रम धंतोली की पुस्तकें, प्राच्य और पाश्चात्य और श्री भुवनेश्वर की तारीफ। ये निबन्ध १९२३ और १९५० के बीच लिखे गये थें।

इस प्रकार निराला के १३ काव्य-ग्रंथ, ६ उपन्यास, ४ कहानी-संग्रह, २ रेखाचित्र, ४ जीवनियाँ, ४ प्रबन्ध-संग्रह, २ समीक्षात्मक पुस्तकें और १५ अनुवाद-ग्रंथ तथा कुछ अन्य विविध विषयक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

समाज, शकुन्तला, उषा-अनिरुद्ध नाटक अभी भी प्रकाशित न हो सके हैं। फुलवारी लीला तथा सरकार की आँखें उपन्यास तथा कुछ फुटकर लेख अभी प्रकाशित होने को बाकी हैं।

निराला-साहित्य : पुस्तकानुक्रमी

मौलिक ग्रंथ

अनामिका--(काव्य) नवजादिक लाल श्रीवास्तव, कलकत्ता, १९२३; दूसरा संस्करण (संशोधित) भारती भण्डार, इलाहाबाद। १९३८; १९४ पृ०, २२ से० मी०।

भक्त ध्रुव--(जीवनी) द पापुलर ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता, १९२६; दूसरा सं० १९३०; ९६ पृ०, १८ से० मी०।

भक्त प्रह्लाद--(जीवनी) द पापुलर ट्रेनिंग कम्पनी, कलकत्ता। १९२६; दूसरा संस्करण १९३०; ११६ पृ०, १८ से० मी०।

भीष्म--(जीवनी) द पापुलर ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता। १९२७।

महाराणा प्रताप(जीवनी) द पापुलर ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता। १९२७; दूसरा सं० १९२९; १२६ पृ०, १८ से० मी०, १.००।

रवीन्द्र कविता कानन (समालोचना) निहालचन्द एण्ड कम्पनी, कलकत्ता। १९२८; स० स० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। १९५४; १७५ पृ०, १८ से० मी०; ९७।

परिमल--(काव्य) गंगा फाइन आर्ट, लखनऊ। १९३० छठवां सं०; गंगा ग्रंथागार, लखनऊ। १९५४; १५, २६५ पृ०, १८ से० मी०; ४.००।

अप्सरा--(उपन्यास) गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ। १९३१। ६.१८६ पृ०, १८ से० मी० १.५०।

अलका--(उपन्यास) गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ। १९३३; दूसरा सं० ६.२२० पृ०, १८.५ से० मी०; १.५०।

लिली--(८ कहानियाँ) गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ। १९३३; तीसरा सं० १९४९; १४३ पृ०, १८ से० मी०; २.५०।

प्रबन्ध पद्म--(प्रबन्ध) सम्पा० दुलारेलाल भार्गव। गंगा पुस्तक माला, लखनऊ १९३४; दूसरा सं० भारती भवन, दिल्ली; १९५४ १०,१६२ पृ०, १८ से० मी०।

सखी—(कहानियाँ) गंगा पुस्तक माला, लखनऊ। १९३५; १३० पृ०, १८.५ से० मी०; ०.७५।

गीतिका--(काव्य) भारती भण्डार, इलाहाबाद। १९३६; २१,१०६ पृ०, १८ से० मी० १.५० (१०१ गीत)

निरुपमा--(उपन्यास) भारती भण्डार, प्रयाग। १९३६; सातवां सं० १९५४; १४८ पृ०, १८ से० मी०।

प्रभावती--(उपन्यास) गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ। १९३६; ८.२३४ पृ०, १८.५ से० मी०; २.०० ।

तुलसीदास--(काव्य) भारती भण्डार, इलाहाबाद। १९३८; ९५ पृ०, १८ से० मी०, १.२५ ।

कुल्लीभाट--(रेखाचित्र) गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ। १९३९; दूसरा सं० १९४७; १४६ पृ०, १८ से० मी० ।

प्रबन्ध प्रतिमा--(प्रबन्ध) भारती भण्डार, इलाहाबाद। १९४०; १२,३४५ पृ०, १८ से० मी०; २.०० ।

बिल्लेसुर बकरिहा--(रेखाचित्र) युग मन्दिर, उन्नाव, १९४१; ६१ पृ०, १८ से० मी० ।

सुकुल की बीबी--(कहानियाँ) भारती भण्डार, प्रयाग। १९४१; दूसरा सं० १९४७; ९६ पृ०, १२ से० मी०, १.०० (४ कहानियाँ)

कुकुरमुत्ता--(काव्य) युग मन्दिर, उन्नाव। १९४२; ६४ पृ०, १६ से० मी०; ०.६२।

अणिमा--(काव्य) युग मन्दिर, उन्नाव। १९४३; २.१०४ पृ०, १६.५ से० मी०, १.२५ ।

चतुरी चमार--(कहानियाँ) किताब महल, इलाहाबाद। १९४५; ७५ पृ०, १८ से० मी०, २.२५ (८ कहानियाँ)

अपरा--(काव्य-संग्रह) साहित्यकार संसद, प्रयाग। १९४६; ५,२१६ पृ०, २१ से० मी० ।

नये पत्ते--(काव्य) हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद। १९४६; १०३ पृ०, १८ से० मी० ।

बेला--(काव्य) हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद। १९४६; १०४ पृ०, १८.५ से० मी०; २.०० ।

देवी--(कहानियाँ) राष्ट्रभाषा विद्यालय, वाराणसी, १९४८; १९५ पृ०, १८.५ से० मी०; (१० कहानियाँ)

पंत और पल्लव--(समीक्षा); गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ। १९४९; ९९ पृ०, १८ से० मी० २.०० ।

अर्चना--(काव्य) कला मन्दिर, प्रयाग। १९५०; १२,११२ पृ०, १८ से० मी०; सचित्र; २.५० ।

काले कारनामें--(उपन्यास) कल्याण साहित्य मन्दिर, इलाहावाद। १९५०; ८० पृ०, १८ से० मी०। दूसरा सं० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय (पाकेट बुक्स) १९६०; १०२ पृ०, १६ से० मी०; १.०० ।

चाबुक--(समीक्षा) कला मन्दिर, इलाहाबाद। १९५१; १२२ पृ०, १८ से० मी० ।

आराधना--(काव्य) साहित्यकार संसद, इलाहाबाद। १९५३; ९६ पृ०, १९ से० मी०; चित्र; २.५० (९६ कविताएँ)

गीतगुंज––(काव्य) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५४; ६४ पृ०, १८० से० मी०; १.५०।

कविश्री––(काव्य-संग्रह); साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी। १९५५; २९ पृ०, २२ से० मी०; ०.६२ (२२ कविताएँ)

चयन––(प्रबन्ध) सम्पा० शिवगोपाल मिश्र। कल्याण दास ब्रदर्स, वाराणसी। १९५७ २०४ पृ०, १८.५ से० मी०; ४.००।

भाषा तथा अलंकार आदि

रस अलंकार––लहरिया सराय, पटना।

हिन्दी बंगला शिक्षक–– पापुलर ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता। १९२८।

चमेली––प्रथम परिच्छेद 'रूपाभ' में। १९४१,

चोटी की पकड़––किताब महल, इलाहाबाद। १९४७; १६७ पृ०, १८.५ से० मी०; २.२५ (केवल प्रथम भाग)

अनुवाद

वैदिक साहित्य––निहालचन्द एण्ड कम्पनी, कलकत्ता।

वात्स्यायन कामसूत्र––निहालचन्द एण्ड कम्पनी, कलकत्ता।

रामकृष्ण परमहंस-साहित्य–

परिव्राजक––(जीवनी) श्री रामकृष्ण सेवाश्रम, धनतोली, नागपुर।

श्री रामकृष्ण वचनामृत––श्री रामकृष्ण सेवाश्रम, धनतोली, नागपुर। तीसरा भाग, १९४२,

विवेकानन्द-साहित्य

भारत में विवेकानन्द––श्री रामकृष्ण आश्रम, धनतोली, नागपुर। १९४८; दूसरा सं० १९५१; ६, ४९८ पृ० १८ से० मी०।

तुलसी-साहित्य

तुलसीकृत रामायण की टीका––गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, (२० खण्ड)

विनय खण्ड––संस्कृत राष्ट्रीय विद्यालय, वाराणसी। १९४८ (रामचरितमानस का अवधी से खड़ीबोली में रूपान्तर)

महाभारत––गंगा पुस्तक माला, लखनऊ। १९३९; १९६ पृ० (संक्षिप्त)

बंकिम-साहित्य

आनन्दमठ—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

कपालकुण्डला—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

चन्द्रशेखर—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

दुर्गेशनन्दिनी—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

कृष्णकान्त का बिल—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

युगांगुलीय—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

रजनी—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

देवी चौधरानी—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

राजारानी—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

विषवृक्ष—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

राजसिंह—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

अप्रकाशित साहित्य

समाज—नाटक

शकुन्तला—नाटक

उषा-अनिरुद्ध—नाटक

फुलवारी लीला—उपन्यास

चमेली—उपन्यास

सरकार की आँखें—उपन्यास

राजयोग—(अनुवाद)

गीत गोविन्ददास—की बंगलाकृति (अनुवाद)

उच्छूंखल—(ब्रजभाषा में) अनुवाद

उमाशंकर सिंह—निराला का निरालापन—अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल, पटना। १९५५; १२४ पृ०, १८ से० मी०; २.००।

गंगाप्रसाद पाण्डेय—महाप्राण निराला—साहित्यकार संसद, इलाहाबाद। १९४९; १३, ३७६ पृ०, २२ से० मी०; १०.०० (भूमिका—महादेवी वर्मा)

गिरीषचन्द्र तिवारी—कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य—साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। १९५६; १९७ पृ०, १८ से० मी०; ३.००।

निराला-अभिनन्दन—महाकवि श्री निराला अभिनन्दन-ग्रंथ। १९५३; सम्पा० ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ। ११३ पृ०, १८६ पृ०।

बच्चन सिंह—क्रान्तिकारी कवि निराला—लेखक स्वयं प्रकाशक, वाराणसी। १९४७; १९२ पृ०, १८ से० मी०; २.७५।

राजनाथ शर्मा—निराला—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा। १९५७; ४, १९९ पृ०, १८ से० मी०; २.५०

रामरतन भटनागर—कवि निराला। किताब महल, इलाहाबाद। १९४७; दूसरा संस्करण १९५०; २५२ पृ०, १९ से० मी०; २.५०।

रामरतन भटनागर—निराला—युनिवर्सल प्रेस, प्रयाग। १९५२; ३६२ पृ०, १९ से० मी०; ५.००।

रामविलास शर्मा—निराला—शिवलाल अग्रवाल, आगरा। १९४६; दूसरा सं० १९५५; ९४ पृ०, १८ से० मी०; ३.००।

रामविलास शर्मा—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली। १९५९; ७० पृ०, १८ से० मी०; १.५० (बाल जीवनी माला : बच्चों के लिए)

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय—महाकवि निराला : काव्य-कला और कृतियाँ। सरस्वती सदन, आगरा। १९५३; ५,२९९ पृ०, १८ से० मी०।

श्रीहरि—कविवर निराला—स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स, १९६०; ४,१५५ पृ०, १८ से० मी०; १.५०।

श्री जयशंकर त्रिपाठी

देव, गन्धर्व और फिर जड़ भरत

मैं सन् १९४४ में संस्कृत पढ़ने के लिए दारागंज आया और प्रथमा परीक्षा का विद्यार्थी बना। इसके पहले सम्मेलन की हिन्दी-प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका था, हिन्दी के पुराने कवियों के अतिरिक्त वर्तमान धारा के अनेक नये कवियों की रचनाओं के पढ़ने का अवसर मिला था। प्रथमा परीक्षा में 'नवीन पद्य-संग्रह' एक पाठ्य-ग्रन्थ ही था, जिसमें श्रीधर पाठक से लेकर रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि कई नवीनतम कवियों की कवितायें संगृहीत थीं। और बीच में आते थे—गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर, गिरीश। दारागंज में मैं संस्कृत का विद्यार्थी था पर हिन्दी-कवियों और हिन्दीवालों का परिचय ही यहां अधिक मिलता था। गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश यहां के निवासी थे, रामेश्वर शुक्ल अंचल भी यहीं रहते थे, ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि हरदयालु सिंह भी यहां बहुत दिन रहे, इन कवियों के अतिरिक्त अन्य लेखकों और कथाकारों की भी निवास-भूमि यह मुहल्ला था।

पर जिस कवि के निवास से इस दारागंज बस्ती का नाम पूरे देश में हिन्दीवालों की जानकारी में आया वे कवि थे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। जाड़े के दिन थे, एक दिन अपने विद्यालय के एक वरिष्ठ छात्र के साथ संध्या-वेला में सड़क पर जा रहा था, साथी छात्र ने कंधे पर हाथ मारकर सामने की ओर दिखाते हुए कहा—वह देखो, निराला जी आ रहे हैं। मैंने उधर देखा, उत्सुकता और अचंभे में सड़क के किनारे खड़ा हो गया, जब तक निरालाजी निकल नहीं गये, उन्हें देखता ही रहा, आज भी निरालाजी का वह रूप मुझे याद है। निरालाजी की निराली कविता पढ़ी-देखी थी, जैसे उस पुरानी उत्सुकता की पूर्ति हो रही थी, जब मैंने पहली बार निरालाजी का यह रूप देखा—स्वस्थ और उन्नतकाय, प्रशस्त मुखमंडल, दाढ़ी और मूंछ के बाल बने हुए और सिर पर सँवारे हुए गर्दन तक लटकते केश, लम्बी नाक और आयत आंखें; गुठनों तक ऊनी कोट, एंड़ी चूमती हुई सफेद धोती की लुंगी। वे गंभीर गति में केवल सामने देखते हुए जा रहे थे। कोट की जेब में अमरूद थे और खा रहे थे। मैंने धार्मिक ग्रन्थों में, विशेषत: गीता प्रेस 'कल्याण' के विशेषांकों में अनेक प्रकार के चित्र देखे थे। निरालाजी को देखकर मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि क्या कल्याण के देवों और गन्धर्वों के चित्रों के बीच इस व्यक्ति का चित्र भी मैंने देखा है?

फिर तो दारागंज में निराला जी को मैं जब-तब देखता रहा। उनके कवित्व से परिचय प्राप्त करने के लिए उनकी अनामिका, गीतिका, परिमल पुस्तकें भी पढ़ीं। दो वर्ष बाद 'साहित्य रत्न' की परीक्षा दे रहा था, गीतिका पुस्तक पाठ्यक्रम में थी किन्तु पढ़ने को नहीं मिली थी।

हम दो साथी, जो उस परीक्षा में बैठ रहे थे, निराला जी के यहाँ पहुंचे, पुस्तक मांगने की इच्छा से कम, विशेषतः बात करने के लिए। मकान का दरवाजा नीचे खुला था, सांकल नहीं लगी थी। वे बेनीमाधव मन्दिर के पूरब गली के एक मकान में रहते थे। जब भीतर पैर रखा तब देखा, अन्दर भी किसी कमरे का कोई किवाड़ बन्द नहीं था। सन्त के घर में पहरा और किवाड़ की आवश्यकता क्या थी ? सीढ़ी से हम लोग ऊपर चढ़े, किनारे के एक कमरे में लम्बा गद्दा बिछा था, उस पर तकिया रखे निरालाजी लेटे ही लेटे कुछ लिख रहे थे। हम आतंकित हुए पर प्रणाम किया, अपना आने का उद्देश्य बताया। निरालाजी ने संक्षिप्त किन्तु सहानुभूतिपूर्ण बात की। कहा—पुस्तक यहां नहीं है, चौक में एक मित्र ले गये हैं, मैं लिख देता हूं जाकर ले लीजिए। हम लोगों ने निवेदन किया, कल ही परीक्षा होने वाली है; यदि आप अपने से एक-दो कविताओं का अर्थ बता दें तो उससे हम लोगों का बहुत लाभ हो जायगा।

हमारा यह कहना बहुत बड़ी धृष्टता थी, निरालाजी आकाशवाणी या कवि-सम्मेलनों में भी कविता-पाठ शायद ही अब करते थे और हम लोग कविता सुनाने तथा उसकी व्याख्या करने की बात उनसे कर रहे थे। निरालाजी ने आंखें उठाकर देखा और कहा—'अच्छा शाम को आइए।'

'कितने बजे आ जायँ हम लोग ?' प्रसन्नता में हम लोगों ने पूछा।

निरालाजी ने क्षण भर सोचकर कहा—'ठीक उस समय जब बिजली जल जाती है।' उन्होंने कोई घंटा मिनट नहीं बताया। निरालाजी का यह कथन मुझे 'सिद्धान्त कौमुदी' के इस प्रयोग की याद दिला रहा था—'यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति तस्मिन् काले देयम् ऋणम् कलापकम्।' उसी प्रकार जब बिजली जलती है तब।

सच में वैसा ही हुआ। हम शाम को पहुंचे तो अवश्य किन्तु बिजली रास्ते में ही जल चुकी थी और निरालाजी वहाँ नहीं थे, दरवाजे पर ताला बन्द था। पास के एक व्यक्ति से पूछा तो उसने कहा—'अभी निरालाजी गये हैं।'

मैं आल्हा के किस्से बड़ी लगन से सुनता था। कहानी कहने वाले कहते थे, आल्हा ने देवी की बड़ी आराधना की, देवी प्रसन्न हुईं और कहा—कल ब्राह्ममुहूर्त में आकर वरदान ले जाओ। आल्हा ठीक ब्राह्ममुहूर्त में नहीं पहुंच सके, वरदान की बात चौड़ा सुन चुका था, वह ठीक समय से पहले ही आकर वरदान लेकर चला गया, आल्हा आये तो सारा रहस्य जानकर पछताने लगे। देवी ने कहा—मैं तो वचन और समय का पालन करती हूं, तुम चूक गये तो अब क्या हो सकता है। देवी ने वही बात कही थी, जिसे हम आजकल अनुशासन कहकर चिल्लाते हैं। निरालाजी ने भी उसी अनुशासन के नुस्खे का प्रयोग किया और हम अनजाने बालकों को निरुत्तर भी नहीं किया।

कई वर्ष बीते। मैं दारागंज से पढ़कर जा चुका था। जब कभी आया-जाया करता था। सन् १९५५ के लगभग निरालाजी को फिर देखा तो उनमें परिवर्तन आ गया था। १९५६ से मैं फिर प्रयाग आ गया और दारागंज में ही रहने लगा, निरालाजी के कार्य-कलापों को समझने, अनुभूति करने का अवसर जब तब मिल जाया करता था। पर अब निराला जी वह नहीं थे जो

बिजली जलने के समय हमें कविता की व्याख्या सुनाने को बुलाते। अब वे साहित्य की चर्चा करने पर मौन हो जाते थे। हिन्दी के परम उपासक निरालाजी अब अंग्रेजी में हस्ताक्षर करते थे। एक-दो नवयुवक कवियों की पुस्तक पर उन्होंने वात्सल्यवश सम्मति लिखी तो अंग्रेजी में ही। एक बार हम तीन सज्जन उनके निवासस्थान पर मिलने पहुंचे। प्रणाम के पश्चात् बातचीत के प्रसंग में विन्ध्याचल और अष्टभुजी पहाड़ की चर्चा आ गयी तो निराला जी स्वयं वहां के वातावरण का वर्णन करने लगे। फिर साथियों में से एक ने हिन्दी साहित्य का प्रसंग शुरू कर दिया और निरालाजी तुरन्त मौन हो गये और ऐसे मौन हुए कि हम लोगों को उठकर चला ही आना पड़ा। दूसरी बार जब हम उनके पास फिर गये और प्रसंगतः कालिदास का नाम आ गया तो निरालाजी मौन नहीं हुए, कालिदास की कविता के एक दो प्रसंगों की चर्चा करते ही रहे।

हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि 'निराला' का हिन्दी से यह अनोखा वैराग्य रहस्य और चिन्ता की बात है। वे इन दिनों मिलनेवालों से अंग्रेजी और संस्कृत में बात कर लेते थे पर हिन्दी में प्रायः नहीं, या कम। उन्होंने अब अपने उस देव और गन्धर्व-आकृति से भी संन्यास ले लिया था। शरीर की परवाह छोड़ दी थी। केश बनवा दिये थे या फिर शिर और दाढ़ी-मूंछ के बाल एक साथ बढ़ा करते थे। जाड़े में वह अपना कम्बल, जाकिट, कोट प्रायः किसी न किसी गरीब को दे ही देते थे। उनके शरीर पर लुंगी के साथ बन्डी या अधबांही, कभी कुरता या कभी केवल एक अगौंछा कंधे पर पड़ा रहता था, हाथ में सोंटा या छड़ी होती थी। गर्दन कुछ झुक गयी थी, पेट कुछ बढ़ा हुआ मालूम पड़ता था, देखने पर प्रतीत होता था——इस व्यक्ति को अपने शरीर की कोई परवाह नहीं है। पर सही बात यह थी कि उस व्यक्ति को शरीर की ही नहीं, शरीर या आत्मा के किसी भी बाहरी उपकरणों की परवाह नहीं थी, दुनिया की परवाह तो थी ही नहीं। किसी धनी-मानी, संभ्रान्त, विद्वान् का परिचय-संपर्क उनकी अनुभूति को न छू पाता था। इक्केवाले से उनकी बात होती थी, भिखमंगे को वे भर-आँखों देखते थे, गली में चलते थे। निरालाजी का यह व्यवहार ऐसा प्रतीत होता था मानों वे सब कुछ वजन कर छूंछा जान कर छोड़ चुके हैं।

एक बार उन्हें जाड़े के दिन में सबेरे गंगा के कछार में देखा। दारागंज में दशाश्वमेध के नीचे छेदी मल्लाह की सब्जियों की खेती है,चारों ओर से बांस की फट्टियों का घेरा है, किनारे पर छोटी सी झोपड़ी है। निरालाजी झोपड़ी पर पहुंच गये। छदी ने उनके लिए कुर्सी निकाली, जो वह उन्हीं के स्वागत के लिए रखता था। पर निरालाजी खड़े हैं, बैठे नहीं। सिर पर रूमाल बँधा है, कमर में लुंगी और बदन में बण्डी-सुइटर है, कुछ धीमे-धीमे स्वर में गुनगुना रहे हैं, शरीर इस बात का साक्षी है कि उसका निरालापन उसके आत्मा के भोलेपन में आत्मसात् हो चुका है। छेदी मल्लाह की खुशी का ठिकाना नहीं है, मानों उसके घर बादशाह आ गये हों। वह सारा काम-काज छोड़कर खेत में घूम-घूम कर निरालाजी के लिए सब्जी की खोज करने लगा, सब्जी अभी तैयार नहीं है। फिर भी कुछ न कुछ खोज कर उखाड़ रहा है। और इधर छेदी की औरत ने दियासलाई जलाकर बीड़ी लगायी, निरालाजी के सामने बीड़ी लेकर खड़ी हो गयी। महाकवि निराला ने बीड़ी ली और पीने लगे। मुझे उपनिषद् के ऋषि का यह वाक्य याद आया——'वह

ब्रह्म अत्यन्त छोटा है गेहूं से भी, सरसों से भी। वह बहुत बड़ा है, पहाड़ से भी, आकाश से भी।'

और इसके साथ ही मेरी स्मृति में उतर पड़े भागवत महापुराण के अनोखे आत्मयोगी जड़ भरत और उतर पड़ा पुराणकार के शब्दों में उनका रेखाचित्र--धूल से भरा हुआ शरीर, उलझे हुए मुंह और शरीर के बाल। जाड़ा, गरमी और बरसात को एक समान सहन करनेवाले दुर्धर्षकाय और निर्द्वन्द्व, दूसरे की बात सुनना और स्वयं मौन रहना। बोलना तो अपने प्रश्न और उत्तर में। दुनिया को एक वजन पर तौलने वाले, जिन्हें दुनिया में कोई विशेष नजर नहीं आता था। भूख, प्यास, बुढ़ापा, मोटापा, दम्भ और अभिमान, क्रोध और भय की अनुभूति से दूर। जिस आत्मयोगी से किसानों ने अपने खेत में मजदूरी करवायी और सौवीर प्रदेश के राजा रहूगण ने अपनी पालकी उठवायी। और इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे ही जड़भरत की आनन्द अवस्था में अब निरालाजी पहुंच चुके थे।

इतिहास में जिन सन्तों ने दुनिया से वैराग्य लिया वे वाणी के आराधक बन गये। वाणी से संन्यास किसी ने नहीं लिया--तुलसी, सूर, कबीर, नामदास, मीरा सभी सन्त इस तथ्य के निदर्शन हैं। पर वाणी से संन्यास लेने वाले, साहित्य से विरागी बनने वाले निराला अपना समानधर्मा किसी दूसरे सन्त को नहीं रखते, केवल जड़ भरत को छोड़कर।

निराला का वाणी-संन्यास और अभय जीवन भर्तृहरि का 'सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्' में निरूपित 'अभय वैराग्य' नहीं था, जीवन की एक असम्भव गति थी, जो इस देश की विशाल कवि-परम्परावाही साहित्यधारा से मेल नहीं खाती और न कहीं अपना समानधर्मा रखती है। वाणी का संन्यासी यह सन्त दारागंज में एक युग तक विराजमान रहा, सरस्वती की सिमट कर एकाकार हुई धारा के रूप में मौन, निस्पंद। उन्हें देखकर यह बोध होता था कि सरस्वती की धारा को पाताल से ले आकर किस प्रकार पौराणिकों ने गंगा-यमुना के संगम में मिलाया है। डेढ़ हजार वर्ष पूर्व पंचनद-प्रदेश में सरस्वती की धारा के लुप्त होने पर सरस्वती नदी के पाताल से आकर प्रयाग के संगम में तीसरी धारा के रूप में मिलने की कल्पना उन्होंने की थी और निराला के रूप में हमने उस अनगढ़ कल्पना को प्रत्यक्ष किया।

जीवन में कोई विरक्त क्यों होता है यह एक साधारण बात है पर निराला अपनी कवि-साधना से विरक्त क्यों हुए यह एक असाधारण प्रश्न है। इसका सही उत्तर मिलेगा उनके पिछले गीत-संग्रह 'अर्चना' का सही-सही अनुशीलन करने से।

इन्हीं दिनों की बात है, मैं एक मित्र के साथ उनके दर्शनार्थ पहुंचा, यह मेरे नये परिचित मित्र थे--बिहार के प्रसिद्ध साहित्यकार शिवचन्द्र शर्मा के छोटे भाई प्रमोद शर्मा, जो निराला के पास साहित्य का अध्ययन करने आये थे। निरालाजी किसी चिन्तन में व्यग्र थे। मित्र ने निरालाजी से मेरा परिचय दिया--आपके दर्शनार्थ यह एक शास्त्री कवि आये हैं। वे निरालाजी के विद्यार्थी थे और उनकी चिन्तन-अवस्था में भी कहने की यह धृष्टता कर सके। फिर क्या था, निरालाजी ने कहा--'कवितां श्रावय कवितां श्रावय।' उन्होंने चाव से मेरी कविता सुनी और

कविता सुनने के बाद संस्कृत में ही बात करते हुए कालिदास के रघुवंश के इस श्लोक की व्याख्या पूछ दी—

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥

मेरे कुछ व्याख्या करने के बाद वह स्वयं उसकी व्याख्या संस्कृत में करने लगे। उस समय उनकी व्याख्या कुछ अपनी व्याख्या थी, कालिदास द्वारा दिया हुआ रघुवंशियों का उपर्युक्त विशेषण निरालाजी के शब्दों में नया लग रहा था, जैसे यह श्लोक निरालाजी के साहित्यिक वैराग्य की कुंजी था। यथाविधि, यथाकाम, यथान्याय और यथाकाल के अभाव में पौरुष की धारा सूख जाती है, आत्मा से पौरुष का विच्छेद हो जाता है, जीवन आत्माराम में रम जाता है। ऐसे ही रमे हुए आत्माराम, अवधूत थे कवि शार्दूल निराला। हम उनकी व्याख्या का मनन ही कर रहे थे कि उन्होंने 'यथाकामार्चितार्थिनाम्' की व्याख्या फिर दुहरायी और वहां से चुपचाप उठकर चले गये। थोड़ी ही देर बाद बाजार से कुछ जलपान की सामग्री लेकर लौटे और हमें बांटकर खाने का आदेश दिया। मैंने जलपान किया और कालिदास के श्लोक की निरालाकृत व्याख्या को हृदयंगम करने का प्रयास करता रहा कि उसके साथ ही निराला की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्ति पूजा' की ये पंक्तियां मस्तिष्क में उभड़ उठीं—

"धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध!"

समर से क्लान्त राम के वेदनामय अन्तःकरण का यह अन्तर्दर्शन जिस कवि ने किया था, उसी ने आज कालिदास के इस श्लोक को स्वयं गुनगुनाकर स्वयं व्याख्या की थी।

डाक्टर जगदीश गुप्त

अंतिम क्षणों की स्मृति

एक भाव-सत्य के रूप में निराला ने मृत्यु का प्रथम साक्षात्कार सम्भवतः उस समय किया जब उनकी उन्नीस वर्षीया पुत्री 'सरोज' का निधन हुआ। उन्होंने उसे किस रूप में देखा यह 'सरोज-स्मृति' की इन पंक्तियों से ज्ञात होता है—

चढ़ मृत्यु तरणि पर तूर्ण - चरण
कह—'पितः, पूर्ण - आलोक वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण
'सरोज' का 'ज्योतिःशरण - तरण।'

वास्तव में निराला ने सरोज की मृत्यु को ही 'आलोक-वरण' और 'ज्योतिःशरण' के रूप में नहीं देखा, वरन् मत्यु मात्र को अपने जीवन में इसी रूप में ग्रहण किया और मैं यह भी कहना चाहूंगा कि उनकी मृत्यु भी उनके लिए एक प्रकार से 'आलोक-वरण' 'ज्योतिःशरण' ही रही। रुग्ण भौतिक देह अंधकार के पाश की तरह उनकी ज्योति-पिपासित आत्मा को कसे हुए थी और वह उससे मुक्त होने के लिए न जाने कब से और कितनी त्वरा से छटपटा रही थी।

जीवन के अंतिम वर्षों में जितनी असह्य और मर्मान्तिक पीड़ा निराला ने सही और अपने अंतिम क्षणों में काल से जितना कठोर संघर्ष किया, उसे देखते हुए भी यही कहना होगा कि वे मरे नहीं, जी गये।

मैंने उनकी टूटती सांसों, ऐंठती उँगलियों और आखिरी बार घूमकर हमेशा के लिए स्थिर हो जाने वाली पुतलियों को उनके सिरहाने बैठकर देखा है। उनके कंठ में घरघराते हुए कफ की, कलेजा ऐंठ देने वाली आवाज सुनी है और उनकी आंख की कोर से ढलकते हुए आंसू का अंतिम कण पोंछा है। मुझे एक क्षण को लगा कि जैसे वह अश्रु-कण 'शक्ति-पूजा' में रत, किन्तु भीतर से विचलित राम के राजीवनयन में झलक आने वाला कण हो। आगे आने वाली पीढ़ियों को निराला की देह भले ही देखने को न मिले, परन्तु उनकी आत्मा 'राम की शक्ति-पूजा', 'बादल राग' और 'जुही की कली' आदि में निरंतर देखी जा सकती है। जिन्होंने उनके मुख से पूर्ण-भावावेग से निस्सृत शब्दावली में इन कविताओं को सुना है, उनके लिए शायद कभी भी यह सम्भव न हो सके कि वे इसके आस्वाद को, उनके एक साथ वज्र-कठोर और कुसुम-कोमल व्यक्तित्व की जीवन-स्मृति से पृथक् करके ग्रहण कर सकें। निराला जैसे महाप्राण का महाप्रयाण शब्दों की सीमा में

घेरकर व्यक्त किया जा सकता है, ऐसा मुझे सम्भव नहीं लगता। धरती पर उतार लिये जाने के बाद लगभग दो घंटे तक जिस विषम संघर्ष की स्थिति में वे रहे, उसे एक करुण विवशता और निरीहता के साथ लगातार देखते रहने की यातना सहने के बाद अब मुझमें यह साहस और सामर्थ्य नहीं है कि उसका विवरण लिख सकूँ। यह अवश्य कहूंगा कि किसी व्यक्ति को पीड़ाग्रस्त देखना और किसी भी प्रकार उस पीड़ा को न बँटा पाने की विवशता के महाशून्य का अनुभव करना एक ऐसी स्थिति है, जिससे विषमतर स्थिति की मैं कल्पना नहीं कर सकता। दो चार आंसू बहाकर उस भार को हल्का नहीं किया जा सकता, उनसे तो लगता है वह और बढ़ जाता है। अन्तिम क्षणों में उनके सूखते हुए कंठ ने मुझ से दो बार जल ग्रहण किया, मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूं। जल पाकर लगा कि जैसे उनमें पुनः चेतना आ रही है, ओठों के कम्पन से लगा कि जैसे वे चारों ओर उच्चरित किये जाने वाले 'राम' शब्द को दोहरा रहे हैं, पर वह था भ्रम ही। ओठों का वह कम्पन, अन्तिम कम्पन था। उनके चौड़े विशाल वक्ष में श्वास-प्रक्रिया समाप्त हो चुकी थी। महाप्राण की प्राणहीन मिट्टी मात्र शेष रह गयी थी और उसके समीप बिलखती हुई उनकी एक मात्र भौतिक निशानी—रामकृष्ण।

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में विद्रोह का सच्चा, दृढ़ और जीवन-स्वर, अपने पूरे आवेग के साथ अगर कहीं मिलता है तो एकमात्र 'निराला' के कृतित्व में। मानव-व्यक्तित्व के स्वाभिमान और स्वातंत्र्य की जो मूल्य प्रतिष्ठा उन्होंने अपने युग की सारी विषमता को सिरमाथे लेकर की और जिसके कारण विरोध का विष पीते-पीते वे अन्ततः विक्षिप्त तक हो गये, परन्तु उस अवस्था में भी उन्होंने जिसका परित्याग नहीं किया, उसीका संवहन आज की कविता अपनी शक्ति भर कर रही है। निराला के शब्दों में 'इस बीसवीं सदी का प्रधान भाव संघर्ष ही तो है।' उन्होंने व्यक्तिगत और साहित्यिक दोनों प्रकार के जीवन में इसी भाव को लिया है। अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता के लिए जिस आन्दोलन का सूत्रपात उनके द्वारा सर्वप्रथम सम्पन्न हुआ, वही आज 'नयी कविता' के रूप में पल्लवित हो रहा है। हिन्दी कवियों को नयी दिशा की ओर मोड़ने का सबसे बड़ा श्रेय निराला जी को ही है। इस नाते वे एक अद्वितीय साहित्यिक युग-पुरुष हैं। मैं इन शब्दों के साथ उनकी तेजस्वी दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी सहज श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

श्री निरंकार देव सेवक

महाकवि निराला : दो संस्मरण

निराला जी को जब से मैंने देखा मेरे लिए वह प्रेरणा के अपार स्रोत सदा बने रहे। उनके व्यक्तित्व में कुछ भी तो ऐसा नहीं था जिसे हम असाधारण न कहें। उनका ऐसा स्वाभिमानी कवि हिन्दी में कोई दूसरा नहीं हुआ। संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति के आगे वह रंचमात्र भी झुकने को तैयार नहीं हुए। उर्दू के महाकवि जोश के शब्दों में—'टूट तो सकते थे वह लेकिन लचक सकते नहीं।' हिन्दी के एक नवयुवक कवि अभी उस दिन मुझसे कहने लगे—'आयु तो उनकी अधिक नहीं थी। शरीर से भी वह बहुत बलिष्ठ थे। उनका स्वर्गवास इतनी जल्दी क्यों हो गया।' मैंने कहा—'शेर के खाने को यदि घास दी जाये तो वह कितने दिन चल सकता है।' निराला जी को यदि खाने-पीने और रहने की सुख-सुविधा रही होती तो उनके जैसे स्वस्थशरीर का व्यक्ति अभी कम से कम २०, २५ वर्ष और जीवित रह सकता था।

मेरे पास उनके साथ बिताये हुए क्षणों के कई मधुर संस्मरण हैं। पर यहां केवल दो की चर्चा करना ही पर्याप्त होगा। सन् १९४३ के अन्तिम दिनों या' ४४ के प्रारम्भ की बात है। मैं तब बनारस में था। कालिदास-जयन्ती का महोत्सव वहां हो रहा था। उसमें एक कवि सम्मेलन का भी आयोजन था। मुझे यह काम सौंपा गया कि उसका सभापतित्व करने के लिए निराला जी को बुलाकर लाऊं। मैं और मोती बी० ए० एक सवेरे की गाड़ी से चलकर बनारस से इलाहाबाद में दारागंज निराला जी के निवासस्थान पर पहुंच गये। सवेरे के ९॥ बजे होंगे। निराला जी का कमरा खाली पड़ा था, वह कहीं अन्दर थे। जब वह आये हम लोगों ने प्रणाम किया। उन्होंने बैठने का आदेश किया और हम उनके जमीन पर बिछे बिस्तर पर ही एक ओर को बैठ गये। बैठ जाने पर हमने अपने आने का मन्तव्य उन पर प्रकट किया और बनारस चलने को कहा। निराला जी उसी बिस्तर पर बैठे से लेट गये और बोले—'दो हजार रुपये लूंगा तो चलूंगा।' हम लोगों ने उनसे अपनी दीनता दिखाते हुए फिर फिर चलने को आग्रह किया। थोड़ी बात-चीत के बाद उन्होंने कहा—'अच्छा बारह सौ रुपये ले लूंगा।' हमने यह भी देखा कि वह बातचीत में मन्द मन्द मुस्कराते भी जाते थे। जब हमें आग्रह करते देर हो गई और वह टस से मस न हुए तो हम लोग निराश होकर वहां से उठ आये। बाहर आकर मैंने विचार किया कि पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी जी, जो उनके पड़ोस में ही रहते थे, उनसे चलकर कहना चाहिए। हम दोनों चतुर्वेदी जी के घर पहुँचे तो वह दफ्तर जाने को तैयार थे। तांगा बाहर खड़ा था। निराला जी से मिलने का हाल बताने पर वह बोले—'चलो अभी कहता हूं, जायेंगे कैसे नहीं।' हम लोग

चतुर्वेदी जी के साथ निराला जी के पास फिर पहुंचे। निराला जी वैसे ही विस्तर पर लेटे हुए थे। चतुर्वेदी जी ने कमरे में प्रवेश करते हुए जोर से कहा—'निराला जी जाते क्यों नहीं ? कालिदास-जयन्ती का उत्सव है। इसी प्रकार जब आपकी जयन्तियां इस देश में मनाई जाया करेंगी तो लोग जाने को मना कर दिया करेंगे।' उनकी इस बात ने निराला जी पर जादू का असर किया और वह कोई दूसरी बात कहे बिना चलने को तैयार हो गये।

रास्ते में रेल में एक और मनोरंजक बात हुई। जिस प्रथम श्रेणी के डिब्बे में मैं निराला जी के साथ बैठकर चला उसमें एक बर्थ पर हम बैठे थे और सामने की दोनों बर्थों पर दो बंगाली सज्जन पैर फलाये लेटे हुए थे। दोपहर का भोजन करने के बाद अलसाने का समय था। निराला जी मुझसे जोर जोर से तरह तरह की बातें करते हुए शायद यह प्रयत्न कर रहे थे कि वह दोनों बंगाली सज्जन भी बातचीत में रस लें जिससे रास्ता कट सके। पर वह बंगाली सज्जन जब फिर भी टस से मस न हुए तो निराला जी ने बंग देश, बंगाली भाषा-संस्कृति इत्यादि की चर्चा करते हुए कहा—'लेकिन एक बात है कि बंगाल की स्त्रियां कुछ नहीं। हमारे यहां की स्त्री यदि किसी बंगाली स्त्री के गले में बांह डालकर दबा दे तो वह 'चीं' बोल जाये।' यह चीं शब्द उन्होंने कुछ इस प्रकार खींच कर कहा था कि मानो सचमुच कोई स्त्री 'चीं' बोल गई हो। कुछ क्षण फिर भी मौन रहने के बाद उन दोनों में से एक बंगाली महाशय ने पूछा—'आप कहां से आ रहे हैं ?' निराला जी ने पास बैठे हुए मेरे बर्थ पर रखे हाथ को दबाते हुए तुरन्त अंग्रेजी में कहा—'मेरा देश पंजाब है। मैं लाहौर से आ रहा हूं।' उन्होंने पूछा—आपका नाम ? तो निराला जी ने फिर उसी लहजे में कहा—'मेरा' नाम है काशीप्रसाद।' मैं मन ही मन मुस्कराते हुए उनके इस अभिनय को देखता रहा।

दूसरा संस्मरण मेरे अपने नगर बरेली का ही है। सन् ४१ या ४२ के जाड़ों की बात है। निराला जी बरेली कालिज के कवि सम्मेलन में सभापतित्व करने के लिए आये थे। और वह, बच्चन जी तथा श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा हमारे स्वर्गीय प्रोफेसर ज्ञानप्रकाश जौहरी के निवास्थान पर ठहरे हुए थे। सायंकाल कालिज-हाल में कवि सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। सब की कवितायें रसमग्न होकर सुनी जा रही थीं। विशेष रूप से बच्चन जी की कवितायें बड़ी वाह-वाही के साथ सुनी गईं। अन्त में निरालाजी ने अपनी कवितायें सुनाना प्रारम्भ किया। वह सुना ही रहे थे कि खचाखच भीड़ के बीच में बैठे हुए कालिज के एक शैतान लड़के ने कुछ अजीब तरह की बोली बोल दी। सबका ध्यान भंग हो गया। निराला जी तुरन्त बैठे से उठकर खड़े हो गये और जिधर से आवाज आई थी उधर ही आंखें तरेर कर सिंह के समान गरज कर बोले—'कौन है ? जरा आंख तो मिला—सूर्य की समता संसार में कोई नहीं कर सकता।' और फिर तो वह धाराप्रवाह एक भाषण देते चले गये और कवि सम्मेलन को समाप्त घोषित कर दिया।

सम्मेलन समाप्त होने पर हम कुछ लोग निराला जी के साथ साथ जौहरी साहब के बंगले पर पहुंचे और गोल कमरे में बैठ गये। निराला जी के पास ही एक कुर्सी पर बच्चन जी बैठे थे और एक ओर जौहरी साहब। सबके मन में इस बात से उदासी थी कि कवि सम्मेलन की दुर्घ-

टना से निरालाजी खिन्न हैं। हममें से एक ने उस उदासी के वातावरण को दूर करने के लिए प्रस्ताव रक्खा कि निराला जी अपनी एक कविता सुनाने की कृपा करें। सभी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। निराला जी से तरह तरह से बहुत अनुनय विनय की गई पर वह पत्थर की प्रतिमा बने गुमसुम बैठे रहे। जौहरी साहब ने भी उनसे कहा पर उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह अपने हाथ में चूना तम्बाकू लेकर मले जा रहे थे। अन्त में वच्चन जी ने भी कहा—'एक कविता सुना दीजिए। यह लोग इतना कह रहे हैं।' निराला जी फिर एकदम लाल होकर और गरज कर बोले—'मेरी क्या ? तू तो है कुली।' कमरे में सन्नाटा छा गया। सब अवाक् रह गये। तभी एकाएक निराला जी जोर का ठहका मार कर हँसे और बोले—'अच्छा लो सुनाता हूं। वह तोड़ती पत्थर. . . . .—।' और वह पूरी कविता सुनाते चले गये। लगभग आधी रात का समय था। हम लोग निराला जी के विषय में चर्चा करते हुए अपने अपने घर लौट आये।

हिन्दी कविता और कवियों के प्रति कुछ अधिक आकर्षण होने के कारण अगले दिन १० वजे के लगभग मैं फिर जौहरी साहब के बंगले पर पहुंच गया। निराला जी सवेरे की सुनहली धूप में जौहरी साहब के बंगले के बाहरी वरामदे में हारमोनियम लिये बैठे होली और रसिया गा गाकर सुना रहे थे। सबको बड़ा आनन्द आ रहा था। मैं भी वहीं जाकर बैठ गया। पता ही नहीं चला कि कब सवेरे का दोपहर हो गया। निराला जी उसी समय की गाड़ी से लखनऊ वापिस जाने वाले थे। तांगा मँगाया गया। जौहरी साहब ने शायद २०, नोट नहीं, चांदी के सिक्के निराला जी को भेंट किये। निराला जी ने तांगे में बैठने के पूर्व पास ही खड़े तीनों नौकरों में से प्रत्येक को देने के लिए चार चार रुपये बढ़ाये। नौकर बेचारे किस मुंह से अपना यह समादर स्वीकार कर सकते थे। इस समय चार या आठ आने नौकर को देने के लिए पर्याप्त समझे जाते थे। श्रीमती और जौहरी साहब कह रहे थे—'निराला जी यह क्या कर रहे हैं आप।' जब नौकर रुपये लेने को आगे नहीं बढ़े तो निराला जी ने बारहो रुपये जौहरी साहब के बरामदे में उछाल कर फेंक दिये। उनकी खनखनाहट से बरामदा गूंज उठा। जौहरी साहब को यह अपना अपमान लगा। उनका गौरवर्ण मुख लाल हो गया और वह निराला जी से अंग्रेजी में वार्तालाप करते हुए कहने लगे—'आपको इस प्रकार मेरा अपमान करने का कोई अधिकार नहीं है। आप हिन्दी के महान् कवि हैं। हमारे लिए पूज्य हैं। हम जानते हैं कि रुपये की आपको कोई परवाह नहीं। पर इस प्रकार हमारा अपमान करना तो आपको शोभा नहीं देता।' तब तक उन रुपयों को कोई उठाकर ले आया। जौहरी साहब ने एक एक रुपया उसमें से लेकर हर एक नौकर को दे दिया। शेष नौ रुपये निराला जी ने लेकर रख लिये और यह कहते हुए तांगे में बैठकर चल दिये—'आप मेरी किसी बात का बुरा न माने।'

आज निराला जी और जौहरी साहब, मेरे दोनों ही स्नेह करने वालों में से एक भी इस संसार में नहीं हैं, और मैं अकेला रह गया हूं, उनकी स्मृतियां अपने मन में यत्न से संजोये हूं, रखने के लिए।

श्री नरेशचंद्र मिश्र

दो आँखें : तीन कहानियाँ

निराला जी की आंखों को भूल सकना मेरे लिए संभव नहीं। उन्हें देखा तो कई बार है, किन्तु तीन बार मैंने जैसे, जिस रूप में उन्हें देखा, वह आकृति तीन ऐतिहासिक घटनाओं का आधार वन गई हैं।

कहानी यों बनती है कि एकाएक मेरे एक स्वार्थी मित्र का ध्यान सब ओर से हट कर निराला जी की ओर गया। और वह सब वादों को छोड़कर निरालावादी हो गया। निराला जी उन दिनों ध्यान की अवस्था छोड़ कर समाधि की अवस्था की ओर अग्रसर हो रहे थे (जिसे मेरा मित्र असाध्य पागलपन की अवस्था ही कहा करता था)। उन्हें इस बात का भान भी नहीं होता था कि कौन किस भावना से उनके निकट आ रहा है। स्वार्थ से प्रेरित होकर निराला जी के स्वास्थ्य के संबंध में चिन्ता व्यक्त करने, चर्चा चलाने और वक्तव्य देने की नई टेकनिक का प्रथम अविष्कारक भी मेरा मित्र ही था। बाद में तो इस टेकनिक की अनेक महानतम कृतियां प्रकाश में आयीं।

अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के दो विद्या-प्रेमी रईस निराला जी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। वे निराला जी को कुछ आर्थिक सहायता देकर अपने को कृतार्थ करना चाहते थे। किन्तु उन दिनों सहायता किसके माध्यम से दी जाय इस प्रश्न पर बहुत विवाद था। मेरे मित्र ने इस अवसर से लाभ उठा कर बहुत शीघ्र उन दोनों को विश्वास दिला दिया कि दी जानेवाली रकम को निराला जी के उपयोग में खर्च किए जाने का वह पूरा प्रबंध कर देगा। यह निश्चय हुआ कि उसीके निवासस्थान पर वे दोनों निराला जी के दर्शन करेंगे। मेरे मित्र ने बहाने से निराला जी को आने का निमंत्रण भी दे दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

नियत दिन ठीक समय पर जब मैं निरालाजी को बुलाने गया तो वे अपने पड़ोसी वैद्य जी के यहां बैठे सितार सुन रहे थे। मैंने परखा। वादन समाप्त हो जाने पर जब उनसे चलने के लिए कहा तो उन्होंने स्नेहपूर्वक असमर्थता प्रकट की। मैंने लौट कर अपने मित्र को इसकी सूचना दी। यह बात सुनकर वह जैसे आसमान से गिर सा गया।

"तुमने ठीक से नहीं कहा, तुम्हे बतला देना चाहिए—खैर चलो मैं चलता हूं। आयेंगे क्यों नहीं", कह कर वह मुझे साथ लेकर फिर निराला जी के पास पहुंचा। "चलिए" मेरे मित्र ने कहा। (अर्धनिमीलित नेत्र किए) निराला जी ने हाथ से उसे निषेध का संकेत किया।

किन्तु वह हार मानने वाला नहीं था। बेहयायी को बेतकल्लुफी के रूप में प्रकट करना उसकी अपनी कला थी।

"चलिए-चलिए, वहां इसका भी इन्तजाम है" उसने हाथ से बोतल की-सी मुद्रा बना कर मुंह की ओर ले जाते हुए उनसे कहा।

मैं वज्रहत-सा स्तब्ध हो रहा। ओह, यह निर्दयी इतनी सरलता से इनके मर्मस्थल पर चोट करेगा, महाकवि इस भाव भी बिकेंगे, मुझे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी।

निराला जी ने नींद से भौचक जगे व्यथित की तरह आंखें खोल कर सिर को एक झटका दिया और अपनी दृष्टि मेरे मित्र पर गड़ा दी। एक क्षण के लिए लाल-लाल चिनगारी सी निकली उनकी आंखों से। मुझे लगा, महाकाल के तृतीय नेत्र में अवश्य संसार भस्म कर देने की शक्ति रही होगी। भयंकर क्रोध की मुद्रा थी वह। किन्तु दूसरे ही क्षण उनकी आंखों में करुणा और तरस खाने के भाव घूम गये। ठीक वैसे ही जैसे रंग-मंच के पार्श्व की लाइट पर लाल, पीले, नीले कागज रखने में रोशनियां बदलती हैं। वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी क्षण था। मुंह से कुछ नहीं कहा निराला जी ने। केवल आंखें गड़ा कर दो-तीन मिनट तक उसी प्रकार देखते रहे। बहुत कुछ कह गई वे आंखें। शरद ऋतु के नीले आसमान की तरह चमकते नेत्रों से तक कर उन्होंने मेरे मित्र के अवसरवादी दिमाग का पर्दाफाश कर दिया। अब सब कुछ वैसे ही स्पष्ट था जैसे मिलिट्री की सर्चलाइट पड़ने पर जंगल में छिपी शत्रु की शक्ति स्पष्ट हो जाती है। मुझे लगा वे आंखें कह रहीं हैं, बस इतना ही, यही उम्मीद थी तुमसे। आपकी कल्पना को स्पष्ट चित्र देने के लिए मैं कहूंगा कि उस समय निराला जी की आंखें उस ईसा की तरह थीं जिसने क्रास पर चढ़ते समय रोमन सिपाहियों पर करुण दृष्टि डाली थी। या यही समझ लीजिए कि जैसे यदुकुल के विनाश से व्याकुल भगवान् कृष्ण को प्रभास क्षेत्र में बहेलिया ने तीर मार दिया हो और उन्होंने अपने आक्रमणकारी व्याध को ममतापूर्ण नेत्रों से देखा हो।

मेरे मित्र का चेहरा तो बुझ चुका था। अपनी बात कहकर उसने उसका असर देखने के लिए निगाहें उठायी थीं किन्तु आंखें चार होते ही उसके आबनूसनुमा चेहरे पर पसीना आ गया और गर्दन शर्म से झुक गयी। जिन्दगी में पहली बार उसे शर्म आयी, अस्वाभाविक सी शर्म क्योंकि इसके पहले तो वह कभी शरमाया नहीं था। कुछ मिनट तक यही स्थिति रही फिर रूमाल से अपने चेहरे का पसीना पोंछते हुए वह बोला हें-हें-कष्ट होगा, रहने दीजिये, और तब मैं जागा। मैं उन आंखों को कैसे भूल सकता हूं।

मेरी दूसरी कहानी उन दिनों की है जब इलाहाबाद की पुलिस अपने प्रिय प्रधान मंत्री के स्वागत में इतनी व्यस्त थी कि सरेशाम शहर के मध्य भाग में कुछ अश्चर्यजनक घटनाएं हो जाया करती थीं।

चमचमाती कारों के कारवां का नेतृत्व करते, दर्शनार्थियों के जय-जयकारों और अभिवादनों का उत्तर सम्पुटित करों से देते माननीय प्रधान मन्त्री पं० नेहरू की कार दारागंज के एक प्रतिष्ठित और देशभक्त नागरिक की कोठी में घुसी। कोठी के फाटक से लेकर दूर-दूर सड़क

के दोनों किनारों पर पुलिस का सख्त पहरा था। भड़कीली पोशाकें पहने सशस्त्र पुलिस जवान (जिनमें अधिकतर सब-इंस्पेक्टर ही थे) मुस्तैदी से टहल रहे थे। फाटक के अन्दर आने वालों को कोई पास नहीं दिखलाना पड़ता था। खादी पहने कोई भी जा सकता था।

इतने में ही बगल की गली से निराला जी निकले। एक तहमत पहने, हाथ में चाय का प्याला लिए। वे धीर गम्भीर चाल से कोठी की ओर बढ़े।

"रुको, कहां जा रहे हो" एक सब-इंस्पेक्टर ने टोका। उत्तर में निराला जी ने सिर हिलाकर कोठी की ओर संकेत किया क्योंकि उनके हाथ खाली नहीं थे, चाय का प्याला था उनमें।

"तुम वहां नहीं जा सकते" इंस्पेक्टर की रोबदार आवाज में नौकरशाही की बू आ रही थी। उसने सोचा होगा कि कोई पागल है इधर निकल पड़ा है।

निराला जी के पग एक क्षण को रुके। दूसरे ही क्षण उन्होंने पुलिस इंस्पेक्टर की ओर कदम बढ़ाया और सिर तान कर उसकी ओर ताकने लगे। बहुत दिन बाद मुझे उनकी आंखों में आश्चर्य और क्रोध के वही पुराने भाव दिखायी पड़े थे किन्तु शीघ्र ही वे करुणा और तरसखाने वाले रंगों में बदल गये। वही लाल, नीले, पीले रंगों का परिवर्तन बिल्कुल वैसे ही। एक झटके से निराला जी मुड़े; अस्फुट स्वरों में कुछ बड़बड़ाए और गली में घुस गये। मुड़ते समय उन्होंने प्याला और तश्तरी को नाली में फेंक दिया।

मुझे तो केवल इतना ही कहना है कि मैं उन आंखों को नहीं भूल सकता।

मेरी तीसरी कहानी बिल्कुल साधारण सी है। अजन्ता प्रेस लिमिटेड के प्रतिनिधि श्री वीरेन्द्र नारायण सिंह के साथ मैं निराला जी से मिलने गया। वीरेन्द्र जी को निराला जी से कुछ सम्मतियां और आशीर्वाद लिखाने थे। उस समय महाकवि इतने अस्वस्थ थे कि उनसे कुछ लिखने के लिए कहना उचित नहीं था किन्तु तय यह हुआ कि न लिखेंगे न सही कम-से-कम दर्शन तो हो जायेंगे। हम दोनों ने जाकर चरण छुए और बैठ गये। निराला जी ने केवल एक वार देखा था वीरेन्द्र जी को। उस प्रथम भेंट में वीरेन्द्र जी ने उन्हें बीड़ी और माचिस की आकस्मिक भेंट दी थी। बस इतनी सी ही पहिचान थी किन्तु काफी दिनों बाद भी महाकवि भूले नहीं थे उस भेंट को। वीरेन्द्र जी की ओर देखते ही हँसकर पूंछा, "लाये हो ?"

और वीरेन्द्र जी ने तुरन्त एक वण्डल बीड़ी और माचिस निकाल कर सामने रख दी। निराला जी ने एक बीड़ी निकाल कर ओठों में दबा ली तो उन्होंने माचिस से जला दिया।

"वस इतना ही। इसे जजिया, चौथ, सरदेश मुखी जो भी समझो"—अत्यन्त सन्तुष्टि से बीड़ी का कश खींचते हुए महाकवि ने कहा।

"नहीं करों के मामले में तो आप मनु के सिद्धान्त का पालन करते हैं"—कुछ शर्माते हुए वीरेन्द्र जी ने उत्तर दिया।

"सच" कहकर निराला जी ने हँसते हुए स्नेह-सिक्त आंखें वीरेन्द्र जी की ओर गड़ा दीं।

एक मिनट के लिए मुझे लगा, आंखें वही हैं किन्तु रंगों का परिवर्तन उस रूप में नहीं हो रहा है। स्नेह की अजस्त्र वर्षा हो रही थी उनसे। मुझे पहली बार बहुत अच्छा लगा।

भला, उन हँसती आंखों को मैं कैसे भूल सकता हूं।

* * *

जीवन-मुक्त

अमर हिन्दी के हिमालय! वंदनीय विशाल,
पर्व-पावन-प्राण, ज्योतित गर्व-उन्नत भाल!
दीर्घनासा, अधर पतले, सबल वृषभस्कंध,
युग-पुरुष! युग-बाहु लम्बित, युग-चरण निर्बंध!
वसन गैरिक, सांध्य घन के आवरण में सूर्य,
धूलि धूसर देह श्लथ, अन्तर प्रभा से पूर्य!
दष्टि तीखी, ज्यों समय पर कर रही हो व्यंग,
गीत के स्वर, ताल, लय पर सिहर उठते अंग।
स्वगत मुखरित मौन, गुरु-गंभीर धीर प्रशान्त,
पी गये युग का गरल शंकर सदृश निर्भ्रान्ति।
हो चुकीं, अब हो चुकीं सब यातनाएँ भुक्त,
रम्य सुरसरि-तीर, तन-मन मुक्त, जीवन-मुक्त।

—(डा०) जगदीश गुप्त

श्री रामकृष्ण त्रिपाठी

महाकवि निराला का जीवन-तथ्य : भ्रम-निवारण

"जब निराला ने रूढ़ियों को तोड़ कर अपनी पुत्री का विवाह किया था--" इस शीर्षक से गत ३ फरवरी १९६३ के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में एक लेख प्रकाशित हुआ था, वह इतना भ्रामक है कि कोई भी, जो महाकवि 'निराला' से संवन्धित है, उसे पढ़कर दुःखी हुए बिना न रह सकेगा। उस लेख को पढ़ने पर मुझे भी कुछ आक्रोश हुआ, क्योंकि आज हिन्दी के साहित्यकारों की यह हार्दिक अभिलाषा है कि महाकवि के जीवन संबन्धी वास्तविक तथ्यों को एकत्रित कर उनकी एक प्रामाणिक जीवनी लिखी जाये और इस संबंध में उनके प्रयत्न भी जारी हैं।

यद्यपि उक्त लेख में भक्ति-भावना की कमी नहीं है, किंतु निराला-विषयक जानकारी की कमी उसमें अवश्य है। इसी कारण उक्त लेख में जो अवास्तविक, मिथ्या, अप्रासंगिक एवं भ्रमोत्पादक बातें लिखी गई हैं, मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं उनका निराकरण करके हिन्दी प्रेमियों के समक्ष सही-सही वस्तु-स्थिति का परिचय दूं और निराला जी पर शोध तथा अन्वेषण करने वाले बन्धुओं का मार्ग प्रशस्त करूँ।

पहले ही पैराग्राफ में लिखा है "इस लड़की (सरोज) के पालन-पोषण में उन्हें जीवन के कठोरतम संघर्षों से जूझना पड़ा।" यह वात एकदम ग़लत और बेबुनियाद है। ११ फरवरी १९६२ के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में तथा 'अन्तरवेद' में "मेरे पिता निराला जी" और "पूज्य चरण निराला जी" शीर्षक से एक संक्षिप्त परिचय में मैंने लिखा था कि मेरी माता श्रीमती मनोहरा देवी का देहावसान मेरे ननिहाल डलमऊ में हुआ था। उनकी मृत्यु सन् १९१८ में देश में फैले हुए प्लेग 'महामारी' के कारण हुई थी। यहाँ यह बतलाना अनावश्यक न होगा कि जहाँ मेरे पूज्य पिता को बंगीय संस्कारों के अनसार माँस-मछली प्रिय खाद्य थे, वहीं मेरी माता को उनके धार्मिक संस्कारों के अनुसार यह वस्तुएँ अखाद्य एवं घृणित थीं। उनकी बीमारी में डाक्टर का इलाज हो रहा था और उसने गोश्त का शोरवा लेने के लिए माता जी से बार-बार कहा, किंतु माता जी का यही उत्तर था कि मैं मर भले ही जाऊँ मगर गोश्त का शोरवा न पियूँगी और अंत में उन्होंने मृत्यु को ही वरण किया। मरने से पूर्व मेरी मां ने अपनी माता अर्थात् मेरी नानी श्रीमती पार्वती देवी को मेरा और सरोज का हाथ पकड़ाते हुये कहा था,--'अम्मा ! एक जिम्मेदारी आप पर छोड़े जा रही हूँ, मेरी स्मृति-रूप में इन बच्चों को अपने ही पास रखना और इनका

पालन करना नानी ने ढाढ़मार कर रोते हुए हम दोनों को छाती से लगा कर कहा था—'बिटिया घबराओ नहीं तुम अच्छी हो जाओगी।'

मातृ-वियोग के समय मैं तीन वर्ष पूरे कर चुका था और मेरी बहन सरोज एक वर्ष, अर्थात् उस समय मेरा चतुर्थ और सरोज का द्वितीयवर्ष प्रारंभ हो चुका था। हम दोनों के लालन-पालन का भार नानी जी ने संभाल लिया था। यह गुरुतर दायित्व मरने से पूर्व ही मेरी माता जी ने नानी जी को दिया था, जिसका उन्होंने सदैव ध्यान रक्खा। माताजी के निधन के बाद पिता जी डलमऊ पहुँचे थे, जहाँ वह विक्षिप्त की भाँति गंगा के किनारे-किनारे घूमते रहते तथा श्मशान में रात-रात बैठे रहते। वहाँ से विदा होते समय पिताजी ने हम लोगों को ले जाने के सम्बन्ध में नानी जी से कहा अवश्य था किंतु नानी जी ने इन्कार करते हुए कहा—'ईश्वर ने हमारी प्राणोपम, युवा बेटी को हमसे छीनकर, हमारी कमर तोड़ दी है। हमारा हृदय छलनी हो गया है। इन्हीं बच्चों को देखकर पुत्री का शोक सहन कर रही हूँ, अन्यथा हमारी क्या गति होती, भगवान ही जाने! ये दोनों हमारी दो आँखें हैं, इनके बिना हम जीवित नहीं रह सकतीं।'

पिता जी हम लोगों को नानी जी के पास छोड़कर अपने गांव गढ़ाकोला उन्नाव चले गये थे, उन्हें उन्हीं दिनों परिवार के कई स्वजनों का चिरवियोग सहन करना पड़ा था। गढ़ाकोला जाने के समय पिता जी को बीघापुर स्टेशन से उतर कर उत्तर की ओर गाँव जाते समय कुछ ही दूरी पर एक बैलगाड़ी आती हुई दिखाई पड़ी, जिसमें जुते हुए अपने बैलों को पहचान कर घर की ही गाड़ी होने का उन्हें निश्चय हो गया था और थोड़ी ही देर में उस गाड़ी के पास आने पर जो दारुण दृश्य उन्हें दिखाई पड़ा था, वह अवर्णनीय है। उस गाड़ी पर पं० बदलूप्रसाद त्रिपाठी का शव था, जिसे पं० महावीर ककुआ गाँव के लोगों के साथ गंगा जी लिये जा रहे थे। पं० बदलूप्रसाद जी निराला जी के चचेरे बड़े भाई थे, कुछही दिन पहले छुट्टी लेकर वह भी बंगाल से घर आये थे। गाँव आने पर उन्हें निराला जी की पत्नी की बीमारी का समाचार ज्ञात हुआ। दूसरे ही दिन वह गढ़ाकोला से डलमऊ चले गये थे और उनकी यह इच्छा थी कि वह अपनी अनुज वधु अर्थात मेरी माता को विदा करा कर गाँव ले आयें और वहीं उसका उपचार करायें। किंतु उनकी हालत अत्यधिक खराब होने के कारण धैर्य एवं आश्वासन देकर वे गांव लौट आये थे।

घर वापस आने पर श्री बदलूप्रसाद जी महामारी के संक्रामक रोग के शिकार हो गये। उनके साथ ही घर के अन्य लोग भी बीमार हुये, जिनमें उनके चाचा पं० रामलाल जी और पत्नी श्रीमती नंदा देवी तथा उनकी एक कन्या चन्द्रकला के नाम उल्लेखनीय हैं। पं० बदलूप्रसाद जी के बाद ये सभी व्यक्ति उक्त महामारी के कारण क्रमशः एक-एक दिन के अन्तर से स्वर्ग सिधार गये।

पत्नी के चिरविरह से विदग्ध तरुण हृदय कवि निराला ने घर जाते समय रास्ते में जब अपने भाई की मृत्यु का समाचार सुना, तो वह अपने को संभाल न सके और हाय भैया! कहकर रोते हुए पछाड़ खाकर गिर पड़े। पं० महावीरप्रसाद तथा अन्य लोगों ने उन्हें उठाया और

सान्त्वना देते हुए कहा—भैया सूर्यकुमार ! (पूज्य निराला जी को घरवाले इसी नाम से पुकारते थे) इस समय देश में महामारी के रूप में जो विपत्ति आई है, हम सभी को धैर्य एवं साहस के साथ उसका सामना करना है। हज़ारों घर बरबाद हों गये, गाँव उजड़ गये। गंगा लाशों से पट गईं हैं। छोटी-छोटी नदियाँ और नाले भी मुर्दों से भर गये हैं। चारों ओर लाशों के ढेर दिखाई देते हैं। गाँवों में शव उठाने के लिए मनुष्यों का अभाव है, लोग ढूंढ़े नहीं मिलते। अनेकों घरों में सारे के सारे लोग बीमार पड़े हैं, जिनको एक घूंट पानी पिलाने वाला भी कोई नहीं है। अपने ही घर में जाकर देखो, रामलाल बाबा असहाय पड़े हैं, तुम्हारी भाभी ने दो दिनों से नेत्र नहीं खोले, छोटी बच्ची का भी बुरा हाल है। अस्तु, हम लोग तुम्हारे भाई को गंगा जी लिये जा रहे हैं, तुम घर जाकर बीमारों की सेवा करो।

गाँववालों को भाई के शव के साथ गंगा जी की यात्रा पर छोड़कर पिता जी अपने गाँव चल दिये और वहाँ पहुँच कर अपने घर का जो दुःखद दृश्य देखा तो सहम कर रह गये। पं० रामलाल जी (निराला जी के चाचा) घर के बाहर चबूतरे पर चारपायी पर पड़े छटपटाते हुए दम तोड़ रहे थे। पिता जी ने उनके पैर छूकर जोर से आवाज़ दी—'काका !' पिता जी की आवाज़ पहचानकर रामलाल जी ने आंखें खोल दीं और रोने लगे। उन्होंने कहा—बेटा तुम आ गये, अच्छा हुआ, चलते समय तुम्हें देख लिया; खुश रहो, जीते रहो ! इतना कहने के बाद वह पुनः रोने लगे। पिता जी ने भी रोते हुए सान्त्वना के शब्दों में कहा—काका ! आप अच्छे हो जायेंगे। अब तक जो कुछ हुआ है, उसे ईश्वर की ही इच्छा समझ कर, हृदय को शान्त करें, अधिक शोक न करें। रामलाल जी ने कहा—बेटा ! सधारी (शिवाधार त्रिपाठी, जो निराला जी के पितामह थे) के चार पुत्रों में तीन पहले ही भगवान के घर चले गये, मेरा भी समय पूरा हो गया है और अब कुछ ही क्षणों का मेहमान हूँ। हमारी रानी बहू (निरालाजी की पत्नी) और बदलू (निराला-जी के चचेरे बड़ भाई) की असामयिक मृत्यु का हमको महान दुःख है। तुम्हारी कच्ची उम्र है, अभी बच्चे ही हो, फिर तुम्हारे दो बच्चों तथा बदलू के चार लड़कों और एक लड़की, इनकी परवरिश कैसे होगी, यही सबसे बड़ी चिंता है, जो मुझे शांति से मरने नहीं देती।

निराला जी ने दृढ़ता से कहा था—काका ! बच्चों की परवरिश का भार मैं लेता हूँ आप विश्वास रक्खें, मैं प्राण रहते श्री योधा (अयोध्याप्रसाद) बदलूप्रसाद जी के पिता तथा श्री रामसहाय (निराला जी के पिता) की वंश-वेंलि मुरझाने न दूंगा।

निराला जी की ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर पं० रामलाल जी कुछ आश्वस्त हुए और आँखें बन्द करते हुए कहा—बेटा, मुझे तुम पर पूरा भरोसा है। तुम हमारे कुल-कमल हो। ईश्वर तुम्हें शक्ति और साहस दें। आँखें खोलते हुये वह फिर बोले—घर में जाकर देखो, तुम्हारी भावज (भाभी) का क्या हाल है। वह बीमार तो थी ही, बदलू के न रहने से उसकी हालत और भी चिन्ताजनक हो गयी है। उसे देखने-भालने वाला कोई नहीं है। अब तुम जाकर उसकी तीमारदारी करो, शायद बच जाय !

उसके बाद, प्रकृति की उस विनाशलीला में निराला जी के चाचा, भाभी, भतीजी एक

के बाद एक इस भौतिक जगत से अदृश्य होते गये और जो बचे उनमें थे श्री निराला जी, मैं और सरोज (निराला जी के पुत्र और पुत्री) तथा चार भतीजे, सर्वश्री बिहारीलाल, रामगोपाल, केशवलाल और कालीचरण।

जिस महामारी में निराला-परिवार विनष्ट हुआ था, उसका थोड़ा सा वर्णन उन्हीं के शब्दों में पढ़िए। 'अलका' में प्रारंभ में ही निराला जी ने लिखा है—"महासमर का अंत हो गया है, भारत में महाव्याधि फैली हुई है। एकाएक महासमर की ज़हरीली गैस ने भारत को घर के धुएँ की तरह घेर लिया है, चारों ओर त्राहि-त्राहि, हाय-हाय। विदेशों से, भिन्न प्रान्तों से, जिनके यात्री रेल से रवाना हो रहे हैं, सब अपने घर वालों की अचानक बीमारी का हाल पाकर। युक्त-प्रान्त में इसका और भी प्रकोप; गंगा, यमुना, सरयू, बेतवा बड़ी-बड़ी नदियों में लाशों के मारे जल का प्रवाह रुक गया है। गंगा का जल जो कभी खराब नहीं हुआ, जिसके माहात्म्य में कहा जाता था, दूसरा जल रख देने पर कीड़े पड़ जाते हैं, पर गंगा के जल में यह कल्मष नहीं मिलता, वह भी पीने के बिलकुल अयोग्य बतलाया गया। परीक्षा कर डाक्टरों ने कहा, एक सेर जल में आठवाँ हिस्सा सड़ा माँस और मेद है। गंगा के दोनों ओर दो-दो और तीन-तीन कोस पर जो घाट हैं, उनमें, एक-एक दिन में, दो-दो हज़ार तक लाशें पहुँचती हैं। जलमय दोनों किनारे शवों से ठसे हुए, बीच में प्रवाह की बहुत ही क्षीण रेखा; घोर दुर्गन्ध, दोनों ओर एक-एक मील तक रहा नहीं जाता। जल-जंतु, कुत्ते, गीध और स्यार लाश छूते तक नहीं। नदियों से दूर वाले देशों में लोगों ने कुओं में लाशें डाल-डाल दीं। मकान-के-मकान खाली हो गये। एक परिवार के दस आदमियों में दसों के प्राण निकल गए। कहीं-कहीं घरों में ही लाशें सड़तीं रहीं। वैद्य और डाक्टरों को रोग की पहचान भी न हुई। यह सब नृशंस महामृत्यु-तांडव पंद्रह दिनों के अंदर हो गया। भारत के साठ लाख आदमी काम आए।"

महिषादल राज्य से पं० रामसहाय (निराला जी के पिता) और पं० रामलाल जी (निराला जी के चाचा) पूर्ण अवकाश प्राप्त कर अपने गाँव गढ़कोला चले आये थे। इन दोनों भाइयों ने बंगाल में पुलिस विभाग में नौकरी की थी। एक बार गवर्नर के महिषादल के दौरे में इन दोनों को भी वहाँ जाना पड़ा था। महिषादल के राजा साहब ने इन त्रिपाठी बन्धुओं से प्रभावित होकर, गवर्नर से स्टेट की सेवा के लिए—रामसहाय और रामलाल को—माँगा। गवर्नर ने इस शर्त पर अपने वीर सिपाहियों का स्थानान्तरण महिषादल कर दिया कि इन्हें वही सुविधायें वहाँ मिलनी चाहिएं जो उन्हें अंग्रेज़ी राज्य की नौकरी करने में प्राप्त होती थीं। अस्तु, राज्य की सेवा से मुक्त होने पर भी सरकारी नौकरों की भांति इन दोनों भाइयों को पेन्शन मिलती रही। इसके अतिरिक्त पं० बदलूप्रसाद जी तथा निराला जी को राज्य-सेवा के लिये नियुक्त कर लिया गया था। घर से बीमारी का समाचार पाकर, पहले बदलूप्रसाद जी, फिर निराला जी छुट्टियाँ लेकर देस आए थे।

पं० रामसहाय त्रिपाठी तथा उनके अग्रज श्री गयादीन तथा श्री योधा (अयोध्याप्रसाद जी अर्थात् बदलूप्रसाद जी के पिता) महामारी के पूर्व ही स्वर्गीय हो चुके थे। श्री गयादीन जी की धर्म-

पत्नी को छोड़कर निराला जी की माता, बदलूप्रसाद जी की माता तथा श्री रामलाल जी की धर्मपत्नी भी पहले ही स्वर्गवासिनी हो चुकीं थी। शेष सदस्यों में से बहुतेरे उक्त महामारी में काम आगये और जो बचे थे, वह थे निराला जी उनका एक पुत्र तथा एक पुत्री एवं चार भतीजे। इस प्रकार २३ वर्षीय युवक निराला पर छः बच्चों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व आ पड़ा था। मुझे तथा सरोज को नाना-नानी के यहाँ आश्रय मिल चुका था और वहीं हम दोनों का लालन-पालन हुआ। भतीजों को लेकर पिता जी बंगाल चले गये और राज्य-सेवा करते हुए उनकी परवरिश करते रहे।

इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि मेरे और सरोज के पालन-पोषण में जिन्हें 'कठोरतम संघर्षों से जूझना पड़ा था' वे हमारे परम श्रद्धेय स्वर्गीय नाना, नानी एवं मामा थे। हम लोग अपनी नानी जी को अम्मा कहा करते थे। हमारे पिता जी हैं और उनका हमारे प्रति कोई उत्तरदायित्व है, यह वर्षों तक हम लोग नहीं जान सके। कारण, हम लोगों के शैशव-काल में पिता जी अधिकतर बंगाल में (महिषादल और कलकत्ता) रहे और साल दो साल में कभी आते तो दो-चार दिन रह कर चले जाते। हम लोग उनसे डरते थे, इसलिये कई बार उनके साथ जाने के आग्रह को भी हमने अस्वीकृत कर दिया था। नानी जी ने भी, जब तक हम लोग नादान और नासमझ बच्चे थे, हमें साथ लिवा जाने के उनके प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं किया। दूसरा एक कारण और भी था, वह यह कि हमारी नानी जी के पास, जब कभी कोई नाते-रिश्तेदार या पास-पड़ोस की औरतें या उनके परिचित व्यक्ति आते, तो उनकी लड़की श्रीमती मनोहरा देवी का स्मरण अवश्य होता और उसके बाद हम लोग आगंतुकों के समक्ष उपस्थित किये जाते। हमें उनसे आशीर्वचन सुनने को मिलते। लोग नानी जी को सम्बोधित कर कहते, ये दोनों बच्चे राममनोहर (हमारी माता को इसी नाम से नानी जी पुकारतीं थीं) की निशानी हैं, भगवान इन्हें बड़ी उम्र दें। हमारे नाना पं० रामदयाल द्विवेदी के दो विवाह हुए थे। उनकी प्रथम पत्नी श्रीमती परागा देवी के कोई संतान नहीं हुई, अतः उन्हीं के विशेष अनुरोध से नाना जी ने दूसरी शादी की थी और उनको द्वितीय विवाहोत्तर जो संतान प्राप्त हुई, वह लड़की थी। अनेकों अनुष्ठान, व्रत, दान-पुण्यों के फलस्वरूप मिली वह कन्या, उन्हें पुत्र से भी बढ़कर थी। अतएव वहाँ उसका संबोधन लड़के की भांति होता और उसे सब बेटा राममनोहर कहा करते थे। कुछ वर्षों में नाना जी को पुत्ररत्न की भी प्राप्ति हुई, जिसे रामधनी के नाम से संबोधित किया गया। उस घर में लड़के की आमद से लड़की के संबोधन में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा; हाँ, बेटा राममनोहर के बजाय बेटी राममनोहर हो गया था। अस्तु, आगंतुकों द्वारा मेरी माता का ज़िक्र छिड़ने पर, नानी जी (श्रीमती पार्वती देवी) रोने लगतीं और हम लोगों का परिचय देती हुई कहतीं 'ये राममनोहर के बच्चे हैं, अनाथ हैं, इनकी परवरिश करने वाला कोई नहीं है। यह थाती हमें सौंप कर उसने प्राण छोड़े थे।' इस अनाथ शब्द को अनेकों बार नानी जी के मुख से सुनते-सुनते हमें ऐसा प्रतीत होने लगा था, जैसे हमारा इस संसार में वास्तव में कोई नहीं है और हमारे नाना-नानी, मामा-मामी ही हमारे लिये सब कुछ हैं।

बाद में कुछ समझ आने पर हमने अपने पिता को जाना। हम लोग उनके साथ बातचीत भी करते, खाते-पीते, टहलने भी जाते, किंतु हृदय में पिता के प्रति जो प्रेम, श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिये थी, उसके लिये स्थान ही न था; उस स्थान में तो परम स्नेहमयी अम्मा के रूप में नानी जी प्रतिष्ठित थीं और उनके बाद जो जगह बची थी उसमें दया और क्षमा की मूर्ति श्रद्धेय मामा जी बिराजमान थे।

"जब निराला जी ने रूढ़ियों को तोड़कर अपनी पुत्री का विवाह किया था" शीर्षक लेख में लेखक ने जिस लड़की के पालन-पोषण में महाकवि को संघर्षों से जूझने की बात कही है, उसी लड़की के लिए स्वयं निराला जी ने अपनी "सरोज-स्मृति" नामक कविता में लिखा है:—

धन्ये मैं पिता निरर्थक था,
तेरे हित कुछ भी न कर सका।

× × ×

तू सवा साल की जब कोमल,
पहचान रही ज्ञान में चपल
मां का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण,
भरती जीवन में नव जीवन,
वह चरित पूर्ण कर गई चली,
तू नानी की गोद जा पली,
सब किये वहीं कौतुक-विनोद,
उस घर निशि-वासर भरे मोद।

हम भाई-बहन के प्रारंभिक संस्कार ननिहाल में ही संपन्न हुए। मैं १२ वर्ष का था, उस समय कक्षा चार उत्तीर्ण कर चुका था और हमारे संरक्षकों को हमारे यज्ञोपवीत-संस्कार की चिंता सताने लगी थी। किंतु उस वर्ष आचार्य महोदय के पत्रा के अनुसार न बनने से या अभिभावक की आर्थिक कठिनाइयों के कारण से जनेऊ संभव न हो सका। सन् १९२७ ई० में तेरहवें वर्ष मेरा जनेऊ होना निश्चित हुआ। गर्मियों के दिन थे। शायद चैत्र या वैशाख का महीना रहा होगा, जिसमें मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार बड़े समारोह पूर्वक सम्पन्न किया गया। पिता जी भी अपने भतीजे केशबलाल जी के सहित पधारे थे। आमंत्रितों और संबंधियों के मध्य मुझ शिखा-सूत्र-धारी ब्रह्मचारी को देखकर नानी जी के नेत्रों में आनन्दाश्रु झलकने लगे थे और अपनी गीली आँखें पोंछते हुए उन्होंने पिता जी से कहा था—अपने जीते जी इन बच्चों का विवाह भी देख लेती, इतनी अभिलाषा और है! बेटा! हम कगार के रूख हैं, आज मरें कि कल, कोई ठिकाना नहीं। इसलिए चाहते हैं कि राममनोहर के वंश को हर प्रकार सुखी-संपन्न देखकर, इस संसार से विदा होऊँ। इससे मुझे तो शांति मिलेगी ही, मैं अपनी बेटी को भी बता सकूँगी कि तेरा उत्तरदायित्व पूरा होगया है।

प्रत्युत्तर में पिता जी ने कहा था--अम्मा ! लड़के का विवाह तो मैं नहीं करूँगा। उससे तो मैं यही कहता रहूँगा कि यदि वह सुख से जीवन व्यतीत करना चाहता है, तो विवाह के चक्कर में कभी न पड़े। किंतु, सरोज दसवें वर्ष में है, उसके लिये आप चिंतित न हों, एक-दो साल के अंदर ही कोई अच्छा वर ढूंढ़ कर उसका विवाह कर दूंगा।

'सरोज-स्मृति' में निराला जी ने इस प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया है--

सासु ने कहा लख एक दिवस--
"भैया अब नहीं हमारा बस,
पालना-पोसना रहा काम,
देना 'सरोज' को धन्य-धाम,
शुचि वर के कर, कुलीन लख कर,
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर;
अब कुछ दिन इसे साथ लेकर
अपने घर रहो, ढूंढ़ कर वर
जो योग्य तुम्हारे, करो ब्याह
होंगे सहाय हम सहोत्साह।

स्पष्ट है कि कवि की सास जी का उपरोक्त मर्मस्पर्शी कथन बाद का है। यज्ञोपवीत के मण्डप में जो बातचीत हुई थी, उसे इसकी भूमिका कह सकते हैं। उस समय के वैवाहिक प्रसंग में मैं भी सम्मिलित किया गया था और बड़ा होने के कारण पहले मेरा ही व्याह होना भी चाहिये था किंतु, पिता जी ने अपने उत्तर में मेरा व्याह न करने तथा सरोज के व्याह करने की बात कही थी। संभवतः इसीलिये इस प्रसंग में नानीजी ने मुझे सम्मिलित नहीं किया और केवल सरोज के विवाह को लेकर पिता जी को उनके कर्तव्य एवं धर्म का मार्मिक शब्दों में निर्देश किया। इतना ही नहीं सरोज को साथ ले जाकर अपने ही घर रहने, वर खोजने तथा व्याह करने का भी उन्होंने आदेश दिया और उसमें सहर्ष अपने सहयोग देने की बात भी कह दी।

पिता जी सन् १९२१ से कलकत्ता में ही रहा करते थे। पहले 'वह 'समन्वय' के संपादन का कार्य करते थे, बाद में सन् २३ में 'मतवाला' के निकलने पर 'मतवाला मण्डल' के सदस्य हो गये थे और वहीं रहकर बाबू महादेवप्रसाद जी सेठ के प्रकाशनकार्य में हाथ बटा रहे थे। कभी-कभी आकर डलमऊ में हम लोगों को तथा गढ़ाकोला में भतीजों को देख जाया करते थे। यज्ञोपवीत के ठीक एक वर्ष बाद पिता जी कलकत्ते से लौटे थे और इस साल भर की अवधि में भी वह सरोज का व्याह कहीं स्थिर न कर सके थे। अब सरोज ११ वर्ष की हो चुकी थी। नानी जी उसके व्याह की चिंता में घुली जा रही थीं। उनकी आर्थिक स्थिति भी अब पहले जैसी नहीं थी, परिवार का बोझ बढ़ गया था। मामा का ब्याह हो गया था और संभवतः उनके एक कन्या, 'मनन्ना' (मनोरमा) का जन्म भी हो चुका था। नाना और बड़ी नानी का स्वर्गवास हो जाने

के बाद घर-गृहस्थी का संपूर्ण भार छोटी नानीजी पर ही आ पड़ा था। कान्यकुब्जों में दहेज की कुप्रथा के कारण लड़की का व्याह एक महान संकट है। नानीजी अकेले अपने दम से सरोज की शादी करने में असमर्थ थीं और पिता जी की लापरवाही में उस वक्त भी कोई अंतर नहीं आया था। इसी कारण नानीजी ने कुछ कटु शब्दों में कर्तव्य और धर्म का संकेत करके उन्हें सरोज को अपने साथ लिवा जाने की आज्ञा दी थी।

निश्चय ही उस समय अपनी सासुजी के उक्त प्रवचन से कवि महोदय की हृद्तन्त्री के तार जोर से झन-झना कर टूट गए थे। वातावरण जैसे स्तब्ध सा हो गया था और महाकवि हो गये थे जैसे संज्ञा-शून्य। प्रतिक्रिया अंतर्मुखी होकर रह गई, बाहर सब शान्त !

'सरोज-स्मृति' में पिता जी ने अपनी उस समय की स्थिति का हवाला इस प्रकार दिया है:—

सुनकर, गुनकर चुपचाप रहा,
कुछ भी न कहा,——न अहो, न अहा;

अपनी सासुजी के उपरोक्त हृदय-वेधी शब्द-वाणों से आहत, हतप्रभ एवं निरुत्तर निराला जी को अब वहाँ से अपने बच्चों को ले जाने के सिवा और कोई दूसरा चारा न था। अस्तु, दूसरी सुवह को, कानपूर जाने वाली गाड़ी से, मुझे और सरोज को लेकर पिता जी गाँव चले गए थे। यह घटना सन् १९२८ ई० की है।

उक्त घटना से संवन्धित 'सरोज-स्मृति' की अगली चार पंक्तियों को पढ़ने से पाठकों को यही ज्ञात होगा कि निराला जी अपनी ससुराल से केवल अपनी पुत्री को ही अपने घर लिवा ले गये थे। यथा :—

ले चला साथ मैं तुझे कनक
ज्यों भिक्षुक लेकर, स्वर्ण झनक
अपने जीवन की, प्रभा विमल
ले आया निज गृह-छाया-तल।

यहाँ जिस प्रकार सरोज के साथ मेरा गढ़ाकोला जाना पिता जी ने गौण कर दिया है उसी प्रकार सन्-संवत् का भी जिक्र नहीं किया है। किंतु, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में दिग्भ्रान्त लेखक ने पाठकों को भ्रमित करने की जो चेष्टा की है, वह हास्यास्पद है। उसने लिखा है :—

"अपने एक साहित्यिक शिष्य श्री शिवशेखर द्विवेदी से निराला जी ने इस समस्या की चर्चा की। उन्होंने निरालाजी की कठिनाई को समझ लिया और उनके साथ सहयोग करने का वचन दिया। अतएव अब इन्हीं शिवशेखर द्विवेदी के साथ सरोज का व्याह निश्चित हुआ।" मैं लेखक से पूछता हूँ कि महाशय आप तो बड़े जानकार हैं, निरालाजी की सभी बातें जानते हैं, जैसे

आप उनके प्राइवेट सेक्रेटरी ही रहे हों; फिर वतलाइये शिवशेखर जी से उक्त बात-चीत कब और कहाँ हुई थी ? स्थान और सन्-संवत् क्यों नहीं लिखा ?

पुनः उसी लेख में अगले पैराग्राफ में लिखा है:—"सन् १९३० का ज्येष्ठ मास था। निराला जी सरोज को उसके ननिहाल (डलमऊ) से अपने गाँव गढ़ाकोला लिवा लाये। पुत्र को वह वहीं छोड़ते आये और वहाँ यह कोई न जान सका कि सरोज को क्यों लिये जा रहे हैं? चारों भतीजे अब वयस्क हो गये थे। निराला जी उन्हें भी कहीं और जगह छोड़ आये।"

लेखक का उपरोक्त कथन चण्डूखाने की गप्प के सिवा और कुछ नहीं है। सन् १९३० ई० में सरोज न तो डलमऊ में थी और न उसे डलमऊ से कोई कहीं ले गया था। सन् ३० में न तो उसका विवाह ही हुआ था और न जेठ का महीना ही था। सन् १९३० में सरोज अपनी ससुराल ग्राम-इसिया, पो०-बछरावाँ, जिला-रायबरेली में थी। उसके दया नाम की एक कन्या हुई थी, संभवतः उस समय कन्या का जन्म होने को था या हो चुका था। श्रद्धेय पिता जी सन् ३० में लखनऊ में थे, शायद उसी वर्ष से वह वहाँ रहने लगे थे। सन् १९३० में पं० बिहारीलाल त्रिपाठी (निराला जी के भतीजे) कानपूर में थे। उन्होंने रूमाल का कारखाना, हटिया बाज़ार, कानपूर में खोला था। सन् ३० में सर्वश्री रामगोपाल, केशवलाल तथा कालीचरण, होवीचक, पो० नन्दोपुर, जिला-मेदनीपुर (बंगाल) में नौकरी करते हुए रह रहे थे। मैं सन् ३० में डलमऊ में था। उस समय करबन्दी आन्दोलन चल रहा था। अतः मैं एक काँग्रेसी सिपाही की भाँति डलमऊ और लालगंज-क्षेत्रों में आन्दोलन संबन्धी कार्य कर रहा था।

उक्त लेखक का यह कहना कि निराला जी केवल सरोज को लेकर गढ़ाकोला चले गए और पुत्र को वहीं छोड़ते गये, एकदम असत्य है। सबसे मज़े की बात तो यह है कि वहाँ यह कोई न जान सका कि सरोज को क्यों लिये जा रहे हैं?

इसी लेख में मैंने 'सरोज स्मृति' का वह अंश उद्धृत किया है, जिसमें निरालाजी की सासुजी ने उन्हें सरोज को अपने घर ले जाने, वर खोजकर विवाह करने के लिये मजबूर किया था और तभी वह डलमऊ से अपने बच्चों को गढ़ाकोला लिवा ले गए थे। इस प्रकार सासु के तीखे वचनों से आहत निराला की जगह कोई भी व्यक्ति होता, तो वह अपने बच्चों को फिर वहाँ रखना पसंद न करता। अस्तु, मेरे पिता ऐसी भूल क्यों करते, जबकि उनके घर में कोई दूसरी औरत भी नहीं थी और उन्हें गाँव में रहना भी नहीं था। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि पिताजी उस समय "मतवाला" के संपादक-मण्डल में थे और वह वहीं मतवाला के आफिस के ऊपर ३६, शंकर घोष लेन, कलकत्ता में रहते थे। अतः वह अकेले सयानी लड़की को गाँव कभी नहीं ले गये थे। वह हम दोनों को सन् १९२८ में गढ़ाकोला ले गये थे।

मेरी समझ में नहीं आता कि सरोज को इस प्रकार बिना किसी को बताये ले जाना, मुझे वहीं छोड़ आना तथा भतीजों को कहीं अन्यत्र छोड़ आने के लेखक के इरादे का क्या अर्थ है? घर वालों की चोरी से निराला की पुत्री का व्याह करना, रुढ़ियों तोड़ना है या विक्रय? लेखक का

यह प्रयास सर्वथा निन्दनीय है। इससे निरालाजी की प्रतिष्ठा को धक्का और उनके महान व्यक्तित्व पर धब्बा लगता है।

निरालाजी के व्यक्तित्व की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने कभी कोई कार्य किसी से छिपा कर नहीं किया। जिसे उन्होंने उचित और करणीय समझा, उसे डंके की चोट पर किया। छिपाव या दुराव उनके जीवन से कोसों दूर थे। लेखक ने अपना अज्ञान, जो दूसरों पर लादने की कुचेष्टा की है, वह अक्षम्य अपराध है। उसने जो कुछ भी लिखा है, वह या तो उसकी अपनी कल्पना है या किंवदतियों पर आधारित है। उपरोक्त पैराग्राफ के सभी वाक्य निरर्थक एवं मिथ्या हैं। उसी पैरा का अंतिम वाक्य लीजिए—"चारो भतीजे अब वयस्क हो गये थे, निराला जी उन्हें भी कहीं और जगह छोड़ आये।"

मैं कहता हूँ कि लेखक महोदय यदि आपको वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं था, तो आपने यह सब लिखने का कष्ट क्यों किया ? और यदि जानकारी थी, तो आपको बताना चाहिए था कि निराला जी अपने वयस्क भतीजों को, क्यों और कहां छोड़ आए थे ? उनके वयस्क भतीजे गाय, भैंस, घोड़े, गधे तो थे नहीं जिन्हें निराला जी किसी काँजीहाउस में बंद करा आए थे ? और, नहीं बतला सकते तो जाने दें। मेरा खयाल है कि लेखक को इतनी जानकारी तो अवश्य ही होगी, कृपया बताएँ कि आप उस समय कहाँ थे, जब निराला ने रूढ़ियों को तोड़कर अपनी पुत्री का विवाह किया था ?

मेरा ऐसे निराला-भक्त लेखकों से यही विनम्र निवेदन है कि अभी अनेकों व्यक्ति मौजूद हैं, जो निरालाजी के मित्र हैं और वर्षों जिनका निरालाजी से संपर्क रहा है तथा उनके परिवार के लोग भी हैं, जिनसे निराला के व्यक्तित्व पर कलम उठाने के पूर्व परामर्श करके संबन्धित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यदि वे ऐसा कर सकें, तो निश्चय ही निराला के जीवन पर उनका गवेषणात्मक लेख प्रामाणिक एवं सर्वमान्य होगा और उनकी कल्पना-शक्ति का भी व्यर्थ ही क्षय न होगा। ऐसे लोगों के रहते हुए, जो निराला के विषय में हज़ार गुना ज्यादा जानते हैं, निराला के जीवन पर कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा ही होगी।

अब मैं पुनः पूर्व प्रसंग से आगे की कुछ बातों का उल्लेख कर, संक्षेप में सरोज की शादी का ज़िक्र करूंगा। लेख के कलेवर-वृद्धि के कारण ही ऐसा करना पड़ रहा है, पाठक क्षमा करेंगे।

सन् १९२८ में आमों की फसल में पिता जी लखनऊ से मुझे और सरोज को गढ़ाकोला लिवा लाए। मैं पहले भी दो-एक बार अपने गाँव जा चुका था। [illegible] [illegible] [illegible] को पिता जी पढ़ाते थे, मैं उस समय दर्जा चार पास कर चुका था और पिताजी से मैं और श्री [illegible] तिवारी अंग्रेज़ी पढ़ा करते थे। पाटी-पट्टिका फेंकने की बात भी निबंध [illegible] [illegible] [illegible] हिन्दुस्तान' जो लिखी है, वह गलत है।

कुछ दिनों तक हम लोगों के साथ पिता जी गाँव में रहे, फिर हमें वहीं छोड़कर कलकत्ता चले गये। घर में श्री केशवलाल श्री कालीचरण, मैं तथा सरोज रह गये। उस समय श्री [illegible] लाल त्रिपाठी (निराला जी के बड़े भतीजे) रंगून में रहते थे। वह पिता जी के पास से भाग कर

रंगून पहुँचे थे और वहाँ रूमाल का कारबार करते थे। पं० रामगोपाल जी (बिहारीलाल के छोटे भाई) मेदनीपुर, बंगाल में पहले से नौकरी कर रहे थे, उन्होंने अपने सबसे छोटे भाई श्री कालीचरण की नौकरी ठीक करके बंगाल चले आने को लिखा। मेरे मन में भी उमंग थी कि एक बार कलकत्ता देखूं। अतः भाई कालीचरण के साथ मैं भी चलने को तैयार हो गया। बिहारी लाल जी की स्त्री को, जो हम लोगों की भाभी थीं, उनके मायके से विदा कराकर गढ़ाकोला ले आया गया। भाभी जी, श्री केशवलाल तथा सरोज को घर में छोड़कर, फरवरी सन् १९२९ में मैं भाई कालीचरण के साथ बंगाल की यात्रा पर चल पड़ा। उस समय मैं पंद्रहवें वर्ष में था तथा भाई कालीचरण जी सोलहवें वर्ष में रहे होंगे। पसींजर और मेलगाड़ी से चढ़ते-उतरते, हम लोग दूसरे दिन प्रातः ९ बजे के लगभग हबड़ा स्टेशन पहुँचे। उस विशालकाय स्टेशन से किसी प्रकार निकल कर बाहर आए, तो वहाँ रिक्शों, घोड़ागाड़ियों और टैक्सियों की अपार भीड़ में जा पड़े। वह दृश्य आज भी याद आता है, तो हँसी आती है। कहाँ जाना है ? की आवाज़ के साथ एक जन-समूह ने हम लोगों को घेर लिया। आइए मैं ले चलता हूँ, कहकर एक रिक्शावाला कालीचरण जी से बिस्तर छीनकर अपने रिक्शे की ओर चल पड़ा, तो दूसरे ने उन्हें ही पकड़ लिया और खींचता हुआ अपनी गाड़ी तक ले गया। वहाँ से उन्होंने किसी तरह अपने को छुड़ा कर बिस्तरवाले रिक्से के पास जाकर अपना बिस्तर बंडल उठाया ही था कि एक तीसरे ने उसे छीन लिया और अपने रिक्शे की तरफ ले भागा। वह उसकी तरफ लपके तो रास्ते में उन्हें एक टैक्सी वाले ने पकड़ लिया और खींचता हुआ अपनी टैक्सी तक ले गया। मैं तो यह तमाशा देखकर चकित रह गया और भाई कालीचरण जी इस खींचातानी से परेशान होकर रोने लगे किंतु उसी जगह नियुक्त एक पुलिस के सिपाही ने हमारी मदद की। उसने हमारे गंतव्य स्थान का पता पूँछ कर, हम लोगों को एक घोड़ा-गाड़ी में बैठाल दिया और डेढ़ रुपये में उस गाड़ीवाले से उस पते पर छोड़ आने को कह दिया। थोड़ी देर में उसी गाड़ी से हम ३६, शंकर घोष लेन के 'मतवाला' आफ़िस में जा पहुँचे।

वहाँ पहुचने पर सबसे पहले हमें सौम्यमूर्ति बाबू महादेवप्रसाद जी सेठ के दर्शन हुए। हमारा परिचय पाते ही उन्होंने पिता जी के पास नौकर से सूचना भेज दी। पिता जी ऊपर दो मंजिले से उतरते हुए नीचे चले आये। हम लोगों ने उनकी चरण-रज माथे से लगाई और अपने तथा घर के कुशल समाचार कहे। हमें डर था कि पिता जी शायद विना आज्ञा कलकत्ता आने के लिये मुझे डाटेंगे, कान पकड़ कर दो-एक चाँटे भी लगायेंगे, किंतु वैसा कुछ न हुआ। नौकर से हम लोगों के लिये जल-पान लाने को कह कर, वह हमें ऊपर लिवा ले गए। वहाँ भूमि पर ही पिता जी की शैय्या लगी थी और चारों ओर छपी हुई ताज़ी पुस्तकों के ढेर लगे थे। 'दिल्ली का दलाल', 'चार बेचारे', 'बुधुआ की बेटी' आदि सभी उग्रजी के उपन्यास थे। उस समय उग्रजी के कथा-साहित्य का काफ़ी प्रचार था।

दो दिन कलकत्ते में रुकने के बाद पिता जी के साथ हम लोग बँगाल की यात्रा पर भाई रामगोपाल जी के पास मिलने चल पड़े। कालीघाट से स्टीमर में बैठे और तमलुक में उतर कर पैदल यात्रा करके चार बजे तक नन्दोपुर पहुँच गए। बहुत दिनों में भाई रामगोपाल जी को देखा

था, बड़ी प्रसन्नता हुई। वहाँ हरे-हरे नारियलों का मीठा दूधिया जल पीने में बड़ा आनन्द आता था। बंगाली खाने का आनंद भी वहीं आया। रामगोपाल दादा के पास कालीचरण जी को छोड़ कर, पिता जी के साथ हम पुनः कलकत्ता वापस आ गए।

'मतवाला'-कार्यालय में रहते हुए हमें पिता जी के जिन मित्रों का परिचय ज्ञात हुआ था, उनके नाम इस प्रकार हैः—बाबू महादेवप्रसाद जी सेठ, श्री मुं० नवजादिकलाल श्रीवास्तव, श्री शिवपूजनसहाय, श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', श्री रामलाल गर्ग, श्री विनोदशंकर व्यास, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री शिवशेखर द्विवेदी, श्री दयाशंकर वाजपेयी, श्री परमानन्द शर्मा। इन महानुभावों के दर्शनों का लाभ मुझे पहले-पहल कलकत्ता में हुआ था।

हमारी पढ़ाई प्रारंभ हो गई थी। स्वयं पिताजी ही हमें पढ़ाया करते थे। शाम को टहलने जाता था। एक दिन साइकिल खरीदने के लिये मैंने पिता जी से आग्रह किया और संभवतः वह हमारे प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लेते, किंतु सेठ जी ने ऐसा न करने के लिये पिता जी को सलाह दी। उन्होंने मुझे भी समझाया, कहाः—"साइकिल लेकर क्या करोगे। यहाँ तो दो-चार साइकिल-चालक एक्सीडेन्ट में रोज़ मरते हैं। यहाँ साइकिल पर घूमना खतरे से खाली नहीं है।" सेठ जी का सभी आदर करते थे। मेरी भी उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी, अतएव उनकी बात मान गया। उसी दिन से प्रतिदिन टहलने जाते समय मुझे पिता जी चार आने पैसे देते और कहते कि बस से किले के मैदान तक टहल कर लौट आना।

कलकत्ते में ही मुझे श्री शिवशेखर द्विवेदी से एक दिन यह ज्ञात हुआ कि पिता जी सरोज का विवाह उनसे करना चाहते हैं और दहेज में वह हमारी पैतृक संपत्ति उन्हें देना चाहते हैं।

एक दिन पढ़ाते समय पिता जी ने सरोज को गाँव में छोड़ कर कलकत्ता चले आने की हमारी बेवक़ूफी का संकेत किया, यद्यपि मैं गांव में उसका पूरा प्रवन्ध करके ही आया था।

एक दिन 'मतवाला' के संपादकों में किसी बात पर बहस छिड़ गई। उस बहस ने एक घनघोर विवाद का रूप धारण किया। फिर क्या था, दोनों ओर से अपने-अपने समर्थन में अकाट्य तर्क प्रस्तुत होने लगे। विवाद पिता जी और बाबू महादेवप्रसाद जी से छिड़ा था। मतवाला-मण्डल के उपस्थित सदस्यों ने सेठ जी का साथ दिया और इस प्रकार सेठ जी का पक्ष प्रबल पड़ रहा था किंतु, वाहरे पिताजी! वह अकेले होते हुए भी मतवाला के इतने महारथियों का सामना डटकर कर रहे थे और उनके सम्मिलित प्रहारों का मुँहतोड़ जवाब दे रहे थे। वह विवाद उग्र से उग्रतर होकर उग्रतम की सीमा में पहुँच चुका था। पिता जी एकाएक शांत हो गए। अपने मतवाले मित्रों का यह विवादी रूप देख कर, उनके हृदय में विरक्ति का भावो-दय हुआ और मुझे लेकर वह वहाँ से चल दिये। इस प्रकार पूरे छः वर्षों के बाद (सन् २३ में जब से 'मतवाला' निकला था, तब से अप्रैल १९२९ तक) 'मतवाला' की सेवाओं से मुक्त रहे।

'मतवाला' से अलग होकर पिता जी शिवशेखर जी के निवासस्थान ताराचन्द दत्त स्ट्रीट पहुँचे। वहाँ पर शिवशेखर जी, दयाशंकर वाजपेयी तथा परमानन्द शर्मा सभी उपस्थित थे। ये लोग पिता जी के शिष्यवत् थे। अस्तु, मुझे उनके हवाले करते हुए पिता जी ने कहा—"देखो,

रामकृष्ण को अपने पास रखना और दो-चार रोज़ में इसको घर भेजने की व्यवस्था कर देना। 'मतवाला' वालों से मेरा झगड़ा हो गया है, अब मैं वहाँ नहीं रहूँगा। और, आज मैं संन्यास ले रहा हूँ, तुम लोग कालीघाट तक मेरे साथ चल सकते हो ?"

मेरे खाने-पीने की व्यवस्था करके शिवशेखर जी अपने मित्रों सहित पिताजी की संन्यास-दीक्षा देखने तथा उन्हें विदा देने के लिये उनके साथ चल पड़े। मुझसे घर पर ही प्रतीक्षा करने को कहा गया। अपरान्ह में २ बजे के लगभग शिवशेखर जी लौटे और उन्होंने बताया कि निरालाजी संन्यासी हो गये। यह शुभकर्म कालीघाट में संपन्न किया गया। पहले उन्होंने अपना सिर मुँड़ाया, फिर गंगा-स्नान किया और तत्पश्चात् अपने कपड़े-लत्ते वहीं भिखमंगों को देकर, शिखा-सूत्र त्यागी संन्यासी का रूप धारण कर लिया। उपदेश में इन भक्तों को भी अवश्य कुछ दिया होगा। कुछ दूर तक ये लोग उनके साथ चले, फिर लौट जाने की आज्ञा पाकर, प्रणाम कर वापस चले आए।

रात हम सभी लोग उस विशाल भवन की सतमंज़िली छत पर लेटे हुए उन घटित घटनाओं पर बातचीत कर रहे थे। संभवतः रात के ११ बजे का समय रहा होगा, दरबान ने शिवशेखर बाबू को आवाज़ दी। उसने कहा—नीचे कोई सज्जन आपको बुला रहे हैं। शिवशेखर जी नीचे गए और थोड़ी ही देर में पिताजी के साथ ऊपर उसी छत में दाखिल हो गए। उनका भी बिस्तर बिछाया गया। उस छत में काफी ठंडक थी, हम लोग अपनी अपनी रज़ाइयाँ ओढ़ कर लेटे थे। पिताजी से भी रज़ाई लेने के लिए कहा गया, किंतु वह बोले—मैं नहीं ओढ़ूँगा। यह दक्षिणी वायु ही तो बंगाल की कविता है, तुम इसका आनन्द क्यों नहीं लेते? दयाशंकर जी ने कहा—पं० जी हमें तो जाड़ा लगता है, इस कविता का आनन्द रज़ाई ओढ़कर ले रहे हैं। उसके बाद सभी सो गये थे। सवेरे ज्ञात हुआ कि उस कविता ने पिताजी को वहाँ ठहरने नहीं दिया। शीताधिक्य से वह नीचे के कमरे में चले आए थे और वहीं सोये थे।

पिताजी के पुनः लौटकर आने से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। संभवतः संन्यासी होकर वह बेलूरमठ में श्री १०८ परमहंस स्वामी रामकृष्णदेव के आश्रम में गये होंगे और वहाँ उनके गुरु स्वामी शारदानन्द जी महाराज तथा अन्य संन्यासियों ने अवश्य ही उनको संन्यास-धर्म स्वीकार करने की आज्ञा न दी होगी, अथवा सरोज के विवाह के बाद ही संन्यासी होना निश्चित हुआ होगा। जो भी हो, पिता जी पुनः हमें प्राप्त हो गए, इसकी हमें खुशी हुई थी।

दूसरे ही दिन 'मतवाला' से उन्होंने अपना प्राप्तव्य लिया और मुझे साथ लेकर अपने घर (गाँव गढ़ाकोला, उन्नाव) की ओर प्रस्थान किया। हम लोगों को विदा करने के लिये पिताजी की शिष्यमण्डली हबड़ा स्टेशन तक आई थी। पिताजी ने दिल्ली एक्सप्रेस में बैठकर उन लोगों से विदा ली।

काशी पहुँचने पर पिताजी ने हमें वहीं उतरने के लिये कहा, और स्वयं भी उतर पड़े। थोड़ी देर में लखनऊ जाने वाली गाड़ी, शायद देहरादून एक्सप्रेस थी, आकर रुकी और पिताजी मुझे गाँव चले जाने का आदेश देकर उसी गाड़ी से लखनऊ चले गए।

हम अपने गाँव गढ़ाकोला आगए थे। ठीक दो दिन बाद पिता जी भी पहुँच गए थे। जेठ का महीना था, गर्मी ज़ोरों की थी, लू चल रही थी। केशव दादा की गाँववालों ने पिताजी से कुछ शिकायत की थी, जिससे दंडित होने के कारण पिताजी के संदूक से कुछ रुपये लेकर वह भाग निकले थे। कुछ दिनों में ज्ञात हुआ था कि बाराबंकी में वह किसी आटा मिल में नौकर हो गए हैं। कुछ रोज़ नौकरी करने के बाद वह भी रामगोपाल के पास बंगाल चले गए थे।

बिहारीलाल को रंगून से चले आने के लिए पिता जी ने कई पत्र दिये किंतु आने की कौन कहे, उनके पत्रों का उत्तर भी नहीं दिया गया। अस्तु, पिताजी ने निश्चय किया कि जब बिहारी लाल को अपनी स्त्री का कुछ भी ख्याल नहीं है, तो उनकी बहू को उसके मायके भेज दिया जाय। अतः वह स्वयं ही बिहारीलाल जी की पत्नी को लेकर उसके मायके भेजने चले गए। उन्हें कानपुर वाली गाड़ी से जाना था। एक जनाने डिब्बे में भाभी को बिठाल दिया गया था। रास्ते में उस स्टेशन पर, जहाँ उनकी बहन ब्याही थी और उस समय वह अपनी ससुराल में ही थी, भाभी उतर गईं। जब पिताजी कानपुर पहुँचे, तो उन्हें बहुत तलाश किया, किंतु वह क्यों मिलने लगीं, वह तो पहले ही उतर कर अपनी बहन के घर पहुँच चुकी थीं। ख़ैर, पिताजी बहुत ही परेशान होकर, बड़बड़ाते हुए शाम को घर लौट आए।

आषाढ़ बीत गया। आम उस वर्ष कम हुए थे। रुपयों का कोई प्रबन्ध न हो सका, लगनें व्यतीत हो गईं। सरोज की शादी का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। विवश होकर पिताजी ने निश्चय किया कि अब जैसे भी हो सरोज का विवाह करना ही चाहिये और उन्होंने शिवशेखर द्विवेदी को एक पत्र लिखा। चार-छः दिनों के अंदर ही शिवशेखर जी आ गये। मन्नी पंडित जी जो हमारे आचार्य हैं, पिता जी ने सरोज के विवाह के सम्बन्ध में उनसे परामर्श किया। उन्होंने कहा था, लग्न नहीं है, विवाह अभी स्थगित कर दें, फिर सुसमय आने पर करें तो अच्छा हो। पिताजी ने कहा था, पं० जी, विवाह तो मैं करा लूंगा, आप तो उसे आकर देखें, मैं इसके लिए आपको आमंत्रित करता हूँ। फिर, मुझे अलग ले जाकर कहा—मेरे पास सरोज को विवाह में देने के हेतु कुछ भी नहीं है, अतः मैं अपने हिस्से की कुल जायदाद सरोज को देना चाहता हूँ, तुम क्या कहते हो ? मैंने कहा था—पिता जी मुझे भी यह स्वीकार है, आप देना चाहते हैं, तो अवश्य दे दें। उसके बाद जो हुआ, उसका मेरे ही द्वारा लिखित 'अन्तरवेद' के लेख का एक अंश इस प्रकार है :—

"सन् १९२९ में अर्थाभाव की स्थिति में ही उन्होंने सरोज का विवाह किया था। उस विवाह ने कान्यकुब्ज-समाज में एक तहलका मचा दिया था। विवाह में दान-दहेज कुछ नहीं दिया गया। नातेदार और रिश्तेदारों को न्योता नहीं दिया गया और न बारात ही बुलाई गई। श्रावण का महीना था; शायद शुक्रास्त भी था। पं० जी ने कहा था कि लग्न नहीं है विवाह नहीं हो सकता। समस्त गाँव ने विरोध किया कि श्रावण में और जब कि लग्न नहीं है, विवाह करना अनुचित है। परंतु, निराला जी तो रूढ़िग्रस्त समाज के समक्ष एक आदर्श रखकर बतला देना चाहते थे कि सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने तथा दहेज-प्रथा, जिसके कारण समाज

अवनति के गर्त में गिरता जा रहा है, का अंत करने पर ही समाज का अस्तित्व रह सकेगा तथा वह फूले-फलेगा। अस्तु, वर महोदय को (श्री शिवशेखर द्विवेदी को) पहले से ही पत्र द्वारा बुला लिया गया था। पिताजी के शिष्य होने के नाते शिवशेखर जी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

तुम करो व्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम
लग्न के; पढ़ूँगा स्वयं मन्त्र
यदि पंडित जी होंगे स्वतन्त्र। —'सरोज-स्मृति'

वर-वधू के लिए खादी के कपड़े बनवाए गये। घर में कोई स्त्री नहीं थी, पं० जी से लेकर प्रजावर्ग तक सभी विरोधी थे, इसलिए निराला जी ने स्वयं अपने ही हाथों सारे घर को लीप-पोत कर स्वच्छ किया। उसके बाद स्वयं ही मगरार, गढ़ेवा, जाजनपुर, कटहल, मोहकमगंज, मुरमहिमपुर आदि गावों के कान्यकुब्ज मित्रों को कन्या का विवाह देखने हेतु आमंत्रित कर आए। संध्या होते-होते सभी लोग जमा होने लगे। गाँव के लोगों ने भी अब समझ लिया कि विवाह अब टलेगा नहीं, होकर रहेगा; तो स्वयं ही आकर सम्मिलित होने लगे। पं० जी और प्रजावर्ग सभी उपस्थित हो गए। गाँव के मेहतरों ने अपने बाजे बजाकर सहयोग किया। स्त्रियों ने मंगल गान प्रारंभ किए। विवाह के गीत होने लगे। पं० जी ने आँगन में एक खंभा गड़वाया, कलश रक्खा गया, गौरी-गणेश का पूजन, हवन, विवाह सभी कृत्य एक डेढ़ घंटे में समाप्त हो गए। तत्पश्चात् आगंतुकों को पेड़े खिलाकर मुँह मीठा किया गया तथा ससम्मान बिदा किया गया।

देखा विवाह आमूल नवल
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।—'सरोज-स्मृति'

विवाह के कुछ दिनों बाद पिता जी ने सरोज को और मुझे डलमऊ भेज दिया था और वहीं से जाड़ों में सब कुछ देकर उसको ससुराल विदा किया गया था। इसका स्पष्टीकरण पिता जी के उस पत्र से हो जाता है, जिसे उन्होंने दिसंबर १९२९ को मेरे पत्र के जवाब में मामाजी को लिखा था ;—

गढ़ाकोला, मगरायांर, उन्नाव
२६-१२-२९

चिरंजीव रामधनी,

रामकृष्ण का लिखा हुआ एक पत्र हमें मिला था। उससे तुम्हारे वहाँ के समाचार मालूम हुए। यहाँ सब कुशल है। कुछ दिनों में हम लखनऊ जायँगे। अपनी ख़ैरियत के हाल देते जाना। अम्मा को प्रणाम। तुम लोगों को आसीस, मनन्ना को स्नेह।

द्विवेदी जी का पत्र, अगर सरोज तुम्हारे पास आवे तो जवाब लिख देना। रामकृष्ण से लिखना सीख लो।

—सूर्यकान्त त्रिपाठी

श्री प्रयागदत्त शुक्ल

महाकवि निराला : एक रेखाचित्र

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के सम्वन्ध में लिखते समय मन में कुछ संकोच होता है—क्योंकि उनका जीवन ही रहस्यमय है और उनका समझ पाना भी सरल नहीं है। एक बार उनके सम्वन्ध में एक मित्र ने कहा था—

साधक ! तेरी "साधना" सफल हर काम निराला।
सत्य ही सकल आच्छादित आदृत नाम निराला॥

मेरा उनका परिचय ४० वर्ष पूर्व (नागपुर कांग्रेस के बाद ही) कलकत्ते में हुआ था। उस समय मैं १४० हरीसन रोड के ऊपर के कमरे में स्व० राधामोहन गोकुलजी के साथ दो मास तक रहा था। वहीं पर तीन या चार बार उनसे मिलने का अवसर आया और उस समय वे लगभग २५ वर्ष के सुन्दर पुष्ट युवक थे। मेरे मित्र श्री गंगाप्रसाद भोतिका ने मुझे बताया था कि "वे रामकृष्ण मिशन के 'समन्वय' पत्र में लिखते हैं और हिन्दी के कवि हैं।" बाद में उनकी कविता सुनने का भी अवसर मिला पर मैं उनकी रचना अच्छी तरह समझ नहीं पाया। उनकी कविता वास्तव में मुझे निराली महसूस हुयी और मैं आकर्षित नहीं हो सका। सच पूछिये तो ऐसी कविता सुनने का मुझे अभ्यास नहीं था। परम्परागत शैली से परिचत कवि और लेखकों के लिए निराला जी की नवीनता दुर्बोध सी लगती थी। हुआ भी ऐसा ही--हिन्दी साहित्य-जगत में इस विचार-प्रणाली पर विवाद भी चला और स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तो निराला जी के छन्दों को "रबड़-छन्द" कहते थे। हम देखते आ रहे हैं कि प्रत्येक परिवर्तन का कुछ विरोध तो होता ही है--पर निराला अपनी मस्ती से चलते रहे, संघर्षों से जूझते रहे—परिणाम यह हुआ कि उन्हें सिद्धि मिल गयी और विरोध शांत हो गया।

निराला जी के जीवन का आधा भाग बंगभूमि में ही व्यतीत हुआ और इसी कारण बंगला का ही संस्कार उन पर अधिक रहा। इस समय तक बंगला की आधुनिक काव्य-धारा भी पुष्ट हो चुकी थी जिसमें नवीन भावनाएँ, नवीन दृष्टिकोण और उसकी प्रकाशिका नवीन भाषा प्रकट होती थी। महाकवि रवीन्द्र का असर हिन्दी पर भी हुआ। उसी प्रभाव से हमारे मध्यप्रदेश के कवि मुकुटधर पाण्डेय ने कुछ कविताएँ पहले पहल हिन्दी में लिखीं—यह बात सन् १९१५–१६ की है। इसी समय से हिन्दी में नवीन छन्द-प्रणाली "छायावाद" का स्रोत बहा। आगे चल कर इसीका नाम निराला-प्रसाद और पन्त-युग हो गया।

वास्तव में निरालाजी काव्य-क्षेत्र में सबसे बड़े प्रयोगवादी रहे हैं। उन्होंने भाव, भाषा तथा छन्द को जीवनगति के साथ नये नये रूप, रंग तथा अभिव्यक्ति देने में अधिक प्रौढ़ता और सतर्कता दिखलायी है। उन्होंने अपने भावों को जीवन में उतारने की भी चेष्टा की है। दारागंज में वे मुझे ऐसे दिखायी देते थे, जैसा कि कबीर ने एक पद में कहा है कि--"साधो सहज समाधि-भली। जहं जहं डोलूं सो परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा।" कृत्रिमता को तो उन्होंने जीवन से पृथक् ही कर दिया था।

निराला जी की बहुत सी रचनाएँ मैंने देखा और कुछ पढ़ा भी। उन्होंने तुलसीदास अनामिका, परिमल, गीतिका, प्रबंधपद्म, कुल्लीभाट, बिल्लेसुर बकरिहा, कुकुरमुत्ता आदि मौलिक ग्रंथ साहित्य को भेंट किया और अन्य भाषाओं के १८ ग्रंथ हिन्दी को अनुवाद रूप में प्रस्तुत किये, जिनमें से नागपुर के रामकृष्ण मिशन ने ३-४ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अनामिका में "राम-की शक्ति पूजा", परिमल की "विधवा का सुन्दर करुण चित्र" मन में जो भाव-निर्माण करता है वही कवि की सफलता है! यों तो उनकी रचनाओं में दर्शन की सुन्दर अनुभूति होती है। इसी तरह के भाव हमें सूफियों के सूत्रों में भी मिलते हैं। हमें संसार के सभी साहित्यकारों का एक ही लक्ष्य दिखायी देता है "सारस्य का साक्षात्कार"। इसमें भी निरालाजी सफल हुए हैं। मानवता के प्रति उनका दर्शन अधिक स्पष्ट है। साथ ही निराला जी पूंजीवाद-विरोधी वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। दुर्भाग्य है जैसा कि हमारी स्वयं की अनुभूति है, इस महान कवि को भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये परिस्थितियों से काफी संघर्ष करना पड़ा है जिससे उनकी शक्तियां भी समय से पूर्व शिथिल सी दिखायी देती थीं पर मुख-कमल की कान्ति में निराशा की कोई झलक न थी। एक मित्र ने कहा भी है--"कितनी आंचों के बाद, स्वर्ण तेरा निखरा है और उसी के प्रताप से उसका प्रकाश बिखरा है।" मुझे यही जंचता है कि संघर्ष ने निराला का जीवन व्यापक और विराट बनाया है, और लोगों को उनमें पागलपन दिखायी दिया। यह देखा गया है कि ऐसे पागलपन में प्रायः मानवता के दर्शन होते हैं। ऐसे पागलों के द्वारा ही देश और साहित्य का बहुत कुछ कल्याण हुआ है।

मैंने जब जब उन्हें देखा--उनकी आंखों की चमक ने मेरे मन को भास करा दिया कि उनकी आंखें मानों कुछ खोज रही हैं। उनके व्यक्तित्व से पता चल जाता था कि वे क्रान्तिकारी साहित्य-स्रष्टा हैं। उनका दीर्घ आकर्षक आकार, भव्य दार्शनिक मुद्रा, पृथुवक्षस्थल और वैसावड़ी शरीर आकर्षक था। इसी तरह उनका साहित्य भी बहुमुखी प्रतिभा प्रकट करता है। वे संगीत के भी प्रेमी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में वीर, शृंगार, करुण, हास्य, व्यंग आदि का भी सुन्दर निर्वाह किया है। तभी बहन महादेवीजी कहती हैं--"उनका जीवन शैशव की निहारिका से तारुण्य के प्रखर आलोक तक वंगभूमि में लक्षित हुआ है। अतः भावमयी कोमलता जो हर कठोरता को चुनौती देने की अजस्त्र शक्ति रखती है, उनके स्वभाव की सहजात कही जा सकती है। उत्तर उनके लिये संघर्ष-क्षेत्र रहा है जहाँ जप-तप कर उनके जीवन ने समवेदना और मानव मात्र की समानता का दर्शन प्राप्त किया है। आज वे वीतराग कवि और भावुक संन्यासी दोनों

एक साथ हैं। कोई भी युगस्रष्टा साहित्यकार व्यक्ति मात्र न रह कर एक संस्था बन जाता है। उसकी विशेषता असाधारण में न होकर उस अतिसाधारणता में है जो व्यष्टिगत सुख-दु:खों को अपना बनाकर सम्पूर्ण मार्मिकता के समष्टि को लौटा देने की क्षमता रखती है।"

स्वभावत: निरालाजी बड़े ही मिलनसार और महान उदार थे। कई साहित्यिक मित्रोंने उनकी उदारता की रोचक कहानियां अंकित की हैं। इतना होने पर वे बड़े कठोर भी थे। उन्होंने कभी कभी बड़े बड़े साहित्यकारों को झकझोरा भी है। साहित्य-जगत उनको "सनकी मौला" कहता रहा परन्तु मेरी दृष्टि में वे विवेकपूर्ण जागरूक थे। भीतर से कोमल किन्तु बाहर से कठोर अवश्य थे। मेरे चचा आयुर्वेदपंचानन पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल जब उनसे मिलने के लिये दारागंज पहुँचते थे तो उनके लिये शुद्ध फलाहारी मिठाई लाने में नहीं चूकते थे। एक घटना मुझे आज भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन "काशी अधिवेशन" की याद है। जब निरालाजी कविता का पाठ कर रहे थे कि अचानक बिजली बन्द हो गयी और कार्यवाही रुक सी गयी, किन्तु निराला जी खड़े सस्वर बराबर कविता-पाठ करते रहे। कुछ देर बाद ज्योंही बिजली लौट आयी, आचार्य पण्डित रामचंद्रजी शुक्ल ने पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री से कहा कि—"आप निराला जी से कहिये कि अब छायावाद हट गया है। अंधकार दूर हो गया है। प्रकाशवाद आया है, अब बैठ जायें।" शुक्लजी के इस व्यंग से कुछ लोग हँस पड़े पर निरालाजी ने कहा कि "छायावाद ने ही गयी हुयी रोशनी जाग्रत कर दी है।"

पिछले कुछ वर्षों से मेरा यह क्रम चल रहा है कि मैं माघ में प्राय: नागपुर से प्रयाग पहुँचा करता हूँ। गंगा-स्नान के बाद उनके दर्शन प्राय: कर लिया करता था। मेरे साथ उनका व्यवहार सदैव सरस रहा। ज्योंही मुझे देख लेते चारपाई पर बैठे हुए तमाखू बनाने लग जाते थे और बैठने के साथ ही तमाखू नजर करते थे। तमाखूवाली घटना की भी एक कहानी है। सन् १९२५ की बात है, उन्नाव जिले के पुरवा ग्राम में कुछ दिन निरालाजी ठहरे थे और मैं भी अपनी समुराल गया था। एक दिन प्रसंगवश बिल्लेश्वर जाने का अवसर आ गया। पुरवा के बाहर तालाब के किनारे कुछ देर तक रुक गये। वहीं मैंने तमाखू बनाई और निरालाजी के सामने हाथ किया। उन्होंने उसी दिन मेरे हाथ की तमाखू खायी किन्तु तब से वे बड़ी सतर्कता के साथ सबसे पहले मुझे तमाखू देने में नहीं चूके।

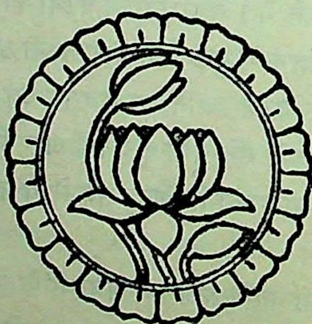
एक बार मैं दारागंज में श्री कालिकाप्रसाद अवस्थी के साथ निरालाजी से मिलने गया। साथ में मेरा दौहित्र भी था। यह बात सब सन् १९५९ माघ की है। तमाखू देने के बाद निराला जी ने कहा—"शुक्लजी आपने "सुकुल की बीबी किताब पढ़ी है।" मैंने कहा कि "मेरी बीबी पुरवा में ही मर चुकी।" वे हँस पड़े और कुछ बोलना चाहते थे कि अवस्थी जी ने प्रसंग ही बदल दिया। खैर, निरालाजी साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, किन्तु पत्रकार भी थे। सम्वत् १९८० में 'मतवाला' का प्रकाशन कलकत्ते से आरंभ हुआ। उसके प्रत्येक अंक में निरालाजी की एक कविता प्रकाशित होती थी परन्तु दो वर्ष बाद वह बन्द हो गया। जेष्ठ कृष्ण सम्वत् १९८९ में

फिर से निरालाजी के सम्पादकत्व में "रंगीला" साप्ताहिक पत्र निकला। उसके मुख पृष्ठ पर निम्न पद्य अंकित था—

पुरुष प्रकृति तमज्योति दिवस निशि कल्प तल्प पर।
एक रंगीला रूप खिला सब विश्व चराचर॥

वास्तव में निरालाजी का यही लक्ष्य था और इसी दृष्टिकोण से उन्होंने साहित्य का सृजन किया। हिन्दी के काव्य को उनकी देन महान है। इस छोटे से संस्मरण में उनके साहित्य की समीक्षा करने का स्थान भी नहीं है। केवल इतना ही कहूँगा कि निरालाजी की रचनाओं की मौलिकता, उनका ओज और सुन्दरता अतुलनीय है। उनकी रचनाओं में हमें उपनिषदों के सूत्र भी मिलते हैं और कभी कभी यह भासित होता है कि वे मार्क्स विचार-धारा के समीप हैं। निराला का गृहस्थ जीवन वास्तव में विरागी जीवन ही रहा। स्त्री का निधन उन्हें अखरा या नहीं यह राम जाने, परन्तु जो कुछ हुआ उनके लिये अच्छा ही हुआ। मराठी संत तुकाराम ने इस स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है—"हे प्रभु, स्त्री के निधन से मैं खुश हूँ, अब तो माया से मुक्त हो गया।"

मैं वंदनीय युग-पुरुष के सम्बन्ध में अधिक क्या लिखूं! उनके उठ जाने में ईश्वरी संकेत क्या है? यह कहना कठिन है। मैं केवल श्रद्धापूर्ण श्रद्धांजलि अर्पण करना ही पर्याप्त समझता हूँ।



श्री ओंकार शरद

नर-नाहर निराला : नई पीढ़ी का विद्रोही कवि

निरालाजी को अगर आपने न देखा हो तो इस तरह सोचिए कि जैसे सिकंदर की फौज का कोई सेनापति हो जिसका चित्र ऐतिहासिक पुस्तकों में आपने देखा होगा। . . . यद्यपि हिंदी साहित्य में निराला का स्थान सिकंदर वाला ही है।

असाधारण लंबा क़द, तना शरीर, भावनामय बड़ी-बड़ी आँखें, चेहरे पर विजयी सैनिक का रोब। बातचीत के लहज़े में तीखापन व तेजी, वाणी में चुंबक सा खींच लेने की शक्ति। ओठों पर कभी मुस्कान, कभी कड़वाहट, कभी गंभीरता। नाक-नक्शा कुछ ऐसा कि पहले तो आंखें फिसलतीं, फिर जम जातीं तो हटाये ना हटतीं थीं। बहुत पतले ओंठ जब हिल कर कुछ कहते तो वाणी से अमृत की वर्षा की कल्पना सजीव हो उठती थी। लंबे तगड़े शरीर पर बाजुओं पर बाजूओं का कसवल और भारीपन देख कर इन नरसिंह के सामने श्रद्धा से सिर झुक जाता था। और उनकी लंबी लंबी पतली, कलात्मक उँगलियाँ देख कर बरबस ही अजन्ता की चित्र, कलावती उँगलियाँ याद आ जाती थीं। एक बार निरालाजी ने खुद ही कहा था—जब वे रोटियाँ पका रहे थे और उँगलियों पर गीले आँटे की एक पर्त थी, "अगर किवाड़े के पीछे से हाथ भर दिखाऊँ तो लोग समझेंगें कि मिसेज निराला हैं।"

निराला जी का सादा रहन सहन, उसकी चर्चा अगर की जाये तो सब बातें कहने के लिए पूरी पुस्तक की रचना करनी पड़ेगी। बस यही समझिए कि कबीर की युगों पहले लिखी लाइनों को निराला ने सार्थक सिद्ध किया था—

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ
जो घर फूँके आपनो चले हमारे साथ।

सचमुच निराला का व्यक्तित्व उसी अल्हड़पन और मस्ती का प्रतीक था।

हमारे लिए निराला सदा से ही प्रेरणा के सजीव मूर्तमान रूप रहे हैं। हमीं क्यों, हमारी पीढ़ी का तो सौभाग्य ही निराला के रूप में सदा हमें अपनी छाँह देता रहा। हमने जब इस संघर्षमय साहित्य-क्षेत्र में पहला कदम रखा था तभी हमें अपने सामने सिकंदर रूपी यह विजयी नरसिंह खड़ा मिला था जिसके व्यक्तित्व में इतना जादू था कि बिना कुछ सोचे-विचारे ही उसके पीछे चलने को हम विवश हो गये थे। और आज यह कहने में हमारा सीना फूल उठता है, बाहें कस जाती हैं कि हम निराला की फौज के सिपाही थे।

निराला जी को सर्वप्रथम बार जब देखा, एक धुंधली सी याद है। १९४३ या ४४ में इलाहाबाद की नुमाइश में कवि सम्मेलन होने जा रहा था। निराला जी नुमाइश में घूम रहे थे। साथ में थे कवि नेपाली और मेरे मित्र गंगाप्रसाद पाण्डेय। भीड़-भाड़ में ज्योंही मेरी नजर उन पर पड़ी कि मानो किसी अदृश्य शक्ति ने कहा, "यह निराला जी ही हैं।" जनसमुदाय में सबसे ऊँचे, बड़े, निराला ऐसे लोग जैसे बैर, बबूल के जंगल में चलता फिरता विशाल वटवृक्ष! थोड़ी दूर हट कर बड़ी देर तक निराला जी का पीछा करता रहा और उन्हें देखते न अघाया बल्कि प्रतिक्षण उनके प्रति मेरे मन में ऐसा खिंचाव जमता गया कि मैं आज भी उस असर की कल्पना नहीं कर पाता।

फिर उसके बाद किस प्रकार उनके निकट आया, किस प्रकार उनके स्नेह की शीतल छाया मिली और किस प्रकार आज तक साहित्य के मार्ग में उनके पदचिन्हों को अँधेरी रात की उजली डगर मान कर चलता रहा, इसकी चर्चा में बहुत समय लग जायगा। केवल एक घटना का जिक्र करूँगा।

१९४४ का साल, मेरी शादी के दिन थे। निराला जी का मुझ पर अटूट आशीर्वाद था ही। मैं समझे बैठा था कि जैसे निराला जी पर मेरा बड़ा अधिकार है। अपने एक संबंधी को निराला जी के पास निमंत्रण लेकर भेजा। तब दारागंज के एक मकान के ऊपरी हिस्से में वे रहते थे। उन सज्जन ने जाकर निराला जी को आमंत्रित किया। क्षणभर, बल्कि एक मिनट तक निराला जी मौन रहे, फिर तन कर बोले, "सुन लिया, जाइये, कहीं नीचे आपकी साइकिल न कोई उठा ले जाए!"

इतना इशारा काफी था। वे सज्जन कुढ़ते-भुनते चले आए। निराला जी से ऐसा व्यवहार पाने की उन्हें कल्पना न थी। आकर मुझ पर सारा क्रोध उतारने लगे—"तुमने मुझे कहाँ भेज दिया था? उन्हें सुनकर कोई खुशी नहीं हुई, नहीं यही कहा कि आऊँगा। बस, झट, नीचे साइकिल की याद दिला दी।"

मैं सब समझ गया। पर उनसे क्या कहता! लगा कि खुद न जाकर मैंने जो महान अपराध किया है उसके कारण क्या कभी निराला जी के सामने जा पाऊँगा?

परन्तु उसी शाम मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब देखा कि श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के साथ, एक इक्के पर सवार बहुत बड़ा सा साफा बांधे निराला जी आ पहुँचे। मैं तो संकोचवश कुछ बोल न पाया पर उन्होंने ही मेरा कंधा झझकोर कर कहा, "तुम्हारी शादी में आ रहा था न इसीलिए साफा बांध लिया। तुम मुँह क्यों लटकाए हो। मैं तो बारात में भी चलूँगा।"

मुझे लगा कि मैं हिमालय के सामने खड़ा हूँ। इतना महान, इतना विशाल हृदय! नाराज नहीं हुआ बल्कि मेरे प्रार्थना करने के पूर्व ही सब स्वीकार कर लिया। क्या निराला जी के कोमल हृदय को इतने से भी न पहचानता! मैं तो उनकी महानता पर, उनकी सरलता पर बिना मोल बिक गया।

इसके बाद तो बहुत लंबा अरसा बीता। सदा ही जब निराला जी प्रयाग आते, दर्शन देते, स्नेह की वर्षा करते और सदा ही वाक्यों से अपने ज्ञान के बिजली की चमक चमका कर अंधकार को छेदते रहे। सन् १९५० में फिर स्थायी रूप से प्रयाग आ गये। मैं दर्शनों को पहुँचा, "सो यू हैव कम! कहो मजे में हो?" वह बोले।

मैं चुपचाप उन्हें देखता रहा। चौकस, विस्मित! सिर पर से कुन्तल केशराशि उतर चुकी थी। दाढ़ी बढ़ रही थी। कहीं से चोट खाकर आए थे। (जिसका राज आज तक नहीं खुल पाया।) सिर में गहरे घाव थे। मैंने उनकी ओर इशारा किया तो फौरन विशाल माथा झुका कर दिखा दिया—दो दो इंच के दो भयानक चोट के घाव। फिर तीन टूटी उँगलियाँ दिखाया और कहा, "अब तो ये उँगलियाँ सीधी हो रही हैं वर्ना बिल्कुल मुर्दा हो गई थीं।" मेरी आत्मा कराह उठी। यह चोट! काश कि हम वह दर्द ले पाते। पर वह निराला था जो युगों की चोट और दर्द को सहता जा रहा है, उसकी चोट कौन सम्हालता!

मैंने बरबस ही पूछा, "चोट कैसे लगी?" तो केवल एक वाक्य कहा, "बस नाक ऊँची रही।"

उस चोट के वाद फिर निराला का स्वास्थ न लौटा। एक दिन, एक बरसाती सुबह, जब वादल छाये थे, निराला जी पधारे। चा पीकर आराम कुर्सी पर लेटे ही थे कि बादल फट पड़े और निराला जी हृदयमग्न गुनगुनाने लगे। फिर अचानक बोल उठे, "जिस समय रवीन्द्र का घोड़ा बँगला से छूटा तो उसकी रास थामने की हिम्मत किसी में न थी, लेकिन मैंने ही उस घोड़े को थाम लिया.....हमारा यह जो रंग है यह असल रंग नहीं। यह तो धूप में काला हो गया है। असल रंग तो, रवीन्द्रनाथ वाला था। इसका बहुत लंबा हिसाब किताब है।"

किसकी हिम्मत कि निराला का हिसाब किताब समझे! इस हिसाब को समझने के पूर्व नीलकंठ बनना होगा, युगों का जहर पचाना होगा। निराला का रंग सचमुच वह नहीं रह गया था जो उनका असल रंग था। सोना इतना तपाया गया था कि रंग तांबा का हो गया था। जीवन भर जो व्यक्ति आँधी, तूफान और आग में ही पला हो, बढ़ा हो, जिया हो, मरा हो उसका रंग असल कैसे बचा रहे, उसका तपा रंग भी हमारे लिए एक चुनौती है। निराला ने एक एक पग में एक एक युग की प्रतिभा समेटी थी। निराला तब वहाँ खड़े थे जहाँ से दुनिया कोसों पीछे थी। निराला केवल कवि नहीं, युगस्रष्टा थे, महाप्राण थे, हमारी पीढ़ी के लिए विद्रोह की प्रेरणा के स्वरूप भी थे।

हिंदी के आकाश में निराला नाम के इस रवि का प्रथम प्रकाश उस समय फैला था जब हमारी संस्कृति ऐसे दलदल में फँसी थी जिसका उद्धार शायद संभव न था यदि निराला की तीखी किरनें सारे दलदल की नमी को एक बार में ही न सोख लेतीं। उस समय बड़े बड़े नामधारी आचार्य भी अपनी टकसाली शैली द्वारा ही साहित्य के महन्त बने एक उँगली पर सारा विश्व नचाने की कल्पना कर रहे थे। तभी अचानक यह नरसिंह ललकार उठा था, तब उनके सिंहासन हिल उठे थे क्योंकि उन्हें इस विद्रोह के आगमन की पूर्व सूचना नहीं थी। वे समझ न पाये

थे कि यह कौन सा व्यक्तित्व है जो आज उनके सामने इस प्रकार अट्टहास कर रहा है कि उनका तेज अंधकारमय हो गया है।

निराला ने पहली आवाज लगाई, "काव्य को चौखटे में मत कसो। काव्य की धारा में रोड़े न बिछाओ।" निराला की इसी आवाज ने सचमुच हिंदी साहित्य को नई दिशा में मोड़ दिया। 'तुकान्त' कविता की लीक को छोड़कर मुक्तछंद का निराला ने प्रयोग किया और आचार्यों का दल हाथ धोकर इस विद्रोही को समाप्त कर देने पर तुल गया। पर वह विद्रोही नहीं जो दब जाने को उठा हो। निराला की रचनायें आचार्यों ने न छापने का निश्चय किया। तब 'मतवाला' निकला। निराला साहित्य-समुद्र का मंथन करते और 'मतवाला' उस गरल को पीता जाता। निराला का कविरूप पूर्ण विकास पा चुका था। उनके पीछे नये रक्त वाले नये साहित्यकारों की एक बहुत बड़ी पंक्ति खड़ी हो चुकी थी। राष्ट्र में जिस तरह स्वतंत्रता की लहर दौड़ चुकी थी---उसी के फलस्वरूप प्रगतिवाद का आन्दोलन पैदा हो गया। निराला जी ने यहीं तो रवीन्द्रनाथ का घोड़ा थामा और सजग होकर नई चेतना का सबल नेतृत्व किया। तभी विश्वव्यापी युद्ध और बंगाल के अकाल ने हमारी मृतपाय सांस्कृतिक चेतना को पुनः जागरण को विवश किया।

साफ शब्दों में निराला ने युग को बदल दिया, युगों से बहती हवा का रुख मोड़ दिया। पर सच मानिये इसके लिए निराला ने अपने को खत्म कर दिया। कहते हैं कि इस्पात भी गर्म होने पर अपना रूप बदल देता है। पर निराला तो ऐसा इस्पात साबित हुआ जो जितना ही गर्म हुआ दृढ़तर होता गया। सारा जीवन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विद्रोहों में ऐसा खपा दिया कि उसका जीवन, उसका न हो सका। आजीवन युग को वह अपने रक्त से सींचते रहे। बड़ों-बड़ों को लक्ष्मी के सम्मुख टूटते देखा है पर निराला को सदा तनते देखा। निराला के विद्रोह ने कहीं समझौता नहीं किया। संसार ने जो भी परीक्षा माँगी, निराला ने हँसकर पार किया। मृत्यु को भी उन्होंने एक चुनौती के रूप में ही वरण किया।

निराला विद्रोह के प्रतीक थे, आदर्श थे ! इस महाप्राण ने अपने रक्त से सींचकर हमारी नई पीढ़ी की राह को प्रशस्त किया।

उस दिन, शायद १९५४ की बात है, श्रीमती वनफूल ने जब निराला का प्रथम दर्शन पाया तो वह अचानक कह उठीं, "कोवि, निराला, विशालकाय, मस्त, टॉल, ग्रीककट !"

लेकिन वह विशालकाय, वह मीनार, वह ग्रीककट, भी आज काल के साथ विगत हो चुका है। निराला के साथ एक युग समाप्त हो गया, एक परंपरा टूट गई, विद्रोह का एक इतिहास बन्द हो गया। पर नई पीढ़ी को, हिंदी के भविष्य को, निराला इतनी शक्ति दे गये हैं कि केवल उनका नाम ही नहीं, उनकी चलाई विद्रोही परंपरा सदा चलती रहेगी और निराला की मानस-मूर्ति दिन प्रतिदिन, हिंदी के गौरव के साथ उन्नत होती रहेगी।...

डाक्टर 'हरीश'

महाप्राण निराला के प्रति

[१]

कविर्मनीषी कलाकार तुम!
तुम विराट पौरुष हिन्दी के
प्राणवान! क्या सपना देखा
बना राजपथ पगडंडी को
खींच गए तुम लक्ष्मण-रेखा
गीतों के ज्योत्स्ना के नूपुर
हे चपला के चन्द्र हार तुम ... कविर्मनीषी

[२]

हे शब्दों के शिल्पी! तेरी
हर मूरत में प्राण प्रतिष्ठा
तुमने द्वार द्वार को दे दी
स्वर्णिम संकल्पों की निष्ठा
अँधियारे के ज्योतिदूत कवि!
छायापथ से दुर्निवार तुम ... कविर्मनीषी

[३]

ओ! यौवन के प्रहरी! तुमने
चिरकुमार सा लिखा काव्य है
प्यास, पीर, पुलकों में डूबा
गीतों का यह महाकाव्य है
जन जन का जय लेखा खींचा
हे करुणा के चित्रकार तुम ... कविर्मनीषी

[४]

हे अनन्त आचार्य युगंकर!
स्वर को शाश्वत गान दे गए

कर्णधार राजर्षि देश को
विजय दान अभिमान दे गए
टूट जाय पर झुके नहीं जो,
उस जीवन के महाज्वार तुम . . . कविर्मनीषी

[५]

सूर्य चन्द्र सी आलोकित हैं
ज्योति किरण तेरे मानस की
बहा गई अमृत मन्दाकिनी
राशि राशि सम्मोहन रस की
हे प्रज्ञा के आशुतोष कवि !
ओजस्वित स्वर के विहार तुम . . . कविर्मनीषी

[६]

गरल पिया तुमने कटुता का
अमृत बांटा संघर्षों में
अश्रुपान करके यथार्थ को
तुमने बांधा आदर्शों में
हे वाणी के वरदपुत्र कवि !
अचल हिमाचल निर्विकार तुम . . . कविर्मनीषी

[७]

तेरे प्रण के अध्वर जग में
तेरे यश की वेद ऋचाएँ
शक्तिवंत कविता के स्रष्टा !
दिगदिगंत में गुंजें गाएं
ध्वंसोन्मुख जीवन को दे दो
प्राण गीत हे काव्यकार तुम . . . कविर्मनीषी

[८]

एक किरण फिर से लौटा दो
गीतों के शतदल खिल जाएँ
खुल जायें, भावों के बन्धन
खोये कवि को पथ मिल जायें
हे निसर्ग के राग! नमन लो
महाप्राण हे गीतिकार तुम
कविर्मनीषी कलाकार तुम !

श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया

श्रद्धाञ्जलि

ओ रे महामानव निराला!
दूर है अब तू—
बहुत ऊँचे खड़ा है,
मैं यहीं से
इस धरा से
वन्दना के स्वर सुनाती हूँ।
तुझे प्रणाम करती हूँ।
अरे ओ शक्ति के साधक
दुलारे भारती के!
तुझे माँ का मिला था वर,
बहुत ममतालु होकर,
जननि ने तुझ को उठाया
धूल से लिपटे सने को
वक्ष से चिपटा लिया था।
बहुत बिगड़ा हुआ तू
लाड़ और दुलार से था—
कि मां के कण्ठ का वह हार
कितनी बार खींचा!
कि तूने झनझनाए बार कितनी
बीन के स्वर!
मगर—
मां की अधर-मुस्कान
तेरे भाल पर
वरदान बन बिखरी रही!
और—
अन्तिम बार भी

जब अस्त और व्यस्त सा
हारा थका सा
और अपनी ही क्रियाओं से
बहुत ऊबा हुआ सा,
तू चला मां की शरण में
जननि तब –
दोनों भुजाओं को पसारे
बहुत आद्रित
बहुत व्याकुल,
बढ़ी थी तुझको उठाने !
और अपने शुभ आँचल में
तुझे ले, ढक लिया था।
आज कितना शान्त
और निश्चिन्त सा
सोया तुझे मैं देखती हूँ।
बहुत दिन के बाद
मां की सुखद शीतल
गोद पायी है।
कि तेरे व्यस्त उलझे केश
मां सहला रही है।
और तेरे कमल से ये नयन
मूँद कर भी –
स्मिति बरसा रहे हैं।
सो जा सुखद सपने
उतारें आरती तेरी !
सो जा सुनाती लोरियाँ
मां भारती तुझको !

महान् कलाकारों की प्रारंभिक रचनाएँ उन पद-चिह्नों के समान हैं, जिन पर चल कर सामान्य लोग जीवन और उसके उद्देश्यों का संधान कर सकते हैं

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा
प्रकाशित

हार

युग-कवि पं० सुमित्रानन्दन पंत की किशोरावस्था में लिखी गयी सर्व-प्रथम रचना है

यह उपन्यास सब के लिए सर्वोत्तम मार्गदर्शक है

सीमित संस्करण तथा प्रत्येक प्रति पर कवि का तात्कालिक चित्र और हस्ताक्षर

मूल्य, दस रुपए

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग